प्रकाशक—
चतुरसेन गुप्त
प्रबन्धक—
महाभारत-प्रकाशक मण्डल
चांदनी चौक दिल्ली।

क्षात्र-धर्म

द्रौपदी वाक्य:—

योन दर्शयते तेजः क्षत्रियः काल आगते।
सर्वभूतानि तं पार्थ सदा परिभवन्त्युत॥

महाभारत वनपर्व अध्याय २७।३८

जो क्षत्रिय, समय आने पर अपना तेज नहीं दिखाता है, उस क्षत्रिय को प्रत्येक प्राणी तिरस्कार की दृष्टि से देखता है॥

मुद्रक—
बाबू राधोराम
मालिक—महरोत्रा प्र.
नई सड़क दिल्ली।

प्राक्कथन



आज से २३०० सौ वर्ष पूर्व जगद्विजेता सिकन्दर ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया। तक्षशिला का राजा आम्भि, सिकन्दर से मिल गया। बस फिर क्या था, आम्भि के कण्टक राजा पौरस पर दोनों ने मिल कर चढ़ाई की। झेलम नदी के पवित्र तट पर पौरस ने इनसे लोहा लिया। आखिरकार ! पौरस हार गया। इतिहास के जानने वाले जानते हैं, कि जिस छल-बल से सिकन्दर ने विजय प्राप्ति की; यह उसकी विजय नहीं, प्रत्युत नैतिक पराजय थी।

सिकन्दर युद्ध में विजयी तो हुआ, परन्तु उसको भारतीय वीरों के खड्ग-कौशल का ज्ञान हो गया। इसके सिपाहियों का हौसला टूट गया; जिससे उसे भारत से लौट जाना पड़ा तथा भारत विजय के अर्मान अपने मन में लिए हुए ही उसको खाली हाथ संसार से कूंच करना पड़ा।

इस मृतक सिकन्दर की परलोक में आत्मा की तृप्ति के लिए उसके उत्तराधिकारी सेल्यूकस ने भारत पर फिर चढ़ाई की। मगध-सम्राट् चन्द्रगुप्त, रण-प्राङ्गण में इसके स्वागत को बढ़ा। इस युद्ध के परिणाम में यूनानी-विजेता सेल्यूकस को अपनी पुत्री हेलन को विवाह-विधि से मगध- सम्राट् के हवाले करना पड़ा, जिससे सिकन्दर की मृत आत्मा प्यासी ही सदा के लिए भारत की ओर टकटकाती रह गई।

भारत-आक्रान्त महमूद गज़नवी ने, बार २ आक्रमण करके भारत को रौंध डाला। इतिहासज्ञ जानते हैं कि अन्त में बागड़ के राजा गोंगादेव और अजमेर के राजा बीसलदेव से ऐसी हार खाई; कि भारत पर फिर आक्रमण करने का हौसला ही नहीं रह

गया। यह भारत में फिर अपना साम्राज्य स्थापन करने का स्वप्न देखता ही रहगया और अन्त में रोता २ संसार से विदा हुआ।

भारत-विजेता, शहाबुदीन गौरी, पृथ्वीराज से बार २ पराजित हुआ और छोड़ दिया गया। अन्त में कन्नौज के राजा जयचन्द की फूट से उसे पृथ्वी-राज पर विजय नसीब हुई।

भारत-सम्राट् अकबर के साम्राज्य की नीव को सुदृढ़ करने वाले मानसिंह जैसे भारतीय राजपूत ही थे। इन राज-पूतों ने ही मुगल-साम्राज्य की जड़ को पाताल तक पहुंचाया था। उस समय भी भारत की प्रतिष्ठा, मान, मर्यादा के रक्षक, प्रातः स्मरणीय, राणा प्रताप, जैसे हिन्दू-केशरी विद्यमान थे।

इन्द्र के समान वैभवशाली, बादशाह शाहजहां के साले, सलाबतखां की गर्दन भरे दरबार में धड़ से उड़ा देने वाले, दिल-चले राजपूत इस कुसमय में भी थे।

औरङ्गजेब के शासनकाल में पञ्जाब में सिक्खों ने, राज-पूताने में राजपूतों ने, दक्षिण में मरहठों ने शिर उठाया और अन्त में मुग़लिया साम्राज्य की पाताल तक पहुंची हुई जड़ों को उखाड़ कर फैंक दिया। आज समय-चक्र ने चक्कर खाया और संसार को सभ्यता-सिखाने-वाले, रण-ताण्डव-निपुण, उन्हीं आर्य हिन्दुओं की महिलाओं की इज्जत, चक्कर में पड़ गई है। इनके बच्चे पेट की आग से करुणा-स्वर में रो रहे हैं। अधिक क्या रोना है? इस भूतल-शायी हिन्दूजाति के, जो चाहता है। वही दो लात लगा देता है।

यह सब क्यों है? क्या कोई अकारण शत्रु, हमको सताता रहता है? नहीं; यह तो हमारे ही दुष्कर्मों का अवश्यम्भावी परिणाम है।

संसार जानता है, कि साहित्य ही जाति में जागृति, वीरता और जीवन की ज्योति का जगाने वाला होता है। हिन्दू जाति के शिल्प, वाणिज्य, राजनीति, ज्ञान, सदाचार और सभ्यता के अनुपम-कोष, प्राचीन-साहित्य, इस महाभारत के विषय में पूर्वजों का तो यह खयाल था—

इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपिचोत्तमं।
श्राव्याणा मुत्तमं चेदं पुराणमृषिसंस्तुतम् ॥
महीं विजयते राजा शत्रूंश्चापि पराजयेत्।
इदं पुंसवनं श्रेष्ठमिदं स्वस्त्ययनं महत् ॥

(महाभारत आ० ६२-१६-२१)

अर्थ-यह महाभारत, वेदानुकूल, बड़ा पवित्र और उत्तम साहित्य है। सुनाने योग्य पुराणों में उत्तम पुराण है, जिसकी ऋषि लोग प्रशंसा करते आए हैं। इसके पठन पाठन से राजा पृथिवी को जीत लेता है और शत्रुओं को पराजित कर देता है। इसके सुनने वाले को पुत्र की प्राप्ति होती है तथा यह अत्यन्त कल्याणकारी है।

यह तो थी, पूर्वजों की बात ? परन्तु आज कल के लक्ष्मी मात्र के लोलुप, भक्तों की अद्भुत धारणा है, कि महाभारत के घर में रखने से भी झगड़ा होगा। इस प्रकार के दुर्विचारों से इस विवेक-भ्रष्ट हिन्दू जाति की भविष्य में क्या दुर्दशा होगी—इस का अनुमान कौन लगा सकता है। हमतो इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी यह चौथा भाग लेकर सहृदय पाठकों की सेवा में उपस्थित हो रहे हैं। आशा है, कि पाठक, इसका स्वागत करेंगे।

गङ्गाप्रसाद शास्त्री

महाभारत चौथे-भाग

—की—

विषयानुक्रमणिका

वनपर्व

विषय	पृष्ठ

इन्द्रलोकाभिगमनपर्व

नलोपाख्यान पर्व

तीर्थ-यात्रा-पर्व





महाभारत

वनपर्व

[अध्याय २३ से प्रारम्भ]

चतुर्थ भाग

तेईसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

तस्मिन् दशार्हाधिपतौ प्रयाते युधिष्ठिरो भीमसेनार्जुनौ च ।
यमौ च कृष्णा च पुरोहितश्च रथान्महार्हान्परमाश्वयुक्तान् ॥१॥
आस्थाय वीराः सहिता वनाय प्रतस्थिरे भूतपतिप्रकाशाः ।
हिरण्यनिष्कान् वसनानि गाश्च प्रदाय शिक्षाक्षरमंत्रविद्भ्यः॥२

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! श्री कृष्ण के चले जाने पर युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी, पुरोहित धौम्य

अत्यन्त मूल्य वाले अश्वों से युक्त, रथ पर चढ़कर वन को चले। ये सारे वीर, शिव के समान देदीप्यमान हो रहे थे। इन्होंने वेद और उसकी शिक्षा के जानने वाले, ब्राह्मणों को सुवर्ण के सिक्के वस्त्र और गायें प्रदान की॥ २॥

प्रेष्याः पुरो विंशतिरात्तशस्त्रा धनूंषि शस्त्राणि शरांश्च दीप्तान्
मौर्वीश्च यन्त्राणि च सायकांश्च सर्वे समादाय जघन्यमीयुः॥३॥

वस्त्र लेकर बीस सेवक आगे २ चल रहे थे। इन्होंने धनुष, अन्य शस्त्र, चमकते हुए बाण, धनुष की डोरी, यन्त्र और अन्य प्रकार के तीक्ष्ण बाण धारण कर रखे थे। ये सारे प्रथम पश्चिम दिशा को चले॥ ३॥

ततश्च वासांसि च राजपुत्र्या धात्र्याच दास्यश्च विभूषणञ्च।
तदिन्द्रसेनस्त्वरितः प्रगृह्य जघन्यमेवोपययौ रथेन॥४॥

सुभद्रा के वस्त्र, धाय, दासी, भूषणों को लेकर इन्द्रसेन, शीघ्रता से रथ के द्वारा द्वारिका की ओर चला॥ ४॥

ततः कुरुश्रेष्ठमुपेत्य पौराः प्रदक्षिणञ्चक्रुरदीनसत्त्वाः।
तं ब्राह्मणाश्चाभ्यवदन् प्रसन्ना मुख्याश्च सर्वे कुरुजाङ्गलानाम्॥५

इसके अनन्तर पुरवासी, राजा युधिष्ठिर के पास पहुँचे और इन महा मनस्वियों ने उनकी प्रदक्षिणा की तथा कुरुजाङ्गल प्रदेश के प्रसन्न ब्राह्मणों ने आशीर्वाद दिया॥ ५॥

स चापि तानभ्यवदत् प्रसन्नः सहैव तैर्भ्रातृभिर्धर्मराजः।
तस्थौ च तत्राधिपतिर्महात्मा दृष्ट्वा जनौघं कुरुजाङ्गलानाम्॥६

अपने भाइयों के साथ प्रसन्न, धर्मराज युधिष्ठिर ने उनकी अभिवन्दना की। कुरुजाङ्गल प्रदेश के जन समूह को देख कर महात्मा युधिष्ठिर वहीं खड़े रह गये ॥ ६ ॥

पितेव पुत्रेषु स तेषु भावश्चक्रे कुरूणामृषभो महात्मा।
ते चापि तस्मिन् भरतप्रवर्हे तदा बभूवुः पितरीव पुत्राः ॥७॥

पुत्रों में पिता के समान इस प्रजा में कुरु-वंश श्रेष्ठ, महात्मा युधिष्ठिर ने अपना भाव प्रदर्शित किया। भरतवंश में उत्तम युधिष्ठिर में पिता के सदृश ही प्रजा ने अपना भाव दिखाया ॥७॥

ततस्तमासाद्य महाजनौघाः कुरुप्रवीरं परिवार्य्य तस्थुः।
हा नाथ हा धर्म इति ब्रुवाणा ह्रीताश्च सर्वेऽश्रुमुखाश्च राजन् ॥८॥

हे राजन्! अब युधिष्ठिर के पास पहुंच कर जनता ने उनको घेर लिया। हा नाथ! हा! धर्मराज! इस प्रकार कहते हुए सारे रोने लगे तथा लज्जित से हुए की भांति नीचे की ओर देखने लगे ॥ ८ ॥

वरः कुरूणामधिपः प्रजानां पितेव पुत्रानपहाय चास्मान्।
पौरानिमान् जानपदांश्च सर्वान् हित्वा प्रयातः क नु धर्मराजः ९

कुरुओं में श्रेष्ठ, प्रजा के नाथ, पिता के तुल्य, राजा युधिष्ठिर; पुत्रों के समान हमको तथा इन पुर और राष्ट्र के निवासी, सारे जनों को छोड़ कर कहां जा रहे हैं? ॥ ९ ॥

धिक् धार्त्तराष्ट्रं सुनृशंसबुद्धिं धिक् सौबलं पापमतिञ्च कर्णम्।
अनर्थमिच्छन्ति नरेन्द्र पापा ये धर्मनित्यस्य सतस्तवैवम् ॥१०

हे नरेन्द्र! नीच बुद्धिवाले धृतराष्ट्र के पुत्र, पापी शकुनि और कर्ण को धिक्कार है, जो तुम सज्जन और धर्मात्माओं का भी अनर्थ करने को तय्यार हो रहे हैं ॥ १० ॥

स्वयं निवेश्याप्रतिमं महात्मा पुरं महादेवपुरप्रकाशम् ।
शतक्रतुप्रस्थमसेयकर्मा हित्वा प्रयातः क नु धर्मराजः ॥११॥

शिव पुर के समान, अद्वितीय, इन्द्रप्रस्थ नगर को स्वयं बसा कर भी उसे छोड़ कर अद्भुत कर्म करने वाले महात्मा धर्मराज कहां को जा रहे हैं॥ ११॥

चकार यामप्रतिमां महात्मा सभां मयो देवसभाप्रकाशाम् ।
तां देवगुप्तामिव देवमायां हित्वा प्रयातः क नु धर्मराजः ॥१२॥

महात्मा मय दैत्य ने देवों की सभा के तुल्य जिस अद्भुत सभा का निर्माण किया। देवमाया के समान देवों से अभिरक्षित उस सभा को छोड़कर धर्मराज कहां जा रहे हैं ॥ १२ ॥

तान् धर्मकामार्थविदुत्तमौजा बीभत्सुरुच्चैः सहितानुवाच ।
आदास्यते वासमिमं निरुष्य वनेषु राजा द्विषतां यशांसि ॥१३॥

धर्म, काम और अर्थ के साधनों के जानने वाला, अत्यन्त ओजस्वी, अर्जुन, उन सबसे एक साथ उच्च स्वर से बोला—हे प्रजाजनों! राजा युधिष्ठिर! वन में वास करने के अनन्तर, द्वेष करने वालों के यश के साथ इस सभा को छीन लेगा ॥ १३ ॥

द्विजातिमुख्याः सहिताः पृथक् च भवद्भिरासाद्य तपस्विनश्च ।
प्रसाद्य धर्मार्थविदश्च वाच्या यथार्थसिद्धिः परमा भवेन्नः ॥१४॥

हे ब्राह्मण श्रेष्ठों, तुम इकट्ठे या अलग २ धर्म, अर्थ के जानने वालो, हमारी कृश प्रजा से कह देना, कि हमारी सर्वोत्तम सिद्धि अवश्य होगी ॥ १४ ॥

इत्येवमुक्ते वचनेऽर्जुनेन ते ब्राह्मणाः सर्ववर्णाश्च राजन् ।
मुदाभ्यनन्दन् सहिताश्च चक्रुःप्रदक्षिणं धर्मभृतां वरिष्ठम् ॥१५

हे राजन्! अर्जुन के इतना कहने पर ब्राह्मण तथा सारे वर्णों के लोगों ने एक साथ ही प्रसन्नता प्रकाशित की और धर्मराज युधिष्ठिर की परिक्रमा की ॥ १५ ॥

आमन्त्र्य पार्थश्च वृकोदरश्च धनञ्जयं याज्ञसेनीं यमौ च ।
प्रतस्थिरे राष्ट्रमपेतहर्षा युधिष्ठिरेणानुमता यथास्वम् ॥१६॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि
द्वैतवन प्रवेशे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

ये सारे शोकातुर सज्जन, राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी से आज्ञा लेकर अपने राष्ट्र को अपनी २ इच्छा के अनुसार चल दिये ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमन पर्व में द्वैत
वन के प्रवेश का तेईसवां अध्याय पूरा हुआ ॥



चौबीसवां अध्याय

ततस्तेषु प्रयातेषु कौन्तेयः सत्यसङ्गरः ।
अभ्यभाषत धर्मात्मा भ्रातॄन् सर्वान् युधिष्ठिरः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—इसके बाद इन सब श्रीकृष्ण, धृष्टद्युम्न आदि के चले जाने पर सत्यवादी, कुन्तीपुत्र, धर्मात्मा युधिष्ठिर, अपने सारे भाइयों से कहने लगे ॥१॥

द्वादशेमाः समास्माभिर्वस्तव्यं निर्जने वने ।
समीक्षध्वं महारण्ये देशं बहुमृगद्विजम् ॥२॥

इस निर्जन वन में हम लोगों को बारह वर्ष निवास करना है; इसलिए तुम इस महावन में कोई ऐसा स्थान खोज लो, जहां बहुत से मृग और पक्षी निवास करते हों ॥२॥

बहुपुष्पफलं रम्यं शिवं पुण्यजनावृतम् ।
यत्रेमाः शरदः सर्वाः सुखं प्रतिवसेमहि ॥३॥

वह कल्याणकारी वन पुष्प, और फलों से सुशोभित हो तथा उसमें उत्तम-२ प्रकृति के मनुष्य निवास करते हों, जिससे हम बारह वर्ष तक उसमें सुख से निवास करें ॥३॥

एवमुक्ते प्रत्युवाच धर्मराजं धनञ्जयः ।
गुरुवन्मानवगुरुं मानयित्वा मनस्विनम् ॥४॥

युधिष्ठिर के इतना कहने पर मनुष्यों में श्रेष्ठ मनस्वी, राजा युधिष्ठिर का गुरु के समान आदर प्रदर्शित करके अर्जुन ने कहा ॥४॥

अर्जुन उवाच—

भवानेव महर्षीणां वृद्धानां पर्य्युपासिता ।
अज्ञातं मानुषे लोके भवतो नास्ति किञ्चन ॥५॥

अर्जुन बोले—हे राजन् ! आप ही बड़े २ महर्षियों की सेवा करने वाले हो। इस मृत्यु लोक में कोई ऐसा उत्तम स्थान नहीं है, जिसको आप न जानते हो ॥५॥

त्वया ह्युपासिता नित्यं ब्राह्मणा भरतर्षभ ।
द्वैपायनप्रभृतयो नारदश्च महातपाः ॥६॥

हे भरत-वंश-श्रेष्ठ ! आपने ही भगवान, वेद-व्यास आदि या तपस्वी नारद ऋषि की उपासना की है ॥६॥

यः सर्वलोकद्वाराणि नित्यं सञ्चरते वशी ।
देवलोकाद् ब्रह्मलोकं गन्धर्वाप्सरसामपि ॥७॥

ये ब्रह्मचारी नारद मुनि, देवलोक से ब्रह्मलोक या गन्धर्व तथा अप्सराओं के लोकों के सारे मुख्य २ स्थानों में नित्य घूमते रहते हैं ॥७॥

अनुभावांश्च जानासि ब्राह्मणानां न संशयः ।
प्रभावांश्चैव वेत्थ त्वं सर्वेषामेव पार्थिव ॥८॥

हे राजन् ! तुमही सारे ब्राह्मणों के कर्मों को जानते हो और तुमही जिस ब्राह्मण में जो प्रभाव है, उसको जानते हो ॥८॥

त्वमेव राजन् जानासि श्रेयः कारणमेव च ।
यत्रेच्छसि महाराज निवासं तत्र कुर्महे ॥९॥

हे महाराज! आपही मोक्ष और उसके साधनों को जानते हो, इससे जहां आपकी इच्छा हो, वहीं हम भी निवास करेंगे ।६।

इदं द्वैतवनं नाम सरः पुण्य जलोचितम् ।
बहुपुष्पफलं रम्यं नानाद्विजनिषेवितम् ॥१०॥

यह सुन्दर वन है और इसमें पवित्र जल से भरा हुआ यह बड़ा भारी तालाब है। इसमें अनेक भांति के पुष्प और फल हैं तथा बहुत से पक्षियों से युक्त है ॥१०॥

यत्रेमा द्वादश समा विहरेमेति रोचये ।
यदि तेऽनुमतं राजन् किमन्यन्मन्यते भवान् ॥११

हे राजन! हम तो यही चाहते हैं, कि हम बारह वर्ष तक इसी वन में निवास करें—आगे आपकी इच्छा है! कहिए? आप क्या चाहते हैं? ॥११॥

युधिष्ठिर उवाच—

ममाप्येतन्मतं पार्थ त्वया यत् समुदाहृतम् ।
गच्छामः पुण्यविख्यातं महद् द्वैतवनं सरः ॥१२॥

युधिष्ठिर कहने लगे—हे अर्जुन! मेरी भी यही सम्मत्ति है, जो तूने कहा है। अब हम लोग, इस पवित्र और प्रसिद्ध द्वैत-वन या सरोवर पर अभी चलते हैं ॥१२॥

वैशम्पायन उवाच—

ततस्ते प्रययुः सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः ।
ब्राह्मणैर्बहुभिः सार्धं पुण्यं द्वैतवनं सरः ॥१३॥

वैश्यम्पायन कहने लगे—इसके बाद ये सारे धर्मचारी पाण्डव, अनेक ब्राह्मणों के साथ पवित्र जल से भरे हुए उस सरोवर की ओर चल दिए ॥१३॥

ब्राह्मणाः साग्निहोत्राश्च तथैव च निरग्नयः ।
स्वाध्यायिनो भिक्षवश्च तथैव वनवासिनः ॥१४॥

इन ब्राह्मणों में कोई तो नित्य अग्नि होत्र करने वाला था और कोई निरग्नि अर्थात् अग्नि होत्र की कक्षा से आगे पहुंचा हुआ था। ये सारे ब्राह्मण वनवासी त्यागी और वेद का स्वाध्याय करने वाले थे ॥१४॥

बहवो ब्राह्मणास्तत्र परिवव्रुर्युधिष्ठिरम् ।
तत्रः सिद्धा महात्मानः शतशः संशितव्रताः ॥१५॥

इस समय सैकड़ों तपस्वी, व्रत शील, महात्मा ब्राह्मणों ने राजा युधिष्ठिर को घेर रखा था ॥१ ॥

ते यात्वा पाण्डवास्तत्र बहुभिर्ब्राह्मणैः सह ।
पुण्यं द्वैतवनं रम्यं विविशुर्भरतर्षभाः ॥१६॥

इन अनेक ब्राह्मणों के साथ भरत-वंश-श्रेष्ठ पाण्डव, उस पवित्र सुन्दर वन के समीप पहुंचे और उसमें प्रविष्ट हुए ॥ १६॥

तमालतालाम्रमधूकनीपकदम्बसर्ज्जार्जुनकर्णिकारैः ।
तपात्यये पुष्पधरैरुपेतं महावनं राष्ट्रपतिर्ददर्श ॥१७॥

राजा युधिष्ठिर ने, तमाल, ताल, आम, महुवा, कदम्ब, जीवक, अर्जुन, कनेर के पुष्पों से भरे हुए, वृक्षों से युक्त, उस महावन को वर्षाऋतु में आकर देखा ॥ १७ ॥

महाद्रुमाणां शिखरेषु तस्थुर्मनोरमां वाचमुदीरयन्तः ।
मयूरदात्यूहचकोरसङ्घास्तस्मिन् वने बर्हिणकोकिलाश्च ॥

उस वन में उन विशाल वृक्षों की चोटियां पर बैठे हुए पत्ररहित या पांखों से लदेहुए मोर, चातक, कोयल, और चकोर बोल रहे थे ॥१८॥

करेणुयूथैः सह यूथपानां मदोत्कटानामचलप्रभाणाम् ।
महान्ति यूथानि महाद्विपानां तस्मिन् वने राष्ट्रपतिर्ददर्श १६

उस विशाल वन में राजा युधिष्ठिर ने हथनियों के साथ, अत्यन्त कान्तिमान, मदोत्कट, यूथपति बड़े २ हाथियों के झुण्ड देखे ॥१६॥

मनोरमां भोगवतीमुपेत्य पूतात्मानो चीरजटाधराणाम् ।
तस्मिन् वने धर्मभृतां निवासे ददर्श सिद्धर्षिगणाननेकान् २०

पवित्र, वल्कल के वस्त्र और जटा धारी, धर्मात्मा मुनियों के निवास स्थानों पर उस वन में राजा युधिष्ठिर सरस्वती नदी के तट पर पहुँचे। वहां उन्होंने अनेक सिद्ध और महर्षियों के समूह को देखा ॥२०॥

ततः स यानादवरुह्य राजा, सभ्रातृकः सजनः काननन्तत् ।
विवेश धर्मात्मवतां वरिष्ठस्त्रिविष्टपं शक्र इवामितौजाः ॥

अपने भाई और सेवकों के साथ सवारियों से उतर कर धर्मात्माओं में श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर ने स्वर्ग में अत्यन्त तेजस्वी इन्द्र के तुल्य, उस वन में प्रवेश किया ॥२१॥

तं सत्यसन्धं सहिताभिपेतुर्दिदृक्षवश्चारणसिद्धसङ्घाः ।
वनौकसश्चापि नरेन्द्रसिंहं मनस्विनं तं परिवार्य्य तस्थुः ॥

उस सत्यप्रतिज्ञावाले राजा युधिष्ठिर को देखने की इच्छासे गन्धर्व और सिद्धों के समूह इकट्ठे होकर आने लगे। उस मनस्वी राजा को अनेक वनवासी मनुष्य घेर कर खड़े होगए ॥२२॥

स तत्र सिद्धानभिवाद्य सर्वान् प्रत्यर्च्चितो राजवद् देववच्च ।
विवेश सर्वैः सहितो द्विजाग्र्यैः कृताञ्जलिर्धर्मभृतां वरिष्ठः ॥

राजा युधिष्ठर ने सारे देवोंको प्रणाम किया। इन देवों ने भी राजा या देवों के तुल्य इसकी पूजा की। इन सब उत्तम ब्राह्मणों के साथ हाथ जोड़े हुए धर्मराज युधिष्ठिर ने उस वन में प्रवेश किया ॥२३॥

स पुण्यशीलः पितृवन्महात्मा तपस्विभिर्धर्मपरैरुपेत्य ।
प्रत्यर्च्चितः पुष्पधरस्य मूले महाद्रुमस्योपविवेश राजा ॥२४

धर्मशील तपस्वियों ने पुण्यात्मा और महात्मा युधिष्ठिर का पिता तुल्य आदर किया। यह राजा भी पूजा ग्रहण करके पुष्प से युक्त, कदम्ब वृक्ष के नीचे बैठ गया ॥२४॥

भीमश्च कृष्णा च धनञ्जयश्च यमौ च ते चानुचरा नरेन्द्रम्।
विमुच्य वाहानवशाश्च सर्वे तत्रोपतस्थुर्भरतप्रबर्हाः ॥२५॥

भरतवंश श्रेष्ठ भीम अर्जुन, नकुल, और सहदेव,द्रौपदी तथा सारे सेवक अपने वाहनों को खोल कर युधिष्ठिर के वश में हुए वहां बैठ गये ॥२५

लताप्रतानावततः स पाण्डवैर्महाद्रुमः पञ्चभिरेव धन्विभिः।
बभौ निवासोपगतैर्महात्मभिर्महागिरिर्वारणयूथपैरिव ॥२६।

इतिश्रीमहाभारते आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्वैतवन-प्रवशे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

लताओं के समूह से घिरा हुआ, वह कदम्ब का वृक्ष, धनुषधारी, निवास के लिये आये हुए पांचों पांण्डवों से हाथियों के झुंड के स्वामी, महोत्कट हाथियों से विशाल पर्वत की भांति सुशोभित होने लगा ॥२६॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमन
पर्व में द्वैतवन प्रवेश का चौवीसवां अध्याय
सम्पूर्ण हुआ।



पच्चीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच–

तत् काननं प्राप्य नरेन्द्रपुत्राः सुखोसिता वासमुपेत्य कृच्छ्रम्
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमाः शिवेषु सरस्वतीशालवनेषु तेषु ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्। पुत्र पाण्डवों ने उस वन को प्राप्त किया और वे वहां कठिनाई से पहुंचकर सुखसे निवास करने लगे। इन्द्रके तुल्य तेजस्वी पाण्डव, सरस्वती नदी के इस शाल वृक्षों से भरे हुए वनमें विहार करने लगे ॥१॥

यतींश्च राजा स मुनींश्च सर्वान् तस्मिन् वने मूलफलैरुदग्रैः॥
द्विजातिमुख्यानृषभः कुरूणां सन्तर्पयामास महानुभावः ॥

उस वनमें पहुंचकर महानुभाव कुरुवंश श्रेष्ठ, राजा युधिष्टिर ने मुनि और उत्तम २ ब्राह्मणों को अच्छे २ फल फूलों से सन्तुष्ट किया ॥२॥

इष्टीश्च पित्र्याणि तथा क्रियाश्च महावने वसतां पाण्डवानाम्
पुरोहितस्तत्र समृद्धतेजाश्चकार धौम्यः पितृवन्नृपाणाम् ॥३॥

अत्यन्त तेजस्वी पुरोहित धौम्य राजाओं के पिता के तुल्य आदरणीय राजा युधिष्ठिर के निमित्त वन में निवास करने के समय दर्श पौर्ण-मासादि यज्ञ, श्राद्ध और अन्य धार्मिक क्रियाऐं प्रतिनिधि स्वरूप से करने लगे ॥३॥

अपेत्य राष्ट्राद्वसतान्तु तेषामृषिः पुराणोऽतिथिराजगाम ।
तमाश्रमं तीव्रसमृद्धतेजा मार्कण्डेयः श्रीमतां पाण्डवानाम् ।

अपने राष्ट्र से निकल कर वनमें वास करते हुए श्रीमान् पाण्डवों के आश्रममें अत्यन्त तेजस्वो, वृद्ध महर्षि मार्कण्डेय, अतिथि रूप से आए ॥४॥

तमागतं ज्वलितहुताशनप्रभं महामनाः कुरुवृषभो युधिष्ठिरः।
अपूजयत् सुरऋषिमानवार्च्चितं महामुनिं ह्यनुपमसत्त्ववीर्य्यवान्

अत्यन्त बल और विक्रम से युक्त, मनस्वी कुरुवंश श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर ने देदीप्यमान अग्नि के समान तेजस्वी, देव और ऋषियों से पूज्य, उस अतिथि की पूजा की ॥५॥

स सर्वविद् द्रौपदीं वीक्ष्य कृष्णां युधिष्ठिरं भीमसेनार्जुनौ च ।
संस्मृत्य रामं मनसा महात्मा तपस्विमध्येऽस्मयतामितौजाः

इस महा-तेजस्वी, सर्वज्ञ, महात्मा ऋषि ने द्रुपद पुत्री कृष्णा, राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, को देखकर और श्री रामचन्द्र का स्मरण करके तपस्वियों के मध्य बड़ा आश्चर्य प्रकट किया ॥६॥

तं धर्मराजो विमना इवाब्रवीत् सर्वे ह्रिया सन्ति तपस्विनोऽमी
भवानिदं किं स्मयतीव हृष्टस्तपस्विनां पश्यतां मामुदीक्ष्य ॥

राजा युधिष्ठिर ने सारे ऋषियों को उस समय चुप देखा, तब वे उदास से होकर बोले—हे भगवन्! आप इन तपस्वियों के सन्मुख मुझे देखकर प्रसन्नता के साथ क्यों आश्चर्य का भाव प्रकट कर रहे हो ॥७॥

मार्कण्डेय उवाच—

न तात हृष्यामि न च स्मयामि प्रहर्षजो मां भजते न दर्पः ।
तवापदं त्वद्य समीक्ष्य रामं सत्यव्रतं दाशरथिं स्मरामि ॥

मार्कण्डेय बोले—हे तात! न तो मैं हर्ष कर रहा हूं और न किसी का प्रकार घमण्ड या उपहास करता हूँ। न मुझे हर्ष से कोई अभिमान है। मैं तो आज तेरी आपत्ति को देखकर सत्य प्रतिज्ञा वाले, दशरथ पुत्र श्रीराम का स्मरण कर रहा हूँ। ॥८॥

स चापि राजा सह लक्ष्मणेन वने निवासं पितुरेव शासनात् ।
अन्वी चरन् पार्थ मयैव दृष्टो गिरेः पुरा ऋष्यमूकस्य सानौ ॥

इस राजा ने भी अपने पिता की आज्ञा से लक्ष्मण के साथ वन में निवास किया था। हे राजन्! पूर्वकाल में ऋष्यमूक पर्वत की चोटी पर मैंने धनुष धारण किये हुए उनको अपनी आंखों से देखा है ॥९॥

सहस्रनेत्रप्रतिमो महात्मा यमस्य नेता नमुचेश्च हन्ता।
पितुर्निदेशादनघः स्वधर्मं वासं वने दाशरथीश्चकार ॥१०॥

ये महात्मा, राम, यम के नेता, और नमुचि के मारने वाले इन्द्र के समान बली थे। सब प्राणियों में श्रेष्ठ, इन राम ने भी अपना धर्म समझ कर पिता की आज्ञा से वन में वास किया था ॥१०॥

स चापि शक्रस्य समप्रभावो महानुभावः समरेष्वजेयः।
विहाय भोगानचरद्वनेषु नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥११॥

ये महानुभाव, इन्द्र के समान प्रभाव शाली और युद्ध में दुर्जय थे। इन्होंने भोगों को छोड़कर वन में निवास किया और "मैं शक्ति शाली हूँ, इस ध्यान से कभी अधर्म का आचरण न किया ॥११॥

नृपाश्च नाभागभगीरथादयो महीमिमां सागरान्तां विजित्य।
सत्येन तेऽप्यजयंस्तात लोकान्नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥

हे राजन्! नाभाग और भगीरथ आदि राजाओं ने समुद्र पर्यन्त इस पृथिवी को जीतकर राज्य किया। इन्होंने लोकों को सत्य से ही जीता था, शक्तिशाली होने पर भी कभी अधर्म का आचरण नहीं किया ॥१२॥

अलर्कमाहुर्नरवर्य्य सन्तं सत्यव्रतं काशिकरूषराजम् ।
विहाय राज्यानि वसूनि चैव नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥

हे नर-श्रेष्ठ ! सत्य प्रतिज्ञा धारी, काशी और करूष देश के स्वामी, अलर्क को लोग महात्मा जानते हैं । इसने भी राज्य और धन की परवा न करके धर्म का आचरण किया, इससे 'मैं बलवान हूँ; ऐसा समझ कर कोई भी अधर्म न करे ॥१३॥

धात्रा विधिर्यो विहितः पुराणैस्तं पूजयन्तो नरवर्य्य सन्तः
सप्तर्षयः पार्थ दिवि प्रभान्ति नेशे बलस्येति चरेदधर्म्मम् ।

हे राजन् ! विधाता ने जो वेद द्वारा विधि कही है, उसका आदर करने वाला ही विद्वान् माना गया है । इसी से सप्तर्षि आकाश में चमक रहे हैं, किसीको भी शक्तिशाली होने के कारण अधर्म नहीं करना चाहिये ॥१४॥

महाबलान् पर्वतकूटमात्रान् विषाणिनः पश्य गजान्नरेन्द्र ।
स्थितान्निदेशे नरवर्य्य धातुर्नेशे बलस्येति चरेदधर्म्मम् ॥

हे राजन् ! ऊंचे २ पर्वतों के आकार वाले, महाबली सींग-धारी पशु या हाथियों को देखो, जो विधाता के नियम में चलते हैं । इससे बलवान् को भी अधर्म नहीं करना चाहिये ॥१५॥

सर्वाणि भूतानि नरेन्द्र पश्य तथा यथावद्विहितं विधात्रा।
स्वयोनितः कर्म्म सदा चरन्ति नेशे बलस्येति चरेदधर्मम् ॥

हे राजन् ! तुम इसी प्रकार सारे सर्प आदि प्राणियों को समझो जो विधाता के नियम में चलते हैं, और अपनी योनि

के अनुसार कर्म करते, शक्तिशाली होने पर भी कभी ये अधर्म नहीं करते ॥१६॥

सत्येन धर्मेण यथार्हवृत्त्या ह्रिया तथा सर्वभूतान्यतीत्य ।
यशश्च तेजश्च तवापि दीप्तं विभावसोर्भास्करस्येव पार्थ ॥

हे राजन् ! तुमने भी सत्य, धर्म और उत्तम आचरण तथा संकोच शीलता से सब प्राणियो को जीत लिया है। प्रकाश करने वाले सूर्य के तुल्य तुम्हारा भी यश और तेज देदीप्यमान हो रहा है ॥१७॥

यथाप्रतिज्ञश्च महानुभाव कृच्छ्रं वने वासमिमं निरुष्य ।
ततः श्रियं तेजसा तेन दीप्तामादास्यसे पार्थिव कौरवेभ्यः॥

हे महानुभाव ! तुम भी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार क्लेश कारी वन में वास करके अन्त में अपनी उत्तम राज्य लक्ष्मी को कौरवों से छीन लोगे ॥१८॥

वैशम्पायन उवाच—

तमेवमुक्त्वा वचनं महर्षिस्तपस्विमध्ये सहितं सुहृद्भिः ।
आमन्त्र्य धौम्यं सहितांश्च पार्थास्ततः प्रतस्थेर्दिशमुत्तरां सः

इति श्री महाभारते आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणिद्वैतवनप्रवेशे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥२५॥

वैशम्पायन कहने लगे—हे राजन् ! महर्षि मार्कण्डेय, तपस्वियों के मध्य में अपने सुहृदों के साथ बैठे हुए राजा युधिष्ठिर

से इतना कह कर पुरोहित धौम्य तथा अन्य राजाओं से आज्ञा लेकर उत्तर दिशा को चल दिये ॥१६॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमन पर्व में
द्वैतवन प्रवेश का पच्चीसवां अध्याय पूरा हुआ।

छब्बीसवां अध्याय

वसत्सु वै द्वैतवने पाण्डवेषु महात्मसु।
अनुकीर्णं महारण्यं ब्राह्मणैः समपद्यत ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! द्वैतवन में पाण्डवों के निवास करने के समय यह महावन ब्राह्मणों से व्याप्त होगया ॥१॥

ईर्य्यमाणेन सततं ब्रह्मघोषेण सर्वशः।
ब्रह्मलोकसमं पुण्यमासीद् द्वैतवनं सरः ॥२॥

इन ब्राह्मणों द्वारा की गई वेद-ध्वनि से द्वैतवन सहित यह सरोवर, ब्रह्म लोक सा प्रतीत होने लगा ॥२॥

यजुषामृचां साम्नाञ्च गद्यानाञ्चैव सर्वशः।
आसीदुच्चार्य्यमाणानां निस्वनो हृदयङ्गमः ॥३॥

ऋग् यजुः और सामवेद तथा ब्राह्मण भाग के उच्चारण से उत्पन्न हुआ शब्द सबके हृदयों को प्रिय प्रतीत होता था ॥३॥

ज्याघोषश्चैव पार्थानां ब्रह्मघोषश्च धीमताम्।
संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं भूय एव व्यरोचत ॥४॥

पाण्डवों के धनुष का शब्द और ब्राह्मणों का वेद शब्द मिल कर ब्रह्म और क्षत्र एक स्थान पर ही सुशोभित हो रहा था ॥४॥

अथाब्रवीद्बको दाल्भ्यो धर्म्मराजं युधिष्ठिरम् ।
सन्ध्यां कौन्तेयमासीनमृषिभिः परिवारितम् ॥५॥

इस समय दाल्भ के पुत्र बक ने सन्ध्या करके ऋषियों के सहित बैठे हुए धर्मराज युधिष्ठिर से कहा ॥५॥

पश्य द्वैतवने पार्थ ब्राह्मणानां तपस्विनाम् ।
होमवेलां कुरुश्रेष्ठ संप्रज्वलितपावकाम् ॥६॥

हे पार्थ ! कुरुवंश श्रेष्ठ ! तुम इस द्वैतवन में तपस्वी ब्राह्मणों की जलती हुई अग्नि वाली होम की वेला (समय) को देखो ॥६॥

चरन्ति धर्मं पुण्येऽस्मिंस्त्वया गुप्ता धृतव्रताः ।
भृगवोऽङ्गिरसश्चैव वाशिष्ठाः काश्यपैः सह ॥७॥
आगस्त्याश्च महाभागा आत्रेयाश्चोत्तमव्रताः ।
सर्वस्य जगतः श्रेष्ठाः ब्राह्मणाः सङ्गतास्त्वया ॥८॥

हे राजन् ! इस पवित्र वन में व्रत शील भृगु अङ्गिरा और कश्यप वंशियों के साथ वसिष्ठ वंश के ब्राह्मण तथा अगस्त्य के वंशज, एवं व्रत परायण अत्रि कुलोत्पन्न महानुभाव ब्राह्मण, तुम से सुरक्षित होकर धर्म करते रहते हैं। इसका उत्तम संसर्ग इस समय तुमको प्राप्त हो रहा है ॥७-८॥

इदन्तु वचनं पार्थ शृणुष्व गदतो मम ।
भ्रातृभिः सह कौन्तेय यत्त्वां वक्ष्यामि कौरव ॥९॥

हे पार्थ ! तुम अपने भाइयों के साथ मेरे कहे हुए इस वचन को सुनो मैं तुमको जो कुछ कहता हूँ ॥९॥

ब्रह्म क्षत्रेण संसृष्टं क्षत्रञ्च ब्रह्मणा सह ।
उदीर्णौ दहतः शत्रून् वनानीवाग्निमारुतौ ॥१०॥

इस समय ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व से और क्षत्रियत्व ब्राह्मणत्व से मिल गया है। जब यह उच्च कोटि को प्राप्त हो जावेगा, तब वन को आग और वायु के समान यह भी शत्रुओं को जला डालेगा ॥१०॥

नाब्राह्मणस्तात चिरं बुभूषेदिच्छन्निमं लोकममुञ्च जेतुम्
विनीतधर्मार्थमपेतमोहं लब्ध्वा द्विजं नुदति नृपः सपत्नान्॥

हे राजन् ! जो राजा इस लोक के ऐश्वर्य और परलोक का विजय चाहता है वह ब्राह्मणों के सम्पर्क के विना प्राप्त नहीं कर सकता है। जिसने धर्म और अर्थ के उपाय अच्छी तरह सीख लिए हैं। उस ब्राह्मण को पाकर राजा शत्रुओं पर विजय पा लेता है ॥ ११ ॥

चरन्नैःश्रेयसं धर्मं प्रजापालनकारितम् ।
नाध्यगच्छद्बलिर्लोके तीर्थमन्यत्र वै द्विजात् ॥१२॥

राजा बलि ने भी प्रजा पालन में प्राप्त हुए कल्याणकारी धर्म प्राप्ति के उपाय ब्राह्मणों से भिन्न अन्य कुछ नहीं समझे ॥१२॥

अनूनमासीदसुरस्य कामैर्वैरोचने. श्रीरपि चाक्षयासीत् ।
लब्ध्वा महीं ब्राह्मणसंप्रयोगात्तेष्वाचरन् दुष्टमथो व्यनश्यत्

असुरों की कामना में यह किसी से कम नहीं था। इस राजा बलि की राज्यलक्ष्मी भी अक्षय थी। ब्राह्मणों की सङ्गति से इसने राज्य पाया। ब्राह्मणों की सेवा में तत्पर होने से ही इसके सारे दुःख नष्ट हुए ॥१३॥

नाब्राह्मणं भूमिरियं सभूतिर्वर्णं द्वितीयं भजते चिराय।
समुद्रनेमिर्नमते तु तस्मै यं ब्राह्मणः शास्ति नयैर्विनीतम्

ब्राह्मणों की सहायता के विना यह भूमि क्षत्रियों के लिए चिरकाल तक कल्याणकारी नहीं होती है। जिस नम्र राजा का शासन ब्राह्मण करता है, उसके लिए समुद्र भी झुकजाता है ॥१४

कुञ्जरस्येव संग्रामे परिगृह्याङ्कुशग्रहम्।
ब्राह्मणैर्विप्रहीनस्य क्षत्रस्य क्षीयते बलम् ॥१५॥

युद्ध में अंकुश रहित हाथी की भांति ब्राह्मणों से हीन क्षत्रिय का बल क्षीण होजाता है ॥१५॥

ब्राह्मण्यानुपमा दृष्टिः क्षात्रमप्रतिमं बलम्।
तौ यदा चरतः सार्द्धं तदा लोकः प्रसीदति ॥१६॥

ब्रह्मशक्ति अद्भुत दृष्टि है, क्षत्रियत्व अद्भुत बल है। जब ये दोनों साथ होते हैं, तभी संसार सुखी रह सकता है ॥१६॥

यथाहि सुमहानग्निः कक्षं दहति सानिलः।
तथा दहति राजन्यो ब्राह्मणेन समं रिपुम् ॥१७॥

जैसे प्रज्वलित अग्नि वायु के साथ काष्ठ के ढेरको जला
डालती है, वैसे ब्राह्मणों की सहायता से क्षत्रिय भी शत्रुओं को
फूंक देता है ॥१७॥

ब्राह्मणेष्वेव मेधावी बुद्धिपर्य्येषणाञ्चरेत् ।
अलब्धस्य च लाभाय लब्धस्य परिवृद्धये ॥१८॥

बुद्धिमान् राजा ब्राह्मणों से ही सारी बुद्धि का संग्रह करे
जो ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ उसको ग्रहण करता रहे, तथा प्राप्त हुए
ज्ञान की ब्राह्मणों के द्वारा ही वृद्धि करे ॥१८॥

अलब्धलाभाय च लब्धवृद्धये यथार्हतीर्थप्रतिपादनाय ।
यशस्विनं वेदविदं विपश्चितं बहुश्रुतं ब्राह्मणमेव वासय॥

नहीं प्राप्त हुए धन की प्राप्ति तथा प्राप्त हुए धनकी वृद्धि एवं
योग्य पात्रों में धन का दान करने के लिए तुम किसी यशस्वी
वेद के ज्ञाता, विद्वान्, बहुश्रुत ब्राह्मण को अपने साथ अवश्य
रखो ॥१९॥

ब्राह्मणेषूत्तमा वृत्तिस्तव नित्यं युधिष्ठिर ।
तेन ते सर्वलोकेषु दीप्यते प्रथितं यशः ॥२०॥

हे युधिष्ठिर ब्राह्मणों में आपकी अच्छी भक्ति है, इसी से
तुम्हारा यश लोकों में दीप्त होरहा है ॥२०॥

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे बकं दाल्भ्यमपूजयन् ।
युधिष्ठिरे स्तूयमाने भूयः सुमनसोऽभवन् ॥२१॥

वैशम्पायन कहने लगे—इस समय सारे ब्राह्मणों ने दाल्भ के पुत्र बक का बड़ा सत्कार किया ! जब राजा युधिष्ठिर ने भी उनकी प्रशंसा की तो फिर सारे बड़े प्रसन्न हुए ॥२१॥

द्वैपायनो नारदश्च जामदग्न्यः पृथुश्रवाः ।
इन्द्रद्युम्नो भालुकिश्च कृतचेताः सहस्रपात् ॥२२॥
कर्णयवाश्च मुञ्जश्च लवणाश्वश्च काश्यपः ।
हारीतः स्थूलकर्णश्च अग्निवेश्योऽथ शौनकः ॥२३॥
कृतवाक् च सुवाक् चैव बृहदश्वो विभावसुः ।
ऊर्ध्वरेता वृषामित्रः सुहोत्रो होत्रवाहनः ॥२४॥
एते चान्ये च बहवो ब्राह्मणाः संशितव्रताः ।
अजातशत्रुमानर्चुः पुरन्दरमिवर्षयः ॥२॥

वेद-व्यास, नारद, परशुराम, पृथुश्रवा, इन्द्रद्युम्न, भालुकि कृतचेता, सहस्रपात्, कर्णयव, मुञ्ज, लवणाश्व, काश्यप, हारीत, स्थूलकर्ण, अग्निवेश्य, शौनक, कृतवाक्, बृहदश्व, विभावसु, उर्ध्वरेता, वृषामित्र, सुहोत्र, होत्रवाहन तथा अन्य अन्य अनेक ब्राह्मणों ने ऋषियों से इन्द्र के समान राजा युधिष्ठिरका सत्कार किया ॥२२॥-॥२५॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमन
पर्व में द्वैतवन के प्रवेश का छब्बीसवां
अध्याय समाप्त हुआ ।



सत्ताईसवां अध्याय

ततो वनगताः पार्थाः सायाह्ने सह कृष्णया ।
उपविष्टाः कथाश्चक्रुर्दुःखशोकपरायणाः ॥१॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! वन में निवास करते हुए एक दिन सायंकाल द्रौपदी के साथ बैठे हुए, पाण्डव, अपने दुःख और शोक की चर्चा करने लगे ॥१॥

प्रिया च दर्शनीया च पण्डिता च पतिव्रता ।
अथ कृष्णा धर्मराजमिदं वचनमब्रवीत् ॥२॥

इस समय सुन्दर, पण्डिता, पतिव्रता, प्रिय, पत्नी द्रौपदी धर्मराज से यह वचन बोली ॥२॥

न नूनं तस्य पापस्य दुःखमस्मासु किञ्चन ।
विद्यते धार्त्तराष्ट्रस्य नृशंसस्य दुरात्मनः ॥३॥
यस्त्वां राजन् मया सार्द्धमजिनैः प्रतिवासितम् ।
वनं प्रस्थाप्य दुष्टात्मा नान्वतप्यत दुर्मतिः ॥४॥

हे राजन्! हमको उस दुष्ट पापी दुर्योधन द्वारा किये हुए पाप का इतना दुख नहीं है, जितना तुम मृगचर्म पहनकर मेरे साथ वन में आकर भी कुछ सन्ताप नहीं होते हो, इसका दुःख है। यह दुर्बुद्धि, आत्मा को अत्यन्त कलुषित करने वाली है ॥३॥—॥४॥

आयसं हृदयं नूनं तस्य दुष्कृतकर्म्मणः ।
यस्त्वां धर्म्मपरं ज्येष्ठं रूक्षाण्यश्रावयत्तदा ॥५॥

उस पापी दुर्योधन का हृदय निश्चय लोहे का बना हुआ है, जिसने सर्व-श्रेष्ठ, तुम धर्मात्मा को भी रूक्ष वचन सुनाए ॥५॥

सुखोचितमदुःखार्हं दुरात्मा ससुहृद्गणः ।
ईदृशं दुःखमानीय मोदते पापपूरुषः ॥६॥

दुष्ट, पापी मनुष्य दुर्योधन, अपने मित्रों के साथ, सुख के योग्य, दुःख के अयोग्य आपको इस प्रकार के दुःख में डाल कर बड़ा ही प्रसन्न हो रहा है ॥६॥

चतुर्णामेव पापानामस्रं न पतितं तदा ।
त्वयि भारत निष्क्रान्ते वनायाजिनवाससि ॥७॥
दुर्य्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुर्भ्रातुस्तस्य चोग्रस्य राजन् दुःशासनस्य च ॥८॥

हे राजन् ! वनवासियों के वस्त्र पहनकर वन में निकलने के समय दुर्योधन, कर्ण, शकुनि और दुष्ट भ्राता दुःशासन इन चारों पापियों की आंखों से आंसू नहीं निकले ॥७॥–॥८॥

इतरेषान्तु सर्वेषां कुरूणां कुरुसत्तम ।
दुःखेनाभिपरीतानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥९॥

हे कुरुसत्तम ! उस समय अन्य सारे दुःखी कौरवों की आंखों से आंसू गिर रहे थे ॥ ९ ॥

इदृश्च शयनं दृष्ट्वा यच्चासीत्ते पुरातनम् ।
शोचामि त्वां महाराज दुःखानर्हं सुखोचितम् ॥१०॥

हे महाराज ! आपकी उस पुरानी खाट को देखकर दुःख के अयोग्य, सुख पाने के उचित, आपका बड़ा सोच करती हूं ॥१०॥

दान्तं यच्च सभामध्ये आसनं रत्नभूषितम् ।
दृष्ट्वा कुशबृषीश्चेमां शोको मां रुन्धयत्ययम् ॥११॥

तुम्हारा सभा के मध्य में बड़ा भारी हाथी दांत का बना हुआ उच्च आसन लगता था। अब उस कुशा के आसन को देखकर मुझे शोक रौंधे डालता है ॥११॥

यदपश्यं सभायां त्वां राजभिः परिवारितम् ।
तच्च राजन्नपश्यन्त्याः का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥१२॥

हे राजन् ! राजाओं के समूह से घिरे हुए तुमको मैंने देखा है, अब उस प्रकार तुमको न देखकर मेरे चित्त को कैसे शान्ति मिल सकती है ॥१२॥

या त्वाहं चन्दनादिग्धमपश्यं सूर्य्यवर्चसम् ।
सा त्वां पङ्कमलादिग्धं दृष्ट्वा मुह्यामि भारत ॥१३॥

हे भारत ! मैंने तुम्हें चन्दन से लिपे हुए सूर्य्य के तुल्य तेजस्वी देखा है अब तुमको मैल और मिट्टी में लिपा देखकर बेहोश सी हो जाती हूँ ॥१३॥

या त्वाहं कौशिकैर्वस्त्रैः शुभ्रैराच्छादितं पुरा ।
दृष्टवत्यस्मि राजेन्द्र सा त्वां पश्यामि चीरिणम् ॥१४॥

हे राजेन्द्र ! मैंने तुमको सुन्दर २ रेशमी वस्त्रों से आच्छादित देखा है, अब तुमको फटे वस्त्रों से युक्त देखकर बड़ी क्लेशित हो रही हूं ॥१४॥

यच्च तद्रुक्मपात्रीभिर्ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ।
ह्रियते ते गृहादन्नं संस्कृतं सार्वकामिकम् ॥१५॥

आपके घर में सहस्रों ब्राह्मण, सोने के पात्रों में सब मनोरथों के देने वाला, उत्तम अन्न, प्राप्त किया करते थे ॥१५॥

यतीनामगृहाणां ते तथैव गृहमेधिनाम् ।
दीयते भोजनं राजन्नतीव गुणवत् प्रभो ॥१६॥

हे राजन् ! आप ब्रह्मचारी, गृहस्थ और यतियों को अत्यन्त गुणकारी भोजन देते रहते थे ॥१६॥

सत्कृतानि सहस्राणि सर्वकामैः पुरा गृहे ।
सर्वकामैः सुविहितैर्यदपूजयथा द्विजान् ॥१७॥
तच्च राजन्नपश्यन्त्याः का शान्तिर्हृदयस्य मे ।

पूर्वकाल में आपने सहस्रों ब्राह्मणों को उनकी कामना के अनुसार तृप्त किया है और सब तरह की इच्छा पूर्ण करके आपने उन विप्रों की पूजा की है, इन सब साधनों को न देखकर मेरे हृदय में कैसे शान्ति रह सकती है ॥१७॥

यत्ते भ्रातॄन्महाराज युवानो मृष्टकुण्डलाः ॥१८॥
अभोजयन्त मिष्टान्नैः सूदाः परमसंस्कृतैः ।

सर्वांस्तानद्य पश्यामि वने वन्येन जीविनः ॥१९॥
अदुःखार्हान्मनुष्येन्द्र नोपशाम्यति मे मनः।

हे महाराज! चमकते हुये सुवर्ण के कुण्डल-धारी, युवा रसोइये, तुम्हारे भाइयों को उत्तम २ रीति से बनाये हुए मिष्ट भोजनों से सन्तुष्ट करते थे। आज उन सुख के योग्य भाइयों को इस वन में वन के अन्न से निर्वाह करते देखकर मेरा मन बड़ा ही व्याकुल हो रहा है ॥१८-१९॥

ध्यायतः किं न मन्युस्ते प्राप्ते काले विवर्द्धते।
भीमसेनमिमञ्चापि दुःखितं वनवासिनम् ॥२०॥

इस वनवासी दुःखी भीमसेन को देखकर क्या इस समय भी तुम्हारा क्रोध नहीं बढ़ता है ? ॥२०॥

भीमसेनं हि कर्माणि स्वयं कुर्वाणमच्युतम् ॥२१॥
सुखार्हं दुःखितं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्द्धते।

अपने कर्तव्य से नहीं हटने वाला और कठिन कामों को भी पूरा कर देने में तत्पर, सुख के योग्य भीमसेन को दुःखी देखकर भी इस समय तुम्हारा क्रोध क्यों नहीं बढ़ता है ? ॥२१॥

सत्कृतं विविधैर्यानैर्वस्त्रैरुच्चावचैस्तथा ॥२२॥
तन्ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्द्धते।

जिस भीम का तुम अनेक वाहन और उत्तम २ वस्त्रों से सत्कार करते थे, उसको वन में देख कर तुम्हारा कोप क्यों नहीं बढ़ता है ? ॥२२॥

अयं कुरूव्रणे सर्वान् हन्तुमुत्सहते प्रभुः ॥२३॥
त्वत्प्रतिज्ञां प्रतीक्षंस्तु सहतेऽयं वृकोदरः ।

यह शक्तिशाली भीम, रण में सारे कौरवों को मार सकता, है, परन्तु तुम्हारी प्रतिज्ञा की प्रतीक्षा करके ही यह सब कुछ दुःख सह रहा है ॥२३॥

योऽर्जुनेनार्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना ॥२४॥
शरावमर्दे शीघ्रत्वात् कालान्तकयमोपमः ।
यस्य शस्त्रप्रतापेन प्रणताः सर्वपार्थिवाः ॥२५॥
यज्ञे तव महाराज ब्राह्मणानुपतस्थिरे ।
तमिमं पुरुषव्याघ्रं पूजितं देवदानवैः ॥२६॥
ध्यायन्तमर्जुनं दृष्ट्वा कस्माद्राजन्न कुप्यसि ।

जो अर्जुन दो भुजा वाला होकर भी सहस्र भुजा वाले कार्तवीर्य अर्जुन के तुल्य बली हैं तथा बाणों के फेंकने में शीघ्रता के कारण यम और काल सा प्रतीत होता है। जिसके प्रताप के आगे पहिले राजसूय यज्ञ के समय सारे राजा झुक गये और ब्राह्मणों की सेवा में उपस्थित हुए उसी पुरुष रत्न अर्जुन को दुःखी देखकर भी तुम क्यों नहीं कुपित होते हो ॥२४-२६॥

दृष्ट्वा वनगतं पार्थमदुःखार्हं सुखोचितम् ॥२७॥
न च ते वर्द्धते मन्युस्तेन मुह्यामि भारत ।

हे भारत ! उस कुन्ती के पुत्र, दुःख पाने के अयोग्य और सुख के योग्य, अर्जुन को वन में देख कर भी तुम्हारा क्रोध क्यों नहीं बढ़ता है, जिससे मैं बड़ी अचेतन सी हो रही हूँ ॥२७॥

यो देवांश्च मनुष्यांश्च सर्पांश्चैकरथोऽजयत् ॥२८॥
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्द्धते ।

जिस महारथी ने देव, मनुष्य और सर्पजाति को भी अकेले ही जीत लिया, उसको वन में देखकर भी तुम्हारा क्रोध नहीं बढ़ता, यह बड़ा ही आश्चर्य है ॥२८॥

यो यानैरद्भुताकारैर्हयैर्नागैश्च संवृतः ॥२९॥
प्रसह्य वित्तान्यादत्त पार्थिवेभ्यः परन्तपः ।
क्षिपत्येकेन वेगेन पञ्चबाणशतानि यः ॥३०॥
तं ते वनगतं दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्द्धते ।

जिस शत्रु-विजयी, अर्जुन ने अद्भुत २ सवारी, घोड़े, हाथियों से युक्त होकर अन्य राजाओं पर चढ़ाई की और उनसे बलपूर्वक भेंट ग्रहण की। जो एक बार में ही पांच २ सौ बाण चला सकता है; उस अर्जुन को क्लेश में देखकर भी तुम्हें क्रोध क्यों नहीं आता है ॥२९-३०॥

श्यामं बृहन्तं तरुणं चर्मिणामुत्तमं रणे ॥३१॥
नकुलं ते वने दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्द्धते ।

बड़े विशाल शरीर के धारी, युवा, श्यामवर्ण, रण में ढाल तलवार-धारियों में कुशल, नकुल को देखकर भी तुम्हें कोप क्यों नहीं चढ़ता है ॥३१॥

दर्शनीयश्च शूरश्च माद्रीपुत्रं युधिष्ठिर ॥३२॥
सहदेवं वने दृष्ट्वा कस्मात् क्षमसि पार्थिव ।

हे राजन् ! सुन्दर, शूरवीर, माद्री-पुत्र सहदेव को भी वन में देखकर तू कैसे क्षमा कर रहा है ॥३२॥

अदुःखार्हौ मनुष्येन्द्र कस्मान्मन्युर्न वर्द्धते ।
नकुलं सहदेवञ्च दृष्ट्वा ते दुःखितावुभौ ॥३३॥

हे मनुष्येन्द्र ! दुःख के अयोग्य होने पर भी नकुल और सहदेव को दुःखी देखकर तुम्हारा क्रोध क्यों नहीं बढ़ता है ॥३३॥

द्रुपदस्य कुले जातां स्नुषां पाण्डोर्महात्मनः ॥३४॥
धृष्टद्युम्नस्य भगिनीं वीरपत्नीमनुव्रताम् ।
मां वै वनगतां दृष्ट्वा कस्मात् क्षमसि पार्थिव ॥३५॥

द्रुपद के कुल में उत्पन्न और महात्मा पाण्डु की पुत्रवधू धृष्टद्युम्न की बहन; वीर पति की भार्या, आज्ञा के अनुसार रहने वाली, मुझ द्रौपदी को देखकर भी तुम कैसे क्षमा कर रहे हो ॥३४-३५॥

नूनञ्च तव वै नास्ति मन्युर्भरतसत्तम ।
यत्ते भ्रातृंश्च माञ्चैव दृष्ट्वा न व्यथते मनः ॥३६॥

हे भरत-सत्तम ! अब तेरे शरीर में जोश ही बाकी नहीं रह गया है; जो अपने इन भाई और मुझे इस दशा में देखकर भी तेरा मन क्लेशित नहीं होता है ॥३६॥

न निर्मन्युः क्षत्रियोऽस्ति लोके निर्वचनं स्मृतम् ।
तदद्य त्वयि पश्यामि क्षत्रिये विपरीतवत् ॥३७॥

क्षत्रिय तो कभी कोपशून्य नहीं हो सकता है, यही क्षत्रिय शब्द का निर्वचन (व्युत्पत्ति) है, परन्तु तुम क्षत्रिय में यह मत्र कुछ विपरीत दिखाई देरहा है ॥३७॥

यो न दर्शयते तेजः क्षत्रियः काल आगते ।
सर्वभूतानि तं पार्थ सदा परिभवन्त्युत ॥३८॥

जो क्षत्रिय, समय आने पर अपना तेज नहीं दिखाता है, उस क्षत्रिय को प्रत्येक प्राणी तिरस्कार की दृष्टि से देखता है ॥३८॥

तत्त्वया न क्षमा कार्य्या शत्रून् प्रति कथञ्चन ।
तेजसैव हि ते शक्या निहन्तुं नात्र संशयः ॥३९॥

हे राजन् ! तुमको शत्रु के ऊपर इस प्रकार क्षमा न करनी चाहिये । ये शत्रु तो सदा तेज से ही जीते जा सकते हैं ॥३९॥

तथैव यः क्षमाकाले क्षत्रियो नोपशाम्यति ।
अप्रियः सर्वभूतानां सोऽमुत्रेह च नश्यति ॥४०॥

इति आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीपरिताप-
वाक्ये सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

इसी प्रकार जो क्षत्रिय, क्षमा के समय क्षमा नहीं करता है, वह सबका अप्रिय होकर, इस लोक और परलोक में नष्ट होजाता है ॥४०॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमन पर्वमें
द्रौपदी के परिताप का सत्ताईसवां अध्याय समाप्त हुआ।



अट्ठाईसवाँ अध्याय

द्रौपद्युवाच—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रह्लादस्य च संवादं बलेर्वैरोचनस्य च ॥१॥

द्रौपदी बोली—हेराजन् ! इस विषय में एक प्राचीन इतिहास सुना जाता है। जो विरोचन के पुत्र, बलि और प्रह्लाद के नाम से प्रसिद्ध हैं ॥१॥

असुरेन्द्रं महाप्राज्ञं धर्माणामागतागमम् ।
बलिः पप्रच्छ दैत्येन्द्रं प्रह्लादं पितरं पितुः ॥२॥

एक बार राजा बलि ने अपने पिता के पिता (दादा) असुरों के स्वामी, महाबुद्धिमान्, धर्म के रहस्य को जानने वाले, दैत्यराज प्रह्लाद से पूछा ॥२॥

बलिरुवाच—

क्षमा स्विच्छ्रेयसी तात उताहो तेज इत्युत ।
एतन्मे संशयं तात यथावद् ब्रूहि पृच्छते ॥ ३ ॥

हे तात ! क्षमा करना उत्तम है, या तेजस्वी रहकर क्रोध करना चहिये मुझे इस विषय में बड़ा सन्देह है, इसलिये पूछता हूँ, आप ठीक कर बताइये ॥३॥

श्रेयो यदत्र धर्मज्ञ ब्रूहि मे तदसंशयम् ।
करिष्यामि हि तत्सर्वं यथावदनुशासनम् ॥ ४ ॥

हे धर्मात्मन्! इन दोनों में जो निश्चय कल्याणकारी हो, वही कहो। तुम जो बताओगे, मैं वही करूंगा ॥४॥

तस्मै प्रोवाच तत्सर्वमेवं पृष्टः पितामहः।
सर्वनिश्चयवित् प्राज्ञः संशयं परिपृच्छते ॥ ५ ॥

अपने सन्देह को आगे रखने वाले, राजा बलि से शास्त्र के सिद्धान्त के ज्ञाता, पितामह, दैत्यराज प्रह्लाद ने सब कुछ बताया ॥ ५ ॥

प्रह्लाद उवाच—

न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा।
इति तात विजानीहि द्वयमेतदसंशयम् ॥ ६ ॥

प्रह्लाद ने कहा—हे पुत्र! न तो सदा तेज धारण करना ही उचित है और न सदा क्षमा करना ही कल्याणकारी है यह तुम निश्चय समझ लो ॥ ६ ॥

यो नित्यं क्षमते तात बहून दोषान् स विन्दन्ति।
भृत्याः परिभवन्त्येनमुदासीनास्तथारयः ॥ ७ ॥

हे तात! जो नित्य क्षमा करता रहता है। उसको बहुत क्लेश प्राप्त होते हैं। उसके नौकर उदासीन तथा शत्रु सब तिरस्कार करने लगते हैं ॥ ७ ॥

सर्वभूतानि चाप्यस्य न नमन्ते कदाचन।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपवादिता ॥ ८ ॥

इसके सामने कोई भी प्राणी नम्र नहीं होता है, सब कठोर बने रहते हैं, इसीलिए पण्डितों ने ऐसे स्थानों पर क्षमा का निषेध किया है ॥ ८ ॥

अवज्ञाय हितं भृत्या भजन्ते बहुदोषताम् ।
आदातुञ्चास्य वित्तानि प्रार्थयन्तेऽल्पचेतसः ॥ ९ ॥

भृत्यजन, उसका तिरस्कार करके सब तरह की गड़बड़ी मचा देते हैं। ये मूर्ख, इसके धन के अपहरण करने का प्रयत्न करने लगते हैं ॥ ९ ॥

यानं वस्त्राण्यलंकारान् शयनान्यासनानि च ।
भोजनान्यथ पानानि सर्वोपकरणानि च ॥ १० ॥
आददीरन्नधिकृता यथाकाममचेतसः ।
प्रदिष्टानि च देयानि न दद्युर्भर्तृशासनात् ॥ ११ ॥

वाहन, वस्त्र, अलङ्कार, शयन, आसन, भोजन, पान आदि सारी सामग्री, दुष्ट भृत्यजन अपनी इच्छा से ही भोगने लगते हैं और स्वामी की आज्ञा से देने योग्य धन को भी प्रदान नहीं करते हैं ॥ १०-११॥

न चैनं भर्तृपूजाभिः पूजयन्ति कथञ्चन ।
अवज्ञानं हि लोकेऽस्मिन् मरणादपि गर्हितम् ॥ १२ ॥

दासजन, क्षमाशील स्वामी का उचित आदर भी नहीं करते हैं। इस जगत् में अपमान मौत से भी बढ़कर निन्दित है ॥१२॥

क्षमिणं तादृशं तात ब्रुवन्ति कटुकान्यपि ।
प्रेष्याः पुत्राश्च भृत्याश्च तथोदासीनवृत्तयः ॥ १३ ॥

हे पुत्र ! क्षमा करने वाले पुरुष को दास, पुत्र, सेवक और उदासीन सब बुरा भला सुना डालते हैं ॥ १३ ॥

अथास्य दारानिच्छन्ति परिभूय क्षमावतः ।
दाराश्चास्य प्रवर्त्तन्ते यथाकाममचेतसः ॥ १४ ॥

क्षमाशील पुरुष की परवाह न करके दुष्ट लोग, उसकी स्त्रियों तक का अपहरण करना चाहते हैं । वे समझ स्त्रियाँ भी इन क्षमाशील महात्माओं का अतिक्रमण करके अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार करती हैं ॥ १६ ॥

तथा च नित्यमुदिता यदि नाल्पमपीश्वरात् ।
दण्डमर्हन्ति दुष्यन्ति दुष्टाश्चाप्यपकुर्वते ॥ १५ ॥

ये नित्य उत्सवों में लगे रहते हैं, तो भी राजा इन पर अधिक दण्ड कर देता है । दुष्ट सब प्रकार इनको दूषित करते हैं और इनका अपकार करते रहते हैं ॥ १५ ॥

एते चान्ये च बहवो नित्यं दोषाः क्षमावताम् ।
अथ वैरोचने दोषानिमान् विद्ध्यक्षमावताम् ॥ १६ ॥

क्षमा करने वाले को इस प्रकार की हानियां प्राप्त होना रहती हैं । हे बलि ! अब तुम क्षमा न करने वाले क्रोधियों के दोषों को सुनो ॥ १६ ॥

अस्थाने यदि वा स्थाने सततं रजसावृतः ।
क्रुद्धो दण्डान् प्रणयति विविधान् स्वेन तेजसा ॥१७॥

उचित अनुचित सब स्थानों में ही रजोगुण से व्याप्त होकर क्रुद्ध मनुष्य, अपने तेज से अन्य पर अनेक दण्ड आरोपण करता रहता है ॥ १७ ॥

मित्रैः सह विरोधश्च प्राप्नुते तेजसावृतः ।
आप्नोति द्वेष्यताश्चैव लोकात् स्वजनतस्तथा ॥१८॥

इस तरह क्रोध से भरे हुए मनुष्य से मित्रों का भी झगड़ा हो जाता है। इससे सारा कुटुम्ब तथा सारा जगत् ही द्वेष करने लग जाता है ॥ १८ ॥

सोऽवमानादर्थहानिमुपालम्भमनादरम् ।
सन्तापद्वेषमोहांश्च शत्रूंश्च लभते नरः ॥ १९ ॥

यह मनुष्य, घमण्ड के कारण धन-हानि, निन्दा और अनादर सहता है तथा दुःख, द्वेष, मोह और शत्रुओं को प्राप्त करता रहता है ॥ १९ ॥

क्रोधाद्दण्डान् मनुष्येषु विविधान् पुरुषो ददन् ।
भ्रश्यते शीघ्रमैश्वर्य्यात् प्राणेभ्यः स्वजनादपि ॥ २० ॥

यह क्रोधी पुरुष, मनुष्यों में अनेक प्रकार का दण्ड देता हुआ शीघ्र ऐश्वर्य से भ्रष्ट तथा प्राण और स्वजनों से भी पृथक् हो जाता है ॥ २० ॥

योपकर्तृंश्च हन्तृंश्च तेजसैवोपगच्छति ।
तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद्वेश्मगतादिव ॥ २१ ॥

जो उपकारी और अनुपकारी सबके साथ क्रोध का ही व्यवहार करता है, उस से संसार इस भांति भयभीत हो जाता है; जैसे घर में घुसे हुए सर्प से लोग डरते हैं ॥ 21 ॥

तस्मादुद्विजते लोकः कथं तस्य भवो भवेत् ।
अन्तरं तस्य दृष्ट्वैव लोको विकुरुते ध्रुवम् ॥ २२ ॥

जिससे जगत् उद्विग्न हो जाता है, उसका कल्याण कैसे हो सकता है। मौका देख लोग इसका शीघ्र नुकसान कर देते हैं २२

तस्मान्नात्युत्सृजेत्तेजो न च नित्यं मृदुर्भवेत् ।
काले काले तु संप्राप्ते मृदुस्तीक्ष्णोऽपि वा भवेत् ॥२३॥

इससे सदा क्रोध न करें और न सदा कोमल ही रहे। समय समय पर परिस्थिति के अनुसार मृदु या तीक्ष्ण होता रहे ॥२३॥

काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः ।
स वै सुखमवाप्नोति लोकेऽमुष्मिन्निहैव च ॥ २४ ॥

जो समय पर कोमल तथा समय पर ही तीक्ष्ण होता है; वही इस संसार में या परलोक में सुख प्राप्त करता है ॥ २४ ॥

क्षमाकालांस्तु वक्ष्यामि शृणु मे विस्तरेण तान् ।
ये ते नित्यमसन्त्याज्या यथाप्राहुर्मनीषिणः ॥ २५ ॥

मैं तुमको क्षमा का स्थान बताता हूँ, तुम ध्यान से सुनो। इन स्थानों पर सदा क्षमा ही करे, यही महात्माओं ने कहा है ॥२५॥

पूर्वोपकारी यस्ते स्यादपराधे गरीयसि ।
उपकारेण तत्तस्य क्षन्तव्यमपराधिनः ॥ २६ ॥

जो तुम्हारा पूर्वकाल में उपकार का करने वाला है, उस अपराधी को भारी अपराध के करने पर भी उपकार के लिहाज से क्षमा ही कर देना चाहिए ॥ २६ ॥

अबुद्धिमाश्रितानान्तु क्षन्तव्यमपराधिनाम् ।
नहि सर्वत्र पाण्डित्यं सुलभं पुरुषेण वै ॥ २७ ॥

जो मनुष्य अज्ञान से अपराध करते हैं, उनका अपराध भी क्षमा के ही योग्य है क्योंकि सब मनुष्यों को सरलता से ज्ञान प्राप्त नहीं होता है ॥ २७ ॥

अथ ये बुद्धिजं कृत्वा ब्रूयुस्ते तदबुद्धिजम् ।
पापान् स्वल्पेऽपि तान् हन्यादपराधे तथानृजन् ॥२८॥

जो ज्ञान-पूर्वक अपराध करके भी अज्ञान जन्य अपराध बतावें; ऐसे मनुष्यों को तथा बांके चलने वालों को थोड़े अपराध में भी अधिक दण्ड देना चाहिए ॥ २८ ॥

सर्वस्यैकोऽपराधस्ते क्षन्तव्यः प्राणिनो भवेत् ।
द्वितीये सति वध्यस्तु स्वल्पेऽप्यपकृते भवेत् ॥ २९ ॥

एक अपराध तो प्रत्येक प्राणी का क्षमा ही करना चाहिए। परन्तु यदि वह उस अपराध को दुबारा करे, तो उसको थोड़े अपराध पर ही मार देना चाहिए ॥ २९ ॥

अजानता भवेत् कश्चिदपराधः कृतो यदि ।
क्षन्तव्यमेव तस्याहुः सुपरीक्ष्य परीक्षया ॥ ३० ॥

जिस मनुष्य ने कोई अपराध अज्ञान से कर डाला, उसको अच्छी तरह खोज पड़ताल करके क्षमा कर देनी उचित है ॥३०॥

मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम् ।
नासाध्यं मृदुना किञ्चित्तस्मात्तीव्रतरं मृदु ॥ ३१ ॥

कोमल वृत्ति वाला, पुरुष, कठोर और नरम सबको मार बैठता है। मृदु मनुष्य को कोई वस्तु असाध्य नहीं है, इससे मृदु ही सबसे अधिक कठिन समझना चाहिए ॥ ३१ ॥

देशकालौ तु संप्रेक्ष्य बलाबलमथात्मनः ।
नादेशकाले किञ्चित् स्याद्देशकालौ प्रतीक्षताम् ॥३२॥

देश और काल के बल और निर्बलता तथा अपने बलाबल को देखकर कार्य करे, क्योंकि बिना देश काल के कुछ नहीं बनता है, इससे देश काल की सदा परीक्षा करे ॥ ३२ ॥

तथा लोकभयाच्चैव क्षन्तव्यमपराधिनः ।
एत एवंविधाः कालाः क्षमायाः परिकीर्त्तिताः ॥३३॥

जिस काम में लोक की निन्दा होती हो, ऐसे अपराधी को भी छोड़ ही देना चाहिए । इस प्रकार क्षमा के ये अनेक काल बताए गए हैं ॥ ३३ ॥

अतोऽन्यथानुवर्त्तत्सु तेजसः काल उच्यते ।
तदहं तेजसः कालं तव मन्ये नराधिप ॥ ३४ ॥

हे राजन् ! इसके विपरीत क्रोध का काल बताया जाता है । वही क्रोध का समय तुमको उपस्थित हो रहा है ॥ ३४ ॥

धार्त्तराष्ट्रेषु लुब्धेषु सततञ्चापकारिषु ।
न हि कश्चित् क्षमाकालो विद्यतेऽद्य कुरून् प्रति ॥३५॥

धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि पुत्र लालची और अपकारी हैं, उन कौरवों के ऊपर क्षमा करने का यह बिलकुल समय नहीं है ।

तेजसश्चागते काले तेज उतस्रष्टुमर्हसि ।
मृदुर्भवत्यवज्ञातस्तीक्ष्णादुद्विजते जनः ।
काले प्राप्ते द्वयञ्चैतद्यो वेद स महीपतिः ॥३६॥

इति आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीवाक्ये अष्टविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

अब तेज का समय आ गया है, इससे तुमको तेज का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि मृदु तिरस्कृत होता है और क्रोधी से जगत् खिन्न हो जाता है। समय आने पर जो दोनों की व्यवस्था जानता है, वही राजा हो सकता है ॥ ३६ ॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्व में द्रौपदी वाक्य का अट्ठाईसवां अध्याय समाप्त हुआ।



उनतीसवाँ अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—

क्रोधो हन्ता मनुष्याणां क्रोधो भावयिता पुनः।
इति विद्धि महाप्राज्ञे क्रोधमूलौ भवाभवौ ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—हे महाबुद्धिमति! द्रौपदी! क्रोध मनुष्यों का नाश कर्ता है और क्रोध का दमन ही वृद्धि करने वाला है। तुम यह भली भांति समझ लो, कि क्रोध और उसका दमन अवनति और उन्नति के कारण हैं ॥१ ॥

यो हि संहरते क्रोधं भवस्तस्य सुशोभने।
यः पुनः पुरुषः क्रोधं नित्यं न सहते शुभे।
तस्याभावाय भवति क्रोधः परमदारुणः ॥ २ ॥

हे सुन्दरी ! जो क्रोध को रोक लेता है, उसकी उन्नति अवश्यं भावी है, परन्तु जो पुरुष क्रोध का नियमन नहीं कर सकता है, उसको यह अत्यन्त दारुण क्रोध नष्ट कर डालता है ॥ २ ॥

क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामिह दृश्यते ।
तत् कथं मादृशः क्रोधमुत्सृजेल्लोकनाशनम् ॥३॥

मनुष्यों के विनाश का कारण एक क्रोध ही है, फिर मुझ जैसा मनुष्य, लोक-नाशक क्रोध को ढीला कैसे छोड़ सकता है ॥३॥

क्रुद्धः पापं नरः कुर्य्यात् क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि ।
क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते ॥ ४ ॥

क्रोधी मनुष्य, पाप पर पाप करता है और पूज्यों को भी मार बैठता है। क्रोधी मनुष्य, श्रेष्ठ पुरुषों को भी कठोर वाणी से तिरस्कृत करने लग जाता है ॥ ४ ॥

वाच्यावाच्यौ हि कुपितो न प्रजानाति कर्हिचित् ।
नाकार्य्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते तथा ॥ ५ ॥

कहने न कहने योग्य बातका भी क्रोधी को विचार नहीं रहता है। क्रोधी को न तो कुछ अकार्य है और न कुछ अवाच्य ही होता है ॥ ५ ॥

हिंस्यात् क्रोधादवध्यांस्तु वध्यान् सम्पूजयीत च ।
आत्मानमपि च क्रुद्धः प्रेरयेद्यमसादनम् ॥ ६ ॥

मनुष्य, क्रोध के कारण मारने के अयोग्यों को मार देता है और मारने के योग्यों को छोड़ भी देता है। क्रोधी, क्रोध के वश

में अपने आत्मा को भी यमराज के घर का अतिथी बना देता है॥ ६ ॥

एतान् दोषान् प्रपश्यद्भिर्जितः क्रोधो मनीषिभिः ।
इच्छद्भिः परमं श्रेय इह चामुत्र चोत्तमम् ॥ ७ ॥

इन दोषों को देख कर ही बुद्धिमानों ने इसलोक और परलोक में कल्याण की कामना से क्रोध को जीतने का उपदेश किया है ॥ ७ ॥

तं क्रोधं वर्जितं धीरैः कथमस्मद्विधश्चरेत् ।
एतद्द्रौपदि सन्धाय न मे मन्युः प्रवर्द्धते ॥ ८ ॥

हे द्रौपदी ! विद्वानों ने इस क्रोध की बहुत निन्दा की है, फिर मैं इसका कैसे व्यवहार कर सकता हूँ। यही सोचकर इस समय मेरा क्रोध नहीं बढ़ता है ॥ ८ ॥

आत्मानञ्च परांश्चैव त्रायते महतो भयात् ।
क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन् द्वयोरेष चिकित्सकः ॥ ९॥

जो क्रोध करने वाले पर क्रोध नहीं करता है, वह अपने आप तथा अन्य को भी बड़े भारी भय से बचा लेता है। यह दोनों पक्षों के दोषों का निराकरण करने वाला है ॥ ९ ॥

मूढ़ो यदि क्लिश्यमानः क्रुध्यतेऽशक्तिमान्नरः ।
बलीयसां मनुष्याणां त्यजत्यात्मानमात्मना ॥ १० ॥

जो मूर्ख, शक्तिशाली न होकर भी बलवानों पर क्रोध कर बैठता है, वह अपने आप को नष्ट करता है ॥ १० ॥

तस्यात्मानं सन्त्यजतो लोका नश्यन्त्यनात्मनः ।
तस्माद्द्रौपद्यशक्तस्य मन्योर्नियमनं स्मृतम् ॥ ११ ॥

हे द्रौपदी ! यह दुर्बल, अपने आपका विनाशक होता है, इससे इसके उत्तमलोक भी नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये निर्बल मनुष्य को अपने क्रोध को अवश्य रोकना चाहिए ॥ ११ ॥

विद्वांस्तथैव यः शक्तः क्लिश्यमानो न कुप्यति ।
अनाशयित्वा क्लेष्टारं परलोके च नन्दति ॥ १२ ॥

जो शक्तिशाली और समझदार है, वह विरोधीके दुःख पहुंचाने पर भी क्रोध नहीं करता है। यह महात्मा, क्लेश पहुंचाने वाले को कुछ नुकसान न करके परलोक में आनन्द पाता है ॥ १२ ॥

तस्माद्बलवता चैव दुर्बलेन च नित्यदा ।
क्षन्तव्यं पुरुषेणाहुरापत्स्वपि विजानता ॥ १३ ॥

इसलिए ज्ञानी बलवान् या निर्बल दोनों को ही आपत्ति के समय में भी क्षमा ही करनी चाहिए ॥ १३ ॥

मन्योर्हि विजयं कृष्णे प्रशंसन्तीह साधवः ।
क्षमावतो जयो नित्यं साधोरिह सतां मतम् ॥ १४ ॥

हे कृष्णे ! महात्मा मनुष्य, क्रोध के रोकने की बड़ी प्रशंसा करते हैं। जो क्षमाशील महात्मा हैं, उसका अवश्य विजय होता है, यह विद्वानों का मत है ॥ १४ ॥

सत्यञ्चानृततः श्रेयो नृशंसाच्चानृशंसता ।
तमेवं बहुदोषन्तु क्रोधं साधुविवर्जितम् ॥ १५ ॥

छल और झूंठ से सचाई उत्तम है, नीचता से उदारता फल मानी गई है। इसी प्रकार बहुत दोषों के स्थान क्रोध का रोकना ही महात्माओं ने अच्छा माना है ॥ १५ ॥

मादृशः प्रसृजेत् कस्मात् सुयोधनवधादपि ।
तेजस्वीति यमाहुर्वै पण्डिता दीर्घदर्शिनः ॥ १६ ॥

सुयोधन, यदि हमारा वध भी कर डाले, तो भी मुझ जैसा मनुष्य, क्रोध कैसे कर सकता है। क्रोध का विजय करने वाला ही दीर्घ-दर्शी पुरुषों ने तेजस्वी माना है ॥ १६ ॥

न क्रोधोऽभ्यन्तरस्तस्य भवतीति विनिश्चितम् ।
यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते ।
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ॥ १७ ॥

इस तरह क्रोध, त्रिजेता के पास फटकता ही नहीं है। जो पुरुष उत्पन्न हुए क्रोध को अपनी बुद्धि से जीत लेता है उसीको तत्त्वदर्शी महापुरुष तेजस्वी कहते हैं ॥ १७ ॥

क्रुद्धो हि कार्य्यं सुश्रोणि न यथावत् प्रपश्यति ।
न कार्य्यं न च मर्य्यादां नरः क्रुद्धोऽनुपश्यति ॥ १८ ॥

हे सुन्दरी ! क्रोधी पुरुष, अपने कार्य को अच्छी तरह देख भी नहीं सकता है। क्रोधी मनुष्य, अपने कर्त्तव्य और मर्य्यादा का भी ध्यान नहीं रख सकता है ॥ १८ ॥

हन्त्यवध्यानपि क्रुद्धो गुरून् क्रुद्धस्तुदत्यपि ।
तस्मात्तेजसि कर्त्तव्यः क्रोधो दूरे प्रतिष्ठितः ॥ १९ ॥

क्रोधी अवध्यों को मार देता है और मान्य पुरुषों को पीड़ा पहुँचाता है। इस लिए तेजस्वी बनना चाहिए। क्रोध को तो सर्वथा दूर ही रखना अच्छा है॥ १६॥

दाक्ष्यं ह्यमर्षः शौर्य्यञ्च शीघ्रत्वमिति तेजसः।
गुणाः क्रोधाभिभूतेन न शक्याः प्राप्तुमञ्जसा ॥२०॥

अपने कामों की कुशलता, शत्रु की हानि के उपायों का चिन्तन, शत्रु के पराजय करने की शक्ति, शीघ्र कार्य्य सम्पादन, ये तेज के गुण हैं। ये क्रोधी मनुष्य को किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं हो सकते हैं॥ २०॥

क्रोधं त्यक्त्वा तु पुरुषः सम्यक् तेजोऽभिपद्यते।
कालयुक्तं महाप्राज्ञे क्रुद्धैस्तेजः सुदुःसहम् ॥ २१ ॥

जो पुरुष क्रोध को छोड़ देता है, उसको अपने आप तेज की प्राप्ति होती है। हे महाप्राज्ञे! देश काल का उपयोगी तेज, क्रोधी मनुष्य को प्राप्त नहीं हो सकता है॥ २१ ॥

क्रोधस्त्वपण्डितैः शश्वत्तेज इत्यभिनिश्चितम्।
रजस्तु लोकनाशाय विहितं मानुषं प्रति ॥ २२ ॥

मूर्ख मनुष्यों ने क्रोध को ही तेज कहा है, परन्तु रजोगुण का कार्य क्रोध, मनुष्य के लोकों का नाश करने वाला ही है २२

तस्माच्छश्वत्त्यजेत् क्रोधं पुरुषः सम्यगाचरन्।
श्रेयान् स्वधर्मानपगो न क्रुद्ध इति निश्चितम् ॥ २३ ॥

उत्तम विधि से चलने वाला पुरुष को; क्रोध का तो बिल्कुल त्याग ही कर देना चाहिए। अपने धर्म का त्याग कर देने वाला अच्छा है, परन्तु क्रोधी अच्छा नहीं है ॥ २३ ॥

यदि सर्वमबुद्धीनामतिक्रान्तमचेतसाम् ।
अतिक्रमो मद्विधस्य कथं स्यात् स्विदनिन्दिते ॥ २४ ॥

हे सुन्दरी ! यदि मूर्ख और दुर्बुद्धि पुरुषों ने सब उत्तम गुणों का परित्याग कर ही दिया, तो मुझ जैसे मनुष्यों को तो इनका अतिक्रमण नहीं करना चाहिए ॥ २४ ॥

यदि न स्युर्मानुषेषु क्षमिणः पृथिवीसमाः ।
न स्यात् सन्धिर्मनुष्याणां क्रोधमूलो हि विग्रहः ॥२५॥

यदि पृथिवी के समान क्षमाशील पुरुष मनुष्यों में होवें ही नहीं, तो मनुष्यों में मेल ही नहीं हो सकता है, क्योंकि क्रोध तो झगड़ा ही झगड़ा कराता है ॥२५॥

अभिषक्तो ह्यभिषजेदाहन्याद् गुरुणा हतः ।
एवं विनाशो भूतानामधर्मः प्रथितो भवेत् ॥ २६ ॥

एक ने एक को दुःख पहुंचाया, तो दूसरा उसको दुःख पहुंचावेगा । यदि पूज्य, शिक्षा के लिए ताड़ना करे, तो क्रोधी भी उसको पीटने लगता है। इस प्रकार सारे प्राणियों का विनाश होगा और अधर्म फैल जावेगा ॥२६॥

आक्रुष्टः पुरुषः सर्वं प्रत्याक्रोशेदनन्तरम् ।
प्रतिहन्याद्धतश्चैव तथा हिंस्याच्च हिंसितः ॥ २७ ॥

हन्युर्हि पितरः पुत्रान् पुत्राश्चापि तथा पितॄन् ।
हन्युश्च पतयो भार्य्याः पतीन् भार्य्यास्तथैव च ॥२८॥

जो कोई किसी को दुर्वचन कहे तो वह उसको गाली देगा, ताड़ना करने पर ताड़ना करेगा और मारने पर मारेगा। इस प्रकार तो पिता पुत्रों को और पुत्र पिता को पति अपनी पत्नियों को और पत्नी पतियों को घात करने लगेंगी ॥२७-२८॥

एवं संकुपिते लोके जन्म कृष्णे न विद्यते ।
प्रजानां सन्धिमूलं हि जन्म विद्धि शुभानने ॥ २९ ॥

हे द्रौपदी ! इस तरह के झगड़े में तो संसार की उत्पति होना ही बन्द हो जावेगी, क्योंकि स्त्री पुरुष या पिता पुत्र के मेलसे ही संसार की उत्पत्ति है ॥२९॥

ताः क्षिपेरन् प्रजाः सर्वाः क्षिप्रं द्रौपदि तादृशे ।
तस्मान्मन्युर्विनाशाय प्रजानामभवाय च ॥ ३० ॥

हे सुन्दरी ! ऐसे राजा को प्रजा शीघ्र ही नष्ट कर डालती है, इस लिए क्रोध विनाश के लिए और प्रजा के अभाव के लिए ही होता है ॥ ३०॥

यस्मात्तु लोके दृश्यन्ते क्षमिणः पृथिवीसमाः ।
तस्माज्जन्म च भूतानां भवश्च प्रतिपद्यते ॥ ३१ ॥

इस संसार में क्षमाशील मनुष्य भी रहते हैं, इसी से प्राणियों का जन्म और वृद्धि होती रहती है ॥३१॥

क्षन्तव्यं पुरुषेणेह सर्वापत्सु सुशोभने ।
क्षमावतो हि भूतानां जन्म चैव प्रकीर्त्तितम् ॥ ३२ ॥

हे सुशोभने ! इससे सब प्रकार की आपत्तियों के समय में भी पुरुष को क्षमा ही करना चाहिए । जो क्षमाशील हैं, वे ही प्राणियों की उत्पत्ति के कारण माने जाते हैं ॥ ३२ ॥

आक्रुष्टस्ताडितः क्रुद्धः क्षमते यो बलीयसा ।
यश्च नित्यं जितक्रोधो विद्वानुत्तमपूरुषः ॥ ३३ ॥
प्रभाववानपि नरस्तस्य लोकाः सनातनाः ।
क्रोधनस्त्वल्पविज्ञानः प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ ३४ ॥

बलवान् के ताड़न करने पर क्रोध करके भी अन्त में निर्बल क्षमा ही करता है, इसी तरह जो शक्ति शाली मनुष्य क्षमा करता है, वही विद्वान् उत्तम पुरुष है और उसीको उत्तम २ लोकों की प्राप्ति होती है । जो अल्पज्ञान रखने वाला क्रोधी है, वह लोक और परलोक दोनों में नष्ट होता है ॥३३-३४॥

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथा नित्यं क्षमावताम् ।
गीता क्षमावता कृष्णे काश्यपेन महात्मना ॥ ३५ ॥

हे कृष्णे ! क्षमा की प्रशंसा करने वाले महात्मा कश्यप ने क्षमा के विषय में एक प्रशंसात्मक उपदेश दिया है ॥३५॥

क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम् ।
य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति ॥ ३६ ॥

क्षमा धर्म, क्षमा यज्ञ, क्षमा वेद और क्षमा शास्त्र है, इस प्रकार जो जानता है, वही ठीक २ क्षमा कर सकता है ॥३६॥

क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतञ्च भावि च ।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् ॥ ३७ ॥

क्षमा ब्रह्म, क्षमा सत्य, क्षमा भूत, क्षमा भविष्य, क्षमा तप और क्षमा शौच है। इसी क्षमा ने सारे जगत् को धारण कर रखा है ॥ ३७ ॥

अतियज्ञविदान् लोकान् क्षमिणः प्राप्नुवन्ति च ।
अतिब्रह्मविदां लोकानति चापि तपस्विनाम् ॥ ३८ ॥

यज्ञ क्रिया के करने वाले या वेद के पठन पाठन में तत्पर, तपस्वियों के लोकों का अतिक्रमण करके क्षमा शील पुरुष, अन्य अगले लोकों में पहुंच जाता है ॥ ३८ ॥

अन्ये वै यजुषां लोकाः कर्मिणामपरे तथा ।
क्षमावतां ब्रह्मलोके लोकाः परमपूजिताः ॥ ३९ ॥

यज्ञ करने वालों को अन्य लोकों की प्राप्ति होती है और वापी कूप धर्मशाला आदि के बनाने वालों को अन्य लोक मिलते हैं। परन्तु क्षमाशीलों को ब्रह्मलोक में परमोत्तम स्थान की प्राप्ति होती है ॥ ३९ ॥

क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम् ।
क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा यज्ञः क्षमा शमः ॥४०॥

क्षमा तेजस्वियों का तेज, तपस्वियों का तप और सत्यवादियों-का सत्य है। क्षमा ही यज्ञ और क्षमा ही शम (शान्ति) है ॥४०॥

तां क्षमां तादृशीं कृष्णे कथमस्मद्विधस्त्यजेत् ।
यस्यां ब्रह्म च सत्यञ्च यज्ञा लोकाश्च धिष्ठिताः ॥४१॥

हे द्रौपदी ! मेरे सदृश मनुष्य, इस क्षमा का कैसे परित्याग कर सकता है। जिसमें वेद, सत्य, यज्ञ और लोक स्थित हैं॥४१

क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता ।
यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ४२ ॥

ज्ञानी पुरुष को सदा क्षमा ही करनी चाहिए। जब यह सब पर क्षमा करता है, तभी इसको ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है ॥४२॥

क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ।
इह सम्मानमर्हन्ति परत्र च शुभां गतिम् ॥ ४३ ॥

क्षमा वालों को इस लोक में भी सुख है और परलोक में भी आनन्द है। ये महात्मा, इस लोक में प्रशंसित और परलोक में शुभगति प्राप्त करते हैं ॥ ४३ ॥

येषां मन्युर्मनुष्याणां क्षमयाभिहतः सदा ।
तेषां परतरे लोकास्तस्मात् क्षान्तिः परा मता ॥४४॥

जिन मनुष्यों का क्रोध क्षमा से दबा रहता है, उन ही को उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है। इससे क्षमा सबमें श्रेष्ठ है ॥४४॥

इति गीताः काश्यपेन गाथा नित्यं क्षमावताम् ।
श्रुत्वा गाथा क्षमायास्त्वं तुष्य द्रौपदि मा क्रुधः ॥४५॥

हे द्रौपदी ! काश्यप मुनि ने क्षमावानों के मध्य में इस प्रकार क्षमा की प्रशंसा की है। इस क्षमा के उपदेश को सुनकर तू भी क्षमाशील बन जा, क्रोध न कर ॥ ४५ ॥

पितामहः शान्तनवः शमं सम्पूजयिष्यति ।
कृष्णश्च देवकी पुत्रः शमं सम्पूजयिष्यति ॥४६॥
आचार्यो विदुरः क्षत्ता शममेव वदिष्यतः ।
कृपश्च सञ्जयश्चैव शममेव वदिष्यतः ॥ ४७ ॥
सोमदत्तो युयुत्सुश्च द्रोणपुत्रस्तथैव च ।
पितामहश्च नो व्यासः शमं वदति नित्यशः ॥ ४८ ॥

शान्तनु पुत्र भीष्म, देवकी पुत्र श्रीकृष्ण, आचार्य द्रोण, विदुर, कृपाचार्य, सञ्जय, सोमदत्त, युयुत्सु, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, पितामह वेदव्यास, हमारी इस क्षमा की अवश्य प्रशंसा करेंगे ॥४६-४७॥

एतैर्हि राजा नियतश्चोद्यमानः शमं प्रति ।
राज्यं दातेति मे बुद्धिर्नचेल्लोभान्नशिष्यति ॥ ४९ ॥

ये लोग, राजा धृतराष्ट्र या दुर्योधन को भी सन्धि करने के लिए प्रेरित करेंगे। इसप्रकार या तो वे हमारा राज्य लौटा देंगे, नही तो नष्ट होजावेंगे ॥४९॥

कालोऽयं दारुणः प्राप्तो भरतानामभूतये ।
निश्चितं मे सदैवैतत् पुरस्तादपि भाविनि ॥५०॥

हे भाविनी! यह समय भरत वंश के लिए बड़ाही दारुण आरहा है, जिसका निश्चय मुझे पूर्व से ही होरहा है ॥५०॥

सुयोधनो नार्हतीति क्षमामेवं न विन्दति ।
अर्हस्तत्राहमित्येवं तस्मान्मां विन्दते क्षमा ॥५१॥

दुर्योधन, इस प्रकार क्षमा नहीं कर सकता है, इससे राज्य भी उसके पास नही ठहर सकेगा। राज्य हमको प्राप्त होगा, क्योंकि हम क्षमा में सबतरह से तत्पर हैं ॥५१॥

एतदात्मवतां वृत्तमेष धर्मः सनातनः ।
क्षमा चैवानृशंस्यञ्च तत् कर्त्ता स्म्यहमञ्जसा ॥५२॥

इति आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि युधिष्ठिरद्रौपदी-सम्वादे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

जितेन्द्रिय पुरुषों का क्षमा ही आचरण है और यही सनातन धर्म है। क्षमा और उदारता ही सर्वश्रेष्ठ है, इससे मैं उसको ही सब भांति स्वीकार किये हुए हूँ ॥५२॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमन-
पर्व में युधिष्ठिर द्रौपदी सम्वाद का उनतीसवां
अध्याय पूरा हुआ ।



तीसवां अध्याय

द्रौपद्युवाचः—

नमो धात्रे विधात्रे च यौ मोहश्चक्रतुस्तव ।
पितृपैतामहे वृत्ते वोढव्ये तेऽन्यथा मतिः ॥ १ ॥

द्रौपदी कहने लगी—हे भारत! आज उस ईश्वर और कर्म को प्रणाम है, जिसने अपने पिता और पितामहों के बल-पूर्वक प्राप्त किये हुए राज्य के प्राप्त करने में भी तुम्हारी ऐसी विपरीत बुद्धि करदी है ॥१॥

कर्मभिश्चिन्तितो लोको गत्यां गत्यां पृथग्विधः ।
तस्मात् कर्माणि नित्यानि लोभान्मोक्षं यियासति ॥२॥

कर्मों से तय्यार किये हुए भोगसाधन, उत्तम मध्यम और अधम गतियों में भिन्न २ प्रकार से प्राप्त होते रहते हैं। ये कर्म बन्धन नित्य हैं, मनुष्य व्यर्थ ही अज्ञान से इनसे मोक्ष पाने का प्रयत्न करता है ॥२॥

नेह धर्मानृशंस्याभ्यां न क्षान्त्या नार्ज्जवेन च ।
पुरुषः श्रियमाप्नोति न घृणित्वेन कर्हिचित् ॥ ३ ॥

कर्म बन्धनों से बंधा हुआ पुरुष, धर्म, दया, क्षमा, सीधेपन तथा लोकनिन्दा के भय आदि किसी कारण से लक्ष्मी को नहीं पासकता है ॥३॥

त्वाञ्चेद्व्यसनमभ्यागादिदं भारत दुःसहम् ।
यत्त्वं नार्हसि नापीमे भ्रातरस्ते महौजसः ॥ ४ ॥

हे भारत! यही कारण है, कि तुमको यह दुःसह दुःख प्राप्त हुआ है, नहीं तो इस दुःख के योग्य न तो तुम हो और न तुम्हारे ये भाई ही हैं ॥४॥

न हि तेऽध्यगमन् जातु तदानीं नाद्य भारत।
धर्मात् प्रियतरं किञ्चिदपि चेज्जीविताविह ॥ ५ ॥

राज्य के शासन काल में या अब राज्य के अभाव में हमने तो तुमको कभी धर्म से च्युत नहीं देखा, जब या अब, तुमने धर्म को ही प्राणों से प्रिय समझा है ॥५॥

धर्मार्थमेव ते राज्यं धर्मार्थं जीवितञ्च ते।
ब्राह्मणा गुरवश्चैव जानन्त्यपि च देवताः ॥ ६ ॥

तुम्हारा धर्म के लिये ही राज्य और धर्म के लिए ही जीवन है, इस बात को ब्राह्मण गुरु तथा देवता, सब जानते हैं ॥६॥

भीमसेनार्जुनौ चेमौ माद्रेयौ च मया सह।
त्यजेस्त्वमिति मे बुद्धिर्न तु धर्मं परित्यजेः ॥ ७ ॥

तुम, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव या मेरा तो परित्याग कर सकते हो, परन्तु धर्म को नहीं छोड़ सकते हो, मेरी ऐसी धारणा है ॥७॥

राजानं धर्म्मगोप्तारं धर्मो रक्षति रक्षितः ॥
इति मे श्रुतमार्य्याणां त्वान्तु मन्ये न रक्षति ॥ ८ ॥

धर्म की रक्षा करने वाले राजा की रक्षा किया हुआ धर्म, रक्षा करता है, यह मैंने आर्य पुरुषों से सुना है, परन्तु वह धर्म भी तुम्हारी रक्षा करता प्रतीत नहीं होता है ॥८॥

अनन्या हि नरव्याघ्र नित्यदा धर्म्ममेव ते ।
बुद्धिः सततमन्वेति छायेव पुरुषं निजा ॥ ९ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! तुम्हारी बुद्धि पुरुष के पीछे अपनी छाया की भांति नित्य धर्म के पीछे २ चलती रहती है ॥९॥

नावमंस्था हि सदृशान्नावरान् श्रेयसः कुतः ।
अवाप्य पृथिवीं कृत्स्नां न ते शृङ्गमवर्द्धत ॥१०॥

तुमने कभी बराबर या छोटों का भी अपमान नहीं किया. फिर पूज्यों का अपमान करही कैसे सकते हो। तुमने इस सारी पृथिवी को जीतकर भी कभी घमण्ड नहीं किया, यह सब जानते हैं ॥१०॥

स्वाहाकारैः स्वधाभिश्च पूजाभिरपि च द्विजान् ।
दैवतानि पितृंश्चैव सततं पार्थ सेवसे ॥ ११ ॥

हे पार्थ ! तुमने स्वाहाकार से देवों, स्वधाकार से पितरों को तृप्त किया तथा ब्राह्मणों की पूजा करके भी उनको सब तरह सन्तुष्ट किया है ॥११॥

ब्राह्मणाः सर्वकामैस्ते सततं पार्थ तर्पिताः ।
यतयो मोक्षिणश्चैव गृहस्थाश्चैव भारत ॥ १२ ॥

हे भारत ! आप मोक्ष के इच्छुक, यति या गृहस्थी ब्राह्मणों की सब कामनाओं को पूर्ण करके उनको सब तरह से तृप्त करते आ रहे हो ॥१२॥

भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्यत्राहं परिचारिका ।
आरण्यकेभ्यो लौहानि भोजनानि प्रयच्छसि ॥ १३ ॥
नादेयं ब्राह्मणेभ्यस्ते गृहे किंचन विद्यते ।
यदिदं वैश्वदेवांते शान्तये क्रियते गृहे ॥ १४ ॥

हे राजन् ! आपके स्थान में ब्राह्मण लोग सुवर्ण के पात्रों में भोजन किया करते थे; जिनकी सेवामें मैं तत्पर रहती थी। इसी तरह वानप्रस्थियों के लिये भी आप, सुवर्ण के पात्रों में भोजन प्रदान करते रहते थे। जिस समय घरमें शान्ति के निमित्त-बलि-वैश्य देव किया जाता था, उस समय उपस्थित ब्राह्मण के लिए कोई वस्तु ऐसी नहीं थी, जो प्रदान न की जासके ॥१३॥-॥१४॥

तद्दत्वातिथिभूतेभ्यो राजन् शिष्टेन जीवसि ।
इष्टयः पशुबन्धाश्च काम्यनैमित्तिकाश्च ये ॥ १५ ॥
वर्त्तन्ते पाकयज्ञाश्च यज्ञकर्म्म च नित्यदा ।

हे राजन् ! सिद्ध अन्न में से अतिथि तथा अन्न प्राणियों को देकर ही तुम शेष से अपना निर्वाह करते थे। इसीतरह गृह्य अग्नि से किये जाने वाले यज्ञ या काम्य तथा नैमित्तिक पशु

बन्ध यज्ञ, पाकयज्ञ और अन्य यज्ञ कर्म, सब काल में करते रहते हो ॥१५॥

अस्मिन्नपि महारण्ये विजने दस्युसेविते ॥ १६ ॥
राष्ट्रादपेत्य वसतो धर्म्मस्ते नावसीदति ।

इसके सिवा इस निर्जन चोर लुटेरे पुरुषों से भरे हुए वन में अपने राष्ट्र को छोड़कर आजाने पर भी तुमने धर्म का प्रेम नहीं छोड़ा है ॥१६॥

अश्वमेधो राजसूयः पुण्डरीकोऽथ गोसवः ॥ १७ ॥
एतैरपि महायज्ञैरिष्टं ते भूरिदक्षिणैः ।

अश्व-मेध, राज-सूय, पुण्डरीक, गोमेध आदि बड़ी २ दक्षिणा के यज्ञों से आपने यजन किया है ॥१७ ॥

राजन् परीतया बुद्धया विषमेऽक्षपराजये ॥ १८ ॥
राज्यं वसून्यायुधानि भ्रातृन्माश्चापि निर्ज्जितः ।

हे राजन् ! विपरीत बुद्धि के कारण इस भयानक पासों के खेल में राज्य, धन, शस्त्र, भाई और मुझ को भी आप हारगए ॥१८॥

ऋजोर्मृदोर्वदान्यस्य ह्रीमतः सत्यवादिनः ॥ १९ ॥
कथमक्षव्यसनजा बुद्धिरापतिता तव ।

हे भारत ! सब तरह से सरल, दयालु, उदार, लोक की लज्जा मानने वाले, सत्यवादी आपकी भी बुद्धि कैसे इस जुआ के कुकर्म में जा फसी ॥ १९ ॥

अतीव मोहमायाति मनश्च परिदूयते ॥ २० ॥
निशम्य ते दुःखमिदमिमाश्चापदमीदृशीम् ।

हे महानुभाव ! आपके इस दुःख तथा आपत्ति को विचार कर मुझे बड़ी ही व्याकुलता होती है और मन बड़ी पीड़ा का अनुभव करता है ॥२॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ॥ २१ ॥
ईश्वरस्य वशे लोकास्तिष्ठन्ते नात्मनो यथा ॥

इस विषय में भी महात्मा जन, इस प्राचीन कथन (कहावत) को कहते हैं, कि लोकों के भोग ईश्वर के वश में हैं, अपने वश में नहीं हैं ॥२१॥

धातैव खलु भूतानां सुखदुःखे प्रियाप्रिये ॥ २२ ॥
दधाति सर्वमीशानः पुरस्तात् शुक्रमुच्चरन् ।

शक्तिशाली विधाता ही सारे प्राणियों के पूर्वजन्म के कर्मों को ध्यान में करके ही उनको सुख, दुःख, प्रिय, अप्रिय सब कुछ प्रदान करता है ॥२२॥

यथा दारुमयी योषा नरवीर समाहिता ॥ २३ ॥
ईरयत्यङ्गमङ्गानि तथा राजन्निमा प्रजाः ।

हे नरश्रेष्ठ ! जैसे कठपुतली सूत्रधार के संकेत पर नाचती रहती है, इसी भांति संसार के सारे प्राणी, ईश्वर की प्रेरणा से चेष्टा करते रहते हैं ॥ २३ ॥

आकाश इव भूतानि व्याप्य सर्वाणि भारत ॥ २४ ॥
ईश्वरो विदधातीह कल्याणं यच्च पापकम् ।

हे भारत ! आकाश की भांति व्यापक होकर ईश्वर, सारे प्राणियों को सुख दुःख प्रदान करता है ॥ २४ ॥

शकुनिस्तन्तुबद्धो वा नियतोऽयमनीश्वरः ॥ २५ ॥
ईश्वरस्य वशे तिष्ठेन्नान्येषां नात्मनः प्रभुः ।

रस्सी से बंधे हुए पक्षी की भांति यह प्राणी, कर्मों से बद्ध तथा परतन्त्र है । यह कर्मों के अनुसार ईश्वर के ही वश में है, किसी अन्य शक्तिशाली के वश में नहीं है और न स्वतन्त्र है ॥२५

मणिः सूत्र इव प्रोतो नस्योत इव गोवृषः ॥ २५ ॥
धातुरादेशमन्वेति तन्मयो हि तदर्पणः ।
नात्माधीनो मनुष्योऽयं कालं भजति कश्चन ।
स्रोतसो मध्यमापन्नः कूलाद्वृक्ष इव च्युतः ॥ २७ ॥

सूत में पिरोये हुए मणि, नासिका की रस्सी से नथे हुए, बैल के तुल्य ही यह प्राणी भी विधाता के संकेत पर ही चलता है, क्योंकि ईश्वर सर्वत्र व्यापक है और जीव उसके वश में है । किसी भी परिस्थिति में यह जीव स्वतन्त्र नहीं है जैसे तट से नदी में गिरा हुआ वृक्ष, नदी के प्रवाह के आधीन है ॥ २६-२७॥

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव च ॥ २८ ॥

यह प्राणी अल्पज्ञ है और अपने सुख दुःख की प्राप्ति में असमर्थ है । यह तो ईश्वर की प्रेरणा से ही स्वर्ग या नरक को जाता है ॥ २८ ॥

यथा वायोस्तृणाग्राणि वशं यान्ति बलीयसः ।
धातुरेव वशं यान्ति सर्वभूतानि भारत ॥ २६ ॥

हे भारत ! जिस तरह तृण के अग्र भाग, बलवान् वायु के वश में होकर झुक जाते हैं, इसी भांति सारे प्राणी, कर्म या विधाता के वश में हैं ॥ २६ ॥

आर्य्यकर्मणि युञ्जानः पापे वा पुनरीश्वरः ।
व्याप्य भूतानि चरते न चायमिति लक्ष्यते ॥ ३० ॥

यह ईश्वर ही मनुष्य को पुण्य कर्म, या पापकर्म में कर्मानुसार लगाता है । यह सारे प्राणियों में व्यापक है, इससे किसी को भी दिखाई नहीं देता है ॥ ३० ॥

हेतुमात्रमिदं धातुः शरीरं क्षेत्रसञ्ज्ञितम् ।
येन कारयते कर्म शुभाशुभफलं विभुः ॥ ३१ ॥

यह क्षेत्र संज्ञक शरीर तो विधाता का हेतुमात्र है अर्थात् ईश्वर ने कर्मों के करने में निमित्त मात्र बनाया है । इसी शरीर से विधाता स्वयं शुभ और अशुभ कर्म कराता है ॥ ३१ ॥

पश्य मायाप्रभावोऽयमीश्वरेण यथा कृतः ।
यो हन्ति भूतैर्भूतानि मोहयित्वात्ममायया ॥ ३२ ॥

देखो, यह सब माया का ही प्रभाव है, जो ईश्वर ने फैलाया है । यही माया का प्रभाव, प्राणियों को मोहित करके एक को दूसरे से वध कराता है ।

अन्यथा परिदृष्टानि मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
अन्यथा परिवर्त्तन्ते वेगा इव नभस्वतः ॥ ३३ ॥

तत्वदर्शी मुनियों ने तो इस जगत् को अन्य रूप से ही बताया है और आकाश-गामी सूर्य की किरणों के तुल्य यह अन्य रूप में ही प्रतीत होता है अर्थात् जैसे किरण कभी जल रूप से प्रतीत होने लगती है, वैसे ही यह संसार सत्यसा प्रतीत होता है।

अन्यथैव हि मन्यन्ते पुरुषास्तानि तानि च ।
अन्यथैव प्रभुस्तानि करोति विकरोति च ॥ ३४ ॥

इन भिन्न २ पदार्थों को मनुष्य तो अपनी दृष्टि से अन्य रूप ही समझता है और विधाता उनको अन्यरूप में ही परिवर्तित (अदल बदल) करता रहता है ॥ ३४ ॥

यथा काष्ठेन वा काष्ठमश्मानञ्चाश्मना पुनः ।
अयसा चाप्ययश्छिन्द्यान्निर्विचेष्टमचेतनम् ॥ ३५ ॥
एवं स भगवान् देवः स्वयम्भूः प्रपितामहः ।
हिनस्ति भूतैर्भूतानि छद्म कृत्वा युधिष्ठिर ॥ ३६ ॥

हे युधिष्ठिर ! जैसे चेष्टा रहित, जड़, काष्ठ से काष्ठ, पत्थर से पत्थर और लोहे से लोहा काटा जाता है, इसी तरह, स्वयम्भू, सबके पिता का भी पिता, ईश्वर, माया का आश्रय लेकर एक प्राणी से दूसरे का व्यवहार करा रहे हैं ॥ ३५-३६ ॥

संप्रयोज्य वियोज्यायं कामकारकरः प्रभुः ।
क्रीडते भगवान् भूतैर्बालः क्रीडनकैरिव ॥ ३७ ॥

अपनी इच्छा में स्वतन्त्र, ईश्वर, प्राणियों का संयोग और वियोग कराकर खिलोनों से बालकों की भांति प्राणियों से क्रीड़ा करता रहता है ॥ ३७ ॥

न मातृपितृवद्राजन् धाता भूतेषु वर्त्तते ।
रोषादिव प्रवृत्तोऽयं यथायमितरो जनः ॥ ३८ ॥

हे राजन् ! यह ईश्वर या कर्म प्राणियों में माता और पिता की भांति पापों का क्षमा करने वाला नहीं है। यह तो कर्मों के फल देने में क्रोध—मूर्ति की भांति प्रवृत्त होता है, जैसे संसार में सच्चा न्यायाधीश करता है ॥ ३८ ॥

आर्य्यान् शीलवतो दृष्ट्वा ह्रीमतो वृत्तिकर्षितान् ।
अनार्य्यान् सुखिनश्चैव विह्वलामीव चिन्तया ॥ ३९ ॥

मैं सदाचार परायण लज्जाशील, आर्य (श्रेष्ठ) पुरुषों को वृत्ति (रोजगार) से रहित और दुष्टों को सुखी देखकर इस चिन्ता से बड़ी ही व्याकुल होती हूँ ॥ ३९ ॥

तवेमामापदं दृष्ट्वा समृद्धिञ्च सुयोधने ।
धातारं गर्हये पार्थ विषमं योऽनुपश्यति ॥ ४० ॥

हे युधिष्ठिर ! तुम पर इस विपत्ति को और दुर्योधन की सम्पत्ति को देखकर मैं उस विधाता की ही निन्दा करती हूँ, जिसने कर्मों के फल देने का इस प्रकार यह विषम (दुःखद) मार्ग स्वीकार किया है ॥ ४० ॥

आर्य्यशास्त्रातिगे क्रूरे लुब्धे धर्मापचायिनि ।
धार्त्तराष्ट्रे श्रियं दत्त्वा धाता किं फलमश्नुते ॥ ४१ ॥

उत्तम शास्त्र के अतिक्रमण करने वाले, दुष्ट, लोभी, अधर्मी दुर्योधन को लक्ष्मी प्रदान करके न जाने विधाता क्या आनन्द भोगता है ॥ ४१ ॥

कर्म चेत् कृतमन्वेति कर्त्तारं नान्यमृच्छति ।
कर्मणा तेन पापेन लिप्यते नूनमीश्वरः ॥४२॥

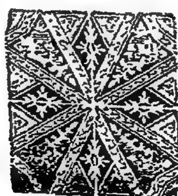
यदि किया हुआ कर्म कर्ता को अवश्य प्राप्त होता है, अन्य को नहीं, तो इस सारे झगड़ों के करने वाले ईश्वर को भी पापकर्म में लिप्त होना चाहिए ॥ ४२ ॥

अथ कर्मकृतं पापं न चेत् कर्त्तारमृच्छति ।
कारणं बलमेवेह जनान् शोचामि दुर्बलान् ॥४३॥

इति आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि युधिष्ठिरद्रौपदी-
संवादे त्रिंशोऽध्यायः ॥३०॥

यदि इसप्रकार किये हुए कर्म का फल कर्ता ईश्वर को नहीं प्राप्त होता है, तो इसका कारण केवल (ईश्वर का) बल ही है । इससे दुर्बलों पर ही विपत्ति आती है, जो बड़े शोक (अफसोस) की बात है ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्व में
युधिष्ठिर द्रौपदी सम्वादका तीसवां अध्याय समाप्त हुआ।



इकतीसवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—

वल्गु चित्रपदं श्लक्ष्णं याज्ञसेनि त्वया वचः।
उक्तं तत् श्रुतमस्माभिर्नास्तिक्यन्तु प्रभाषसे ॥१॥

युधिष्ठिर बोले-हे द्रौपदी ! तुमने बड़े विचित्र पद और शोभन तथा सुकुमार अर्थ वाला वचन कहा है जो हमने सुना; परन्तु यह नास्तिकता से भरा हुआ कथन है ॥१॥

नाहं कर्म्मफलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत।
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत ॥२॥

हे राजपुत्रि ! मैं कर्म फल की इच्छा से कोई कार्य नहीं करता हूं। मेरा यह देने का कर्तव्य है, इसलिये देता हूँ और यजन करना कर्तव्य है, इससे यज्ञ करता हूँ ॥२॥

अस्तु वात्र फलं मा वा कर्त्तव्यं पुरुषेण यत्।
गृहे वा वसता कृष्णे यथाशक्ति करोमि तत् ॥३॥

हे कृष्णे ! इस गृहस्थाश्रम में रहकर मैं तो यथाशक्ति अपने कर्तव्य का ही पालन करता हूँ। कर्म के करने पर उसका अच्छा बुरा कुछ भी परिणाम हो, इसका मुझे कुछ ध्यान भी नहीं है ॥३॥

धर्मञ्चरामि सुश्रोणि न धर्मफलकारणात्।
आगमाननतिक्रम्य सतां वृत्तमवेक्ष्य च ॥४॥

हे सुन्दरि ! जो मैं धर्म का आचरण करता हूँ, यह धर्म की फल पाने के लिए नहीं। मैं तो यह सब कुछ धर्म शास्त्र की आज्ञा तथा सज्जनों के व्यवहार को देख कर ही करता हूँ ॥४॥

धर्म एव मनः कृष्णे स्वभावाच्चैव मे धृतम् ।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम् ॥५॥

हे कृष्णे ! मेरा मन स्वभाव से ही धर्म की ओर झुका हुआ है। धर्म के व्यापार का करने वाला, धर्मात्माओं में नीच और क्षुद्र है ॥५॥

न धर्मफलमाप्नोति यो धर्मं दोग्धुमिच्छति ।
यश्चैनं शङ्कते कृत्वा नास्तिक्यात् पापचेतनः ॥६॥
अतिवादाद्वदाम्येष मा धर्ममभिशङ्किथाः ।
धर्माभिशङ्की पुरुषस्तिर्यग्गतिपरायणः ॥७॥

जो मनुष्य, धर्म को छोड़ना चाहता है या जो पापी नास्तिकता के कारण धर्म पर सन्देह रखता है वह धर्म का फल पा ही नहीं सकता है। मैं यह वेद का आश्रय करके ही कह रहा हूँ, कि तुम धर्म पर शङ्का न करो। जो पुरुष धर्म पर शङ्का करता है, वह पशु पक्षी की योनि में प्रवेश करता है ॥७॥

धर्मो यस्याभिशङ्क्यः स्यादार्षं वा दुर्बलात्मनः ।
वेदात् शूद्र इवापेयात् स लोकादजरामरात् ॥८॥

जिस दुर्बल आत्मा वाले पुरुष को धर्म पर शङ्का होगी, वह वेद से शूद्र (पापी पुरुष) के तुल्य अजर और अमर लोकों से च्युत हो जावेगा ॥ ८ ॥

वेदाध्यायी धर्मपरः कुले जातो मनस्विनि ।
स्थविरेषु स योक्तव्यो राजभिर्धर्मचारिभिः ॥९॥

हे मनस्विनी ! राज-कर्मचारियों को चाहिए, कि वे वेद-पाठी धर्मात्मा, कुलीन, बालक को भी वृद्धों की पंक्ति में सम्मिलित समझें ॥ ९ ॥

पापीयान् स हि शूद्रेभ्यस्तस्करेभ्यो विशिष्यते ।
शास्त्रातिगो मन्दबुद्धिर्यो धर्ममभिशङ्कते ॥१०॥

वह मनुष्य, शूद्र (लुटेरे) चोर आदि से अधिक पापी है, जो मूर्ख, शास्त्र को प्रमाण न मानकर धर्म पर शङ्का करता है॥१०

प्रत्यक्षं हि त्वया दृष्ट ऋषिर्गच्छन् महातपाः ।
मार्कण्डेयोऽप्रमेयात्मा धर्मेण चिरजीविता ॥११॥

तूने धर्म के कारण ही बहुत काल तक जीवित रहने वाले महात्मा, महा तपस्वी, मार्कण्डेय मुनि को अपनी आंखों से देखा है ॥ ११ ॥

व्यासो वशिष्ठो मैत्रेयो नारदो लोमशः शुकः ।
अन्ये च ऋषयः सर्वे धर्मेणैव सुचेतसः ॥१२॥
प्रत्यक्षं पश्यसि ह्येतान् दिव्ययोगसमन्वितान् ।
शापानुग्रहणे शक्तान् देवेभ्योऽपि गरीयसः ॥१३॥

व्यास, वसिष्ठ, मैत्रेय, नारद, लोमश, शुक आदि ऋषि मुनि धर्म से ही दिव्य ज्ञानी हो रहे हैं। तुम इनको दिव्य योग से युक्त और शाप के प्रदान करने में समर्थ स्वयं अपनी आंखों से देख रही हो। ये सब देवों से भी अधिक प्रभावशाली हैं १२-१३

एते हि धर्ममेवादौ वर्णयन्ति सदानघे ।
कर्त्तव्यममरप्रख्याः प्रत्यक्षागमबुद्धयः ॥१४॥

हे महाभागे ! ये देवों के तुल्य सारे ऋषि, वेद प्रतिपादित धर्म को प्रत्यक्ष देखने वाले हैं, तथा धर्म का ही सर्व प्रथम कर्तव्य रूप से वर्णन करते हैं ॥ १४ ॥

अतो नार्हसि कल्याणि धातारं धर्ममेव च ।
राज्ञि मूढेन मनसा क्षेप्तुं शङ्कितुमेव च ॥१५॥

हे कल्याणि ! इसलिए तुमको ईश्वर या धर्म पर मन से भी शङ्का तथा आक्षेप नहीं करना चाहिए ॥ १५ ॥

उन्मत्तान्मन्यते बालः सर्वानागतनिश्चयान् ।
धर्माभिशङ्की नान्यस्मात् प्रमाणमधिगच्छति ॥१६॥

धर्म पर सन्देह रखने वाला मूर्ख मनुष्य, उन्मत्तों को ही निश्चित तत्व के ज्ञाता समझ बैठता है और वह इनके अतिरिक्त अन्य प्रमाण कुछ भी नहीं मानता है ॥ १६ ॥

आत्मप्रमाण उन्नद्धः श्रेयसो ह्यवमन्यकः ।
इन्द्रियप्रीतिसम्बद्धं यदिदं लोकसाक्षिकम् ।
एतावन्मन्यते बालो मोहमन्यत्र गच्छति ॥१७॥

यह उन्मत्त पुरुष, अपने आपको ही प्रमाण मानता है और कल्याण की अवहेलना करता रहता है। इसको सारा जगत्, इन्द्रिय के भोगों के साथ ही बंधा हुआ प्रतीत होता है। यह मूर्ख इतना ही जानता है और धर्म के विषय में बिल्कुल अपरिचित रहता है ॥ १७ ॥

प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति यो धर्ममभिशङ्कते ।

ध्यायन् स कृपणः पापो न लोकान् प्रतिपद्यते ॥१८॥

जो धर्म पर शङ्का करता है, उसका कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है। इस विचार में निमग्न हुआ यह पापी पुरुष, उत्तम लोकों को प्राप्त नहीं कर सकता है ॥ १८ ॥

प्रमाणाद्धि निवृत्तो हि वेदशास्त्रार्थनिन्दकः ।

कामलोभातिगो मूढ़ो नरकं प्रतिपद्यते ॥१९॥

यह मूर्ख, नास्तिक, किसी भी आप्त प्रमाण को नहीं मानता है और वेद शास्त्रों की निन्दा करता रहता है तथा काम और लोभ के वशीभूत हुआ नरक को जाता है ॥ १९ ॥

यस्तु नित्यं कृतमतिर्धर्ममेवाभिपद्यते ।

अशङ्कमानः कल्याणि सोऽमुत्रानन्त्यमश्नुते ॥२०॥

हे कल्याणि ! जो बुद्धिमान्, धर्म का ही आचरण करता है और उस पर शङ्का नहीं रखता है, वही परलोक में सुख प्राप्त करता है ॥ २० ॥

आर्षं प्रमाणमुत्क्रम्य धर्मं न प्रतिपालयन् ।

सर्वशास्त्रातिगो मूढ़ः शं जन्मसु न विन्दति ॥२१॥

आर्ष-प्रमाण को छोड़कर जो धर्म की प्रतिपालना नहीं करता है और सारे शास्त्रों का तिरस्कार कर देता है, वह मूर्ख किसी भी जन्म में सुख नहीं पाता है ॥ २१ ॥

यस्य नार्षं प्रमाणं स्याच्छिष्टाचारश्च भाविनि ।
नैव तस्य परो लोको नायमस्तीति निश्चयः ॥२२॥

हे भाविनि ! जो न तो ऋषि कृत धर्मों को मानता है और न शिष्टाचार का ही पालन करता है, उस पुरुष का यह लोक और परलोक दोनों ही भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ २२ ॥

शिष्टैराचरितं धर्मं कृष्णे मा स्माभिशङ्किथाः ।
पुराणमृषिभिः प्रोक्तं सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः ॥२३॥

हे कृष्णे ! तुम श्रेष्ठ पुरुषों से स्वीकार किए हुए धर्म पर शङ्का न करो । यह धर्म बड़ा प्राचीन है और तत्वदर्शी, सर्वज्ञ ऋषियों ने कहा है ॥ २३ ॥

धर्म एव प्लवो नान्यः स्वर्गं द्रौपदि गच्छताम् ।
सैव नौः सागरस्येव वणिजः पारमिच्छतः ॥२४॥

हे द्रौपदी ! समुद्र को पार करने की इच्छा वाले वणिक् की नौका के समान स्वर्ग के जाने वालों को केवल धर्म ही नौका है।

अफलो यदि धर्मः स्याच्चरितो धर्मचारिभिः ।
अप्रतिष्ठे तमस्येतज्जगत्मज्जेदनिन्दिते ॥२५॥

हे अनिन्दिते ! धर्मात्मा पुरुषों से आचरण किया हुआ धर्म यदि निष्फल होता तो गहरे अन्धकार में यह सारा जगत् डूब जाता ॥ २५ ॥

निर्वाणं नाधिगच्छेयुर्जीवेयुः पशुजीविकाम् ।
विद्यया नैव युज्येयुर्न चार्थं केचिदाप्नुयुः ॥२६॥

ऐसे लोग, कभी भी निर्वाण नहीं पा सकते, बल्कि पशुओं के समान अपना जीवन व्यतीत करते हैं, ये ज्ञान मार्ग से कभी युक्त नहीं होते और न किसी प्रयोजन को पा सकते हैं ॥२६॥

तपश्च ब्रह्मचर्यञ्च यज्ञः स्वाध्याय एव च ।
दानमर्ज्जवामेतानि यदि स्युरफलानि वै ॥२७॥

इस प्रकार तो तप, ब्रह्मचर्य, यज्ञ, स्वाध्याय, दान, आर्जव (सीधापन) ये सब व्यर्थ हो जाते हैं ॥ २७ ॥

नाचरिष्यन् परे धर्मं परे परतरे च ये ।
विप्रलम्भोऽयमत्यन्तं यदि स्युरफलाः क्रियाः ॥२८॥

जो इस यज्ञ कर्म की क्रियाएँ निष्फल होतीं तो पूर्वकाल के श्रेष्ठ से श्रेष्ठ पुरुष भी, इस धर्म का कभी आचरण नहीं करते २८

ऋषयश्चैव देवाश्च गन्धर्वासुरराक्षसाः ।
ईश्वराः कस्य हेतोस्ते चरेयुर्द्धर्ममादृताः ॥२९॥

ऋषि, देव, गन्धर्व, असुर, राक्षसों ने यदि आदर के साथ धर्म का आचरण नहीं किया होता, तो वे किस प्रकार इतने शक्ति-शाली होते ॥ २९ ॥

फलदन्त्विह विज्ञाय धातारं श्रेयसि ध्रुवम् ।
धर्मन्ते व्यचरन् कृष्णे तद्धि शर्म सनातनम् ॥३०॥

हे कृष्णे ! कल्याण प्राप्ति के लिए ही कर्म के फलदाता ईश्वर को जानकर धर्म के आचरण करने वाले इन महात्माओं ने धर्म का आचरण किया है । यह धर्म सनातन और कल्याणकारी है ॥ ३० ॥

स नायमफलो धर्मो नाधर्मोऽफलवानपि ।
दृश्यन्तेऽपि हि विद्यानां फलानि तपसां तथा ॥३१॥

यह धर्म और अधर्म, अपने २ फलों से रहित नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान और तप के भी फल दिखाई देते हैं ॥ ३१ ॥

त्वमात्मनो विजानीहि जन्म कृष्णे यथाश्रुतम् ।
वेत्थ चापि यथाजातो धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ॥३२॥

हे द्रौपदी ! तू अपने जन्म को ही देख ले, किस प्रकार धर्म की सफलता का प्रमाण है। तू यह भी जानती है, कि प्रतापी धृष्टद्युम्न किस प्रकार उत्पन्न हुआ है ॥ ३२ ॥

एतावदेव पर्य्याप्तमुपमानं शुचिस्मिते ।
कर्मणां फलमाप्नोति धीरो ऽल्पेनापि तुष्यति ॥३३॥

हे शुचिस्मिते ! तेरे लिए यह उपमान प्रमाण ही पर्याप्त (काफी) है। इसलिए यज्ञादि कर्मों का फल मिलता है, यह सिद्ध हो जाता है। विद्वान् पुरुष तो स्वल्प ही युक्तिवाद से सन्तुष्ट हो जाता है ॥ ३३ ॥

बहुनापि ह्यविद्वांसो नैव तुष्यन्त्यबुद्धयः ।
तेषां न धर्मजं किञ्चित् प्रेत्य शर्मास्ति वा पुनः ॥३४॥

विद्या रहित मूर्ख लोगों को तो कितने ही प्रमाण दो, परन्तु उनको सन्तोष कभी नहीं होता। उनको तो धर्म का फल कल्याण इस लोक या पितृ लोक में कहीं भी नहीं मिलता ॥ ३४ ॥

कर्मणां श्रुतपुण्यानां पापानाञ्च फलोदयः ।
प्रभवश्चात्ययश्चैव देवगुह्यानि भाविनि ॥३५॥

हे भाविनि ! शास्त्रोक्त पुण्य से युक्त कर्म और पापकर्मों के फल का उदय अवश्य होता है । पुण्यों से स्वर्गादि की प्राप्ति और पाप से नरक देवों, से सुरक्षित हैं ॥ ३५॥

नैतानि वेद यः कश्चिन्मुह्यन्तेऽत्र प्रजा इमाः ।
अपि कल्पसहस्रेण न स श्रेयोऽधिगच्छति ॥३६॥

इन बातों को जो मनुष्य नहीं जानते हैं, वे इस विषय में मोहित होते रहते हैं । ऐसा अज्ञानी पुरुष, सहस्रों कल्पों तक कल्याण नहीं पा सकता है ॥ ३६ ॥

रक्ष्याण्येतानि देवानां गूढ़माया हि देवताः ।
कृताशाश्च व्रताशाश्च तपसा दग्धकिल्बिषाः ॥३७॥
प्रसादैर्मानसैयुक्ताः पश्यन्त्येतानि वै द्विजाः ।
न फलादर्शनाद्धर्मः शङ्कितव्यो न देवताः ॥३८॥

देवता, इन सिद्धान्तों की रक्षा करते रहते हैं, क्योंकि देवों की माया बड़ी गुप्त है । तप से पापों के नाश करने वाले, शान्त और उदार, प्रसन्न चित्त वाले, ब्राह्मण ही इन बातों को देख सकते हैं । प्रत्यक्ष फल के दिखाई न देने पर धर्म और देवों की शङ्का नहीं करनी चाहिए ॥ ३७-३८ ॥

यष्टव्यश्च प्रयत्नेन दातव्यश्चानसूयता ।
कर्मणां फलमस्तीह तथैतद्धर्मशाश्वतम् ॥३९॥

प्रयत्न से यज्ञ करना और दान देना चाहिए। किसी की निन्दा करनी उचित नहीं है। कर्मों का फल अवश्य मिलता है। यही शाश्वत (सनातन) धर्म है ॥ ३९ ॥

ब्रह्मा प्रोवाच पुत्राणां यदृषि वेद कश्यपः।
तस्मात्ते संशयः कृष्णे नीहार इव नश्यतु ॥४०॥

हे द्रौपदी ! इस धर्म का उपदेश ब्रह्मा ने अपने पुत्रों को किया और कश्यप ने इसको समझा है, इसलिए अब तेरा सन्देह ओस की बूंदों के समान नष्ट होजाना चाहिए ॥ ४० ॥

व्यवस्य सर्वमस्तीति नास्तिक्यं भावमुत्सृज।
ईश्वरश्चापि भूतानां धातारं मा च वै क्षिप।
शिक्षस्वैनं नमस्वैनं मा तेऽभूद् बुद्धिरीदृशी ॥४१॥

हे सुन्दरि ! इस मेरे कथन पर विचार करके नास्तिक भाव को छोड़ दो। अब तुम प्राणियों को कर्मों के फल देने वाले ईश्वर पर भी आक्षेप मत करना। अभी तुम आचार्यों से कुछ पढ़ो और ईश्वर को प्रणाम करो, तुम्हारी बुद्धि ऐसी निष्फल नहीं होनी चाहिए ॥ ४१ ॥

यस्य प्रसादात्तद्भक्तो मर्त्यो गच्छत्यमर्त्यताम्।
उत्तमां देवतां कृष्णे मावमंस्थाः कथञ्चन ॥४२॥

इति आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि युधिष्ठिर-
द्रौपदीसंवादे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

हे द्रौपदी ! जिस ईश्वर की कृपा से उसका भक्त अमर हो जाता है, उसी अनुपम ईश्वर का तुम कभी तिरस्कार न करो ॥४२

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गतअर्जुनाभिगमनपर्व मेंयुधिष्ठिर-द्रौपदी-सम्वाद का इकतीसवां अध्याय पूरा हुआ ।



बत्तीसवां अध्याय

द्रौपद्युवाच—

नावमन्ये न गर्हे च धर्मं पार्थ कथञ्चन ।
ईश्वरं कुत एवाहमवमंस्ये प्रजापतिम् ॥१॥

द्रौपदी कहने लगी—हे राजन् ! मैं धर्म का तिरस्कार या निन्दा कभी नहीं करती हूँ; फिर प्रजा के पालन कर्ता ईश्वर का तिरस्कार कैसे करसकती हूँ ॥१॥

आर्त्ताहं प्रलपामिदमीति मां विद्धि भारत ।
भूयश्च विलपिष्यामि सुमनास्त्वं निबोध मे ॥२॥

हे भारत ! मैं तो दुःखी होकर सब कुछ कह रही हूँ, कि ईश्वर की व्यवस्था बड़ी उलझी हुई है । अब मैं कुछ और भी कहना चाहती हूँ, तुम शान्तचित्त होकर सुनो ॥२॥

कर्म खल्विह कर्त्तव्यं जानतामित्रकर्षण ।
अकर्माणो हि जीवन्ति स्थावरा नेतरे जनाः ॥३॥

हे शत्रुविजयी ! ज्ञानी मनुष्य को कर्म अवश्य करना चाहिए। कर्म त्याग करके जीने वाले वृक्ष आदि जड़ जीव होते हैं, अन्य नहीं ॥३॥

यावद्गोस्तनपानाच्च यावच्छायोपसेवनात् ।
जन्तवः कर्मणा वृत्तिमाप्नुवन्ति युधिष्ठिर ॥४॥

हे युधिष्ठिर ! गौ पशु का बच्चा भी उत्पन होते ही स्तनपान में प्रवृत्त होजाता है, शत्रु आदि की मूर्ति में कण्टक के प्रवेश से शत्रु को व्यथा होती देखी गई है। इससे प्रतीत होता है, कि पूर्वजन्म या इस जन्म का अदृष्ट विशेष ही प्राणी के निर्वाह का हेतु है ॥४॥

जङ्गमेषु विशेषेण मनुष्या भरतर्षभ ।
इच्छन्ति कर्मणा वृत्तिमवाप्तुं प्रेत्य चेह च ॥५॥

हे भरतर्षभ ! चेतन प्राणियों में मनुष्य ही कर्म-योनि है। यही अपने कर्मों के अनुसार भोग प्राप्त करने के लिए इसलोक या परलोक में जाताहै ॥५॥

उत्थानमभिजानन्ति सर्वभूतानि भारत ।
प्रत्यक्षं फलमश्नन्ति कर्मणां लोकसाक्षिकम् ॥६॥

सारे प्राणी, अपने पूर्वजन्म के संस्कार का अनुभव करते हैं और कर्मों के फल प्रत्यक्ष भोगते रहते हैं, जिसका लोक साक्षी है ॥६॥

सर्वे हि स्वं समुत्थानमुपजीवन्ति जन्तवः ।
अपि धाता विधाता च यथायमुदके बकः ॥७॥

सारे प्राणी अपने २ पूर्व संस्कारों के वश में रहते हैं। जिस प्रकार यह बक इस तट पर अपने पूर्व संस्कार वश अपने भोगों को भोग रहा है, उसी तरह ईश्वर के भी अनादि संस्कार होते हैं और कर्म (प्रकृतिधर्म) के भी अनादि संस्कार हैं। तभी तो पूर्वकाल के अनुसार ईश्वर रचता है, और प्रकृति अपने नियमों का पालन करती है ॥७॥

अकर्मणां वै भूतानां वृत्तिः स्यान्न हि काचन।
तदेवाभिप्रपद्येत न विहन्यात् कदाचन ॥८॥

यदि प्राणी, कर्मों का त्याग करदें, तो इस जगत् में निर्वाह ही नहीं हो सकता है। इससे सदा कर्मों का आश्रय लेवे. कर्मों को कभी नष्ट न करें ॥८॥

स कर्म कुरु मा ग्लासीः कर्मणा भव दंशितः।
कृतं हि योऽभिजानाति सहस्रे सोऽस्ति नास्ति च ॥९॥

तुम भी कर्म करने में लग जाओ, उदासीन न बनो। कर्म करने के लिए सदा तय्यार रहो। जो कर्म करना जानता है, वही सहस्रों मनुष्यों में प्रथम गिना जाता है, अन्यथा वह रहता ही नहीं है ॥९॥

तस्य चापि भवेत् कार्य्यं विवृद्धौ रक्षणे तथा।
भक्ष्यमाणो ह्यनादानात् क्षीयेत हिमवानपि ॥१०॥

इस कर्म का प्रयोजन ही यह है, जिससे अपने अर्थ (धन) की वृद्धि और रक्षा की जासके। यदि उपार्जन नहीं किया जावेगा

और भक्षण आदि में व्यय होता रहेगा तो हिमालय के तुल्य धन की प्राप्ति भी समाप्त होजावेगी ॥१०॥

उत्सीदेरन् प्रजाः सर्वा न कुर्य्युः कर्म चेद्भुवि ।
तथा ह्येता न वर्द्धेरन् कर्म चेदफलं भवेत् ॥११॥

यदि पृथिवी पर कभी कर्म करना बन्द कर दिया जावे तो इस सारे जगत् का ही उच्छेद होजावेगा ॥११॥

अपि चाप्यफलं कर्म पश्यामः कुर्वतो जनान् ।
नान्यथा ह्यपि गच्छन्ति वृत्तिं लोकाः कथञ्चन ॥१२॥

यद्यपि संसार में अनेक मनुष्यों को निष्फल कर्म करते देखते हैं, परन्तु निरर्थक कर्म करने वाले मनुष्य भी विरुद्ध वृत्ति (अर्थात्) को कभी प्राप्त नहीं होते हैं ॥१२॥

यश्च दिष्टपरो लोके यश्चापि हठवादिकः ।
उभावपि शठावेतौ कर्मबुद्धिः प्रशस्यते ॥१३॥

जो मनुष्य केवल भाग्य का आश्रय लिए बैठा है या जो अचिन्तत लाभ होता है, ऐसा कहते हैं, वे मूर्ख हैं इनमें तो कर्म शील की ही प्रशंसा है ॥१३॥

यो हि दिष्टमुपासीनो निर्विचेष्टः सुखं शयेत् ।
अवसीदेत् सुदुर्बुद्धिरामो घट इवोदके ॥१४॥

जो भाग्य का अवलम्बन करके निश्चेष्ट हो जाता है और सुख की नींद सोता है, वह मूर्ख परिणाम में दुःखी होता है और जल में कच्चे घड़े के तुल्य नष्ट होजाता है ॥१४॥

तथैव हठदुर्बुद्धिः शक्तः कर्मण्यकर्मकृत् ।
आसीत न चिरं जीवेदनाथ इव दुर्बलः ॥१५॥

मूर्ख कर्म करने में समर्थ होकर भी कर्म नहीं करता है और चुपचाप बैठा रहता है, वह अनाथ निर्बल के समान चिरकाल तक नहीं जीता है ॥१५॥

अकस्मादिह यः कश्चिदर्थं प्राप्नोति पूरुषः ।
तं हठेनेति मन्यन्ते स हि यत्नो न कस्यचित् ॥१६॥

पुरुष किसी लाभ को अचानक पाता है, उसको स्वभाव से ही मानता है । और समझता है यह किसी का यत्न नहीं है ॥१६॥

यच्चापि किञ्चित् पुरुषोदिष्टं नाम भजत्युत ।
दैवेन विधिना पार्थ तद्दैवमिति निश्चितम् ॥१७॥

हे युधिष्ठिर ! मनुष्य जब कभी देवता के आराधन द्वारा कुछ लाभ प्राप्त करता है, तो वह दैव लाभ कहाता है ॥१७॥

यत् स्वयं कर्मणा किञ्चित् फलमाप्नोति पूरुषः ।
प्रत्यक्षमेतल्लोकेषु तत् पौरुषमिति स्मृतम ॥१८॥

पुरुष जब अपने उद्योग से किसी अर्थ की प्राप्ति करता है, तो इस लोक में मनुष्य उसको पौरुष नाम से पुकारते हैं, यह प्रत्यक्ष है ॥१८॥

स्वभावतः प्रवृत्तो यः प्राप्नोत्यर्थं न कारणात् ।
तत् स्वभावात्मकं विद्धि फलं पुरुष-सत्तम ॥१९॥

हे पुरुष श्रेष्ठ ! जो मनुष्य किसी कार्य में स्वभाव से प्रवृत हुआ हो और वहां अन्य किसी प्रत्यक्ष कारण के बिना ही उसको सिद्धि प्राप्त होगई, तो यह सिद्धि स्वभावात्मक जाननी चाहिये ॥१६॥

एवं हठाच्च दैवाच्च स्वभावात् कर्मणस्तथा ।
यानि प्राप्नोति पुरुषस्तत्फलं पूर्वकर्मणाम् ॥२०॥
धातापि हि स्वकर्मैव तैस्तैर्हेतुभिरीश्वरः ।
विदधाति विभज्येह फलं पूर्वकृतं नृणाम् ॥२१॥

इस प्रकार हठ, दैव, स्वभाव और उद्योग से पुरुष जिन धनों को प्राप्त करलेता है, ये सब मनुष्य के पूर्व जन्म के कर्मों का ही फल है ॥२१॥

यद्ययं पुरुषः किञ्चित् कुरुते वै शुभाशुभम् ।
तद्धातृविहितं विद्धि पूर्वकर्मफलोदयम् ॥२२॥

पुरुष, इस जगत् में जो शुभ अशुभ कर्म करता है । यह पूर्वकर्मों का फल ही है, जो विधाता की प्रेरणा से प्राप्त हुआ है ॥२२॥

कारणं तस्य देहोऽयं धातुः कर्मणि वर्त्तते ।
स यथा प्रेरयत्येनं तथायं कुरुतेऽवशः ॥२३॥

अपने कर्म चक्र में वर्तमान यह देह, विधाता की प्रेरक है, फिर कर्मानुसार विधाता, जैसे इसको प्रेरित करता है । यह परतन्त्र होकर वैसा ही करती है ॥२३॥

तेषु तेषु हि कृत्येषु विनियोक्ता महेश्वरः ।
सर्वभूतानि कौन्तेय कारयत्यवशान्यपि ॥२४॥

हे कौन्तेय ! यही ईश्वर, प्रत्येक प्राणी को अपने २ कामों में प्रेरित करता रहता है और यही सब प्राणियों को बलपूर्वक काम कराता है ॥२४॥

मनसार्थान् विनिश्चित्य पश्चात् प्राप्नोति कर्मणा ।
बुद्धिपूर्वं स्वयं वीर पुरुषस्तत्र कारणम् ॥२५॥

हे वीर ! मनुष्य, प्रथम मनसे अपने कर्मों का निश्चय करता है और पीछे उसको कार्य में परिणत करता है। इस प्रकार बुद्धि इसमें साथ रहती है इसमें पुरुष (ईश्वर) ही प्रेरक है ॥२५॥

संख्यातुं नैव शक्यानि कर्माणि पुरुर्षभ ।
अगारनगराणां हि सिद्धिः पुरुषहैतुकी ॥२६॥

हे पुरुषर्षभ ! पूर्व कर्म ही इस कार्यका कारण है, उद्योग नहीं, इसका निश्चय ही नहीं हो सकता है। मकान और नगरों को रचना पुरुषार्थ की सूचक है ॥२६॥

तिले तैलं गवि क्षीरं काष्ठे पावकमन्ततः ।
धिया धीरो विजानीयादुपायश्चास्य सिद्धये ॥२७॥

बुद्धिमान् तिलों में तेल, गाय के दूध में घी, काठ में आग को अपनी बुद्धि से देख लेता है, परन्तु उसकी प्राप्ति उद्योग से ही करता है ॥२७॥

ततः प्रवर्तते पश्चात् कारणैस्तत्र सिद्धये ।
तां सिद्धिमुपजीवन्ति कर्मजामिह जन्तवः ॥२८॥

इस तल आदि की प्राप्ति के लिए लोग, फिर कोल्हू आदि का प्रयत्न करते हैं। उस सिद्धि को मनुष्य, कर्मों से उत्पन्न हुई ही मानते हैं ॥२८॥

कुशलेन कृतं कर्म कर्त्रा साधु स्वनुष्ठितम् ।
इदं त्वकुशलेनेति विशेषादुपलभ्यते ॥२६॥

कुशल कर्ता से किया हुआ कर्म, अच्छी तरह सम्पादित हो जाता है और फलभेद से यह पता लग जाता है, कि यह अकुशल कर्ता द्वारा किया हुआ है ॥२६॥

इष्टापूर्त्तफलं न स्यान्न शिष्यो न गुरुर्भवेत् ।
पुरुषः कर्मसाध्येषु स्याच्चेदयमकारणम् ॥३०॥

जो कर्म साध्य कार्यों में भी पुरुष अकारण ही माना जावेगा, तो इष्टापूर्त (यज्ञ और तडागादि) का फल ही नहीं होगा और न गुरु शिष्य का व्यवहार ही चल सकेगा ॥३०॥

कर्तृत्वादेव पुरुषः कर्मसिद्धौ प्रशस्यते ।
असिद्धौ निन्द्यते चापि कर्त्ता नासीत् कथन्त्विह ॥३१॥

पुरुष कर्ता होने से ही कर्म की सिद्धि में प्रशंसित होता है। जब कर्म की असिद्धि होती है, तब उसकी निन्दा होती है। फिर पुरुष, कर्ता या मुख्य क्यों नहीं है ॥३१॥

सर्वमेव हठनेके दैवेनैके वदन्त्युत ।
पुंसः प्रयत्नजं किञ्चित्त्रैधमेतन्निरुच्यते ॥३२॥

इस कर्म को कोई (चार्वाक) अचिन्तत लाभ वाला, कोई (कौलिक) दैव पर और कोई पुरुषार्थ (प्रकृतिवादी) रूप मानता है इस प्रकार कर्म तीन प्रकार का माना है ॥३२॥

न चैवैतावता कार्य्यं मन्यन्त इति चापरे।
अस्ति सर्वमदृश्यन्तु दिष्टं चैव तथा हठः ॥३३॥

वेद के मानने वाले, इन तीनों से कार्य की सिद्धि नहीं मानते हैं। इनके मत में तो हठ या दैव सारा पूर्व कर्मके अन्तर्गत ही है ॥३३॥

दृश्यते हि हठाच्चैव दिष्टाच्चार्थस्य सन्ततिः।
किञ्चिद्दैवाद्धठात् किञ्चित् किञ्चिदेव स्वभावतः ॥३४॥
पुरुषः फलमाप्नोति चतुर्थं नात्र कारणम्।

कुछ कहते हैं कि कोई कार्य तो हठसे और कोई दैव से सिद्ध होते हैं, कुछ दैव, कुछ हठ और कुछ स्वभाव के संयोग से सिद्ध होते हैं, चौथा कोई कारण नहीं है ॥३४॥

कुशलाः प्रतिजानन्ति ये वै तत्वविदो जनाः ॥३५॥
तथैव धाता भूतानामिष्टानिष्टफलप्रदः।
यदि न स्यान्न भूतानां कृपणो नाम कश्चन ॥३६॥
यं यमर्थमभिप्रेप्सुः कुरुते कर्म पुरुषः।
तत्तत्सफलमेव स्याद्यदि न स्यात् पुराकृतम् ॥३७॥

जो तत्त्वज्ञानी, कुशल मनुष्य हैं, वे ही इस विषय को जानते हैं कि यदि जगत में प्राणियों को शुभ अशुभ फल का देने

वाला विधाता नहीं होता, तो प्राणियों में कोई भी दरिद्री नहीं रह पाता। जिस २ प्रयोजन का लक्ष्य करके मनुष्य कर्म करता, वह सारे ही कार्य सिद्ध हो जाते, यदि उनको रुकावट करने वाले पूर्व जन्म के कर्म न होते ॥ ३६-३७ ॥

त्रिद्वारामर्थसिद्धिन्तु नानुपश्यन्ति ये नराः ।
तथैवानर्थसिद्धिञ्च यथैवात्मा तथैव ते ॥३८॥

हठ, दैव और प्राकृत इन तीन मार्गों से अर्थ सिद्धि नहीं होती है, किन्तु अर्थ सिद्धि का कारण प्राक्तन कर्म ही है, इस प्रकार जो नहीं मानते हैं, तथा इन मतों से होने वाली अनर्थ सिद्धि को जो नहीं देखते हैं, वे जड़ हैं ॥ ३८ ॥

कर्तव्यमेव कर्मेति मनोरेष विनिश्चयः ।
एकान्तेन ह्यनीहोऽयं पराभवति पूरुषः ॥३९॥

कर्म को कर्त्तव्य समझ कर करता रहे, यही मनु आदि ऋषियों का मत है। जो सर्वथा उद्योग रहित रहता है। वह पुरुष तिरस्कृत (ना कामयाब) रहता है ॥ ३९ ॥

कुर्वतो हि भवत्येव प्रायेणेह युधिष्ठिर ।
एकान्तफलसिद्धिन्तु न विन्दत्यलसः क्वचित् ॥४०॥

हे युधिष्ठिर ! जो उद्योग करता है, उसको ही प्रायः सिद्धि प्राप्त होती है, परन्तु आलसी को कभी भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है ॥ ४० ॥

असम्भवे त्वस्य हेतुः प्रायश्चित्तन्तु लक्षयेत् ।
कृते कर्मणि राजेन्द्र तथानृण्यमवाप्नुते ॥४१॥

हे राजेन्द्र ! कर्म की सिद्धि के न होने पर भी कोई दोष नहीं माना गया है, क्योंकि उद्योग के असफल होने में पूर्व कर्मों ने विघ्न किया है, इससे कर्त्ता का क्या दोष है। इस दशा में कर्म-योगी, कर्म करने पर ही उऋण हो जाता है ॥ ४१ ॥

अलक्ष्मीराविशत्येनं शयानमलसं नरम् ।
निःसंशयं फलं लब्ध्वा दक्षो भूतिमुपाश्नुते ॥४२

आलसी, अनुद्योगी पुरुष को दरिद्र घेर लेता है और कार्य-कुशल पुरुष, अवश्य फल प्राप्त करके सुख भोगता है ॥ ४२ ॥

अनर्थाः संशयावस्थाः सिध्यन्ते मुक्तसंशयाः ।
धीरा नरा कर्मरता ननु निःसंशयाः क्वचित् ॥४३॥

संशय में लीन पुरुष अनर्थों का पात्र होता है और संशय रहित पुरुष सिद्धि पाते हैं। धीर, कर्मयोगी और सिद्धि में अवश्य विश्वास रखने वाले पुरुष कहीं २ होते हैं ॥ ४३ ॥

एकान्तेन ह्यनर्थोऽयं वर्त्ततेऽस्मासु साम्प्रतम् ।
स तु निःसंशयं न स्यात्त्वयि कर्मण्यवस्थिते ॥४४॥

राज्य से भ्रष्ट होने रूप अनर्थ ने हमको सब ओर से घेर लिया है। जब तक तुम्हारे हाथ में उद्योग की डोरी है, तब तक सिद्धि में सन्देह ही है ॥ ४४ ॥

अथवासिद्धिरेव स्यादभिमानं तदेव ते ।
वृकोदरस्य बीभत्सोर्भ्रात्रोश्च यमयोरपि ॥४५॥

इस प्रकार जब असिद्धि प्राप्त हो जावेगी, तब तुम्हारा, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव का अभिमान स्वयं नष्ट हो जावेगा ४५

अन्येषां कर्म सफलमस्माकमपि वा पुनः ।
विप्रकर्षेण बुध्येत कृतकर्मा यथाफलम् ॥४६॥

हमारी या अन्यों के कामों की कार्य के अन्त में होने वाली सफलता को कर्मशील पुरुष जान सकता है, परन्तु तुम कर्म-त्यागी होने से कैसे जान सकते हो ॥ ४६ ॥

पृथिवीं लाङ्गलेनेह भित्त्वा बीजं वपत्युत ।
आस्तेऽयं कर्षकस्तूष्णीं पर्जन्यस्तत्र कारणम् ॥४७॥

हल से पृथ्वी को जोतकर किसान बीज बोता है और पीछे चुप हो जाता है, फिर उसकी सफलता में मेघ कारण है, इसी तरह उद्योग करना चाहिए; सिद्धि दैवाधीन है ॥ ४७ ॥

वृष्टिश्चेन्नानुगृह्णीयादनेनास्तत्र कर्षकः ।
यदन्यः पुरुषः कुर्य्यात् कृतं तत् सफलं मया ॥४८॥

यदि वृष्टि नहीं होने से बीज सफल नहीं होवे, तो इसमें कर्षक का कोई अपराध नहीं है, क्योंकि वह समझ लेता है, कि जो कार्य अन्य ने किया; वह मैंने भी कर लिया है ॥ ४८ ॥

तच्चेदफलमस्माकमपराधो न मे क्वचित् ।
इति धीरोऽन्ववेक्ष्यैव नात्मानं तत्र गर्हयेत् ॥४९॥

यदि यह कार्य निष्फल हो गया, तो इसमें मेरा अपराध नहीं है। बुद्धिमान्, यह समझ कर अपनी निन्दा न करे ॥ ४९ ॥

कुर्वतो नार्थसिद्धिर्मे भवतीति ह भारत ।
निर्वेदो नात्र कर्त्तव्यो द्वावन्यौ ह्यत्र कारणम् ॥५०॥

हे भारत ! मैं प्रयत्न कर रहा हूँ, तो भी कार्य, सिद्ध नहीं होता है, इससे उदास नहीं होना चाहिए, क्योंकि कार्य की सिद्धि में अनिर्वेद (उदास न होना) और पुरुषार्थ ही कारण हैं ॥५०॥

सिद्धिर्वाप्यथवासिद्धिरप्रवृत्तिरतोऽन्यथा ।
बहूनां समवाये हि भावानां कर्मसिद्धये ॥५१॥

सिद्धि हो या असिद्धि हो, परन्तु कर्म में अप्रवृत्ति होना अच्छा नहीं है। कारणों के इकट्ठा होने पर ही कार्य की सिद्धि होती है ॥ ५१ ॥

गुणाभावे फलं न्यूनं भवत्यफलमेव च ।
अनारम्भे तु न फलं न गुणो दृश्यते क्वचित् ॥५२॥

मनुष्य में जब शौर्य आदि गुणों की न्यूनता रहती है, तब कार्य का फल भी थोड़ा ही होता है या होता ही नहीं है, परन्तु कार्य के आरम्भ ही न करने पर न तो फल ही होता है और न गुणों का प्रकाश ही होता है ॥ ५२ ॥

देशकालावुपायांश्च मङ्गलं स्वस्तिवृद्धये ।
युनक्ति मेधया धीरो यथाशक्ति यथाबलम् ॥५३॥

देश, काल, उपाय (साम आदि) और मङ्गल से कल्याण की वृद्धि होती है। बुद्धिमान् मनुष्य, अपने बल और शक्ति के अनुसार इनको बुद्धिपूर्वक जुटाता रहे ॥ ५३ ॥

अप्रमत्तेन तत् कार्य्यमुपदेष्टा पराक्रमः।
भूयिष्ठं कर्मयोगेषु सिद्धिमेव पराक्रमः ॥५४॥

देश काल आदि योगों को प्रमाद छोड़ कर व्यवहार में लावे; इसमें पराक्रम ही उपदेष्टा अर्थात् मुख्य है। कर्मयोग में पुरुषार्थ ही श्रेष्ठ माना गया है ॥ ५४ ॥

यत्र धीमानवेक्षेत श्रेयांसं बहुभिर्गुणैः।
साम्नैवार्थं ततो लिप्सेत् कर्म चास्मै प्रयोजयेत् ॥५५॥

बुद्धिमान्, अनेक गुणों से युक्त जब कार्य को देखे, तो साम-दान या भेद को उसके लिए प्रयुक्त करे ॥ ५५ ॥

व्यसनञ्चास्य काङ्क्षेत विवासं वा युधिष्ठिर।
अपि सिन्धोर्गिरेर्वापि किंपुनर्मर्त्यधर्मिणः ॥५६॥

हे युधिष्ठिर ! जब इन तीनों उपायों से सिद्धि प्राप्त न होवे, तो शत्रु के राष्ट्र में उपद्रव करावे, या देश से निकालने की चेष्टा करे। उद्योगी को अपने कार्य में विघ्नरूप समुद्र या पर्वत से भी भिड़ जाना चाहिए, फिर मनुष्यों की क्या गणना है।

उत्थानयुक्तः सततं परेषामन्तरैषणे।
आनृण्यमाप्नोति नरः परस्यात्मन एव च ॥५७॥

शत्रुओं के छिद्र देखने में सर्वदा प्रयत्नशील रहे। इसप्रकार राजा अपने, और अपने मन्त्रियों के दोषों से रहित हो जाता है॥

न त्वेवात्मावमन्तव्यः पुरुषेण कदाचन।
न ह्यात्मपरिभूतस्य भूतिर्भवति शोभना ॥५८॥

पुरुष को कभी अपनी आत्मा का अपमान नहीं करना चाहिए। जो अपना ही अपमान करता रहता है, उसको उत्तम वैभव प्राप्त नहीं होता है ॥ ५८ ॥

एवं संस्थितिका सिद्धिरियं लोकस्य भारत ।
तत्र सिद्धिर्गतिः प्रोक्ता कालावस्थाविभागतः ॥५६॥

हे भारत ! इस प्रकार की व्यवस्था वाली फल सिद्धि इस लोक में प्राप्त होती है। इस सिद्धि की प्राप्ति में काल और अवस्था के अन्वेषण में प्रयत्न करना ही सिद्धि का मूल है ॥५६॥

ब्राह्मणं मे पिता पूर्वं वासयामास पण्डितम् ।
सोऽपि सर्वामिमां प्राह पित्रे मे भरतर्षभ ॥६०॥

हे भरतर्षभ ! मेरे पिता ने पूर्व में एक विद्वान् ब्राह्मण को अपने घर बसाया था। उसने मेरे पिता को यह सारा उपदेश दिया था।

नीतिं बृहस्पतिप्रोक्तां भ्रातॄन् मेऽग्राहयत् पुरा ।
तेषां सकाशादश्रौषमहमेतत्तदा गृहे ॥६१॥

उसने मेरे भाइयों को बृहस्पति की नीति का उपदेश दिया। उन भाइयों के पास से यह सब कुछ मैंने सुना है ॥ ६१ ॥

स मां राजन् कर्मवतीमागतामाह सान्त्वयन् ।
शुश्रूषमाणामासीनां पितुरङ्के युधिष्ठिर ॥६२॥

इति आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि द्रौपदीवाक्यं नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥३२॥

हे युधिष्ठिर! किसी कार्य से पिता के पास आई हुई, इसके उपदेश सुनने की इच्छा वाली, पिता की गोद में बैठी हुई मुझ द्रौपदी को भी उस ब्राह्मण ने समझाकर यह सब कुछ कहा था।

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमन पर्व में
द्रौपदी वाक्य का बत्तीसवां अध्याय समाप्त हुआ।



तेतीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा भीमसेनो ह्यमर्षणः।
निःश्वसन्नुपसङ्गम्य क्रुद्धो राजानमब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! द्रौपदी के वचन सुनकर असहिष्णु भीमसेन, निःश्वास लेकर और राजा युधिष्ठिर के समीप पहुंच कर क्रोध के साथ कहने लगा ॥ १ ॥

राज्यस्य पदवीं धर्म्यं व्रज सत्पुरुषोचिताम्।
धर्मकामार्थहीनानां किं नो वस्तुं तपोवने ॥२॥

हे भारत! सत्य पुरुषों के योग्य, राज्य प्राप्ति के धार्मिक मार्ग को प्राप्त करो। धर्म अर्थ और काम से हीन होकर हमारे तपोवन में निवास करने से क्या लाभ है ॥ २ ॥

नैव धर्मेण तद्राज्यं नार्जवेन न चौजसा।
अक्षकूटमधिष्ठाय हृतं दुर्योधनेन वै ॥३॥

इस राज्य को दुर्योधन ने धर्म, सरलता या ओज से प्राप्त नहीं किया है, किन्तु छल युक्त पासे फैंक कर अपहरण किया है ॥ ३ ॥

गोमायुनेव सिंहानां दुर्बलेन बलीयसाम्।
आमिषं विघसाशेन तद्वद्राज्यं हि नो हृतम् ॥४॥

बलवान् सिंह के भक्षण करने योग्य मांस को दुर्बल गीदड़ या कुत्ते के समान दुर्योधन ने हमारा राज्य छीना है ॥ ४॥

धर्मलेशप्रतिच्छन्नः प्रभवं धर्मकामयोः।
अर्थमुत्सृज्य किं राजन् दुःखेषु परितप्यसे ॥५॥

हे राजन्! स्वल्प धर्म के आग्रह में डूबे हुए तुम, धर्म और काम के उत्पन्न करने वाले, अपने राज्य को छोड़ कर क्यों दुःखों में निमग्न हो रहे हो ॥ ५ ॥

भवतोऽनवधानेन राज्यं नः पश्यतां हृतम्।
अहार्य्यमपि शक्रेण गुप्तं गाण्डीवधन्वना ॥६॥

गाण्डीव धारी अर्जुन से सुरक्षित राज्य को आपके प्रमाद से देखते दुर्योधन ने छीन लिया; जिसको इन्द्र भी नहीं छीन सकता था ॥ ६ ॥

कुणीनामिव बिल्वानि पङ्गुनामिव धेनवः।
हृतमैश्वर्य्यमस्माकं जीवतां भवतः कृते ॥७॥

हाथों से बिकल (टूटे) मनुष्यों से बिल्व, लूले मनुष्यों से धेनु के तुल्य, हमारे जीते हुए ही आपके कारण राज्य छीना गया है ॥७॥

भवतः प्रियमित्येवं महद्व्यसनमीदृशम् ।
धर्मकामे प्रतीतस्य प्रतिपन्नाः स्म भारत ॥८॥

हे भारत ! धर्मार्जन की इच्छा में संलग्न आपको यह कर्म प्रिय है, इसी से हम भी इस बड़ी भारी विपत्ति को प्राप्त होरहे हैं ॥८॥

कर्षयामश्च मित्राणि नन्दयामश्च शात्रवान् ।
आत्मानं भवतां शास्त्रैर्नियम्य भरतर्षभ ॥९॥

हे भरतर्षभ ! आपके शासन से अपने आपको रोक कर हम अपने मित्रों को दुःखी और शत्रुओं को प्रसन्न कर रहे हैं ॥९॥

यद्वयं न तदेवैतान् धार्त्तराष्ट्रान्निहन्महि ।
भवतः शास्त्रमादाय तन्नस्तपति दुष्कृतम् ॥१०॥

जो हमने आपकी आज्ञा के वश में होकर उस समय ही दुर्योधनादिकों का वध नहीं किया, यह दुष्कर्म हमको संतापित कर रहा है ॥१०॥

अथैनामन्ववेक्षस्व मृगचर्य्यामिवात्मनः ।
दुर्बलाचरितं राजन्न बलस्थैर्निषेविताम् ॥११॥

हे राजन् ! बलवानों से छोड़ी हुई तथा निर्बलों के आचरण करने योग्य, अपनी इस बनैले जीवों की सी वृत्ति को तो जरा देखो ॥११॥

यां न कृष्णो न बीभत्सुर्नाभिमन्युर्न सृञ्जयाः ।
न चाहमभिनन्दामि न च माद्रीसुतावुभौ ॥१२॥

हे राजन्! श्री कृष्ण, अर्जुन, अभिमन्यु, यादव, मैं, या नकुल, सहदेव, कोई भी इस वृत्तिका अनुमोदन नहीं करते हैं ॥१२॥

भवान् धर्मो धर्म इति सततं व्रतकर्षितः।
कच्चिद्राजन्न निर्वेदादापन्नः क्लीबजीविकाम् ॥१३॥

हे राजन्! आप धर्म, धर्म, कहकर सदा व्रतों से निर्बल हो चुके हो। क्या तुमने अपने इस वैराग्य के कारण ही नपुंसकों की वृत्ति को प्राप्त नहीं किया है ॥१३॥

दुर्मनुष्या हि निर्वेदमफलं स्वार्थघातकम्।
अशक्ताः श्रियमाहर्त्तुमात्मनः कुर्वते प्रियम् ॥१४॥

अपनी लक्ष्मी के प्राप्त करने में अशक्त, क्लीब मनुष्य ही, इस निष्फल, स्वार्थ-घातक, वैराग्य को अपना प्रिय बनाते हैं ॥१४॥

स भवान् दृष्टिमान् शक्तः पश्यन्नस्मासु पौरुषम्।
आनृशंस्यपरो राजन्नानर्थमनबुध्यसे ॥१५॥

हे राजन! आपके आंख हैं और आपने हमारा पौरुष भी देख रखा है, तथा आप स्वयं शक्तिशाली हैं, परन्तु तुम दयालुता से प्रेम करते हो और इससे होने वाले अनर्थ का तुम को ज्ञान नहीं है ॥१५॥

अस्मानमी धार्त्तराष्ट्राः क्षममाणानलं सतः।
अशक्तानिव मन्यन्ते तद्दुःखं नाहवे वधः ॥१६॥

शक्तिशाली और सब तरह से समर्थ हम लोगों को दुर्योधनादि अशक्त समझ रहे हैं, यह बड़ा ही दुःख है। युद्ध में मर जाने का हमको क्लेश नहीं है ॥१६॥

तत्र चेद्युध्यमानानामजिह्मनिवर्तिनाम्।
सर्वशो हि वधः श्रेयान् प्रेत्य लोकान् लभेमहि ॥१७॥

युद्ध में लड़ते हुए और पीठ फेरकर न भागते हुए हम लोगों का मर जाना सब तरह अच्छा है, जिससे हम मर कर स्वर्गादिलोकों को तो प्राप्त कर सकेंगे ॥१७॥

अथवा वयमेवैतान् निहत्य भरतर्षभ।
आददीमहि गां सर्वां तथापि श्रेय एव नः ॥१८॥

हे भरतर्षभ! अथवा हम लोग दुर्योधनादिकों को मारकर सारी पृथिवी और अपने कल्याण को प्राप्त करलेंगे ॥१८॥

सर्वथा कार्य्यमेतन्नः स्वधर्ममनुतिष्ठताम्।
काङ्क्षतां विपुलां कीर्तिं वैरं प्रतिचिकीर्षताम् ॥१९॥

अपने धर्म का निर्वाह करते हुए, वैर का बदला चुकाने की चेष्टा वाले, तथा विपुल कीर्ति के इच्छुक, हम लोगों का उपर्युक्त कल्याण प्राप्त करना ही एक मात्र कार्य रहगया है ।१९।

आत्मार्थं युध्यमानानां विदिते कृत्यलक्षणे।
अन्यैरपि हृते राज्ये प्रशंसैव न गर्हणा ॥२०॥

शत्रुओं द्वारा राज्य के अपहरण करलेने पर अपना कर्तव्य निश्चित करके युद्ध करने वाले वीरों की प्रशंसा ही है, निन्दा नहीं ॥२०॥

कर्षणार्थो हि यो धर्मो मित्राणामात्मनस्तथा ।
व्यसनं नाम तद्राजन् न स धर्मः कुधर्म तत् ॥२१

हे राजन् ! जो धर्म, मित्र और अपने दुःख के लिए होता है, वह तो व्यसन (विपत्ति) है। इस व्यसन रूप धर्म को कुधर्म ही माना है ॥२१॥

सर्वथा धर्मनित्यन्तु पुरुषं धर्मदुर्बलम् ।
त्यजतस्तात धर्मार्थौ प्रेतं दुःखसुखे यथा ॥२२॥

हेतात ! जो पुरुष, सदा ऐसे धर्म में परायण रहता है और इसी धर्म के कारण जो निर्बल होगया है, उसको सत्य धर्म और अर्थ दोनों ही मृतपुरुष को दुःख सुख के तुल्य छोड़ देते हैं ॥२२॥

यस्य धर्मो हि धर्मार्थं क्लेशभाक् न स पण्डितः ।
न स धर्मस्य वेदार्थं सूर्यस्यान्धः प्रभामिव ॥२३॥

जिसका धर्म, केवल धर्म के लिए है, अर्थ, काम के लिये नहीं, वह क्लेशों का भोगने वाला पण्डित नहीं है । अन्धा पुरुष जसे धूप को नहीं देख सकता है, उसी तरह यह भी धर्म के तत्व को नहीं जान सकता है ॥२३॥

यस्य चात्मार्थमेवार्थः स च नार्थस्य कोविदः ।
रक्षेत भृतकोऽरण्ये यथा गास्तादृगेव सः ॥२४॥

जिसका अर्थ, अर्थ के लिए है, वह अर्थ (प्रयोजन) का जानने वाला ही नही है। ग्वाला जैसे गायों की वन में

रक्षा करता है, और उसका गायों से कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसा ही यह पुरुष माना जाता है ॥२४॥

अतिवेलं हि योऽर्थार्थी नेतरावनुतिष्ठति ।
स वध्यः सर्वभूतानां ब्रह्महेव जुगुप्सितः ॥२५॥

जो अत्यन्त अर्थ की इच्छा रखता है और धर्म तथा काम की परवाह नहीं करता, वह वध के योग्य है और ब्रह्म हत्यारे के समान निन्दित है ॥२५॥

सततं यश्च कामार्थी नेतरावनुतिष्ठति ।
मित्राणि तस्य नश्यन्ति धर्मार्थाभ्यांञ्च हीयते ॥२६॥

जो सदा काम की सिद्धि में प्रयत्न करता है और धर्म तथा अर्थ का ध्यान नहीं रखता, उसके सारे मित्र नष्ट हो जाते हैं, और वह धर्म तथा अर्थ से रहित होजाता है ॥२६॥

तस्य धर्मार्थहीनस्य कामान्ते निधनं ध्रुवम् ।
कामतो रममाणस्य मीनस्येवाम्भसः क्षये ॥२७॥

जब मनुष्य धर्म और अर्थ से हीन होता है, तब उसका काम के अन्त में नाश हो जाता है। जो केवल कामनाओं का दास है, उसका जल के क्षीण होने पर मछली के समान नाश हो जाता है ॥२७॥

तस्माद्धर्मार्थयोर्नित्यं न प्रमाद्यन्ति पण्डिताः ।
प्रकृतिः सा हि कामस्य पावकस्यारणिर्यथा ॥२८॥

इसीसे धर्म और अर्थ के उपार्जन में समझदार मनुष्य प्रमाद नहीं करते हैं। अग्नि को उत्पन्न करने वाली अरणि के तुल्य ये दोनों भी काम के कारण हैं ॥२८॥

सर्वथा धर्ममूलोऽर्थो धर्मश्चार्थपरिग्रहः ।
इतरेतरयोर्नीतौ विद्धि मेघोदधी यथा ॥२९॥

अर्थ, सब तरह से धर्म के आधीन है और धर्म, अर्थ के आश्रित माना गया है । मेघ से समुद्र और समुद्र से मेघ की पुष्टि के तुल्य, ये दोनों भी एक दूसरे के पोषक हैं ॥२९॥

द्रव्यार्थस्पर्शसंयोगे या प्रीतिरुपजायते ।
स कामश्चित्तसङ्कल्पः शरीरं नास्य दृश्यते ॥३०॥

सुखकी सामग्री और धन की प्राप्ति में मनुष्य को जो प्रीति होती है, वही चित्त का संकल्प काम कहाता है, इससे अन्य इसका कोई शरीर नहीं है ॥३०॥

अर्थार्थी पुरुषो राजन् बृहन्तं धर्ममिच्छति ।
अर्थमिच्छति कामार्थी न कामादन्यमिच्छति ॥३१॥

अर्थ का इच्छुक पुरुष, महान् धर्म का अभिलाषी होता है। जो कामार्थी होता है, वह धन चाहता है, क्योंकि कामना वाला धन से अन्य किसी वस्तु को नहीं चाहता है ॥३१॥

न हि कामेन कामोऽन्यः साध्यते फलमेव तत् ।
उपयोगात् फलस्यैव काष्ठाद्भस्मेव पण्डितैः ॥३२॥

पण्डित काम से अन्य काम की इच्छा नहीं करते हैं, क्योंकि काम तो स्वयं फल है। फल का उपयोग तो काष्ठ से भस्म के

समान है अर्थात् काष्ठ से भस्म बनती है, भस्म से भस्म नहीं बनती। इसी तरह अर्थ से काम है, काम से आगे फल नहीं है

इमान् शकुनकान्राजन् हन्ति वैतंसिको यथा।
एतद्रूपमधर्मस्य भूतेषु हि विहिंसता ॥३३॥

हे राजन्! चिड़ीमार, जैसे पक्षियों को मारता है, वैसे ही प्राणियों में अधर्मी की विशेष हिंसा वृत्ति होती है ॥३३॥

कामाल्लोभाच्च धर्म्मस्य प्रकृतिं यो न पश्यति।
स वध्यः सर्वभूताना प्रेत्य चेह च दुर्मतिः ॥३४॥

जो काम या लोभ से धर्म के स्वरूप को नहीं जानता है, वह मूर्ख, सब प्राणियों में वध के योग्य है और इस लोक तथा परलोक में क्लेश भोगता है ॥३४॥

व्यक्तं ते विदितो राजन्नार्थो द्रव्यपरिग्रहः।
प्रकृतिश्चापि वेत्थास्य विकृतिश्चापि भूयसीम् ॥३५॥

हे राजन्, आपको स्पष्ट मालूम है, कि प्रयोजन तो स्त्री, धन आदि के आधीन है। इस द्रव्य के स्वरूप, स्त्री आदि और विकृति भोग आदि को भी तुम जानते ही हो ॥३५॥

तस्य नाशे विनाशे वा जरया मरणेन वा।
अनर्थ इति मन्यन्ते सोऽयमस्मासु वर्त्तते ॥३६॥

इस स्त्री, धन आदि के जरा या 'मरण अभाव या विनाश होने पर अनर्थ माना जाता है, जो हम को प्राप्त होरहा है ॥३६॥

इन्द्रियाणाञ्च पञ्चानां मनसो हृदयस्य च ।
विषये वर्त्तमानानां या प्रीतिरुपजायते ॥३७॥
स काम इति मे बुद्धिः कर्मणां फलमुत्तमम् ।
एवमेव पृथग् दृष्ट्वा धर्मार्थौ काममेव च ॥३८॥

विषयों में वर्तमान, पाचों इन्द्रिय, मन और हृदय को जो प्रीति होती है, वह काम कहाता है, यह मेरा मत है, और यही कर्मों का भोग है। इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम को भिन्न २ देखो ॥३७॥-॥३८॥

न धर्मपर एव स्यान्न चार्थपरमो नरः ।
न कामपरमो वा स्यात् सर्वान् सेवेत सर्वदा ॥३९॥

मनुष्य को केवल धर्म में ही परायण नहीं होना चाहिये और न केवल धन के उपार्जन में ही लीन रहना उचित है। इसी तरह केवल काम परायण न हो, सबको यथा समय व्यवहार में लाता रहे ॥ ३९ ॥

धर्मं पूर्वं धनं मध्ये जघन्ये काममाचरेत् ।
अहन्यनुचरेदेवमेष शास्त्रकृतो विधिः ॥४०॥

दिन के प्रथम भाग में धर्म, मध्य में धन और अन्त में काम का सेवन करे, यही शास्त्र की विधि है ॥४०॥

कामं पूर्वं धनं मध्ये जघन्ये धर्ममाचरेत् ।
वयस्यनुचरेदेवमेष शास्त्रकृतो विधिः ॥४१॥

आयु के प्रथम भाग में काम, मध्य में धन और अन्त में धर्म का आचरण करे, यह आयु के विषय में शास्त्र का नियम है।

धर्मञ्चार्थञ्च कामञ्च यथावद्वदताम्वर ।
विभज्य काले कालज्ञः सर्वान् सेवेत पण्डितः ॥४२॥

हे राजन्! धर्म, अर्थ, और काम को ठीक २ समयानुसार बांटकर काल के जानने वाला विद्वान्, सेवन करता रहे ॥४२॥

मोक्षो वा परमं श्रेय एषां राजन् सुखार्थिनाम् ।
प्राप्तिं वा बुद्धिमास्थाय सोपायां कुरुनन्दन ॥४३॥

हे कुरुनन्दन! सुख के अभिलाषियों को मोक्ष ही परम कल्याण है । सुख प्राप्ति के लिए अपनी बुद्धि को लगाकर उपायों के साथ राज्य प्राप्ति रूप ऐश्वर्य का लाभ करो ॥ ४३ ॥

तद्वाशु क्रियतां राजन् प्राप्तिर्वाप्यधिगम्यताम् ।
जीवितं ह्यातुरस्येव दुःखमन्तरवर्त्तिनः ॥४४॥

हे राजन्! इसलिए या तो मोक्षप्राप्ति के उपाय जल्दी से करो या राज्य प्राप्ति रूप महोदय को प्राप्त करो। इन दोनों के बीच में लटकने वाले को रोगी के जीवनके तुल्य दुःख ही दुःख है ॥४४॥

विदितश्चैव ते धर्मः सततं चरितश्च ते ।
जानन्तस्त्वयि शंसन्ति सुहृदः कर्म-चोदनाम् ॥४५॥

मुझे आपका धर्म और चरित सब कुछ मालूम है। तुम्हारे हित चाहने वाले, ज्ञानी मित्र, तुमको कर्म करने की ही प्रेरणा करते रहते हैं ॥४५॥

दानं यज्ञः सतां पूजा वेदधारणमार्जवम् ।
एष धर्मः परो राजन् बलवान् प्रेत्य चेह च ॥४६॥

दान, यज्ञ, विद्वानों की पूजा, वेद प्रचार, सरलता, यह इस लोक परलोक में बड़ा ही बलवान् और उत्कृष्ट धर्म है ॥४६॥

एष नार्थ विहीनेन शक्यो राजन्निषेवितुम् ।
अखिलाः पुरुषव्याघ्र गुणाः स्युर्यद्यपीतरे ॥४७॥

हे पुरुष-व्याघ्र ! इन धर्मों की प्राप्ति धन हीन पुरुष नहीं कर सकता है । चाहे उसमें अन्य सारे गुण विद्यमान हों ॥४७॥

धर्ममूलमिदं राजन् नान्यद्धर्माद्विशिष्यते ।
धर्मश्चैर्थन महता शक्यो राजन्निषेवितुम् ॥४८॥

हे सब धर्म के मूल हैं और धर्म से श्रेष्ठ कुछ नहीं है । हे राजन ! यह धर्म तो धन से प्राप्त किया जा सकता है ॥४८॥

न चार्थो भैत्यचर्य्येण नापि क्लैब्येन कर्हिचित् ।
वेत्तुं शक्यः सदा राजन् केवलं धर्मबुद्धिना ॥४९॥

धन, भिक्षा, कायरता से धर्म २ पुकारने वाले पुरुष को प्राप्त नहीं हो सकता है ॥४९॥

प्रतिषिद्धा हि ते याञ्चा यथा सिध्यति वै द्विजः ।
तेजसैवार्थलिप्सायां यतस्व पुरुषर्षभ ॥५०॥

हे पुरुषर्षभ ! जिस भिक्षा से ब्राह्मण अपना काम चला लेता है, उस भिक्षा का तुमको निषेध है । तुम तो तेज का अवलम्बन करके ही अपने राज्य की प्राप्ति का उद्योग करो ॥५०॥

भैत्यचर्य्या न विहिता न च विट्शूद्रजीविका ।
क्षत्रियस्य विशेषेण धर्मस्तु बलमौरसम् ॥५१॥

भिक्षा या वैश्य शूद्र की जीविका के मार्ग, आपको उचित नहीं हैं। क्षत्रिय के लिये तो केवल वीरता का अवलम्बन ही धर्म बताया है ॥५१॥

स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व जहि शत्रून् समागतान् ।
धार्त्तराष्ट्रबलं पार्थ मया पार्थेन नाशय ॥५२॥

हे पार्थ ! तुम अपने क्षत्रिय धर्म को ग्रहण करो और मुझ तथा अर्जुन को साथ लेकर दुर्योधन की सेना या सामने आने वाले शत्रुओं का नाश करो ॥५२॥

उदारमेव विद्वांसो धर्मं प्राहुर्मनीषिणः ।
उदारं प्रतिपद्यस्व नावरे स्थातुमर्हसि ॥५३॥

विद्वान् और बुद्धिमान् ऐश्वर्य को ही धर्म कहते हैं, इसलिये तुम ऐश्वर्य प्राप्ति का प्रयत्न करो, इस दरिद्र की आग में मत जलो ॥५३॥

अनुबुध्यस्व राजेन्द्र वेत्थ धर्मान् सनातनान् ।
क्रूरकर्माभिजातोऽसि यस्मादुद्विजते जनः ॥५४॥

हे राजन्! कुछ तो होश में आओ, क्योंकि तुम अपने सनातन धर्म (कर्म) को जानते हो। तुम क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हो, इससे लोगों का इस दशा में क्लेश हो रहा है ॥५४॥

प्रजापालनसम्भूतं फलं तव न गर्हितम् ।
एष ते विहितो राजन् क्षत्रधर्मः सनातनः ॥५५॥

हे राजन् ! प्रजा पालन से उत्पन्न हुआ फल कोई निन्दित वस्तु नहीं है। तुम्हारे लिये यही शास्त्र का उपदेश है और यही सनातन धर्म है ॥५५॥

तस्मादपचितः पार्थ लोके हास्यं गमिष्यसि ।
स्वधर्माद्धि मनुष्याणां चलनं न प्रशस्यते ॥५६॥

हे पार्थ ! अब तुम दीन अवस्था को प्राप्त हुए लोक में उपहास के पात्र बनोगे। मनुष्य का अपने कर्तव्य से च्युत हो जाना, प्रशंसा की बात नहीं है ॥५६॥

स चात्रं हृदयंकृत्वा त्यक्त्वेदं शिथिलं मनः ।
वीर्य्यमास्थाय कौरव्य धुरमुद्वह धुर्य्यवत् ॥५७॥

हे कौरव्य ! अब तुम क्षात्र धर्म को हृदय में स्थान दो, और इस मन की निर्बलता को निकाल डालो। अपने पराक्रम का आश्रय लेकर वृषभ की भांति राज्यधुर को धारण करो ॥५७॥

न हि केवलधर्मात्मा पृथिवीं जातु कश्चन ।
पार्थिवो व्यजयद्राजन्न भूतिं न पुनश्रियम् ॥५८॥

हे राजन् ! कोई भी राजा धर्म के अडंगे में लगा हुआ कभी भी इस पृथ्वी को नहीं जीत सकता है और न किसी प्रकार का वैभव या लक्ष्मी उसको मिल सकती है ॥५८॥

जिह्वां दत्वा बहूनां हि क्षुद्राणां लुब्धचेतसाम् ।
निकृत्या लभते राज्यमाहारमिव शल्यकः ॥५९॥

अनेक लोभी नीच शत्रुओं को वचन देकर छल से राज्य छीन लेना चाहिये; जैसे शल्यक (सेह) नामक जन्तु अपनी

जिह्वा निकाल कर उस पर बैठी हुई मधु मक्खिकाओं को खा जाता है ॥५६॥

भ्रातरः पूर्वजाताश्च सुसमृद्धाश्च सर्वशः ।
निकृत्या निर्जिता देवैरसुराः पार्थिवर्षभ ॥६०॥

हे पार्थिव-श्रेष्ठ ! देवताओं ने अपने बड़े भाई, शक्तिशाली दैत्यों को छल से ही जीता है ॥६०॥

एवं बलवतः सर्वमिति बुद्ध्वा महीपते ।
जहि शत्रुन् महाबाहो परान्निकृतिमास्थितः ॥६१॥

हे महीपते ! यह जान कर सारे बलवान् शत्रुओं को छल का आश्रय लेकर मार डालना चाहिये ॥६१॥

न ह्यर्जुनसमः कश्चिद्युधि योधो धनुर्द्धरः ।
भविता वा पुनः कश्चिन्मत्समो वा गदाधरः ॥६२॥

अर्जुन के समान कोई भी युद्ध में योधा नहीं होगा और और न मेरे समान कोई गदाधारी हो सकता है ॥६२॥

सत्त्वेन कुरुते युद्धं राजन् सुबलवानपि ।
न प्रमाणेन नोत्साहात् सत्त्वस्थो भव पाण्डव ॥६३॥

हे राजन् ! बलवान् मनुष्य भी अपने आत्मिक बल के आश्रय से ही युद्ध कर सकता है, कोई संघ या उत्साह से युद्ध में प्रवृत्त नहीं हो सकता है। हे पाण्डव ! इससे तुम भी सत्व (मनोबल) का आश्रय लो ॥६३॥

सत्त्वं हि मूलमर्थस्य वितथं यदतोऽन्यथा ।
न तु प्रसक्तं भवति वृक्षच्छायेव हैमनी ॥६४॥

अर्थ प्राप्ति का मूल सत्व (आत्मबल) ही है, इससे भिन्न सब व्यर्थ हैं। हेमन्त ऋतु की वृक्षों की छाया के समान अन्य कारण इसमें इष्ट नहीं हैं ॥६४॥

अर्थत्यागोऽपि कार्य्यः स्यादर्थं श्रेयांसमिच्छता ।
बीजौपम्येन कौन्तेय मा तेऽभूदत्र संशयः ॥६५॥

हे कौन्तेय ! अपना प्रयोजन त्याग देना भी अच्छा है, यदि उस त्याग से श्रेष्ठ प्रयोजन की सिद्धि हो सके। जैसे बीज का वपन के समय परित्याग किया जाता है, जिससे अधिक अन्न की प्राप्ति होती है। इसमें तुमको सन्देह नहीं करना चाहिये ॥६५॥

अर्थेन तु समो नार्थो यत्र लभ्येत नोदयः ।
न तत्र विपणः कार्य्यः खरकण्डूयितं हि तत् ॥६६॥

अपने प्रयोजन के त्याग से जहां अनर्थ की ही प्राप्ति होवे और कुछ उदय न हो सके, उस समय अपना त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा त्याग तो गधे से खुजलाने के तुल्य क्लेश-दायी है ॥६६॥

एवमेतन्मनुष्येन्द्र धर्मं त्यक्त्वाल्पकं नरः ।
बृहन्तं धर्ममाप्नोति स बुद्ध इति निश्चितम् ॥६७॥

हे मनुष्येन्द्र ! इससे मनुष्य छोटे धर्म को छोड़कर बड़े धर्म की प्राप्ति करे। ऐसा करने वाला ही ज्ञानी है, यह निश्चित बात है॥ ६७ ॥

अमित्रं मित्रसम्पन्नं मित्रैर्भिन्दन्ति पण्डिताः
भिन्नैर्मित्रैः परित्यक्तं दुर्बलं कुरुतेऽवशम् ॥६८॥

पण्डित, मित्रों से सम्पन्न शत्रु को अपने मित्रों से अपनी ओर कर लेवे। जब भेद को प्राप्त हुए मित्रों से शत्रु छोड़ दिया जावे, तब उस दुर्बल शत्रु को अपने वश में करे ॥६८॥

सत्त्वेन कुरुते युद्धं राजन् सुबलवानपि ।
नोद्यमेन न होत्राभिः सर्वाः स्वीकुरुते प्रजाः ॥६९॥

हे राजन्! बलवान् राजा भी अपने सत्व (तेज) से ही युद्ध कर सकता है। सारी प्रजा को कोई भी राजा, उद्योग या समझाने बुझाने से अपने वश में नहीं ला सकता है ॥६९॥

सर्वथा संहतैरेव दुर्बलैर्बलवानपि ।
अमित्रः शक्यते हन्तुं मधुहा भ्रमरैरिव ॥७०॥

संगठित हुये निर्बल शत्रु भी बलवान् को इस प्रकार मार डालते हैं, जैसे मधुमक्षिका, मधु इकट्ठा करने वाले को मार लेती हैं ॥७०॥

यथा राजन् प्रजाः सर्वाः सूर्य्यः पाति गभस्तिभिः।
अत्ति चैव तथैव त्वं सदृशः सवितुर्भव ॥७१॥

हे राजन्! जैसे सूर्य, अपनी किरणों से सारे जगत् की रक्षा करता है और रस शोषण से संहार करता है, उसी तरह सूर्य के समान तुम भी बन जाओ ॥७१॥

एतच्चापि तपो राजन् पुराणमिति नः श्रुतम् ।
विधिना पालनं भूमेर्यत्कृतं नः पितामहैः ॥७२॥

हे राजन् ! जो पृथ्वी का पालन हमारे पितामहों ने किया है, वही हमारा तप है, यह वेदोक्त नियम, हमने सुना है ॥७२॥

न तथा तपसा राजन् लोकान् प्राप्नोति क्षत्रियः
यथा सृष्टेन युद्धेन विजयेनेतरेण वा ॥७३॥

हे राजन् ! क्षत्रिय, तप से उन उत्तम लोकों को इतना शीघ्र नहीं पा सकता है, जितना वह अपने कर्तव्य रूप युद्ध में विजय पाकर या मर कर पा लेता है ॥७३॥

अपेयात् किल भा सूर्य्यात् लक्ष्मीश्चन्द्रमसस्तथा ।
इति लोको व्यवसितो दृष्ट्वेमां भवतो व्यथाम् ॥७४॥

सूर्य से प्रकाश और चन्द्रमा से लक्ष्मी नष्ट हो जावे, यह लोगों ने तुम्हारी व्यथा देखकर निश्चय कर लिया है, अर्थात् तुमको इतना कष्ट रहने पर अब जगत् की आवश्यकता ही नहीं है ॥७४॥

भवतश्च प्रशंसाभिर्निन्दाभिरितरस्य च ।
कथा युक्ताः परिषदः पृथग्राजन् समागताः ॥७५॥

हे राजन् ! तुम्हारी प्रशंसा और शत्रु की निन्दा की कथाओं का वर्णन करती हुई, सभाऐं भिन्न २ रूप से आ रही हैं ॥७५॥

इदमत्यधिकं राजन् ब्राह्मणाः कुरवश्च ते ।
समेताः कथयन्तीह मुदिताः सत्यसन्धताम् ॥७६॥
यन्न मोहान्न कार्पण्यान्न लोभान्नभयादपि ।
अनृतं किञ्चिदुक्तं ते न कामान्नार्थ कारणात् ॥७७॥

हे राजन्! जो तुमने मोह, दीनता, लोभ, भय कामना या अर्थ के कारण से कभी कुछ भी झूठ नहीं कहा, इसी बात को सारे ब्राह्मण या कौरव इकट्ठे ही तुम्हारी सत्य प्रतिज्ञा से प्रसन्न होकर अधिक रूप से कह रहे हैं ॥७६-७७॥

यदेनः कुरुते किञ्चिद्राजा भूमिमवाप्नुवन् ।
सर्वं तन्नुदते पश्चाद्यज्ञैर्विपुलदक्षिणैः ॥७८॥

राजा, यदि कुछ पाप करके भी पृथ्वी प्राप्त कर लेता है, तो पीछे विपुल दक्षिणा के यज्ञ करके उन सारे पापों को वह धो लेता है ॥७८॥

ब्राह्मणेभ्यो ददद् ग्रामान् गाश्च राजन् सहस्रशः ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यस्तमोभ्यः इव चन्द्रमाः ॥७९॥

राजन्! ब्राह्मणों को सहस्रों ग्राम और गायें भेंट में देकर, राजा उन पापों से अन्धकार से चन्द्रमा के समान छूट जाता है।

पौरजानपदाः सर्वे प्रायशः कुरुनन्दन ।
सवृद्धबालसहिताः शंसन्ति त्वां युधिष्ठिर ॥८०॥

हे कुरु-नन्दन! युधिष्ठिर! पुर और राष्ट्र के मनुष्य, वृद्ध या बालक, सब आपकी प्रशंसा करते हैं ॥ ८० ॥

श्वदृतौ क्षीरमासक्तं ब्रह्म वा वृषले यथा ।
सत्यं स्तेने बलं नार्य्यां राज्यं दुर्य्योधने तथा ॥८१॥

कुत्ते की खाल में दूध, धर्मलोपी मनुष्य में वेद, चोर में सत्य, नारी में बल, जिस प्रकार अनर्थकारी हैं, उसीतरह दुर्योधन के पास यह राज्य, दुःख का कारण है ॥ ८१ ॥

इति लोके निर्वचनं पुनश्चरति भारत ।
अपि चैताः स्त्रियो बालाः स्वाध्यायमधिकुर्वते ॥८२॥

हे भारत ! यह कथन प्रत्येक की जिह्वा पर है। स्त्री और बालक भी इस कथन की रटना लगाये रहते हैं ॥ ८२ ॥

इमामवस्थाञ्च गते सहास्माभिररिन्दम ।
हन्त नष्टाः स्म सर्वे वै भवतोपद्रवे सति ॥८३॥

हे अरि-मर्दन ! हमारे साथ तुम इस दुर्दशा को प्राप्त होगए हो। इसका बड़ा क्लेश है, कि हम सब आपके किये उपद्रव (राज्य-नाश) के कारण ही दुःखी और नष्ट हो रहे हैं ॥ ८३ ॥

स भवान्रथमास्थाय सर्वोपकरणान्वितम् ।
त्वरमाणोऽभिनिर्यातु विप्रेभ्योऽर्थविभावकः ॥८४॥
वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठानद्यैव गजसाह्वयम् ।
अस्त्रविद्भिः परिवृतो भ्रातृभिर्दृढधन्विभिः ॥८५॥
आशीविषसमैर्वीरैर्मरुद्भिरिव वृत्रहा ।
अमित्रान् तेजसा मृद्नन्नसुरानिव वृत्रहा ।
श्रियमादत्स्व कौन्तेय धार्त्तराष्ट्रान्महाबल ॥८६॥

अब आप ब्राह्मणों को दानदेकर शीघ्रता से समस्त युद्ध सामग्री से सजे हुए, रथ में बैठ कर और अच्छे २ ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराके, आज ही हस्तिनापुर पर चढ़ाई करो। अस्त्रधारी सेना और दृढ़ धनुषधारी भाइयों तथा देवों से युक्त इन्द्र के तुल्य, सर्प के समान भयङ्कर, वीरों को साथ लेकर असुरों को इन्द्र के

तुल्य शत्रुओं का नाश करो। हे महाबली! इस प्रकार तुम दुर्योधन से अपनी राज्य-लक्ष्मी छीन लो ॥ ८४—८६ ॥

न हि गाण्डीवमुक्तानां शराणां गार्द्ध्रवाससाम् ।
स्पर्शमाशीविषाणांच मर्त्यः कश्चन संसहेत् ॥८७॥

गांडीव धनुष से छोड़े हुए, गीध की पङ्ख से युक्त सर्पाकार बाणों के स्पर्श को कोई मनुष्य, नहीं सह सकता है ॥ ८७ ॥

न स वीरो न मातङ्गो न च सोश्वोऽस्ति भारत ।
यः सहेत गदावेगं मम क्रुद्धस्य संयुगे ॥८८॥

हे भारत! कोई भी ऐसा वीर, हाथी या अश्व है, जो युद्ध में क्रुद्ध होकर फेंकी हुई मेरी गदा का सहन कर सके ॥८८॥

सृञ्जयैः सह कैकेयैर्वृष्णीनां वृषभेण च ।
कथंस्विद्युधि कौन्तेय न राज्यं प्राप्नुयामहे ॥८९॥

हे राजन्! सृञ्जय कैकय तथा वृष्णि वंश के वीरों के साथ होने पर भी हम किस प्रकार अपना राज्य नहीं पा सकते हैं ॥ ८९ ॥

शत्रुहस्तगतां राजन् कथस्विन्नाहरेर्महीम् ।
इदं यत्नमुपाहृत्य बलेन महतान्वितः ॥९०॥

इति आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि भीमवाक्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३३॥

हे राजन्! इस प्रकार बड़ी भारी सेना के साथ प्रयत्न करके शत्रुओं द्वारा छीनी हुई राज्यलक्ष्मी को क्या हम दुबारा नहीं लौटा सकते हैं? ॥ ९० ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमनपर्व में भीम वाक्य का तेतीसवां अध्याय समाप्त हुआ।

चौंतीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

स एवमुक्तस्तु महानुभावः सत्यव्रतो भीमसेनेन राजा ।
अजातशत्रुस्तदनन्तरं वै धैर्यान्वितो वाक्यमिदं बभाषे ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! भीमसेन के इतना कहने पर सत्य-प्रतिज्ञ, महानुभाव, राजा युधिष्ठिर, धैर्य के साथ यह वचन बोले ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

असंशयं भारत सत्यमेतद्यन्मां तुदन् वाक्यशल्यैः क्षिणोषि ।
न त्वा विगर्हे प्रतिकूलमेव ममानयाद्धि व्यसनं व आगात् ॥

हे भारत ! जो तुमने कहा है, वह सत्य है । जो तुम, अपने वाणी के बाणों से मुझे पीड़ा पहुंचा रहे हो; इससे मैं प्रतिकूल हुए, तुम्हारी निन्दा नहीं कर सकता हूँ, क्योंकि तुम सचमुच मेरे कारण से ही क्लेश उठा रहे हो ॥ २ ॥

अहं ह्यक्षानन्वपद्यं जिहीर्षन् राज्यं सराष्ट्रं धृतराष्ट्रस्य पुत्रात् ।
तन्मां शठः कितवः प्रत्यदेवीत् सुयोधनार्थं सुबलस्य पुत्रः ॥

मैंने ही धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन का राज्य छीनने के लिए जुआ खेलना स्वीकार किया है । इसी से छली सुबलपुत्र शकुनि ने दुर्योधन के लिए मुझसे जुआ खेला है ॥ ३ ॥

महामायः शकुनिः पार्वतीयः सभामध्ये प्रवपन्नक्षपूगान् ।
अमायिनं मायया प्रत्यजैषीत्ततोऽपश्यं वृजिनं भीमसेन ॥

हे भीमसेन! पर्वत प्रदेश का रहने वाला, महामायावी शकुनि ने सभा में पाशों को फेंका। जब मुझ निरङ्कुश को उस छली ने जीत लिया, तब मैंने इस विपत्ति को समझा ॥४॥

अक्षांश्च दृष्ट्वा शकुनेर्यथावत् कामानुकूलानयुजो युजश्च ।
शक्यं नियन्तुमभविष्यदात्मा मन्युस्तु हन्यात् पुरुषस्य धैर्यम्

मैंने शकुनि की इच्छानुसार सम विषम पासे पड़ते देखे। जब शान्ति हो तभी मनुष्य अपने को रोक सकता है, परन्तु शोक या क्रोध, मनुष्य के धैर्य का नाश कर देता है, जिससे मैं द्यूत से निवृत्त नहीं हो सका ॥ ५ ॥

यन्तुं नात्मा शक्यते पौरुषेण मानेन वीर्येण च तात नद्धः ॥
न ते वाचो भीमसेनाभ्यसूये मन्ये तथा तद्भवितव्यमासीत् ।

हे तात! पुरुषार्थ, अभिमान, पराक्रम से बांधकर मन नहीं रोका जा सकता है। हे भीमसेन! मैं तेरे वचनों की निन्दा नहीं करता हूँ, क्योंकि मैं तो यही मानता हूँ, कि ऐसी होनहार ही थी।

स नो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो न्यपातयद्व्यसने राज्यमिच्छन् ॥
दास्यञ्च नोऽगमयद्भीमसेन यत्राभवच्छरणं द्रौपदी नः ।

हे भीमसेन! राज्य के अभिलाषी, धृतराष्ट्र के पुत्र, राजा दुर्योधन ने हमको विपत्ति में डाल दिया। उस समय प्राप्त हुई हमारी दासता से द्रौपदी ने छुड़ाया। द्रौपदी ही हमारी इस विपत्ति में रक्षक हुई ॥ ७ ॥

त्वञ्चापि तद्वेत्थ धनञ्जयश्च पुनर्द्यूतायागतानां सभा नः ॥
यन्माब्रवीद्धृतराष्ट्रस्य पुत्रः एकग्लहार्थं भरतानां समक्षम् ॥

महाभारत चित्र संख्या २६



द्वैत वन में महर्षि मार्कण्डेय का पाण्डवों को धर्मोपदेश
महाभारत वन पर्व अ० २५/४ पृष्ठ १२

तुम और अर्जुन दोनों जानते हो, कि हमको फिर जुआ के लिए सभा में आना पड़ा। उस समय दुर्योधन ने कहा—कि एक बार इन भरतवंशी क्षत्रियों के सन्मुख और जुआ खेलना है, जिसका दाव यह है ॥ ८ ॥

वने समा द्वादश राजपुत्र यथाकामं विदितमजातशत्रो ।
तथापरश्चाविदितश्चरेथाः सर्वैः सह भ्रातृभिश्छद्मगूढः ॥

दुर्योधन ने कहा—हे राजपुत्र ! युधिष्ठिर ! यदि तुम हार गए तो बारह वर्ष तक अपनी इच्छा के अनुसार सबके ज्ञान में वनवास करना होगा और तेरहवें वर्ष अपने को छल से छुपाकर सारे भाइयों के साथ वनवास करना होगा ॥ ९ ॥

त्वाञ्चेत् श्रुत्वा तात तथा चरन्तमवभोत्स्यन्ते भारतानाञ्चराश्च
अन्यांश्चरेथास्तावतोऽब्दांस्तथा त्वंनिश्चित्यतत्प्रतिजानीहिपार्थ

हे पार्थ ! यदि छुपकर रहने के काल में तुम्हारा पता पाकर हम भरत वंशियों के गुप्तचर, यदि तुमको जान लेंगे, तो तुमको फिर उसी तरह बारह वर्ष तक वनवास जाना होगा, यह निश्चित समझो ॥ १० ॥

चरैश्चेन्नो विदितः कालमेतं युक्तो राजन्मोहयित्वा मदीयान्
ब्रवीमि सत्यं कुरुसंसदीह तवैव ता भारत पञ्चनद्यः ॥११॥

हे राजन् ! इस काल में यदि हमारे गुप्तचरों को तुम्हारा पता न लगे और उनको तुम चक्कर में डाल दो, तो मैं इस कुरुओं की सभा में प्रतिज्ञा करता हूँ, कि तुमको फिर वही अपना पञ्चनद का देश प्राप्त होगा ॥ ११ ॥

वयञ्चैतद्भारत सर्व एव त्वयाजिताः कालमपास्य भोगान्।
वसेम इत्याह पुरा स राजा मध्ये कुरूणां स मयोक्त स्तथेति

यदि तुमने हमको जीत लिया, तो हम भी इतने ही वर्ष भोगों को छोड़कर वन में इसी प्रकार वास करेंगे। हे भारत! इस प्रकार राजा दुर्योधन ने सभा में कहा और इसको मैंने भी स्वीकार कर लिया॥ १२॥

तत्र द्यूतमभवन्नो जघन्यं तस्मिन् जिताः प्रव्रजिताश्च सर्वे।
इत्थञ्च देशाननुसञ्चरामो वनानि कृच्छ्राणि च कृच्छ्ररूपाः

वहां यह जुआ का कुकर्म हुआ। उस में हम हार गए, जिस से हम सब को वन में आना पड़ा। इस प्रकार हम कठिनाई के साथ इन कठिन देश और वनों में घूम रहे हैं॥ १३॥

सुयोधनश्चापि न शान्तिमिच्छन् भूयः स मन्योर्वशमन्वगच्छत्
उद्योजयामास कुरूंश्च सर्वान् ये चास्य केचिद्वशमन्वगच्छन्॥

दुर्योधन ने किसी प्रकार भी सन्धि की इच्छा प्रगट नहीं की, किन्तु उलटा क्रोध ही धारण किया। जो राजा उसके अनुयायी थे, उनको उसने सारे कुरु देश के प्रान्तों पर नियुक्त कर दिया है॥ १४॥

तं सन्धिमास्थाय सतां सकाशे को नाम जह्यादिह राज्यहेतोः
आर्यस्य मन्ये मरणाद्गरीयो यद्धर्ममुत्क्रम्य महीं प्रशासेत्॥

सज्जनों के सम्मुख बारह वर्ष वन में रहने की शर्त करके राज्य-लोभ से कौन उत्तम-पुरुष, उस सन्धि (शर्त) को तोड़

सकता है ? धर्म को छोड़कर पृथ्वी का शासन करना, आर्य पुरुष के लिए मृत्यु से भी बढ़कर हानिकारक है १५ ॥

तदैव चेद्वीरकर्मा करिष्यो यदा द्यूते परिघं पर्यमृक्षः ।
बाहू दिधक्षन् वारितः फाल्गुनेन किं दुष्कृतं भीम तदाभविष्यत्

हे भीम ! तुमने उसी समय यदि वीर कर्म करडाला होता, जब कि द्यूत के समय परिघ (आगल) के समान बाहुओं को छुआ था और कौरवों को जलाना चाह रहे थे । उस समय तुमको अर्जुन ने रोक दिया, नहीं तो कितना अनर्थ हो जाता ॥१६॥

प्रागेव चैवं समयक्रियायाः किं नाब्रवीः पौरुषमाविदानः ।
आगन्तु कालं त्वभिपद्य पश्चात् किं मामिदानीमतिवेलमात्थ ।

काम करने के समय से पूर्व ही पौरुष का आश्रय लेकर तुमने क्या २ नहीं कह डाला, परन्तु समय को प्राप्त करके पीछे यह कहना था । इस समय बहुत ज्यादा मुझसे क्यों कह रहे हो ।

भूयोऽपि दुःखं मम भीमसेन दूये विषस्येव रसं हि पीत्वा ।
यद्याज्ञसेनीं परिक्लिश्यमानां संदृश्य तत् क्षान्तमिति स्म भीम ॥

हे भीमसेन ! जो अपमानित और क्लेशित द्रौपदी को देख कर भी हमने कौरवों को क्षमा कर दिया, यह घटना, विषरस के पान के तुल्य मुझे बड़ा ही दुःखी कर रही है ॥१८॥

न त्वद्य शक्यं भरतप्रवीर कृत्वा यदुक्तं कुरुवीरमध्ये ।
कालं प्रतीक्षस्व सुखोदयस्य पङ्क्तिं फलानामिव बीजवापः ।

हे भरत वंश में वीर श्रेष्ठ ! भीम ! कुरु वीरों के मध्य में जो प्रतिज्ञा की है, उसको आज ही पूरा नहीं किया जासकता है ।

बीज का बोने वाला किसान, जैसे फलों की प्रतीक्षा करता है, वैसे ही तुमभी अपने सुखदायी काल की प्रतीक्षा करो ॥१९॥

यदा हि पूर्वं निकृतो निकृन्तेन् वैरं सपुष्पं सफलं विदित्वा।
महागुणं हरति हि पौरुषेण तदा वीरो जीवति जीवलोके॥

जो वीर, प्रथम शत्रुओं से तिरस्कृत होकर जब सब भांति से परिपुष्ट शत्रु के नाश में प्रयत्न करता है, वह महान् गुण को स्वीकार करता है और तभी संसार में जीवित रहसकता है।२०।

श्रियञ्च लोके लभते समग्रां मन्ये चास्मै शत्रवः संनमन्ते।
मित्राणि चैनमचिराद्भजन्ते देवा इवेन्द्रमुपजीवन्ति चैनम्।

यह वीर, जगत में सारी सम्पत्तियों को प्राप्त करता है और इसके लिये सारे शत्रु झुक जाते हैं। देवता जैसे इन्द्र की सेवा करते हैं, वैसे ही इस राजा की बहुत काल तक मित्र सेवा करते हैं ॥२१॥

मम प्रतिज्ञाञ्च निबोध सत्यां वृणे धर्मममृताज्जीविताच्च।
राज्यञ्च पुत्रांश्च यशो धनञ्च सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति।

इति आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

तुम मेरी सत्य प्रतिज्ञा को समझ लो, कि मैं मोक्ष और जीवन से धर्म को उत्तम समझता हूँ। राज्य, पुत्र, यश, धन ये सब, सत्य की कला मात्र भी नहीं हैं ॥२२॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमन-
पर्व में युधिष्ठिर वाक्य का चौंतीसवां
अध्याय पूरा हुआ।

पैंतीसवां अध्याय

भीम उवाच—

सन्धिं कृत्वैव कालेन ह्यन्तकेन पतत्रिणा ।
अनन्तेनाप्रमेयेण श्रोतसा सर्वहारिणा ॥१॥

प्रत्यक्षं मन्यसे कालं मर्त्यः सन् कालबन्धनः ।
फेनधर्मा महाराज फलधर्मा तथैव च ॥२॥

भीमसेन बोला—हे महाराज! सब को संहार करने वाले, बाण के तुल्य शीघ्रगामी, अनन्त और विचार में नहीं आने वाले, नित्य प्रवाह शील, अन्तक काल को बीच में डालकर आपने सन्धि की है। तुम स्वयं मरण धर्म और काल के बन्धन में बंधे हो, फिर इस काल को अपने आंखो के आगे आने वाला कैसे मान रहे हो। तुम तो स्वयं झागों के तुल्य निःसार और फल के समान पतनशील हो ॥१-२॥

निमेषादपि कौन्तेय यस्यायुरपचीयते ।
सूच्येवाञ्जनचूर्णस्य किमिति प्रतिपालयेत् ॥ ३ ॥

हे कौन्तेय! इस मरण-शील, मनुष्य की आयु क्षण २ में शलाका में लगे अञ्जन के समान नष्ट हो रही है, वह फिर कालकी प्रतीक्षा कैसे करसकता है ॥३॥

यो नूनममितायुः स्यादथ वातिप्रमाणवित् ।
स कालं वै प्रतीक्षेत सर्वप्रत्यक्षदर्शिवान् ॥ ४ ॥

जो प्राणी अमित आयु वाला, तथा आयु के प्रमाण का ज्ञाता हो, एवं जो सब कुछ प्रत्यक्ष देखता हो, वही काल की प्रतीक्षा कर सकता है ॥४॥

प्रतीक्ष्यमाणः कालो नः समा राजंस्त्रयोदश ।
आयुषोऽपचयं कृत्वा मरणायोपनेष्यति ॥ ५ ॥

हे राजन्! इस तेरह वर्ष परिमित काल की यदि प्रतीक्षा की तो, यह हमारी आयु को क्षीण करके हमको मृत्यु के समीप ले जा डालेगा ॥५॥

शरीरिणां हि मरणं शरीरे नित्यमाश्रितम् ।
प्रागेव मरणात्तस्माद्राज्यायैव घटामहे ॥ ६ ॥

प्राणियों की मृत्यु उनके ही शरीर में प्रविष्ट हुई बैठी है, इसलिये मृत्यु से पूर्व हमको राज्य के लिए प्रयत्न कर लेना चाहिए ॥६॥

यो न याति प्रसङ्ख्यानमस्पृष्टो भूमिवर्द्धनः ।
अयातयित्वा वैराणि सोऽवसीदति गौरिव ॥ ७ ॥

जो शौर्यादि गुणों से रहित होकर उत्तम कीर्ति को प्राप्त नहीं करता है, वह भूमि का भार है। वह अपने वैर का बदला न चुकाने से गौ के समान व्यर्थ कष्ट भोगता है॥७॥

यो न यातयते वैरमल्पसत्त्वोद्यमः पुमान् ।
अफलं जन्म तस्याहं मन्ये दुर्जातजायिनः ॥ ८ ॥

जो दुर्बल, उद्योगहीन पुरुष अपने वैर का बदला नहीं लेता, उस कुलाङ्गार का जन्म निष्फल ही मानना चाहिए ॥८॥

हैरण्यौ भवतो बाहू श्रुतिर्भवति पार्थिवी ।
हत्वा द्विषन्तं संग्रामे भुङ्क्ष्व बाहुर्जितं वसु ॥ ९ ॥

आपकी भुजा सुवर्ण की स्वामी और कीर्ति राजा पृथु के तुल्य होगी। अब तुम रण में शत्रु का नाश करके अपनी भुजाओं से जीते हुए धन का उपभोग करो ॥९॥

हत्वा वै पुरुषो राजन् विकर्त्तारमरिन्दम ।
अह्नाय नरकं गच्छेत् स्वर्गेणास्य स सम्मितः ॥ १० ॥

हे राजन्! जो पुरुष, अपने अपमान कर्ता को मारकर यदि तत्काल ही नरक भी चला जावें, तो भी वह नरक स्वर्ग के तुल्य ही है ॥१०॥

अमर्षजो हि सन्तापः पावकाद्दीप्तिमत्तरः ।
येनाहमतिसन्तप्तो न नक्तं न दिवा शये ॥ ११ ॥

क्रोध और शोक का सन्ताप, अग्नि के सन्ताप से भी अधिक है, जिस की जलन से मैं न तो रात को सोता हूं और न दिन में ही नींद ले सकता हूं। ॥११॥

अयश्च पार्थो बीभत्सुर्वरिष्ठो ज्याविकर्षणे ।
आस्ते परमसन्तप्तो नूनं सिंह इवाशये ॥ १२ ॥

शत्रु को भय उत्पन्न करने वाला, यह अर्जुन, धनुष चलाने में सर्व श्रेष्ठ है। यह अपने पिंजरे में बन्द सिंह के समान दुःखी होकर जल रहा है ॥ १२ ॥

योऽयमेकोऽभिमनुते सर्वान् लोके धनुर्भृतः ।
सोऽयमात्मजमुष्माणं महाहस्तीव यच्छति ॥ १३ ॥

यह धनुष-धारी, इस संसार में अकेला ही सब शत्रुओं को मार सकता है। विशाल हाथी के तुल्य यह अर्जुन भी अपने चित्त की आग को छोड़ रहा है अर्थात् श्वासों द्वारा चित्त को सन्ताप को प्रकट कर रहा है ॥ १३ ॥

नकुलः सहदेवश्च वृद्धा माता च वीरसूः ।
तथैव प्रियमिच्छन्त आसते जडमूकवत् ॥ १४ ॥

इसी प्रकार नकुल, सहदेव और वीर पुत्र उत्पन्न करने वाली वृद्ध माता कुन्ती, ये सब तुम्हारा हित चाह रहे हैं, परन्तु जड़ और गूंगे के समान चुप बैठे हैं ॥१४॥

सर्वे ते प्रियमिच्छन्ति बान्धवाः सह सृञ्जयैः ।
अहमेकश्च सन्तप्तो माता च प्रतिविन्ध्यतः ॥ १५ ॥

हे राजन्! यादवों के साथ सारे बान्धव तुम्हारा हित चाह रहे हैं और मैं तथा प्रति-विन्ध्य की माता द्रौपदी तो जली जा रही है ॥१५॥

प्रियमेव तु सर्वेषां यद्ब्रवीम्युत किञ्चन ।
सर्वे हि व्यसनं प्राप्ताः सर्वे युद्धाभिनन्दिनः ॥ १६ ॥

जो कुछ मैं कह रहा हूं, वह सबको प्रिय है। हम सब युद्ध को पसन्द करते हैं और सारे ही विपत्ति में फंसे हुए हैं ॥१६॥

नातः पापीयसी काचिदापद्राजन् भविष्यति ।
यन्नो नीचैरल्पबलैराज्यमाच्छिद्य भुज्यते ॥ १७ ॥

हे राजन्! इस से अधिक कोई पापिनी आपत्ति नहीं होगी, जो नीच और दुर्बल मनुष्य हमारे राज्य छीन कर भोग रहे हैं ॥ १७ ॥

शीलदोषाद्घृणाविष्ट आनृशंस्यात् परन्तप ।
क्लेशांस्तितिक्षसे राजन्नान्यः कश्चित् प्रशंसति ॥ १८ ॥

हे परन्तप! तुम शील दोष के कारण लज्जा से मरे जारहे हो, क्योंकि बड़े दयालु हो। हे राजन्! तुम अनेक क्लेशों को सह रहे हो, परन्तु तुम्हारी कोई प्रशंसा नहीं करता है ॥१८॥

श्रोत्रियस्येव ते राजन्मन्दकस्याविपश्चितः ।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी ॥ १९ ॥

हे राजन्! मूर्ख, अविद्वान्, वेद पाठी के समान तेरी बुद्धि नष्ट है, जो गुरु की वाणी के समान वेद का पाठमात्र करता है। यह बुद्धि तत्त्वार्थ को नहीं जान सकती है ॥१९॥

घृणी ब्राह्मणरूपोऽसि कथं क्षत्रेषु जायथाः ।
अस्यां हि योनौ जायन्ते प्रायशः क्रूरबुद्धयः ॥२०॥

तुम तो ब्राह्मण के समान दयालु हो, फिर इस क्षत्रिय जाति में तुम ने क्यों जन्म लिया है! इस जाति में तो प्रायः वीर लोग ही जन्म लिया करते हैं ॥२०॥

अश्रौषीस्त्वं राजधर्मान् यथा वै मनुरब्रवीत् ।
क्रूरान्निकृतिसम्पन्नान् विहितानशमात्मकान् ॥२१॥

तुमने तो मनु के बताये हुए राज-धर्म भी सुने हैं, जो क्रूर, और बदल की नीति के मानने वाले, एवं शास्त्रानुसार है और वीरता के प्रतिपादक हैं ॥२१॥

धार्त्तराष्ट्रान्महाराज क्षमसे किं दुरात्मनः ।
कर्त्तव्ये पुरुषव्याघ्र किमास्से पीठसर्पवत् ॥ २२ ॥

हे महाराज! तुम दुरात्मा धृतराष्ट्र के पुत्रों को क्यों क्षमा कर रहे हो। हे पुरुष-श्रेष्ठ! कर्त्तव्य के प्राप्त होने पर भी अजगर की भांति कैसे चुप पड़े हो ॥२२॥

बुद्ध्वा वीर्य्येण संयुक्तः श्रुतेनाभिजनेन च ।
तृणानां मुष्टिनैकेन हिमवन्तञ्च पर्वतम् ॥ २३ ॥
छन्नमिच्छति कौन्तेय योऽस्मान् संवर्त्तुमिच्छति ।

हे कौन्तेय! तुम तो बुद्धि, वीर्य, शास्त्र और उत्तम बान्धवों से युक्त हो। जो मनुष्य हमको ढक लेना चाहता है, वह मानो एक मुट्ठी तिनकों से हिमालय को ढकना चाहता है ॥२३॥

अज्ञातचर्य्या गूढेन पृथिव्यां विश्रुतेन च ॥ २४ ॥
दिवीव पार्थ सूर्य्येण न शक्या चरितुम् त्वया ।
बृहत्शाल इवानूपे शाखापुष्पपलाशवान् ॥ २५ ॥
हस्ती श्वेत इवाज्ञातः कथं जिष्णुश्चरिष्यति ।

हे पार्थ! पृथ्वी भर में प्रसिद्ध आप एक वर्ष अज्ञात वास ही नहीं कर सकेंगे। क्या आकाश में सूर्य अज्ञात रूप से निकल कर जा सकता है? न पुष्प और फलों से लदे हुए,

बहुत जल वाले प्रदेश में लगे हुए, शाल-वृक्ष के समान विशाल तथा श्वेत हस्ती के समान अर्जुन, कैसे अज्ञात रह सकेगा ॥ २४-२५ ॥

इमौ च सिंहसङ्काशौ भ्रातरौ सहितौ शिशू ॥ २६ ॥
नकुलः सहदेवश्च कथं पार्थ चरिष्यतः ।

हे पार्थ ! ये दोनों सिंह के समान पराक्रमी, साथ २ रहने वाले, भाई, नकुल, और सहदेव कैसे छुप सकेंगे ॥२६

पुण्यकीर्त्ती राजपुत्री द्रौपदी वीरसूरियम् ॥ २७ ॥
विश्रुता कथमज्ञाता कृष्णा पार्थ चरिष्यति ।

हे युधिष्ठिर ! पवित्र कीर्ति वाली, वीर पुत्रों की माता यह राज पुत्री, द्रौपदी, कैसे अज्ञात रह सकेगी, जो बड़ी ही प्रसिद्ध है ॥२७॥

माञ्चापि राजन् जानन्ति ह्याकुमारमिमाः प्रजाः
नाज्ञातचर्य्यां पश्यामि मेरोरिव निगूहनम् ॥ २८ ॥

हे राजन् ! बच्चे से लेकर वृद्ध तक सब लोग मुझे भी जानते ही हैं । मैं तो अपनी अज्ञात चर्या मेरु पर्वत के छुपाने के तुल्य समझता हूं ॥२८॥

तथैव बहवोऽस्माभी राष्ट्रेभ्यो विप्रवासिताः ।
राजानो राजपुत्राश्च धृतराष्ट्रमनुव्रताः ॥ २९॥

इसी तरह हमने भी अनेक राजाओं या राज पुत्रों को राष्ट्र से निकाल दिया था । वे भी अब धृतराष्ट्र के साथी हो रहे हैं ॥ २९ ॥

नहि तेऽप्युपशाम्यन्ति निकृता वा निराकृताः ।
अवश्यं तैर्निकर्त्तव्यमस्माकं तत्प्रियैषिभिः ॥३०॥

वे निकाले और तिरस्कार पाये हुए, राजा या राज-पुत्र, कभी चुप नहीं रहेंगे । धृतराष्ट्र का प्रिय करने वाले ये अवश्य हमारा अपकार करेंगे ॥३०॥

तेऽप्यस्मासु प्रयुञ्जीरन् प्रच्छन्नान् सुबहूंश्चरन् ।
आचक्षीरंश्च नो ज्ञात्वा ततः स्यात् सुमहद्भयम् ॥ ३१ ॥

अनेक रूप से प्रच्छन्न होकर विचरने वाले, हम पर ये राजा भी अपना प्रयोग करेंगे । ये हमारा पता लगा कर उन को सूचित करेंगे, जिस से बड़ा भय हो जावेगा ॥३१॥

अस्माभिरुषिताः सम्यग्वने मासास्त्रयोदश ।
परिमाणेन तान् पश्य तावतः परिवत्सरान् ॥३२॥

हमने वन में अच्छी तरह तेरह महीने व्यतीत कर दिए हैं: इन को ही तेरह वर्ष के परिणाम में समझ लेना चाहिये ॥ ३२ ॥

अस्ति मासः प्रतिनिधिर्यथा प्राहुर्मनीषिणः ।
पूतिकामिव सोमस्य तथेदं क्रियतामिति ॥३३॥

मास, संवत्सर का प्रतिनिधि वेद में माना ही गया है, ऐसा विद्वान मानते हैं, जैसे सोम की प्रतिनिधि पूतिका मानी गई है । इस समय इस प्रकार ही निर्वाह करो ॥३३॥

अथवानुडुहे राजन् साधवे साधुवाहिने ।
सौहित्यदानादेतस्मादेनसः प्रति मुच्यते ॥३४॥

हे राजन् ! अच्छी तरह वहन करने वाले, उत्तम बैल को घास चराकर या तृप्तिपर्यन्त भोजन दान करके पाप से मुक्त होजाना ॥३४॥

तस्माच्छत्रुवधे राजन् क्रियतां निश्चयस्त्वया ।
क्षत्रियस्य हि सर्वस्य नान्यो धर्मोऽस्ति संयुगात् ॥३५॥

इति आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि भीमवाक्ये
पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥३५॥

हे राजन ! इसलिये शत्रु के वध करने का तुमको निश्चय कर लेना चाहिये, क्योंकि क्षत्रिय का युद्ध के अतिरिक्त अन्य उत्तम धर्म नहीं है ॥३५॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमन
पर्व में भीम वाक्य का पैंतीसवां अध्याय
पूरा हुआ ।



छत्तीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

भीमसेनवचः श्रुत्वा कुन्ती पुत्रो युधिष्ठिरः ।
निश्वस्य पुरुषव्याघ्रः संप्रदध्यौ परन्तपः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! शत्रुओं के नाशक, पुरुष श्रेष्ठ, कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर ने भीमसेन के वचन सुन कर जोर से सांस लिया और विचारा ॥१॥

श्रुता मे राजधर्माश्च वर्णानाञ्च विनिश्चयाः ।
आयत्याञ्च तदात्वे च यः पश्यति स पश्यति ॥२॥

मैंने राज-धर्म और वर्णों के धर्म सुने हैं। जो मनुष्य भविष्य और वर्तमान काल इन दोनों पर दृष्टि रखता है, वही अच्छी तरह अपने कार्य का निरीक्षण करता है ॥२॥

धर्मस्य जानमानोऽहं गतिमग्र्यां सुदुर्विदाम् ।
कथं बलात् करिष्यामि मेरोरिव विमर्दनम् ॥३॥

मैं कठिनता से जानने योग्य धर्म की श्रेष्ठ गति को जानता हूँ, फिर मेरु पर्वत के तुल्य इसका मर्दन बल पूर्वक कैसे कर सकता हूँ ॥३॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा विनिश्चित्येति कृत्यताम् ।
भीमसेनमिदं वाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ॥४॥

युधिष्ठिर ने थोड़ी देर विचार किया और अपने कार्य का निश्चय कर लिया। औरझटपट भीमसेन से यह वाक्य बोला ॥४॥

युधिष्ठिर उवाच—

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
इदमन्यत् समाधत्स्व वाक्यं मे वाक्यकोविद ॥५॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे महाबाहो ! वाक्य के अर्थ के जानने वाले भीम, जैसा तुम कहते हो, वैसा ही है, परन्तु मेरे इस वाक्य को तुम जरा स्वीकार करो ॥५॥

महापापानि कर्माणि यानि केवलसाहसात् ।
आरभ्यन्ते भीमसेन व्यथन्ते तानि भारत ॥६॥

हे भीमसेन ! जो मनुष्य, महापाप के कारण कर्मों को केवल साहस से कर बैठता है, वे कर्म, उसको बड़ी पीड़ा देते हैं ॥६॥

सुमन्त्रिते सुविक्रान्ते सुकृते सुविचारिते ।
सिद्ध्यन्त्यर्था महाबाहो दैवश्चात्र प्रदक्षिणम् ॥७॥

हे महाबाहो ! अच्छी तरह सम्मति कर लेने और विचार लेने तथा उद्योग करने या प्रारम्भ कर लेने पर ही कार्य सिद्ध होते हैं। इस दशा में उस के दैव भी अनुकूल होजाता है ॥७॥

यत्तु केवलचापल्याद्बलदर्पोत्थितः स्वयम् ।
आरब्धव्यमिदं कार्य्यं मन्यसे शृणु तत्र मे ॥८॥

जो तुम केवल चञ्चलता से बल और अभिमान में चूर होकर कार्य का प्रारम्भ करना चाहते हो तो इस विषय में सुनो ॥ ८ ॥

भूरिश्रवाः शलश्चैव जलसन्धश्च वीर्य्यवान् ।
भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च द्रोणपुत्रश्च वीर्य्यवान् ॥९॥
धार्त्तराष्ट्रा दुराधर्षा दुर्य्योधनपुरोगमाः ।
सर्व एव कृतास्त्राश्च सततश्चाततायिनः ॥१०॥

भूरिश्रवा, शल, वीर्यवान् जलसन्ध, भीष्म, द्रोण, कर्ण पराक्रमी अश्वत्थामा, आक्रमण के अयोग्य धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन आदि सारे, अस्त्र विद्या में कुशल हैं और धोखे से मारने वाले हैं ॥९—१०॥

राजानः पार्थिवाश्चैव येऽस्माभिरुपतापिताः ।
संश्रिताः कौरवं पक्षं जातस्नेहाश्च तं प्रति ॥११॥

जिन राजाओं को हमने क्लेश पहुंचाया है, उन्होंने भी कौरवों का पक्ष ले लिया और वे उनसे प्रेम करने लगे हैं ॥११॥

दुर्य्योधनहिते युक्ता न तथास्मासु भारत ।
पूर्णकोपबलोपेताः प्रयतिष्यन्ति सङ्गरे ॥१२॥

हे भारत ! ये जितना दुर्योधन का हित करना चाहते हैं, उतने हमारे हितकारी नहीं है। इन के कोष, धन से भरे हैं। ये पूर्ण बली हैं। ये अवश्य युद्ध में प्रयत्न करेंगे ॥१२॥

सर्वे कौरवसैन्यस्य सपुत्रामात्यसैनिकाः ।
संविभक्ता हि मात्राभिर्भोगैरपि च सर्वशः ॥१३॥

ये सारे, अपने पुत्र, मंत्री और सैनिकों के साथ कौरव सेना सम्बन्धी विभागों में बट रहे हैं और राजा दुर्योधन के साथ पृथिवी के भोग करने में सहकारी हैं ॥१३॥

दुर्य्योधनेन ते वीरा मानिताश्च विशेषतः ।
प्राणांस्त्यक्ष्यन्ति सङ्ग्रामे इति मे निश्चिता मतिः ॥१४॥

राजा दुर्योधन ने उन वीरों का विशेष मान किया है । ये संग्राम में दुर्योधन के निमित्त प्राणों तक का त्याग कर देंगे, यह मुझे निश्चय है ॥१४॥

समा यद्यपि भीष्मस्य वृत्तिरस्मासु तेषु च ।
द्रोणस्य च महाबाहोः कृपस्य च महात्मनः ॥१५॥
अवश्यं राजपिण्डस्तैर्निर्वेश्य इति मे मतिः ।
तस्मात्त्यक्ष्यन्ति सङ्ग्रामे प्राणानपि सुदुस्त्यजान् ॥१६॥

यद्यपि भीष्म, महात्मा द्रोण और कृप की वृत्ति दुर्योधनादि और हम में समान है, तो भी वे राज्यके अन्न खाने का अवश्य ध्यान करेंगे और उस ऋण के चुकाने के लिये कठिनता से त्यागने योग्य प्राणों को भी दुर्योधन के निमित्त अर्पण कर देंगे ॥ १६ ॥

सर्वे दिव्यास्त्रविद्वांसः सर्वे धर्मपरायणाः ।
अजेयाश्चेति मे बुद्धिरपिदेवैः सवासवैः ॥१७॥

ये सारे, दिव्य अस्त्रों के ज्ञाता और धर्मात्मा हैं । ये इन्द्र के सहित देवों से नहीं जीते जासकते हैं, ऐसा मेरा ख़याल है ॥१७॥

अमर्षी नित्यसंरब्धस्तत्र कर्णो महारथः ।
सर्वास्त्रविदनाधृष्यो ह्यभेद्यकवचावृतः ॥१८॥

उन का साथी महारथी कर्ण, बड़ा क्रोधी और तेजस्वी है। यह सब शस्त्रों का ज्ञाता, आक्रमण के अयोग्य और नहीं विंधने वाले कवच का धारण करने वाला है ॥१८॥

अनिर्ज्जित्य रणे सर्वानेतान् पुरुषसत्तमान्।
अशक्यो ह्यसहायेन हन्तुं दुर्य्योधनस्त्वया ॥१९॥

इन महावीर सारे पुरुषों को रण में बिना जीते, असहाय अवस्था में तुम दुर्योधन को नहीं मार सकते हो ॥१९॥

न निद्रामधिगच्छामि चिन्तयानो वृकोदर।
अति सर्वान् धनुर्ग्राहान् सूतपुत्रस्य लाघवम् ॥२०॥

धनुषधारी वीरों को याद करके तथा कर्ण का फुर्तीलापन सोचकर मुझको रात को नींद भी नहीं आती है ॥२०॥

वैशम्पायन उवाच—

एतद्वचनमाज्ञाय भीमसेनोऽत्यमर्षणः।
बभूव विमनास्त्रस्तो न चैवोवाच किञ्चन ॥२१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! अत्यन्त कोप करने वाला भीमसेन भी इन वचनों को सुनकर उदास तथा दुःखी हो गया और कुछ नहीं बोला ॥२१॥

तयोः संवदतोरेवं तदा पाण्डवयोर्द्वयोः।
आजगाम महायोगी व्यासः सत्यवतीसुतः ॥२२॥

जिस समय इन दोनों पांडवों में यह विवाद छिड़ रहा था, उसी समय महायोगी सत्यवती के पुत्र, वेदव्यास वहां आ पहुँचे ॥२२

सोऽभिगम्य यथान्यायं पाण्डवैः प्रतिपूजितः ।
युधिष्ठिरमिदं वाक्यमुवाच वदताम्वरः ॥२३॥

ये वेदव्यास, अपनी रीति के अनुसार वहां पहुंचे, तब पांडवों ने इनकी पूजा की। इसके अनन्तर बोलने वालों में श्रेष्ठ, वेद-व्यास ने राजा युधिष्ठिर से ये वचन कहे ॥२३॥

व्यास उवाच—

युधिष्ठिर महाबाहो वेद्मि ते हृदयस्थितम् ।
मनीषया ततः क्षिप्रमागतोऽस्मि नरर्षभ ॥२४॥

व्यास जी बोले—हे महाबाहो ! युधिष्ठिर ! मैं तेरे मन की इच्छा को जानता हूँ ! हे नर-श्रेष्ठ ! इसी से मैं तेरी इच्छा के अनुसार यहां शीघ्र आ पहुंचा हूँ ॥२४॥

भीष्मात् द्रोणात् कृपात् कर्णात् द्रोणपुत्राच्च भारत ।
दुर्योधनान्नृपसुताच्चथा दुःशासनादपि ॥२५॥
यत्ते भयममित्रघ्न हृदि सम्परिवर्त्तते ।
तत्तेऽहं नाशयिष्यामि विधिदृष्टेन कर्मणा ॥२६॥

हे भारत ! भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण, अश्वत्थामा, राजा धृत-राष्ट्र के पुत्र दुर्योधन तथा दुःशासन से जो भय तेरे हृदय में घुसा है, उसको शास्त्र के अनुसार कर्म का उपदेश करके मैं अभी नष्ट करता हूँ ॥२५-२६॥

तच्छ्रुत्वा धृतिमास्थाय कर्मणा प्रतिपादय ।
प्रतिपाद्य तु राजेन्द्र ततः क्षिप्रं ज्वरं जहि ॥२७॥

हे राजन्! तुम उसको सुनकर तथा धैर्य को धारण करके उसकी सिद्धि का प्रयत्न करो। उस कार्य को सिद्ध करके तुम अपने दुःख का शीघ्र ही विनाश कर सकोगे ॥२७॥

तत एकान्तमुन्नीय पाराशर्यो युधिष्ठिरम्।
अब्रवीदुपपन्नार्थमिदं वाक्य विशारदः ॥२८॥

पराशर के पुत्र, विद्वान् वेदव्यास, राजा युधिष्ठिर को एकान्त में ले जाकर कार्य की सिद्धि करने वाला यह वचन बोले॥२८॥

श्रेयसस्ते परः कालः प्राप्तो भरतसत्तम।
येनाभिभविता शत्रून्रणे पार्थो धनञ्जयः ॥२९॥

हे भरतवंश श्रेष्ठ! तुझे अब कल्याण का उत्तम समय प्राप्त हो गया है, जिससे कुंती पुत्र-अर्जुन, रण में शत्रुओं का नाश करेगा ॥२९॥

गृहाणेमां मया प्रोक्तां सिद्धिं मूर्त्तिमतीमिव।
विद्यां प्रतिस्मृतिं नाम प्रपन्नाय ब्रवीमि ते ॥३०॥

हे युधिष्ठिर! तू मूर्तिमती सिद्धि के समान मेरी प्रतिस्मृति नाम की विद्या को स्वीकार कर ले। मैं तुम शरणागत को उसका उपदेश करता हूँ ॥३०॥

यामवाप्य महाबाहुरर्जुनः साधयिष्यति।
अस्त्रहेतोर्महेन्द्रश्च रुद्रश्चैवाभिगच्छतु ॥३१॥

जिस विद्या को पाकर महाबली अर्जुन, अस्त्र विद्या की प्राप्ति के निमित्त इन्द्र और रुद्र को प्रसन्न कर सकेंगे ॥३१॥

वरुणश्च कुबेरश्च धर्मराजश्च पाण्डव ।
शक्तो ह्येष सुरान् द्रष्टुं तपसा विक्रमेण च ॥३२॥

हे युधिष्ठिर ! यह तप और विक्रम के द्वारा वरुण, कुबेर, धर्मराज आदि देवताओं को भी देखने में समर्थ हो सकेगा ॥३२॥

ऋषिरेष महातेजा नारायणसहायवान् ।
पुराणः शाश्वतो देवस्त्वजेयो जिष्णुरच्युतः ॥३३॥

यह महा-तेजस्वी, नारायण का साथी, नर नामक ऋषि है । जो सनातन, सब से पुराना देव, जीतने में नहीं आने वाला, दृढ़, अर्जुन है ॥३३॥

अस्त्राणीन्द्राच्च रुद्राच्च लोकपालेभ्य एव च ।
समादाय महाबाहुर्महत् कर्म करिष्यति ॥३४॥

यह महा शक्तिशाली अर्जुन, इन्द्र, रुद्र, तथा अन्य लोकपालों से अस्त्र विद्या सीखकर, बड़े विशाल कार्य कर सकेगा ॥३४॥

वनादस्माच्च कौन्तेय वनमन्यद्विचिन्त्यताम् ।
निवासार्थाय यद्युक्तं भवेद्वः पृथिवीपते ॥३५॥

हे कौन्तेय ! इस वन से अन्य अपने निवास के योग्य कोई वन तलाश कर लो । हे राजन् ! जो तुम्हारे लिये बड़ा ही लाभ दायक होगा ॥३५॥

एकत्र चिरवासो हि न प्रीतिजननो भवेत् ।
तापसानाञ्च सर्वेषां भवेदुद्वेगकारकः ॥३६॥

एक स्थान में बहुत दिन रहना आनन्द-दायी नहीं है और यह सारे तपस्वियों को कुछ क्लेशदायी भी होता है ॥३६॥

मृगाणामुपयोगश्च वीरुधोषधिसंक्षयः ।
बिभर्षि च बहून् विप्रान् वेदवेदाङ्गपारगान् ॥३७॥

जंगल के जीवों का नाश और लता तथा ओषधि का क्षय हो जाता है, क्योंकि तुम बहुत से वेद, वेदाङ्ग के जानने वाले ब्राह्मणों को साथ लिये फिरते हो ॥३७॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा प्रपन्नाय शुचये भगवान् प्रभुः ।
प्रोवाच लोकतत्त्वज्ञो योगी विद्यामनुत्तमाम् ॥३८॥
धर्मराजाय धीमान् स व्यासः सत्यवतीसुतः ।
अनुज्ञाय च कौन्तेयं तत्रैवान्तरधीयत ॥३९॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इतना कह कर विनयी, शरणागत के प्रेमी, पवित्र, युधिष्ठिर के लिये महायोगी, लोक के नियमों के जानने वाले, सत्यवती के पुत्र वेदव्यास ने उस उत्तम विद्या का उपदेश कर दिया और वे राजा युधिष्ठिर से आज्ञा लेकर वहीं अन्तरध्यान हो गये ॥३८-३९॥

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा तद्ब्रह्म मनसा यतः ।
धारयामास मेधावी काले काले सदाभ्यसन् ॥४०॥

धर्मात्मा युधिष्ठिर ने उसी मंत्र का मन से ध्यान किया और इस बुद्धिमान् ने इस मंत्र को धारण कर लिया तथा समय २ पर इसका अभ्यास करने लगा ॥४०॥

स व्यासवाक्यमुदितो वनाद्द्वैतवनात्ततः ।
ययौ सरस्वतीकूले काम्यकं नाम तद्वनम् ॥४१॥

राजा युधिष्ठिर भी महर्षि वेदव्यास के वचन से द्वैत-वन को छोड़कर सरस्वती नदी के तट पर काम्यक वनमें पहुँचे ॥४१॥

तमन्वयुर्महाराज शिक्षाक्षरविशारदाः ।
ब्राह्मणास्तापसा युक्ता देवेन्द्रमृषयो यथा ॥४२॥

हे महाराज ! शिक्षा के जानने वाले, ब्राह्मण और तपस्वी इन्द्र के चारों ओर ऋषियों के समान सुशोभित हो रहे थे ॥४२॥

ततः काम्यकमासाद्य पुनस्ते भरतर्षभाः ।
न्यवसन्त महात्मानः सामात्याः सपरिच्छदाः ॥४३॥

उन भरतवंश श्रेष्ठ पांडवों ने फिर काम्यक वन का आश्रय लिया । वहीं पर ये महानुभाव अपने मन्त्री और साथियों के साथ रहने लगे ॥४३॥

तत्र ते न्यवसन्राजन् कञ्चित् कालं मनस्विनः ।
धनुर्वेदपरा वीराः शृण्वन्तो वेदमुत्तमम् ॥४४॥

हे राजन् ! ये मनस्वी वीर, वहां कुछ काल धनुष विद्या का अभ्यास करते हुये और उत्तम वेद का पाठ सुनते हुए, रहने लगे ॥४४॥

चरन्तो मृगयां नित्यं शुद्धैर्बाणैर्मृगार्थिनः ।
पितृदैवतविप्रेभ्यो निर्वपन्तो यथाविधि ॥४५॥

इति आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि काम्यकवनप्रवेशे
षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥३६॥

ये यहां मृगों की अभिलाषा से शुद्ध बाणों द्वारा शिकार खेलते और जिससे पितृ देव और ब्राह्मणों को विधि पूर्वक तृप्त करते थे ॥४५॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमन
पर्व में काम्यकवन प्रवेश का छत्तीसवां
अध्याय पूरा हुआ।



सैंतीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

कस्यचित्त्वथ कालस्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
संस्मृत्य मुनिसन्देशमिदं वचनमब्रवीत् ॥१॥
विविक्ते विदितप्रज्ञमर्ज्जुनं पुरुषर्षभ ।
सान्त्वपूर्वं स्मितं कृत्वा पाणिना परिसंस्पृशन् ॥२॥

वैशम्पायन कहने लगे—हे पुरुष-श्रेष्ठ ! कुछ काल के चले जाने पर धर्मराज युधिष्ठिर ने मुनि के सन्देश का स्मरण करके एकान्त में स्थित, बुद्धिमान् अर्जुन से हंसते हुए शान्ति के साथ कहा। इस समय राजा युधिष्ठिर प्रेम से अर्जुन पर हाथ फेरते जाते थे ॥१-२॥

स मुहूर्त्तमिव ध्यात्वा वनवासमरिन्दमः ।
धनञ्जयं धर्म्मराजो रहसीदमुवाच ह ॥३॥

अरिमर्दन युधिष्ठिर ने थोड़ी देर वनवास पर विचार किया और फिर एकान्त में अर्जुन से कहा ॥३॥

युधिष्ठिर उवाच—

भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे द्रोणपुत्रे च भारत ।
धनुर्वेदश्चतुष्पाद एतेष्वद्य प्रतिष्ठितः ॥४॥

युधिष्ठिर बोला—हे भारत ! आज भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण अश्वत्थामा इन में चार पावों वाला (आदान, संधान, विसर्ग, संहार) धनुर्वेद सब तरह से स्थित है ॥४॥

ब्राह्मं दैवं मानुषञ्च वायव्यं सचिकित्सितम् ।
सर्वास्त्राणां प्रयोगञ्च तेऽभिजानन्ति कृत्स्नशः ॥५॥

ये सारे ब्रह्मास्त्र, देव, मनुष्यों के अस्त्र, तथा वायव्यास्त्र आदि शस्त्रों का ठीक २ प्रयोग करना जानते हैं । इसके सिवा ये शल्य चिकित्सा के भी अच्छी तरह ज्ञाता हैं ॥५॥

ते सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण परिसान्त्विताः ।
संविभक्ताश्च तुष्टाश्च गुरुवत्तेषु वर्त्तते ॥६॥

इन सबको धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन ने सब भांति समझा बुझा रखा है । इनको राज्य के भोगों में समान भागी बनाया है और ये सन्तुष्ट होकर राजा दुर्योधन से पूज्यों का सा व्यवहार करते हैं ॥६॥

सर्वयोधेषु चैवास्य सदा प्रीतिरनुत्तमा ।
आचार्य्या मानितास्तुष्टाः शान्तिं व्यवहरन्त्युत ॥७॥

इसकी सारे योधाओं में बड़ी उत्तम प्रीति है। सन्तुष्ट और सम्मानित हुए आचार्य भी सब चुपचाप बैठे हैं ॥७॥

शक्तिं न हापयिष्यन्ति ते काले प्रतिपूजिताः ।
अद्य चेयं मही कृत्स्ना दुर्य्योधनवशानुगा ॥ ८ ॥
सग्रामनगरा पार्थ ससागरवनाकरा ।
भवानेव प्रियोऽस्माकं त्वयि भारः समाहितः ॥९ ॥

ये आचार्य, पूजा के वश में हुए अपनी सारी शक्ति को लगा देंगे। आज तो ग्राम, नगर, सागर, वन और खानों समेत यह सारी पृथ्वी दुर्योधन के वश में हो चुकी है। अब केवल तुम ही हमारे प्रिय हो और यह बोझा सारा तुम पर ही आ पड़ा है ॥८-९॥

अत्र कृत्यं प्रपश्यामि प्राप्तकालमरिन्दम ।
कृष्णद्वैपायनात्तात ग्रहीतोपनिषन्मया ॥ १० ॥

हे अरिन्दम ! अब समयानुसार कर्तव्य सामने आगया है। हे तात ! मैंने कृष्ण-द्वैपायन-व्यास से एक रहस्य-मयी विद्या प्राप्त की है ॥ १० ॥

तथा प्रयुक्तया सम्यक् जगत् सर्वं प्रकाशते ।
तेन त्वं ब्रह्मणा तात संयुक्तः सुसमाहितः ॥ ११ ॥

हे तात ! यदि उस विद्या का भली भांति प्रयोग कर लिया, तो सारे जगत को चकाचौंध प्राप्त हो जावेगी। उस विद्या के

प्रयोग में उस ब्राह्मण (वेद-व्यास) ने तुमको प्रयुक्त किया है, क्योंकि तुम सावधान (योग्य-पात्र) हो ॥ ११ ॥

दैवतानां यथाकालं प्रसादं प्रतिपालय ।
तपसा योजयात्मानमुग्रेण भरतर्षभ ॥ १२ ॥

हे भरतर्षभ ! समय पर प्राप्त हुई इन दिव्य शक्तियों की कृपा से तुम लाभ उठाओ । इस समय तुम अपने को उग्र तप से युक्त करो ॥ १२ ॥

धनुष्मान् कवची खड्गी मुनि साधुव्रते स्थितः ।
न कस्यचित् ददन्मार्गं गच्छ तातोत्तरां दिशम् ॥ १३ ॥

तुम धनुष, कवच और खड्ग को धारण करके मुनि-वृत्ति का आचरण करो । तुम कोई ऐसा मार्ग स्वीकार न करो, जिससे कोई अँगुली उठा सके । बस ! तुम अब उत्तर दिशा को चले जाओ ।

इन्द्रे ह्यस्त्राणि दिव्यानि समस्तानि धनञ्जय ।
वृत्राद्भीतैर्बलं देवैस्तदा शक्रे समर्पितम् ॥ १४ ॥

हे अर्जुन ! इन्द्र के पास सारे देवताओं के शस्त्र हैं । वृत्रासुर से डरे हुए देवताओं ने ये सारे शस्त्र इन्द्र को सौंप दिए थे ॥१४॥

तान्येकस्थानि सर्वाणि ततस्त्वं प्रतिपत्स्यसे ।
शक्रमेव प्रपद्यस्व स तेऽस्त्राणि प्रदास्यति ।
दीक्षितोऽद्यैव गच्छ त्वं द्रष्टुं देवं पुरन्दरम् ॥ १५ ॥

ये सारे शस्त्र, एक ही इन्द्र के पास हैं, उससे तू प्राप्त कर । तू इन्द्र के पास पहुँच, वह तुझे सारे अस्त्रों को प्रदान करेगा ।

अब तुम इस कार्य में नियुक्त कर दिए गए हो, आज ही इन्द्र के पास चले जाओ ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा धर्मराजस्तमध्यापयत प्रभुः ।
दीक्षितं विधिनानेन धृतवाक्कायमानसम् ॥ १६ ॥
अनुजज्ञे तदा वीरं भ्राता भ्रातरमग्रजः ।

वैशम्पायन कहने लगे—हे राजन् ! इस विधि से इस कठिन कार्य में नियुक्त किये हुए, वाणी, शरीर और मन को वश में रखने वाले अर्जुन को राजा युधिष्ठिर ने वह सारी विद्या सिखाई और बड़े भाई युधिष्ठिर ने अपने वीर भाई अर्जुन को जाने की आज्ञा दी ॥ १६ ॥

निदेशाद्धर्मराजस्य द्रष्टुकामः पुरन्दरम् ॥ १७ ॥
धनुर्गाण्डीवमादाय तथाक्षय्ये महेषुधी ।
कवची सतलत्राणो बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ॥ १८ ॥
हुताग्निर्ब्राह्मणान्निष्कैः स्वस्ति वाच्य महाभुजः ।
प्रातिष्ठत महाबाहुः प्रगृहीतशरासनः ॥ १६ ॥
वधाय धार्त्तराष्ट्राणां निश्वस्योर्ध्वमुदीक्ष्य च ।

धर्मराज की आज्ञा से इन्द्र के दर्शनों का इच्छुक, बड़ी २ भुजा वाला, महावीर, धनुषधारी अर्जुन, गाण्डीव धनुष और क्षीण नहीं होने वाले तरकसों को लेकर चल दिया। इसने कवच धारण किया, करतल की रक्षा करने वाला हाथों का कवच, तथा गोधा के चर्म का अँगुलित्राण बांधा। प्रथम हवन किया और

ब्राह्मणों को सुवर्ण मुद्रा दान करके स्वस्तिवाचन कराया। यह सब उसने ऊपर को देखकर निश्वास के साथ २ धृतराष्ट्र के पुत्रों के वध के लिए ही किया ॥ १७-१९ ॥

तं दृष्ट्वा तत्र कौन्तेयं प्रगृहीतशरासनम् ॥ २० ॥
अब्रुवन् ब्राह्मणाः सिद्धा भूतान्यन्तर्हितानि च ।
क्षिप्रमाप्नुहि कौन्तेय मनसा यद्यदिच्छसि ॥ २१ ॥

इस प्रकार धनुष धारण किए हुए अर्जुन को देखकर ब्राह्मण, सिद्ध तथा छुपे हुए भूतों ने कहा—हे कौन्तेय! जो अभिलाषा कर रहे हो, उसे शीघ्र ही प्राप्त करो ॥ २०-२१ ॥

अब्रुवन् ब्राह्मणाः पार्थमिति कृत्वा जयाशिषः ।
ससाधयस्व कौन्तेय ध्रुवोऽस्तु विजयस्तव ॥ २२ ॥

इस प्रकार ब्राह्मणों ने अर्जुन को आशीष प्रदान की। हे अर्जुन! तुम अपने काम को सिद्ध करो, तुम्हारी अवश्य विजय होगी ॥ २२ ॥

तं तथा प्रस्थितं वीरं शालस्कन्धोरुमर्जुनम् ।
मनांस्यादाय सर्वेषां कृष्णा वचनमब्रवीत् ॥ २३ ॥

शाल-वृक्ष के तुल्य जङ्घा वाले अर्जुन को इस प्रकार गमन करते देखकर सबके मनको अपनी ओर खेंचकर द्रौपदी कहने लगी ॥ २३ ॥

कृष्णोवाच—

यत्ते कुंती महाबाहो जातस्यैच्छद्धनञ्जय ।
तत्तेऽस्तु सर्वं कौन्तेय यथा च स्वयमिच्छसि ॥ २४ ॥

हे महाबाहो ! अर्जुन ! तुम्हारी उत्पत्ति से जो कुन्ती चाहती है या जो तुम स्वयं चाहते हो, वह सब कुछ सिद्ध हो ॥२४॥

मास्मांक क्षत्रियकुले जन्म कश्चिदवाप्नुयात् ।
ब्राह्मणेभ्यो नमो नित्यं येषां भैक्ष्येण जीविका ॥ २५ ॥

कोई भी मनुष्य हमारी तरह क्षत्रिय कुल में जन्म न प्राप्त करे। इन ब्राह्मणों को ही धन्य है, जिनकी भिक्षा से जीविका है ॥ २५ ॥

इदं मे परमं दुःखं यः स पापः सुयोधनः ।
दृष्ट्वा मां गौरिति प्राह प्रहसन्राजसंसदि ॥ २६ ॥

यह मुझको बड़ा दुःख है, जो पापी दुर्योधन ने मुझको देखकर गौ २ कहकर राजसभा में उपहास किया था २६

तस्माद्दुःखादिदं दुःखं गरीय इति मे मतिः ।
यत्तत् परिषदो मध्ये बह्वयुक्तमभाषत ॥ २७ ॥

मेरी सम्मति में इस दुःख से भी अधिक दुःख यह है, जो उसने सभा में बहुत सी अयुक्त बकवाद की थी ॥ २७ ॥

नूनं ते भ्रातरः सर्वे त्वत्कथाभिः प्रजागरे ।
रंस्यन्ते वीर कर्माणि कथयन्तः पुनः पुनः ॥२८॥

हे वीर ! वे सारे भाई जागरण करके तेरी कथा कहते हुए बड़े प्रसन्न हो रहे होंगे ॥ २८ ॥

नैव नः पार्थ भोगेषु न धने नोत जीविते ।
तुष्टिर्बुद्धिर्भवित्री वा त्वयि दीर्घप्रवासिनि ॥२९॥

हे पार्थ ! तेरी इस लम्बी विदेश यात्रा के कारण न तो हमारा मन भोगों में ही लग सकता और न जीवन में ही प्रीति है और न कुछ बुद्धि ही काम करने के योग्य रहेगी ॥ २६ ॥

त्वयि नः पार्थ सर्वेषां सुखदुःखे समाहिते
जीवितं मरणञ्चैव राज्यमैश्वर्य्यमेव च ॥ ३० ॥

हे अर्जुन ! हम सबके दुःख या सुख सब तेरे ऊपर ही अवलम्बित हैं। जीवन, मरण, राज्य और ऐश्वर्य ये सब कुछ, तुम्हारे ऊपर ही निर्भर हैं ॥ ३० ॥

आपृष्टो मेऽसि कौन्तेय स्वस्ति प्राप्नुहि भारत ।
बलवद्भिर्विरुद्धं न कार्य्यमेतत्त्वयानघ ।
प्रयाह्यविघ्नमेवाशु विजयाय महाबल ॥३१॥

हे कौन्तेय ! अब तुम मुझसे विदा हो चुके हो, जाओ और कल्याण प्राप्त करो। हे महाबली: तुमको बलवान् देवों के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करना चाहिये। अब तुम विघ्न बाधाओं से रहित होकर विजय के लिए शीघ्र यात्रा करो ॥३०॥-॥३१ ॥

नमो धात्रे विधात्रे च स्वस्ति गच्छ ह्यनामयम् ।
ह्रीः श्रीः कीर्त्तिद्युतिः तुष्टिरुमा लक्ष्मीः सरस्वती ॥३२॥
इमा वै तव पान्थस्य पालयन्तु धनंजय ।
ज्येष्ठापचायी ज्येष्ठस्य भ्रातुर्वचनकारकः ॥३३॥

हे धनञ्जय ! कर्म और उसके फल के देने वाले परमात्मा को नमस्कार है। अब तुमको कल्याण और सुख की प्राप्ति हो। ह्री, श्री, कीर्ति, द्युति, तुष्टि, उमा, लक्ष्मी, सरस्वती, ये सब मार्ग

में तुम्हारी पालन करने वाली हों तुम अपने जेष्ठ भ्राता की प्रतिष्ठा तथा आज्ञा के पालन करने वाले हो ॥३२॥-॥३३॥

प्रपद्येऽहं वसून् रुद्रानादित्यान् समरुद्गणान् ।
विश्वेदेवांस्तथा साध्यान् शान्त्यर्थं भरतर्षभ ॥ ३४ ॥

हे भरतर्षभ ! मैं वसु, रुद्र, आदित्य, मरुद्गण, विश्वे, देवा, साध्य, आदि देवों की शान्ति के लिए उनकी शरण में प्राप्त होती हूँ ॥३४॥

स्वस्ति तेऽस्त्वन्तरीक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यश्च भारत ।
दिव्येभ्यश्चैव भूतेभ्यो ये चान्ये परिपन्थिनः ॥ ३५ ॥

हे भारत ! अन्तरिक्ष भूलोक राजा तथा द्यु लोक से तुम्हारा कल्याण हो । वे अन्य प्राणी भी तुम्हारे कल्याण कर्ता हों, जो तुम से विरुद्ध रहते हैं ॥३५॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वाशिषः कृष्णा विरराम यशस्विनी ।
ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भ्रातॄन् धौम्यञ्च पाण्डवः ॥३६॥
प्रातिष्ठत महाबाहुः प्रगृह्य रुचिरं धनुः ।

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इस प्रकार यशस्विनी द्रौपदी आशीष देकर चुप होगई । इसके अनन्तर महा-बाहु अर्जुन भी अपने भाई और पुरोहित धौम्य की प्रदक्षिणा करके तथा दिव्य, गाण्डीव धनुष को उठा कर चल दिया ॥३६॥

तस्य मार्गादपाक्रामन् सर्वभूतानि गच्छतः ।
युक्तस्यैन्द्रेण योगेन पराक्रान्तस्य शुष्मिणः ॥३७॥

इसकी यात्रा के समय सब दुष्ट प्राणी मार्ग छोड़कर दूर भाग गए, क्योंकि यह अर्जुन, इन्द्र सम्बन्धी कर्म से युक्त, पराक्रमी, तथा बलवान् था ॥३७॥

सोगच्छत् पर्वतांस्तात तपोधननिषेवितान् ॥ ३८ ॥
दिव्यं हैमवतं पुण्यं देवजुष्टं परन्तप ।
अगच्छत् पर्वतं पुण्यमेकाह्नैव महामनाः ॥ ३९ ॥

हे तात ! यह मनस्वी अर्जुन, तपस्वियों से युक्त पर्वतों पर पहुंचा। इन सब पर्वतों से आगे चलकर यह देवों से युक्त, पवित्र, दिव्य, हिमालय पर्वत पर एक ही दिन में पहुंच गया।

मनोजवगतिर्भूत्वा योगयुक्तो यथानिलः ।
हिमवन्तमतिक्रम्य गन्धमादनमेव च ॥ ४० ॥

यह मन के समान गति से गमन करने वाला कर्म-योग से युक्त होकर और वायु के तुल्य हिमालय को उलांघ कर गन्धमादन पर्वत पर पहुंचा ॥४०॥

अत्यक्रामत् सुदुर्गाणि दिवारात्रमतन्द्रितः ।
इन्द्रकीलं समासाद्य ततोऽतिष्ठद्धनञ्जयः ॥४१॥
अन्तरीक्षेऽतिशुश्राव तिष्ठेति स वचस्तदा ।
तच्छ्रुत्वा सर्वतो दृष्टिं चारयामास पाण्डवः ॥४२॥

किसी भी प्रकार की असावधानी न करके यह दिन रात चलता रहा। इसने बड़े २ दुर्गम स्थानों को पार किया। यह अर्जुन, इन्द्र-कील पर्वत को पाकर वहीं ठहर गया, क्योंकि इसने यहां आकाश वाणी सुनी, कि तुम यही ठहर जाओ ॥४१-४२॥

अथापश्यन् सव्यसाची वृक्षमूले तपस्विनम् ।

ब्राह्मया श्रिया दीप्यमानं पिङ्गलं जटिलं कृशम् ॥४३॥

सोऽब्रवीदर्ज्जुनं तत्र स्थितं दृष्ट्वा महातपाः ।

यह सुनकर अर्जुन ने चारों ओर दृष्टि फैंकी । तब अर्जुन ने वृक्ष के मूल में एक तपस्वी को देखा। यह तपस्वी ब्रह्मतेज से दीप्त, पीली जटाओं वाला, बड़ा दुर्बल था । इस महा-तपस्वी ने वहीं पर खड़े हुए अर्जुन को देखकर कहा ॥४३॥

कस्त्वं तातेह सम्प्राप्तो धनुष्मान् कवची शरी ॥४४॥

निबद्धासितलत्राणः चात्रं धर्ममनुव्रतः ।

हे तात ! तुम कौन हो और यहां कैसे आये हो। तुमने धनुष, बाण और कवच क्यों धारण किये हैं । तुमने तो हाथों का कवच भी धारण कर रखा है, जिससे प्रकट है, कि तुम क्षत्रिय धर्म का आचरण करने वाले हो ॥४४॥

नेह शस्त्रेण कर्त्तव्यं शान्तानामेष आलयः ॥४५॥

विनीतक्रोधहर्षाणां ब्राह्मणानां तपस्विनाम् ।

इस स्थान में तो शस्त्रों का कोई उपयोग नहीं हो सकता है, क्योंकि यह तो शान्त तपस्वी, क्रोध और हर्ष के जीतने वाले ब्राह्मणों का तपोवन है ॥४५॥

नेहास्ति धनुषा कार्य्यं न सङ्ग्रामोऽत्र कर्हिचित् ॥४६॥

निक्षिपैतद्धनुस्तात प्राप्तोऽसि परमां गतिम् ।

अब धनुष का कोई भी काम नहीं है, क्योंकि यहां तो किसी भी दशा में युद्ध नहीं हो सकता है। हे तात! तुम अपने धनुपको फैंक दो, अब परम गति को प्राप्त कर सकते हो ॥४६॥

ओजसा तेजसा वीर यथा नान्यः पुमान, कचित् ॥४७॥
तथा हसन्निवाभीक्ष्णं ब्राह्मणोऽर्जुनमब्रवीत् ।
न चैनञ्चालयामास धैर्य्यात् सुधृतनिश्चयम् ॥४८॥

हे वीर! तुम तो क्रोध और तेज से इतने देदीप्यमान हो रहे हो, कि अन्य कोई पुरुष बराबरी नहीं कर सकता है। इस प्रकार हंसते हुए ब्राह्मण ने बार २ अर्जुन से कहा—परन्तु वह इस दृढ़ निश्चयी अर्जुन को अपने लक्ष्य से च्युत नहीं कर सका ॥४७-४८॥

तमुवाच ततः प्रीतः स द्विजः प्रहसन्निव ।
वरं वृणीष्व भद्रन्ते शक्रोऽहमरिसूदन ॥४९॥

वह ब्राह्मण हंसता हुआ फिर प्रेम पूर्वक बोला। हे अरिसूदन! तुम अब वर मांगो, मैं तो इन्द्र हूँ ॥४९॥

एवमुक्तः सहस्राक्षं प्रत्युवाच धनञ्जयः ।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा शूरः कुरुकुलोद्वहः ॥५०॥

जब इन्द्र ने अर्जुन से इतना कहा, तो कुरु कुल की धुर को धारण करने वाले, शूर वीर, अर्जुन ने नम्रता के साथ हाथ जोड़ कर इन्द्र से कहा ॥५०॥

ईप्सितो ह्येष वै कामो वरश्चैवं प्रयच्छ मे ।
त्वत्तोऽद्य भगवन्नस्त्रं कृत्स्नमिच्छामि वेदितुम् ॥५१॥

हे भगवन्! मैं तो इस वरदान की अभिलाषा ही किये हुए था। मुझे यह वर प्रदान कीजिये। मैं आपसे सारी अस्त्र-विद्या ग्रहण करना चाहता हूं ॥५१॥

प्रत्युवाच महेन्द्रस्तं प्रीतात्मा प्रहसन्निव।
इह प्राप्तस्य किं कार्य्यमस्त्रैस्तव धनञ्जय ॥५२॥

इस समय प्रसन्न हुए इन्द्र ने हंस कर अर्जुन से कहा, कि यहां आ जाने पर भी अब अस्त्रों से क्या काम शेष रह गया है ॥५२॥

कामान् वृणीष्व लोकांस्त्वं प्राप्तोऽसि परमां गतिम्।
एवमुक्तः प्रत्युवाच सहस्राक्षं धनञ्जयः ॥५३॥

हे अर्जुन! तू जिन लोकों की इच्छा करता है, उनको भोग। अब तू उत्तम गति को प्राप्त हो गया है। इन्द्र के इतना कहने पर अर्जुन, इन्द्र से कहने लगा ॥५३

न लोकान्न पुनः कामान्न देवत्वं कुतः सुखम्।
न च सर्वामरैश्वर्य्यं कामये त्रिदशाधिप ॥५४॥

हे देव-राज! मैं, न तो किसी लोक की इच्छा करता हूं और न किसी अन्य काम को चाहता हूं। न मुझे देव-पदवी की अभिलाषा है, फिर अन्य सुख की क्या गिनती है। मैं तो इस समय सारे देवों के ऐश्वर्य की भी इच्छा नहीं करता हूं ॥५४॥

भ्रातृंस्तान् विपिने त्यक्त्वा वैरमप्रतियात्य च।
अकीर्तिं सर्वलोकेषु गच्छेयं शाश्वतीः समाः ॥५५॥

अपने भाइयों को वन में छोड़कर और बिना वैर निकाले जो उत्तम लोकों को प्राप्त करूँ, तो सारे लोकों में मेरी सदा के लिए अकीर्ति होजावेगी ॥५५॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच वृत्रहा पाण्डुनन्दनम् ।
सान्त्वयन् श्लक्ष्णया वाचा सर्वलोकनमस्कृतः ॥५६॥

जब अर्जुन ने इतना कहा, तो सब लोकों में पूज्य इन्द्र, मधुर वाणी से समझाता हुआ, अर्जुन से इस प्रकार कहने लगा ॥५६॥

यदा द्रक्ष्यसि भूतेशं त्र्यक्षं शूलधरं शिवम् ।
तदा दातास्मि ते तात दिव्यान्यस्त्राणि सर्वशः ॥५७॥

हे तात ! जब भूतों के स्वामी, शूल-धारी शिव, तुमको दर्शन देंगे, उस समय मैं तुमको सारे दिव्य अस्त्र प्रदान करूंगा ॥५७॥

क्रियतां दर्शने यत्नो देवस्य परमेष्ठिनः ।
दर्शनात्तस्य कौन्तेय संसिद्धः सर्वमेष्यसि ॥५८॥

अब तुम शिवजी के दर्शन का प्रयत्न करो। उनके दर्शन होजाने पर तुम सिद्ध हो जाओगे और सब कुछ प्राप्त कर सकोगे ॥५८॥

इत्युक्त्वा फाल्गुनं शक्रो जगामादर्शनं पुनः ।
अर्जुनोऽप्यथ तत्रैव तस्थौ योगसमन्वितः ॥५९॥

इति आरण्यपर्वणि अर्जुनाभिगमनपर्वणि इन्द्रदर्शने सप्तत्रिंशोऽध्यायः समाप्तञ्च अर्जुनाभिगमनपर्व ॥३७॥

इन्द्र, इतना कहकर अलक्षित होगये और अर्जुन तपस्या करता हुआ वहीं ठहर गया ॥५६॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत अर्जुनाभिगमन पर्व में इन्द्र दर्शन का सैंतीसवां अध्याय पूरा हुआ और यहीं अर्जुनाभिगमनपर्व भी समाप्त हुआ।



कैरातपर्व

अड़तीसवां अध्याय

जनमेजय उवाच—

भगवन् श्रोतुमिच्छामि पार्थस्याक्लिष्टकर्मणः।
विस्तरेण कथामेतां यथास्त्राण्युपलब्धवान् ॥१॥

जनमेजय बोले—हे भगवन्! अद्भुत कर्म करने वाले, अर्जुन की कथा विस्तार से सुनना चाहता हूँ, कि इसने किस प्रकार से शस्त्र, प्राप्त किए॥ १॥

यथा च पुरुषव्याघ्रो दीर्घबाहुर्धनञ्जयः।
वनं प्रविष्टस्तेजस्वी निर्मनुष्यमभीतवत् ॥२॥

किस प्रकार इस लम्बी भुजावाले, पुरुष-श्रेष्ठ, तेजस्वी अर्जुनने निर्जन वन में निडर होकर प्रवेश किया ॥२॥

किञ्च तेन कृतं तत्र वसता ब्रह्मवित्तम।
कथञ्च भगवान् स्थाणुर्देवराजश्च तोषितः ॥३॥

हे ब्रह्मवादिन्! उस वन में रहकर उसने क्या २ किया और किस तरह देवों के स्वामी भगवान् शङ्कर को सन्तुष्ट किया ॥३॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्प्रसादाद् द्विजोत्तम ।
त्वं हि सर्वज्ञ दिव्यञ्च मानुषञ्चैव वेत्थ ह ॥४॥

हे द्विजोत्तम! यह सब कुछ मैं आपकी कृपा से सुनना चाहता हूँ। आप सर्वज्ञ हैं तथा देव और मनुष्य सब के वृत्तान्त जानते हैं ॥ ४ ॥

अत्यद्भुततमं ब्रह्मन् लोमहर्षणमर्जुनः ।
भवेन सह संग्रामे चकाराप्रतिमं किल ॥५॥

हे ब्रह्मन्! अर्जुन ने शिव जी के साथ संग्राम में बड़े ही अद्भुत लोमों को खड़े कर देने वाले, असाधारण कर्म किये हैं ॥५

पुरा प्रहरतां श्रेष्ठः संग्रामेष्वपराजितः ।
यच्छ्रुत्वा नरसिंहानां दैन्यहर्षातिविस्मयात् ॥६॥
शूराणामपि पार्थानां हृदयानि चकम्पिरे ।
यद्यच्च कृतवानन्यत् पार्थस्तदखिलं वद ॥७॥

संग्राम में पराजित नहीं होने वाले, इस वीर योद्धा, अर्जुन ने जो कर्म किये हैं, उनको सुनकर नरों में श्रेष्ठ, शूरवीर पाण्डवों के भी दैन्य, हर्ष और विस्मय से हृदय कांपने लगते हैं। ये जो २ कर्म अर्जुन ने किए, वे सब आप मुझको बताइये ॥६-७॥

न ह्यस्य निन्दितं जिष्णोः सुसूक्ष्ममपि लक्षये ।
चरितं तस्य शूरस्य तन्मे सर्वं प्रकीर्तय ॥८॥

इस शूर अर्जुन के चरित्र में थोड़ी भी कमी नहीं देखता हूँ। तुम इस शूरवीर के चरित्र मुझको सुनाओ ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच—

कथयिष्यामि ते तात कथामेतां महात्मनः ।
दिव्यां कौरवशार्दूल महतीमद्भुतोपमाम् ॥९॥

वैशम्पायन कहने लगे—हे तात ! कौरव-शार्दूल ! मैं तुमसे इस महात्मा अर्जुन की दिव्य कथा कहता हूँ, जो बड़ी विस्तृत और अद्भुत है ॥ ९ ॥

गात्रसंस्पर्शसम्बद्धां त्र्यम्बकेण महानघ ।
पार्थस्य देवदेवेन शृणु सम्यक् समागमम् ॥१०॥

इस कथा में अर्जुन का और देवों के देव शिवजी के शरीर का सम्पर्क भी हो चुका है। हे महानघ ! तुम इस समागम अच्छी तरह सुनो ॥१०॥

युधिष्ठिरनियोगात् स जगामामितविक्रमः ।
शक्रं सुरेश्वरं द्रष्टुं देवदेवञ्च शङ्करम् ॥११॥

हे राजन् ! युधिष्ठिर की आज्ञा से अत्यन्त पराक्रमी अर्जुन, देवों के राजा इन्द्र और देवों के देव भगवान् शङ्कर के दर्शनों के लिए चल दिए ॥११॥

दिव्यं तद्धनुरादाय खड्गञ्च कनकत्सरुम् ।
महाबलो महाबाहुरर्जुनः कार्य्यसिद्धये ॥१२॥
दिशं ह्युदीचीं कौरव्यो हिमवच्छिखरं प्रति ।
ऐन्द्रिः स्थिरमना राजन् सर्वलोकमहारथः ॥१३॥

त्वरया परया युक्तस्तपसे धृतनिश्चयः ।
वनं कण्टकितं घोरमेक एवान्वपद्यत ॥१४॥

यह महा-बली, बड़ी २ भुजाओं वाला, कुरुवंश का दीपक, इन्द्र-पुत्र, स्थिर मन का धारण करने वाला, सब लोक में महारथी, तप के करने में तत्पर, अर्जुन, दिव्य धनुष और सुनहरी मूठ की तलवार लेकर अपने कार्य की सिद्धि के लिए शीघ्रता से कांटेदार, घोर वन में अकेला ही चल दिया ॥१२-१४॥

नानापुष्पफलोपेतं नानापक्षिनिषेवितम् ।
नानामृगगणाकीर्णं सिद्धचारणसेवितम् ॥१५॥

यह वन, अनेक प्रकार के पुष्पफलों से लदा हुआ था और इसमें नाना रंग के पक्षी निवास करते थे । यह अनेक प्रकार के जन्तुओं से युक्त और सिद्ध चारणों से सुशोभित था ॥१५॥

ततः प्रयाते कौन्तेये वनं मानुषवर्जितम् ।
शङ्खानां पटहानाञ्च शब्दः समभवद्दिवि ॥१६॥

जिस समय अर्जुन, इस निर्जन वन को चला । उस समय आकाश में शङ्ख और नगाड़ों की ध्वनियां होने लगी ॥१६॥

पुष्पवर्षञ्च सुमहन्निपपात महीतले ।
मेघजालञ्च विततं छादयामास सर्वतः ॥१७॥

इस समय पृथिवी पर बड़ी भारी पुष्पों की वर्षा हुई और विस्तृत मेघ जाल ने सारी भूमि को ढक लिया ॥१७॥

सोऽतीत्य वनदुर्गाणि सन्निकर्षं महागिरेः ।
शुशुभे हिमवत्पृष्ठे वसमानोऽर्जुनस्तदा ॥१८॥

इस अर्जुन ने बड़े दुर्गम स्थानों का अतिक्रमण करके महागिरि हिमालय की चोटी को अपने निवास से सुशोभित किया ॥ १८ ॥

तत्रापश्यद् द्रुमान् फुल्लान् विहगैर्वल्गुनादितान् ।
नदीश्च विपुलावर्त्ता वैदूर्य्यविमलप्रभाः ॥१९॥
हंसकारण्डवोद्गीताः सारसाभिरुतास्तथा ।
पुंस्कोकिलरुताश्चैव क्रौञ्चबर्हिणनादिताः ॥२०॥
मनोहरवनोपेतास्तस्मिन्नतिरथोऽर्जुनः ।
पुण्यशीतामलजलाः पश्यन् प्रीतमनाभवत् ॥२१॥

इसने यहां पुष्पों से लदे हुए और पक्षियों से शब्दायमान, अनेक वृक्ष देखे। अनेक आवर्तों से संयुक्त, वैडूर्यमणि के समान कान्तिवाली, हंस, कारण्डव और सारस आदि पक्षियों से शब्दायमान, कोयल के शब्दों से सुशोभित, क्रौंच और मोरों के शब्द से सुन्दर, मनोहर वन से युक्त, पवित्र और शीतल निर्मलजल वाली नदियों को देखा। जिसको देखते ही यह महारथी अर्जुन बड़ा प्रसन्न हुआ ॥ १९-२१ ॥

रममाणे वनोद्देशे रममाणोऽर्जुनस्तदा ।
तपस्युग्रे वर्त्तमान उग्रतेजा महामनाः ॥२२॥

इस सुन्दर वन के प्रदेशों में आनन्द से विहार करता हुआ, अत्यन्त तेजस्वी और मनस्वी अर्जुन, बड़ा उग्र तप करने लगा २२

दर्भं चीरं निवस्याथ दण्डाजिनविभूषितः ।
शीर्णञ्च पतितं भूमौ पर्णं समुपयुक्तवान् ॥२३॥

इसने दण्ड और मृगचर्म तथा वल्कल के वस्त्र धारण किये। यह जो पत्ते सूखकर पृथिवी पर गिर चुके थे, उनका आहार करने लगा ॥ २३ ॥

पूर्णे पूर्णे त्रिरात्रे तु मासमेकं फलाशनः ।
द्विगुणेन हि कालेन द्वितीयं मासमत्ययात् ॥२४॥

जब तीन रात व्यतीत हो जाती, तब एक बार आहार लेता था। इस प्रकार इसने एक महीने तक फलों का भोजन किया। इससे द्विगुण काल लगाकर इसने दूसरे महीने में आहार किया ॥२४॥

तृतीयमपि मासं स पक्षेणाहारमाचरत् ।
चतुर्थे त्वथ संप्राप्ते मासे भरतसत्तमः ॥२५॥
वायुभक्षो महाबाहुरभवत् पाण्डुनन्दनः ।
ऊर्ध्वबाहुर्निरालम्बः पादाङ्गुष्ठाग्रधिष्ठितः ॥२६॥

तीसरे महीने में इसने एक २ पक्ष में आहार करना आरम्भ किया। यह महाबाहु, पाण्डु-नन्दन, भरत वंश श्रेष्ठ, अर्जुन, चौथे महीने के प्राप्त होने पर वायु का आहार करने लगा। यह भुजाएँ उठाकर निराधार अपने पैरों के अँगुष्ठों के आसरे पर खड़ा हो गया ॥ २५-२६ ॥

सदोपस्पर्शनाच्चास्य बभूवुरमितौजसः ।
विद्युदम्भोरुहनिभा जटास्तस्य महात्मनः ॥२७॥

इस अत्यन्त ओजस्वी, महात्मा अर्जुन के इस प्रकार तप करने के कारण, बिजली और बादलों के समान चमकती हुई जटाएँ निकल आईं ॥ २७ ॥

ततो महर्षयः सर्वे जग्मुर्देवं पिनाकिनम् ।
निवेदयिषवः पार्थं तपस्युग्रे समास्थितम् ॥२८॥

अब सारे महर्षि, भगवान् शङ्कर के पास अत्यन्त तप करने वाले अर्जुन का वृत्तान्त निवेदन करने के लिए पहुँचे ॥ २८ ॥

तं प्रणम्य महादेवं शशंसुः पार्थकर्म तत् ।
एष पार्थो महातेजा हिमवत्पृष्ठमास्थितः ॥२९॥

उन्होंने श्री महादेव को प्रणाम करके अर्जुन की तपस्या का जिक्र किया। यह महा-तेजस्वी अर्जुन, हिमालय की चोटी पर स्थित है ॥ २९ ॥

उग्रे तपसि दुष्पारे स्थितो धूमाययन्दिशः ।
तस्य देवेश न वयं विद्मः सर्वे चिकीर्षितम् ॥३०॥
सन्तापयति नः सर्वानसौ साधु निवार्य्यताम् ।

इसने सारी दिशाओं में धुआं धार करदी है और कठिन तप में संलग्न हो गया है। हे देवों के देव! हमको क्या करना चाहिए, यह हम कुछ भी नहीं जानते हैं, इससे हमको बड़ा सन्ताप हो रहा है, आप हमारे इस कष्ट को दूर कीजिए ॥३०॥

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा मुनीनां भावितात्मनाम् ।
उमापतिर्भूतपतिर्वाक्यमेतदुवाच ह ॥३१॥

इन महात्मा मुनियों के इस वचन को सुनकर उमापति और जगत् के पति शङ्कर, ने यह वाक्य कहा ॥ ३१ ॥

महादेव उवाच—

न वो विषादः कर्त्तव्यः फाल्गुनं प्रति सर्वशः।
शीघ्रं गच्छत संहृष्टा यथागतमतन्द्रिताः।
अहमस्य विजानामि सङ्कल्पं मनसि स्थितम् ॥३२॥

महादेव बोले—हे मुनियों! तुम अर्जुन के विषय में कुछ विवाद मत करो। तुम प्रसन्नता और सावधानी से जैसे आये हो वैसे ही लौट जाओ। मैं इसके मन में जो सङ्कल्प है, उसको जानता हूँ ॥ ३२ ॥

नास्य स्वर्गस्पृहा काचिन्नैश्वर्य्यस्य तथायुषः।
यत्त्वस्य काङ्क्षितं सर्वं तत् करिष्येऽहमद्य वै ॥३३॥

इसको न तो स्वर्ग, न ऐश्वर्य और न आयु की अभिलाषा है। जो इसको अभीष्ट है, वह मैं आज ही पूरा किये देता हूँ ॥३३॥

वैशम्पायन उवाच—

तच्छ्रुत्वा शर्ववचनमृषयः सत्यवादिनः।
प्रहृष्टमनसो जग्मुर्यथा स्वान् पुनरालयान् ॥३४॥

इति आरण्यपर्वणि कैरातपर्वणि मुनिशङ्करसंवादे
अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥३८॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! सत्यवादी, ऋषि लोग—इस प्रकार शिवजी के वचन सुनकर प्रसन्नता के साथ अपने २ स्थानों को चले गए ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत कैरात-पर्व में मुनि और
शङ्कर के सम्वाद का अड़तीसवां अध्याय समाप्त हुआ।

उनचालीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

गतेषु तेषु सर्वेषु तपस्विषु महात्मसु ।
पिनाकपाणिर्भगवान् सर्वपापहरो हरः ॥१॥
कैरातं वेशमास्थाय काञ्चनद्रुमसन्निभम् ।
विभ्राजमानो विपुलो गिरिर्मेरुरिवापरः ॥२॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! उन सारे तपस्वी महात्मा के चले जाने पर सब पापों के हरने वाले, पिनाक धनुष हाथ में लिए हुए, भगवान् शङ्कर ने सुवर्ण के वृक्ष के तुल्य सुन्दर किरात वेश धारण किया। इस समय ये दूसरे विशाल मेरु पर्वत के समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १-२ ॥

श्रीमद्धनुरुपादाय शरांश्चाशीविषोपमान् ।
निष्पपात महावेगो दहनो देहवानिव ॥३॥

इन्होंने बड़ा चमकीला धनुष और सर्प के समान विषैले बाणों को धारण किया। ये मूर्तिमान् अग्नि के समान बड़े वेग से दौड़े ॥ ३ ॥

देव्या सहोमया श्रीमान् समानव्रतवेशया ।
नानावेशधरैर्हृष्टैर्भूतैरनुगतस्तदा ॥४॥

इन्हीं के समान रूप धारण करने वाली पार्वती भी इनके साथ थी। ये श्रीमान् किरात-वेष-धारी शङ्कर, प्रसन्न चित्त, अनेक वेष वाले, अपने गणों से सुशोभित हो रहे थे ॥ ४ ॥

किरातवेशसंच्छन्नः स्त्रीभिश्चापि सहस्रशः ।

अशोभत तदा राजन् स देशोऽतीव भारत ॥५॥

हे भारत ! इनके साथ अनेक सहस्रों अन्य स्त्रियां भी थी, जिनसे यह प्रदेश अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होता था ॥ ५ ॥

क्षणेन तद्वनं सर्वं निःशब्दमभवत्तदा ।

नादः प्रस्रवणानाञ्च पक्षिणाञ्चाप्युपारमत् ॥६॥

क्षण भर में यह सारा वन शब्द शून्य हो गया और झरने तथा पक्षियों के शब्द भी शान्त हो गए ॥ ६ ॥

स सन्निकर्षमागम्य पार्थस्याक्लिष्टकर्मणः ।

मूकं नाम दनोः पुत्रं ददर्शाद्भुतदर्शनम् ॥७॥

जब भगवान् शङ्कर, उत्तम कर्म करने वाले अर्जुन के पास पहुँचे, तो उस समय उन्होंने दनु के पुत्र, विकराल, मूक को देखा ॥ ७ ॥

वाराहं रूपमास्थाय तर्कयन्तमिवार्जुनम् ।

हन्तुं परमदुष्टात्मा तमुवाचाथ फाल्गुनः ॥८॥

गाण्डीवं धनुरादाय शरांश्चाशीविषोपमान् ।

सज्यं धनुर्वरं कृत्वा ज्याघोषेण निनादयन् ॥९॥

यह दुष्ट, वाराहरूप धारण करके अर्जुन के मारने का विचार कर रहा था, कि इसी समय गाण्डीव धनुष और सर्प के तुल्य विषैले बाणों को लेकर तथा धनुष चढ़ाकर और धनुष की

टंकार से दिशाओं को शब्दायमान करके अर्जुन बोला ॥८-६॥

यन्मां प्रार्थयसे हन्तुमनागसमिहागतम् ।
तस्मात्त्वां पूर्वमेवाहं नेताद्य यमसादनम् ॥१०॥

जो तुम यहां आये हुए, मुझ निरपराधी को मारना चाहते हो, इससे मैं प्रथम तुमको ही यमराज के यहां पहुंचा देता हूँ ॥१०॥

दृष्ट्वा तं प्रहरिष्यन्तं फाल्गुनं दृढधन्विनम् ।
किरातरूपी सहसा वारयामास शङ्करः ॥११॥

दृढ़ धनुष के धारण करने वाले अर्जुन को ज्योंही प्रहार करता देखा, त्योंही विकराल-रूप-धारी शंकर ने उन्हें रोक दिया ॥११॥

मयैष प्रार्थितः पूर्वमिन्द्रनीलसमप्रभः ।
अनादृत्य च तद्वाक्यं प्रजहाराथ फाल्गुनः ॥१२॥

इन्द्रनील मणि के समान यह वराह मेरा शिकार है, तुम न मारो, परन्तु अर्जुन ने इसकी परवाह न करके उसपर प्रहार कर ही दिया ॥१२॥

किरातश्च समं तस्मिन्नेकलक्ष्ये महाद्युतिः ।
प्रमुमोचाशनिप्रख्यं शरमग्निशिखोपमम् ॥१३॥

इसी समय इसी एक लक्ष्य वराह पर महा-तेजस्वी, किरात ने भी वज्र और अग्नि की शिखा के समान बाण छोड़ दिया ॥१३॥

तौ मुक्तौ सायकौ ताभ्यां समन्तत्र निपेततुः ।
मूकस्य गात्रे विस्तीर्णे शैलसंहनने तदा ॥१४॥

इन दोनों के छोड़े हुए दोनों बाण, उस मूक राक्षस के पर्वत के समान विशाल शरीर पर आकर लगे ॥१४॥

यथाशनेर्विनिर्घोषो वज्रस्येव च पर्वते ।
तथा तयोः सन्निपातः शरयोरभवत्तदा ॥१५॥

जैसे चमकती हुई बिजली का शब्द पर्वत पर होता हैं, वैसा ही शब्द, इन दोनों के बाणों के पतन के समय हुआ ॥१॥

स विद्धो बहुभिर्बाणैर्दीप्तास्यैः पन्नगैरिव ।
ममार राक्षसं रूपं भूयः कृत्वा विभीषणम् ॥१६॥

प्रदीप्त मुख वाले, सर्पों के समान बहुत से बाणों से बिंधकर यह मूक राक्षस, भयानक रूप धारण करके मरगया ॥१६॥

स ददर्श ततो जिष्णुः पुरुषं काञ्चनप्रभम् ।
किरातवेशसंच्छन्नं स्त्रीसहायममित्रहा ॥१७॥

अब शत्रु-विजयी, अर्जुन ने अनेक स्त्रियों के साथ सुवर्ण के तुल्य रूपधारी किरात को देखा ॥१७॥

तमब्रवीत् प्रीतमनाः कौन्तेयः प्रहसन्निव ।
को भवानटते शून्ये वने स्त्रीगणसंवृतः ॥१८॥

इसको देख कर, प्रसन्न होकर हँसते हुए अर्जुन ने कहा, तुम कौन हो और स्त्रियों के साथ इस शून्य वन में कैसे घूमते हो ॥१८॥

न त्वमस्मिन् वने घोरे बिभेषि कनकप्रभ।
किमर्थञ्च त्वया विद्धो वराहो मत्परिग्रहः ॥१६॥

हे सुवर्ण के समान चमकने वाले, पुरुष। तुम इस घोर वन में भी कैसे नहीं डरते हो और तुमने मेरे शिकार शूकर पर, कैसे बाण चला दिया ॥१६॥

मयाभिपन्नः पूर्वं हि राक्षसोऽयमिहागतः।
कामात् परिभवाद्वापि न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ॥२०॥

यह राक्षस भी पूर्व से मुझ पर ही किसी कामना या परिभव के कारण बिगड़ कर यहां आया था, जिससे मैंने इसे जीता नहीं छोड़ा ॥२०॥

न ह्येष मृगयाधर्मो यस्त्वयाद्य कृतो मयि।
तेन त्वां भ्रंशयिष्यामि जीवितात् पर्वताश्रय ॥२१॥

हे पर्वतनिवासिन्! जो यह तुमने किया है, वह मृगया (शिकार) के नियमों के विरुद्ध है, इससे आज मैं तुमको भी अपने जीवन से च्युत कर दूंगा ॥२१॥

इत्युक्तः पाण्डवेयेन किरातः प्रहसन्निव।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा पाण्डवं सव्यसाचिनम् ॥२२॥

जब अर्जुन ने इतना कहा, तो हंसते हुए किरात ने साफ और मधुर वाणी से पाण्डु-पुत्र अर्जुन से कहा ॥२२॥

न मत्कृते त्वया वीर भीः कार्य्या वनमन्तिकात्।
इयं भूमिः सदास्माकमुचिता वसता वने ॥२३॥

हे वीर ! वन में उत्पन्न होने वाले भयों का तुम हमारे विषय में खयाल भी मत करो। वन में रहने वाले, हम लोगों के निवास के योग्य यही भूमि है ॥२३॥

त्वया तु दुष्करः कस्मादिह वासः प्ररोचितः ।
वयन्तु बहुसत्त्वेऽस्मिन्निवसामस्तपोधन ॥२४॥

हे तपोधन ! परन्तु तुमतो बताओ, तुमने यह कठिन वनवास इस भूमि में कैसे स्वीकार किया है। हम तो इस सिंहादि से व्याप्त वन के रहने के अभ्यासी ही हैं ॥२४॥

भवांस्तु कृष्णवर्त्माभः सुकुमारः सुखोचितः ।
कथं शून्यमिमं देशमेकाकी विचरिष्यति ॥२५॥

तुमतो अग्नि के समान तेजस्वी, सुकुमार और सुख के योग्य हो। तुम अकेले ही कैसे इस शून्य वन में अपना निर्वाह करोगे ॥२५॥

अर्जुन उवाच—

गाण्डीवमाश्रयं कृत्वा नाराचांश्चाग्निसन्निभान् ।
निवसामि महारण्ये द्वितीय इव पावकः ॥२६॥

अर्जुन बोला—हे किरात ! मैं गाण्डीव धनुष और अग्नि के समान बाणों का आश्रय लेकर द्वितीय अग्नि के समान इस महा-वन में निवास करता हूं ॥ २६ ॥

एष चापि महाजन्तुर्मृगरूपं समाश्रितः ।
राक्षसो निहतो घोरो हन्तुं मामिह चागतः ॥२७॥

बड़े भारी बनैले जन्तु का रूप धारण करके मुझे मारने को यह राक्षस आया था, जिसे मैंने मारकर गिरा दिया ॥२७॥

किरात उवाच—

मयैष धनुर्निर्मुक्तैस्ताडितः पूर्वमेव हि ।
बाणैरभिहतः शेते नीतश्च यमसादनम् ॥२८॥

किरात ने कहा—हे अर्जुन ! मैंने इसको अपने धनुष से छोड़े हुए बाणों से प्रथम ही बींध लिया था। इन्हीं बाणों से घायल होकर यह लेट गया है। मैंने ही इसको यमराज के घर का अतिथि बनाया है ॥२८॥

ममैष लक्ष्यभूतो हि मम पूर्वपरिग्रहः ।
ममैव च प्रहारेण जीविताद्व्यपरोपितः ॥२९॥

अर्जुन ने कहा—यह तो मेरा ही लक्ष्य हुआ है, क्योंकि इसकी मेरी पूर्व से ही टक्करें थी। यह तो मेरे ही बाण से अपने जीवन रहित हुआ है ॥२९॥

दोषान् स्वान्नार्हसेऽन्यस्मै वक्तुं स्वबलदर्पितः ।
अवलिप्तोऽसि मन्दात्मन् न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ॥३०

हे मूर्ख ! अपने बल के घमण्ड में आकर अपने दोषों को अन्य पर मत डाल। तू बड़ा अभिमानी हो रहा है, मैं तुझे भी जीवित नहीं जाने दूंगा ॥३०॥

स्थिरो भवस्व मोक्ष्यामि सायकानशनीरिव ।
घटस्व परया शक्त्या मुञ्च त्वमपि सायकान् ॥३१॥

किरात बोला ! तू ठहर, मैं अभी वज्र के समान बाण छोड़ता हूं । तू अपनी पूरी शक्ति लगाने और अपने बाणों से अच्छी तरह प्रहार कर ॥३१॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा किरातस्यार्जुनस्तदा ।
रोषमाहारयामास ताडयामास चेषुभिः ॥३२॥

किरात का इतना वचन सुनते ही अर्जुन, बड़ा कुपित हुआ और बाणों से प्रहार करने लगा ॥३२॥

ततो हृष्टेन मनसा प्रतिजग्राह सायकान् ।
भूयोभूय इति प्राह मन्दमन्देत्युवाच ह ॥३३॥

किरात ने प्रसन्न मन से इन बाणों का सहन किया और कहा—मूर्ख ! और प्रहार कर, मूर्ख ! फिर प्रहार कर, ॥३३॥

प्रहरस्व शरानेतान्नाराचान्मर्मभेदिनः ।
इत्युक्तो बाणवर्षं स मुमोच सहसार्जुनः ॥३४॥

तू अब इन मर्म भेदी सारे बाणों को छोड़ले । यह सुनते ही अर्जुन ने बाण-वर्षा करना आरम्भ की ॥३४॥

ततस्तौ तत्र संरब्धौ गर्जमानौ मुहुर्मुहुः ।
शरैराशीविषाकारैस्ततक्षाते परस्परम् ॥३५॥

अब दोनों वीर, क्रोध में भरगये और बार २ गर्जना करने लगे तथा सर्पाकार शरों से एक दूसरे पर प्रहार करने लगे ॥३५॥

ततोऽर्जुनः शरवर्षं किराते समवासृजत् ।
तत् प्रसन्नेन मनसा प्रतिजग्राह शङ्करः ॥३६॥

अर्जुन ने किरात पर बाणों की झड़ी लगादी, परन्तु किरात-रूप-धारी शङ्कर ने सबको प्रसन्नचित्त से सहन करलिया ॥३६॥

मुहूर्त्तं शरवर्षं तत् प्रतिगृह्य पिनाकधृक् ।
अक्षतेन शरीरेण तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥३७॥

पिनाक नामक धनुष के धारण करने वाले, शङ्कर ने थोड़ी देर तक इस बाण वर्षा को धारण किया, परन्तु फिर भी अचल पर्वत की भांति अक्षत शरीर से खड़ा रहा ॥३७॥

स दृष्ट्वा बाणवर्षन्तु मोघीभूतं धनञ्जयः ।
परमं विस्मयञ्चक्रे साधु साध्विति चाब्रवीत् ॥३८॥

अब अर्जुन ने अपनी बाण-वर्षा निष्फल जाते देखा, तो बड़ा चकित हुआ, और धन्य धन्य शब्द का उच्चारण करने लगा ॥३८॥

अहोऽयं सुकुमाराङ्गो हिमवच्छिखराश्रयः ।
गाण्डीवमुक्तान्नाराचान् प्रतिगृह्णात्यविह्वलः ॥३६॥

यह बड़े अश्चर्य की बात है, कि यह सुकुमार शरीर धारी किरात, हिमालय की चोटी के समान दृढ है, जिसने बिना व्याकुल हुए, गाण्डीव से छोड़ हुए बाणों को भी सहन कर लिया है ॥३६॥

कोऽयं देवो भवेत् साक्षात् रुद्रो यक्षः सुरोऽसुरः ।
विद्यते हि गिरिश्रेष्ठे त्रिदशानां समागमः ॥४०॥

यह या तो साक्षात् रुद्र है या कोई देव या असुर है, क्योंकि इस पर्वत पर देवों का विचरना सब तरह सम्भव है ॥४०॥

न हि मद्बाणजालानामुत्सृष्टानां सहस्रशः ।
शक्तोऽन्यः सहितुं वेगमृते देवं पिनाकिनम् ॥४१॥

अनेक प्रकार से छोड़े हुए मेरे बाणों के वेग को बिना भगवान् शङ्कर के अन्य कोई नहीं सह सकता है ॥४१॥

देवो वा यदि वा यक्षो रुद्रादन्यो व्यवस्थितः ।
अहमेनं शरैस्तीक्ष्णैर्नयामि यमसादनम् ॥४२॥

यदि शङ्कर से अन्य कोई देव या यक्ष भी होगा, तो भी म इन तीक्ष्ण बाणों से इसको यम के धाम पहुंचा सकता हूँ ॥४२॥

ततो हृष्टमना जिष्णुर्नाराचान्मर्मभेदिनः ।
व्यसृजच्छतधा राजन् मयूखानिव भास्करः ॥४३॥

हे राजन् ! यह सोचकर प्रसन्न हुए अर्जुन ने सूर्य की किरणों के समान-मर्म भेदी बाण अनेक प्रकार से छोड़े ॥४३॥

तान् प्रसन्नेन मनसा भगवान् लोकभावनः ।
शूलपाणिः प्रत्यगृह्णाच्छिलावर्षमिवाचलः ॥४४॥

इन बाणों को भी लोकों के स्वामी भगवान् शूलपाणि, शङ्कर ने ओलों की वर्षा को पर्वत के समान प्रसन्न मन से सह लिया ॥४४॥

क्षणेन क्षीणबाणोऽथ संवृत्तः फाल्गुनस्तदा ।
भीश्चैनमाविशत्तीव्रा तं दृष्ट्वा शरसङ्क्षयम् ॥४५॥

थोड़ी देर में अर्जुन के बाण खतम होगये । इस प्रकार बाणों की समाप्ति देखकर अर्जुन अत्यन्त भयभीत हुआ ॥४५।

चिन्तयामास जिष्णुश्च भगवन्तं हुताशनम् ।
पुरस्तादक्षयौ दत्तौ तूणौ येनास्य खाण्डवे ॥४६॥

इस समय अर्जुन ने भगवान् अग्नि का स्मरण किया, जिसने खाण्डव वन के दाह के समय ये दोनों क्षीण नहीं होने वाले तूणीर (तरकस) प्रदान किये थे ॥४६॥

किं नु मोक्ष्यामि धनुषा यन्मे बाणाः क्षयं गताः ।
अयञ्च पुरुषः कोऽपि बाणान् ग्रसति सर्वशः ॥४७॥

अब मैं धनुष से क्या छोडूंगा क्योंकि बाण तो मेरे क्षीण हो चुके । यह पुरुष तो मेरे सारे बाणों को सब ओर से ग्रसित कर रहा है ॥४७॥

हत्वा चैनं धनुष्कोट्या शूलाग्रेणेव कुञ्जरम् ।
नयामि दण्डधारस्य यमस्य सदनं प्रति ॥४८॥

इसको धनुष के अग्र भाग से अंकुश से हाथी के समान मार कर दण्डधारी यम के घर पहुंचा दूंगा ॥४८॥

प्रगृह्याथ धनुष्कोट्या ज्यापाशेनावकृष्य च ।
मुष्टिभिश्चापि हतवान् वज्रतुल्यैर्महाद्युतिः ॥४९॥

अब अर्जुन ने इस किरात को धनुप के अग्र भाग से पकड़ा और धनुप की डोरी के बल से अपनी ओर खैंचा। इसके सिवा इस तेजस्वी ने वज्र तुल्य मुष्टिक से इस पर प्रहार किया ॥४६॥

संप्रयुद्धो धनुष्कोटया कौन्तेयः परवीरहा ।
तदप्यस्य धनुर्दिव्यं जग्राह गिरिगोचरः ॥५०॥

इस समय शत्रु-विजयी अर्जुन; धनुप की कोटि से ही युद्ध कर रहा था। अब इसके धनुप को भी इस किरात ने पकड़ लिया ॥ ५० ॥

ततोऽर्जुनो ग्रस्तधनुः खड्गपाणिरतिष्ठत ।
युद्धस्यान्तमभीप्सन् वै वेगेनाभिजगाम तम् ॥५१

अब अर्जुन का धनुप भी रुक गया, तब यह खड्ग लेकर खड़ा हो गया। इस समय अर्जुन इसको मारकर युद्ध का अन्त कर देना चाहता था, इससे उसकी ओर वेग से दौड़ा ॥ ५१ ॥

तस्य मूर्ध्नि शितं खड्गमसक्तं पर्वतेष्वपि ।
मुमोच भुजवीर्य्येण विक्रम्य कुरुनन्दनः ॥५२॥

कुरुनन्दन अर्जुन ने पर्वतों में भी नहीं रुकने वाले, तीव्र खड्ग को अपनी भुजाओं का बल लगाकर बड़े जोर से मारा ५२

तस्य मूर्द्धानमासाद्य पफालासिवरो हि सः ।
ततो वृक्षैः शिलाभिश्च योधयामास फाल्गुनः ॥५३॥

उसके मस्तक पर पड़ते ही उस तीव्र तलवार के टुकड़े २ हो गए। अब अर्जुन, वृक्ष और शिलाओं से युद्ध करने लगा ॥५३

तदा वृक्षान्महाकायः प्रत्यगृह्णादथो शिलाः ।
किरातरूपी भगवांस्ततः पार्थो महाबलः ॥५४॥
मुष्टिभिर्वज्रसङ्काशैर्धूममुत्पादयन् मुखे ।
प्रजहार दुराधर्षे किरातसमरूपिणि ॥५५॥

इस महा-शरीर-धारी, किरात रूपी शङ्कर ने वे वृक्ष और शिलाएँ भी सहन करली। तब महाबली अर्जुन ने, वज्र के तुल्य मुष्टियों से प्रहार किया, जिससे किरात के समान रूपधारी शिवके भयानक मुख से धुआं निकलने लगी ॥ ५४-५५ ॥

ततः शक्राशनिसमैर्मुष्टिभिर्भृशदारुणैः ।
किरातरूपी भगवानर्दयामास पाण्डवम् ॥५६॥

अब इन्द्र के वज्र के तुल्य कठिन और अत्यन्त दारुण मुष्टियों से किरात वेषधारी शङ्कर ने प्रहार करना आरम्भ किया।

ततश्चटचटाशब्दः सुघोरः समपद्यत ।
पाण्डवस्य च मुष्टीनां किरातस्य च युध्यतः ॥५७॥

इस समय पाण्डुपुत्र अर्जुन और किरात के युद्ध के समय मुष्टियों से महाघोर चट चट शब्द होने लगा ॥ ५७ ॥

सुमुहूर्त्तन्तु तद्युद्धमभवल्लोमहर्षणम् ।
भुजप्रहारसंयुक्तं वृत्रवासवयोरिव ॥५८॥

कुछ देर तक वृत्रासुर और इन्द्र के युद्ध के तुल्य भुजाओं के प्रहार से युक्त, लोमों को खड़ा कर देने वाला, इन दोनों का युद्ध होने लगा ॥ ५८ ॥

जघानाथ ततो जिष्णुः किरातमुरसा बली ।

पाण्डवञ्च विचेष्टन्तं किरातोऽप्यहनद्बली ॥५६॥

महाबली अर्जुन ने किरात की छाती में मुक्का जमाया और महा-बली किरात ने भी अर्जुन के ऊपर मुष्टि का प्रहार किया ५६

तयोर्भुजविनिष्पेषात् सङ्घर्षेणोरसोस्तथा ।

समजायत गात्रेषु पावकोऽपारधूमवान् ॥६०॥

इन दोनों की भुजाओं की टक्कर और छाती की रगड़ से इन के शरीर में अपार धूम वाला अग्नि, उत्पन्न हुआ ॥ ६० ॥

तत एनं महादेवः पीड्य गात्रैः सुपीडितम् ।

तेजसा व्यक्रमद्रोषाच्चेतस्तस्य विमोहयन् ॥६१॥

महादेव ने अत्यन्त पीड़ा देते हुए इसके शरीर को भींच डाला और अपने तेज से इस पर आक्रमण किया । इसने अपने क्रोध से इसके चित्त को मोहितसा कर डाला ॥ ६१ ॥

ततोऽतिपीडितैर्गात्रैः पिण्डीकृत इवाबभौ ।

फाल्गुनो गात्रसंरुद्धो देवदेवेन भारत ॥६२॥

हे भारत ! अत्यन्त पीड़ित शरीर से अर्जुन पिण्ड सा प्रतीत होने लगा । देवों के देव शङ्कर ने, अर्जुन का शरीर सब ओर से संकुचित सा कर दिया था ॥ ६२ ॥

निरुच्छ्वासोऽभवच्चैव सन्निरुद्धो महात्मना ।

पपात भूम्यां निश्चेष्टो गतसत्त्व इवाभवत् ॥६३॥

इस महात्मा किरात से जकड़े हुए अर्जुन का सांस टूट गया। वह भूमि पर बेहोश होकर गिर गया और मृतक सा होगया ॥६३

स मुहूर्तन्तथा भूत्वा सचेताः पुनरुत्थितः।
रुधिरेणाप्लुताङ्गस्तु पाण्डवो भृशदुःखितः ॥६४॥

वह थोड़ी देर मूर्छित रहा और फिर सचेत होकर खड़ा हो गया। इस समय अर्जुन का सारा शरीर रुधिर में भीग गया था और अत्यन्त क्लेशित हो रहा था ॥ ६४ ॥

शरण्यं शरणं गत्वा भगवन्तं पिनाकिनम्।
मृन्मयं स्थण्डिलं कृत्वा माल्येनापूजयद्भवम् ॥६५॥

अब वह शरणागत-वत्सल भगवान शङ्कर की शरण में गया, इसने मृत्तिका की वेदी बनाई, जिस पर मालाओं से भगवान् शङ्कर की पूजा की ॥ ६५ ॥

तच्च माल्यं तदा पार्थः किरातशिरसि स्थितम्।
अपश्यत् पाण्डवश्रेष्ठो हर्षेण प्रकृतिङ्गतः ॥६६॥

अर्जुन ने जब वह माला भी किरात के शिर पर ही देखी, तो वह, बड़ा हर्षित हुआ। अब इस पाण्डव-श्रेष्ठ का दिमाग ठिकाने आया ॥ ६६ ॥

पपात पादयोस्तस्य ततः प्रीतोऽभवद्भवः।
उवाच चैनं वचसा मेघगम्भीरगीर्हरः।
जातविस्मयमालोक्य तपःक्षीणाङ्गसंहतिम् ॥६७॥

वह किरात के चरणों में गिर पड़ा; जिससे भगवान् शङ्कर प्रसन्न हो गए। पवित्र और गम्भीर-वाणी-वाले शङ्कर ने, तप से क्षीण-शरीर-धारी अर्जुन को देख कर कहा—॥ ६७ ॥

भव उवाच—

भो भो फाल्गुन तुष्टोऽस्मि कर्मणाप्रतिमेन ते ।
शौर्येणानेन धृत्या च क्षत्रियो नास्ति ते समः ॥६८॥

शङ्कर बोले—हे अर्जुन ! तेरे इस अद्भुत कर्म से मैं प्रसन्न हो गया हूँ। तेरे समान पराक्रम और धैर्य को धारण करने वाला अन्य क्षत्रिय नहीं है ॥ ६८ ॥

समं तेजश्च वीर्यञ्च ममाद्य तव चानघ ।
प्रीतस्तेऽहं महाबाहो पश्य मां भरतर्षभ ॥६९॥

हे अनघ ! आज से मेरा और तेरा पराक्रम समान गिना जावेगा। हे भरतर्षभ ! मैं तुझसे प्रसन्न हो गया हूँ, अब तू मेरा मुख्य रूप देख ले ॥ ६९ ॥

ददामि ते विशालाक्ष चक्षुः पूर्वऋषिर्भवान् ।
विजेष्यसि रणे शत्रूनपि सर्वान् दिवौकसः ॥७०॥

हे विशाल-नेत्र-धारी ! अर्जुन ! मैं तुझे दिव्य-चक्षु प्रदान करता हूँ, क्योंकि तू पूर्वजन्म का ऋषि है। तुम रण में सारे शत्रुओं को जान लोगे, चाहे वे देवता ही क्यों न हों ॥ ७० ॥

प्रीत्या च तेऽहं दास्यामि यदस्त्रमनिवारितम् ।
त्वं हि शक्तो मदीयं तदस्त्रं धारयितुं क्षणात् ॥७१॥

अब मैं तुझे नहीं रुकने वाले दिव्य अस्त्रों को प्रदान करता हूं, क्योंकि तू मेरे दिव्य अस्त्रों को क्षण भर में धारण कर सकता है ॥ ७१ ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततो देवं महादेवं गिरिशं शूलपाणिनम् ।
ददर्श फाल्गुनस्तत्र सह देव्या महाद्युतिम् ॥७२॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! अर्जुन ने देवों के देव, कैलाश वासी, शूलपाणि, महा-तेजस्वी, भगवान् शङ्कर को अपनी देवी पार्वती के साथ देखा ॥ ७१ ॥

स जानुभ्यां महीं गत्वा शिरसा प्रणिपत्य च ।
प्रसादयामास हरं पार्थः परपुरञ्जयः ॥७३॥

वह अर्जुन, गोडे टेककर भूमि पर बैठ गया और शिर झुकाकर प्रणाम करने लगा। इस शत्रुविजयी अर्जुन ने इस प्रकार महादेव को प्रसन्न कर लिया ॥ ७३ ॥

अर्जुन उवाच—

कपर्दिन् सर्वदेवेश भगनेत्रनिपातन ।
देव देव महादेव नीलग्रीव जटाधर ।
कारणानाञ्च परमं जाने त्वां त्र्यम्बकं विभुम् ॥७४॥

अर्जुन बोले—हे कपर्दिन्! आप सब देवों के ईश और भग देवता के नेत्र निकाल लेने वाले हो। हे देवों के देव, महादेव, आप नीली ग्रीवा के धारण करने वाले, जटाधारी हो। तुम सर्वव्यापक शिव को मैं सब कारणों का कारण जानता हूं ७४

देवानाञ्च गतिं देव त्वत्प्रसूतमिदं जगत् ।
अजेयस्त्वं त्रिभिर्लोकैः सदेवासुरमानुषैः ॥७५॥

हे देव ! तुम सब देवों की गति हो और तुम से ही यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। तुम तीनों लोकों के देव, असुर और मनुष्यों से नहीं जीते जा सकते हो ॥ ७५ ॥

शिवाय विष्णुरूपाय विष्णवे शिवरूपिणे ।
दक्षयज्ञविनाशाय हरिरुद्राय वै नमः ॥७६॥

शिव, विष्णु रूप और विष्णु, शिव रूप हैं। दक्ष यज्ञ के नाश करने वाले; हरिरूप शिव आपको नमस्कार है ॥ ७६ ॥

ललाटाक्षाय शर्वाय मीढुषे शूलपाणये ।
पिनाकगोप्त्रे सूर्य्याय मार्ज्जालीयाय वेधसे ॥७७॥

ललाट में नेत्रधारी, कल्याणकारी, शक्तिशाली, शूलपाणि, पिनाकधारी, सूर्यरूप, जगत् के रचयिता, पापों से शुद्ध करने वाले आपको नमस्कार है ॥,७७ ॥

प्रसादये त्वां भगवन् सर्वभूतमहेश्वर ।
गणेशं जगतः शम्भुं लोककारणकारणम् ॥७८॥

प्रधानपुरुषातीतं परं सूक्ष्मतरं हरम् ।
व्यतिक्रमं मे भगवन् क्षन्तुमर्हसि शङ्कर ॥७९॥

हे भगवन् ! आप सब प्राणियों के स्वामी, समस्त जीवों के प्रभु, जगत के कल्याण कर्ता और लोकों के कारण (प्रकृति) के भी कारण हो। आप प्रकृति और पुरुष से भी उत्कृष्ट और अत्यन्त सूक्ष्म, परमेश्वर हो। मैं आपको प्रसन्न करता हूँ। हे शङ्कर ! आप मेरे अपराध को क्षमा करें ॥ ७८-७९ ॥

भगवद्दर्शनाकाङ्क्षी प्राप्तोऽस्मीमं महागिरिम् ।
दयितं तव देवेश तापसालयमुत्तमम् ॥८०॥

हे भगवन् ! मैं तो आपके दर्शनों की इच्छा से ही इस पर्वत पर आया हूं । हे देवेश ! यह तपस्वियों का स्थान आपका बड़ा प्रिय है ॥ ८० ॥

प्रसादये त्वां भगवन् सर्वलोकनमस्कृतम् ।
न मे स्यादपराधोऽयं महादेवातिसाहसात् ॥८१॥

हे भगवन् ! आपको सब लोक, नमस्कार करते हैं । मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ । हे महादेव ! अत्यन्त साहस के कारण किये हुए आप इस अपराध का ध्यान न करें ॥ ८१ ॥

कृतो मयायमज्ञानात् विमर्दो यस्त्वया सह ।
शरणं प्रतिपन्नाय तत् क्षमस्वाद्य शङ्कर ॥८२॥

आपके साथ जो यह युद्ध किया है, यह अज्ञान से हो गया है । हे शङ्कर ! अब मैं आपकी शरण हूँ, आप क्षमा करें ॥८२॥

वैशम्पायन उवाच—

तमुवाच महातेजाः प्रहस्य वृषभध्वजः ।
प्रगृह्य रुचिरं बाहुं क्षान्तमित्येव फाल्गुनम् ॥८३॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! महातेजस्वी भगवान् शङ्कर ने हंसकर और अर्जुन की सुन्दर भुजा पकड़कर कहा—कि मैंने तुम्हारा अपराध क्षमा किया ॥ ८३ ॥

परिष्वज्य च बाहुभ्यां प्रीतात्मा भगवान् हरः ।
पुनः पार्थं सान्त्वपूर्वमुवाच वृषभध्वजः ॥८४॥

इति आरण्यपर्वणि कैरातपर्वणि महादेवस्तवे
एकोनचत्वारिंशोऽध्याय: ॥३९॥

प्रसन्न हुए, भगवान् शङ्कर ने अर्जुन का आलिङ्गन करके फिर शान्ति के साथ यह वचन कहा—॥ ८४ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत कैरात पर्व में
श्री महादेव जी की स्तुति का उनचालीसवां
अध्याय समाप्त हुआ ।



चालीसवां अध्याय

देवदेव उवाच—

नरस्त्वं पूर्वदेहे वै नारायणसहायवान् ।
बदर्य्यां तप्तवानुग्रं तपो वर्षायुतान् बहून् ॥१॥

महादेव बोले—हे अर्जुन ! तुम नारायण के साथी नर नामक ऋषि थे । तुमने बदरिकाश्रम में हजारों वर्ष तक उग्र तप किया है ॥१॥

त्वयि वा परमं तेजो विष्णौ वा पुरुषोत्तमे ।
युवाभ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां तेजसा धार्य्यते जगत् ॥२॥

उत्तम तेज, या तो तुम में है, या पुरुषोत्तम विष्णु में ही है । तुम दोनों महा-पुरुषों के तेज से ही इस सारे जगत् की स्थिति है ॥२॥

शक्राभिषेके सुमहद्धनुर्जलदनिःस्वनम् ।
प्रगृह्य दानवाः शस्तास्त्वया कृष्णेन च प्रभो ॥३॥

हे शक्तिशालिन् ! खाण्डव दाह में इन्द्र के जल-वर्षा की झड़ी लगाने के समय, मेघ की गर्जना के तुल्य घोष वाले विशाल धनुष को लेकर तुमने और कृष्ण ने अनेक दानवों को काट गिराया ॥३॥

तदेतदेव गाण्डीवं तव पार्थ करोचितम् ।
मायामास्थाय यद्ग्रस्तं मया पुरुषसत्तम ॥४॥

हे पार्थ ! यह गाण्डीव धनुष, तेरे हाथ के सदृश ही है। हे पुरुषसत्तम ! मैंने माया का आश्रय लेकर इसकी शक्ति को ग्रस लिया था ॥४॥

तूणौ चाप्यक्षयौ भूयस्तव पार्थ यथोचितौ ।
भविष्यति शरीरञ्च नीरुजं कुरुनन्दन ॥ ५ ॥

हे अर्जुन ! ये तूणीर (तरकस) भी बड़े अक्षय हैं, और तेरे स्वरूप के अनुरूप हैं। हे कुरुनन्दन ! तेरा शरीर आगे प्रत्येक बाधाओं से रहित होगा ॥५॥

प्रीतिमानस्मि ते पार्थ भवान् सत्यपराक्रमः ।
गृहाण वरमस्मत्तः काङ्क्षितं पुरुषोत्तम ॥ ६ ॥

हे पार्थ ! मैं तुझसे बड़ा प्रसन्न हूँ, क्योंकि तू सच्चा पराक्रमी है। हे पुरुषोत्तम ! तुझे जो वर चाहिए, वह मुझसे मांगले ॥६॥

न त्वया पुरुषः कश्चित् पुमान् मर्त्येषु मानद ।
दिवि वा वर्त्तते क्षत्रं त्वत्प्रधानमरिन्दम ॥ ७ ॥

हे मनस्विन्! तेरे समान इस मृत्युलोक में कोई अन्य पुरुष वीर नहीं होगा। हे अरिन्दम! इसी तरह स्वर्ग में भी तुझसे अधिक कोई क्षत्रिय नहीं है ॥७॥

अर्जुन उवाच—

भगवन् ददासि चेन्मह्यं कामं प्रीत्या वृषध्वज ।
कामये दिव्यमस्त्रं तद्घोरं पाशुपतं प्रभो ॥ ८ ॥

अर्जुन बोले—हे भगवन्! शङ्कर! यदि आप प्रसन्नता से मुझे वरदान ही देना चाहते हैं, तो मैं आपके घोर पाशुपत दिव्य अस्त्र को लेना चाहता हूँ ॥८॥

यत्तु ब्रह्मशिरो नाम रौद्रं भीमपराक्रमम् ।
युगान्ते दारुणे प्राप्ते कृत्स्नं संहरते जगत् ॥९॥

जो आपका ब्रह्म-शिरा नामक भयानक पराक्रम-धारी, भीषण अस्त्र है। जो दारुण प्रलय के समय के प्राप्त होने पर जगत् का संहार करता है, उसे मुझे प्रदान कीजिए ॥९॥

कर्णभीष्मकृपद्रोणैर्भविता तु महाहवः ।
त्वत्प्रसादान्महादेव जयेयं तान् यथाविधि ॥१०॥

कर्ण, भीष्म, कृप, द्रोण आदि से मेरा संग्राम होगा, हे महादेव! आपकी कृपासे मैं उनको ठीक २ जीत लूं-ऐसा करो ॥१०॥

दहेयं येन संग्रामे दानवान्राक्षसांस्तथा ।
भूतानि च पिशाचांश्च गन्धर्वानथ पन्नगान् ॥११॥

संग्राम में जिस शस्त्र से मैं, दानव, राक्षस, भूत, पिशाच, गन्धर्व और पन्नगों को जला सकूं ॥११॥

यस्मिन् शूलसहस्राणि गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ।
शराश्चाशीविषाकाराः सम्भवन्त्यनुमन्त्रिते ॥१२॥

जिसके स्मरण करते ही सहस्रों शूल, भयानक गदाएँ सर्पाकार शर, उत्पन्न होते हैं ॥१२॥

युध्येयं येन भीष्मेण द्रोणेन च कृपेण च ।
सूतपुत्रेण च रणे नित्यं कटुकभाषिणा ॥१३॥

जिस अस्त्र से मैं भीष्म, द्रोण, कृप और कटुभाषी कर्ण से रण में लड़ सकूँ, उस पाशुपतास्त्र को मुझे प्रदान करो ॥१३॥

एष मे प्रथमः कामो भगवन् भगनेत्रहन् ।
त्वत्प्रसादाद्विनिर्वृत्तः समर्थः स्यामहं यथा ॥१४॥

भग देवता के नेत्र उखाड़ने वाले, भगवान, शङ्कर! यही मेरी प्रथम कामना है। तेरी कृपा से मैं निश्चिन्त हो जाऊं और सब तरह से समर्थ होऊं, ऐसी कृपा करो ॥१४॥

भव उवाच—

ददामि तेऽस्त्रं दयितमहं पाशुपतं विभो ।
समर्थो धारणे मोक्षे संहारे चासि पाण्डव ॥१५॥

शिवजी बोले—हे शक्तिशाली! मैं तुझे अपने प्रिय पाशुपतास्त्र को देता हूं। हे अर्जुन! तू इस शस्त्र के धारण, संहार और छोड़ने में सब तरह समर्थ है ॥१५॥

नैतद्वेद महेन्द्रोऽपि न यमो न च यक्षराट्।
वरुणोऽप्यथ वा वायुः कुतो वेत्स्यन्ति मानवाः ॥१६॥

इस शस्त्र का चलाना-इन्द्र, यक्ष, वरुण या वायु आदि कोई भी देवता नहीं जानता है, फिर मनुष्य तो जान ही कैसे सकते हैं ॥१६॥

न त्वेतत् सहसा पार्थ मोक्तव्यं पुरुषे क्वचित्।
जगद्विनाशयेत् सर्वमल्पतेजसि पातितम् ॥१७॥

हे पार्थ! इस अस्त्र को तुम किसी पर भी विना विचारे न छोड़ बैठना, क्योंकि अल्प तेज वाले पर छोड़ा हुआ यह अस्त्र जगत् का विनाश कर डालता है ॥१७॥

अवध्यो नाम नास्त्यस्य त्रैलोक्ये सचराचरे।
मनसा चक्षुषा वाचा धनुषा च निपात्यते ॥१८॥

इस अस्त्र से इस चराचर जगत् में कोई भी अवध्य नहीं है। तुम, मन, चक्षु वाणी और धनुष किसी से भी अपने वध्य को मार सकोगे ॥१८॥

वैशम्पायन उवाच—

तच्छ्रुत्वा त्वरितः पार्थः शुचिर्भूत्वा समाहितः।
उपसङ्गम्य विश्वेशमधीष्वेत्यथ सोऽब्रवीत् ॥१९॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! यह सुनकर अर्जुन, शीघ्र ही पवित्र होकर सावधान होगया और भगवान् विश्वनाथ के पास जाकर कहा—कि सिखाइये ॥१६॥

ततस्त्वध्यापयामास सरहस्यनिवर्त्तनम् ।
तदस्त्रं पाण्डवश्रेष्ठं मूर्तिमन्तमिवान्तकम् ॥२०॥

भगवान् शिव ने चलाने लौटाने के रहस्यों के सहित, मूर्तिमान् काल के तुल्य, अर्जुन को सारे अस्त्र का प्रयोग सिखा दिया ॥२०॥

उपतस्थे च तत्पार्थं यथा त्र्यक्षमुपापतिम् ।
प्रतिजग्राह तच्चापि प्रीतिमानर्जुनस्तदा ॥२१॥
ततश्चचाल पृथिवी सपर्वतवनद्रुमा ।
ससागरवनोद्देशा सग्रामनगराकरा ॥२२॥

यह अस्त्र भी जैसे उमापति शिवजी के पास था, उसी तरह अर्जुन के समीप स्थित होगया। अर्जुन ने बड़ी प्रसन्नता से उस अस्त्र को स्वीकार किया। इस समय पर्वत, वन, वृक्ष, समुद्र, वनप्रदेश, ग्राम, नगर, आकर (खान) आदि के सहित सारी पृथिवी डगमगाने लगी ॥२२॥

शङ्खदुन्दुभिघोषाश्च भेरीणाञ्च सहस्रशः ।
तस्मिन् मुहूर्ते संप्राप्ते निर्घाताश्चापतन्मुहुः ॥२३॥

इस समय शङ्ख, दुन्दुभियों के तथा भेरियों के अनेक प्रकारके शब्द होने लगे ॥२३॥

अथास्त्रं जाज्वलद्घोरं पाण्डवस्यामितौजसः ।
मूर्तिमद्वै स्थितं पार्श्वे ददृशुर्देवदानवाः ॥२४॥

अत्यन्त तेजस्वी, अर्जुन के पास यह शस्त्र चमकने लगा। यह अस्त्र मूर्तिमान होकर अर्जुन के पास स्थित हुआ, जिसको सारे देव और दानवों ने देखा ॥२४॥

स्पृष्टस्य त्र्यम्बकेनाथ फाल्गुनस्यामितौजसः ।
यत्किञ्चिदशुभं देहे तत् सर्वं नाशमीयिवत् ॥२५॥

जब भगवान् शङ्कर ने, अति-ओजस्वी अर्जुन के देह का अपने हाथ से स्पर्श किया, तो जो कुछ इसकी देह में अशुभ था, वह भी सब कुछ नष्ट होगया ॥२५॥

स्वर्गं गच्छेत्यनुज्ञातस्त्र्यम्बकेन तदार्ज्जुनः ।
प्रणम्य शिरसा राजन् प्राञ्जलिर्देवमैक्षत ॥२६॥

हे राजन्! शङ्कर ने अर्जुन को आज्ञा दी, कि तुम स्वर्ग की सैर कर आवो। अर्जुन ने शिर झुका कर प्रणाम किया और भक्ति से शिवजी की ओर देखा ॥२६॥

ततः प्रभुस्त्रिदिवनिवासिनां वशी महाद्युतिर्गिरिशउमापतिःशिवः
धनुर्महद्दितिजपिशाचसूदनं ददौ भवः पुरुषवराय गाण्डिवम् ॥

इसके अनन्तर देवों के स्वामी, महा-कान्तिमान्, कैलाश वासी, उमापति, काम-विजयी, भगवान् शङ्कर ने राक्षस और पिशाचों के नाशक महा धनुष को पुरुष-श्रेष्ठ अर्जुन के लिये प्रदान किया ॥२७॥

ततः शुभं गिरिवरमीश्वरस्तदा सहोमया सिततटसानुकन्दरम्
विहाय तं पतगमहर्षिसेवितं जगाम खं पुरुषवरस्य पश्यतः

इति आरण्यपर्वणि कैरातपर्वणि शिवप्रस्थाने
चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

अब पार्वती के साथ शिवजी, इस सुन्दर श्वेत तट, चोटी और कन्दरा वाले, पक्षी और मुनिजनों से सेवित, इस पर्वत को छोड़कर अर्जुन के देखते २ आकाश को उड़ गए ॥२८॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत कैरात-पर्व में
शिवजी के प्रस्थान का चालीसवां अध्याय
समाप्त हुआ।



इकतालीसवाँ अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

तस्य सम्पश्यतस्त्वेव पिनाकी वृषभध्वजः ।
जगामादर्शनं भानुर्लोकस्येवास्तमीयिवान् ॥१॥

वैशम्पायन कहने लगे—हे राजन्! अर्जुन के देखते २ पिनाक धारी भगवान् शङ्कर, इस प्रकार छुप गए, जैसे संसार के देखते २ सूर्य छुप जाता है ॥१॥

ततोऽर्जुनः परञ्चक्रे विस्मयं परवीरहा ।
मया साक्षान्महादेवो दृष्ट इत्येव भारत ॥२॥

हे भारत ! शत्रुओं के नाशक, अर्जुन को यह बड़ा हर्ष हो रहा था, कि मैंने साक्षात् भगवान् शङ्कर के दर्शन कर लिए ॥२॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यन्मया त्र्यम्बको हरः ।
पिनाकी वरदो रूपी दृष्टः स्पृष्टश्च पाणिना ॥३॥

मैं धन्य हूँ या मेरे ऊपर भगवान ने बड़ी कृपा की है, जो मैंने तीन नेत्र धारी, धनुर्धर, वरदायी भगवान् शङ्कर के दर्शन कर लिये और उन्होंने मुझे अपने हाथ से स्पर्श किया ॥३॥

कृतार्थश्चावगच्छामि परमात्मानमाहवे ।
शत्रूंश्च विजितान् सर्वान् निर्वृत्तश्च प्रयोजनम् ॥४॥

परमेश्वर के युद्ध में दर्शन करके मैं अपने को कृतार्थ जानता हूँ । अब मैंने मानो सारे शत्रुओं को जीत लिया और मेरा प्रयोजन सिद्ध ही होगया है ॥४॥

इत्येवं चिन्तयानस्य पार्थस्यामिततेजसः ।
ततो वैदूर्यवर्णाभो भासयन् सर्वतो दिशः ॥५॥
यादोगणवृतः श्रीमानाजगाम जलेश्वरः ।
नागैर्नदैर्नदीभिश्च दैत्यैः साध्यैश्च दैवतैः ॥६॥
वरुणो यादसां भर्त्ता वशी तं देशमागमत् ।

इस प्रकार विचार करते हुए, अत्यन्त, तेजस्वी, अर्जुन के पास वैडूर्यमणि के समान सब दिशाओं को चमकाता हुआ जल जन्तुओंसे युक्त, जलेश्वर तथा जल जन्तुओं का स्वामी वरुण, नाग, नद, नदी, दैत्य, साध्य, देवताओं के साथ उस प्रदेश में आया ।

अथ जाम्बूनदवपुर्विमानेन महार्चिषा ॥७॥
कुबेरः समनुप्राप्तो यक्षैरनुगतः प्रभुः।
विद्योतयन्निवाकाशमद्भुतोपमदर्शनः ॥८॥
धनानामीश्वरः श्रीमानर्जुनं द्रष्टुमागतः।

इसके बाद सुवर्ण के समान कान्तिधारी, अद्भुत रूप वाला, अपने चमकते हुए विमान से आकाश को चमकाता हुआ, धनपति श्रीमान् कुबेर, यक्षों के साथ, अर्जुन के देखने को आया ॥७-८॥

तथा लोकान्तकृत् श्रीमान् यमः साक्षात् प्रतापवान् ॥९॥
मर्त्यमूर्तिधरैः सार्द्धं पितृभिर्लोकभावनैः।
दण्डपाणिरचिन्त्यात्मा सर्वभूतविनाशकृत् ॥१०॥
वैवस्वतो धर्मराजो विमानेनावभासयन्।
त्रींल्लोकान् गुह्यकांश्चैव गन्धर्वांश्च सपन्नगान् ॥११॥
द्वितीय इव मार्तण्डो युगान्ते समुपस्थिते।
ते भानुमन्ति चित्राणि शिखराणि महागिरेः ॥१२॥
समास्थायार्जुनं तत्र ददृशुस्तपसान्वितम्।

लोक-पूज्य, मूर्तिमान् पितरों के साथ लोकों का अन्तकारी, प्रतापी, दण्डपाणि, अचिन्त्य स्वरूप वाला, सब भूतों का नाशक, विवस्वान् का पुत्र, धर्मराज, श्रीमान् यम, अपने विमान से तीनों लोकों तथा गुह्यक, गन्धर्व और पन्नगों के लोकों को चमकाता हुआ, युगान्त में उपस्थित द्वितीय सूर्य के समान

वहां उपस्थित हुआ । यह चमत्कार अद्भुत, हिमालय के शिखरों पर खड़ा होकर अर्जुन के दर्शन करने लगा ॥६-१२॥

ततो मुहूर्त्ताद्भगवानैरावतशिरोगतः ॥ १३ ॥
आजगाम महेन्द्राण्या शक्रः सुरगणैर्वृतः ।
पाण्डरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्द्धनि ॥१४॥
शुशुभे तारकाराजः सितमभ्रमिवास्थितः ।
संस्तूयमानो गन्धर्वैर्ऋषिभिश्च तपोधनैः ॥१५॥
शृङ्गं गिरेः समासाद्य तस्थौ सूर्य इवोदितः ।

थोड़ी ही देर के बाद, ऐरावत पर बैठा हुआ, श्वेत छत्र अपने शिर पर धारण किये हुए, गन्धर्व, ऋषि और मुनियों से प्रशंसित, भगवान् इन्द्र, देवता और इन्द्राणी के साथ, इसी स्थान में आया । यह श्वेत बादलों में छिपे हुए चन्द्रमा के समान सुशोभित हो रहा था। यह भी हिमालय के किसी शृङ्ग का आधार लेकर उदय हुए सूर्य के समान खड़ा हो गया ॥१३-१५॥

अथ मेघस्वनो धीमान् व्याजहार शुभां गिरम् ॥१६॥
यमः परम धर्मज्ञो दक्षिणां दिशमास्थितः ।
अर्जुनार्जुन पश्यास्मान् लोकपालान् समागतान् ॥१७

अब बुद्धिमान्, सब धर्मों का ज्ञाता, दक्षिण दिशा में स्थित, यमने, सुन्दर वाणी का उच्चारण किया । हे अर्जुन, देख देख, हम सारे लोक पाल यहां आकर खड़े हैं ॥१६-१७॥

दृष्टिं ते वितरामोऽद्य भवानर्हति दर्शनम् ।
पूर्वर्षिरमितात्मा त्वं नरो नाम महाबलः ॥१८॥
नियोगाद् ब्रह्मणस्तात मर्त्यतां समुपागतः ।

हे तात अर्जुन ! मैं तुमको दिव्य दृष्टि देता हूं, जिससे तुम सबके दर्शन कर सकोगे । तुम महात्मा महाबली पूर्वजन्म के नर नामक ऋषि हो, विधाता की इच्छा से तुमने इस मनुष्य योनि में जन्म लिया है ॥१८॥

त्वया च वसुसम्भूतो महावीर्य्यः पितामहः ॥१९॥
भीष्मः परमधर्मात्मा संसाध्यश्च रणेऽनघ ।

हे अनघ ! तू ही वसु के अवतार, महाबली, धर्मात्मा भीष्म पितामह को रण में जीत सकेगा ॥१९॥

क्षत्रश्चाग्निसमस्पर्शं भारद्वाजेन रक्षितम् ॥२०॥
दानवाश्च महावीर्य्या ये मनुष्यत्वमागताः ।
निवातकवचाश्चैव दानवाः कुरुनन्दन ॥२१॥

हे कुरुनन्दन ! अग्नि के समान स्पर्श वाले, द्रोण से सुरक्षित क्षत्रियों के वंश और मनुष्य रूप धारण करने वाले, महाशक्तिशाली दानव, तथा निवात-कवच संज्ञक दानवों को भी रण में तू ही जीतेगा ॥२०-२१

पितुर्ममांशो देवस्य सर्वलोकप्रतापिनः ।
कर्णश्च सुमहावीर्य्यस्त्वया वध्यो धनञ्जय ॥२२॥

हे अर्जुन ! सब लोकों में प्रतापी, मेरे पिता, सूर्य का अंश, महाबली कर्ण भी तुमसे ही रण में मारा जावेगा ॥२२॥

अंशाश्च क्षितिसम्प्राप्ता देवदानवरक्षसाम् ।
त्वया निपातिता युद्धे स्वकर्मफलनिर्जिताम् ॥२३॥
गतिं प्राप्स्यन्ति कौन्तेय यथा स्वामरिकर्षण ।
अक्षया तव कीर्तिश्च लोके स्थास्यति फाल्गुन ॥२४॥

हे कौन्तेय ! देव, दानव और राक्षसों के अंश, जो पृथिवी पर अवतार लेकर आये हैं, उन सबको तू युद्ध में गिरा देगा। हे अरि-मर्दन ! ये अपने २ कर्मों के अनुसार यथा-योग्य गतियों को प्राप्त करेंगे और तेरी संसार में अक्षय कीर्ति फैल जायेगी ॥२३-२४॥

त्वया साक्षान्महादेवस्तोषितो हि महामृधे ।
लघ्वी वसुमती चापि कर्त्तव्या विष्णुना सह ॥२५॥

तू ने बड़े भारी युद्ध में साक्षात् महादेव को सन्तुष्ट किया है। अब तुझे विष्णु (कृष्ण) के साथ इस पृथिवी को भी छोटी सी कर लेनी चाहिये अर्थात् बिना परिश्रम जीत लेनी उचित है ॥२५॥

गृहाणास्त्रं महाबाहो दण्डमप्रतिवारणम् ।
अनेनास्त्रेण सुमहत्त्वं हि कर्म्म करिष्यसि ॥२६॥

हे महाबाहो ! तू इस नहीं रुकने वाले मेरे इस दण्ड को ग्रहण कर। इस अस्त्र से तू बड़े २ कार्य करके दिखा सकेगा ॥२६॥

वैशम्पायन उवाच—

प्रतिजग्राह तत्पार्थो विधिवत् कुरुनन्दनः ।
समन्त्रं सोपचारञ्च समोत्तविनिवर्त्तनम् ॥२७॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! कुरुनन्दन अर्जुन ने उस अस्त्र को भी विधि-पूर्वक मन्त्र, उपचार (इलाज) छोड़ना लौटाना आदि के साथ ग्रहण कर लिया ॥२७॥

ततो जलधरश्यामो वरुणो यादसां पतिः ।
पश्चिमां दिशमास्थाय गिरमुच्चारयन् प्रभुः ॥२८॥

अब पश्चिम दिशा में स्थित होकर, मेघ के समान नीला, जल जन्तुओं का पति, राजा वरुण, अपनी वाणी का उच्चारण करने लगा ॥२८॥

पार्थ क्षत्रियमुख्यस्त्वं क्षत्रधर्मे व्यवस्थितः ।
पश्य मां पृथुताम्राक्ष वरुणोऽस्मि जलेश्वरः ॥२९॥

हे पार्थ! तू क्षत्रियों में श्रेष्ठ है और क्षत्रियों के धर्म स्थित है हे विशाल और लाल आंख वाले अर्जुन! तू देख—मैं जल का स्वामी वरुण हूं ॥२९॥

मया समुद्यतान् पाशान् वारुणाननिवारितान् ।
प्रतिगृह्णीष्व कौन्तेय सरहस्यनिवर्त्तनान् ॥३०॥

ये मेरी तय्यार की हुई फांसियां हैं, जिनका नाम ही वारुण अस्त्र है। ये कहीं नहीं निष्फल होती हैं। हे कौन्तेय! लौटाने और चलाने के रहस्य के साथ तू इनको ग्रहण कर ॥३०॥

एभिस्तदा मया वीर संग्रामे तारकामये ।
दैतेयानां सहस्राणि संयतानि महात्मनाम् ॥३१॥

हे वीर ! तारकासुर के साथ संग्राम होने के समय मैंने इन्हीं पाशों से अनेक वीर दानवों को बांध लिया था ॥३१॥

तस्मादिमान् महासत्व मत्प्रसादसमुत्थितान् ।
गृहाण न हि ते मुच्येदन्तकोऽप्याततायिनः ॥३२॥

हे महाबली ! तुम मेरी कृपा से प्राप्त हुई इन फांसियों को ग्रहण करलो । इनसे दुष्टों में काल भी तुमसे छुट नहीं सकता है ॥ ३२ ॥

अनेन त्वं यदास्त्रेण संग्रामे विचरिष्यसि ।
तदा निःक्षत्रिया भूमिर्भविष्यति न संशयः ॥३३॥

जब तुम इस शस्त्र को लेकर रणभूमि में विचरोगे, उसी समय यह सारी भूमि, निःक्षत्रिय होजावेगी—इस में सन्देह नहीं है ॥३३॥

वैशम्पायन उवाच—

ततः कैलासनिलयो धनाध्यक्षोऽभ्यभाषत ।
दत्तेष्वस्त्रेषु दिव्येषु वरुणेन यमेन च ॥३४॥
प्रीतोऽहमपि ते प्राज्ञ पाण्डवेय महाबल ।
त्वया सह समागम्य अजितेन तथैव च ॥३५॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इसके बाद कैलास में निवास करने वाला, धनपति कुबेर, कहने लगा । हेप्राज्ञ !

वरुण और यम ने आपको दिव्य अस्त्र प्रदान कर दिए हैं। हे महाबली! आज तुम्ह महा-पराक्रमी से मिलकर मैं भी बड़ा प्रसन्न हुआ हूं ॥३४-३५॥

सव्यसाचिन्महाबाहो पूर्वदेव सनातन।
सहास्माभिर्भवान् श्रान्तः पुराकल्पेषु नित्यशः ॥३६॥

हे महाबाहो! अर्जुन! पूर्वकाल में आप हमारे साथ खूब घूमे हैं और थकते रहे हैं॥ ३६ ॥

दर्शनात्ते त्विदं दिव्यं प्रदिशामि नरर्षभ।
अमनुष्यान्महाबाहो दुर्जयानपि जेष्यसि ॥३७॥

हे भरतर्षभ! आज तुम्हारे दर्शन होने से मैं तुमको दिव्य अस्त्र प्रदान करता हूं। हे महाबाहो! तुम इससे दुर्जय देव-दानवों को भी जीत लोगे॥ ३७ ॥

मत्तश्चैव भवानाशु गृह्णात्वस्त्रमनुत्तमम्।
अनेन त्वमनीकानि धार्त्तराष्ट्रस्य धक्ष्यसि ॥३८॥

आप मुझसे भी इस शस्त्र को ग्रहण करो। इससे तुम दुर्योधन की सेना को जला कर राख कर दोगे॥ ३८ ॥

तदिदं प्रतिगृह्णीष्व अन्तर्द्धानं प्रियं मम।
ओजस्तेजो द्युतिकरं प्रस्वापनमरातिनुत् ॥३९॥

तुम इस मेरे प्रिय अस्त्र को चुप चाप ग्रहण करलो। यह ओज, तेज और प्रकाशकारी तथा शत्रु को सुला देने वाला या नष्ट कर देने वाला है॥ ३९ ॥



अर्जुन को भगवान् शंकर का दिव्य अस्त्र प्रदान
महाभारत वन पर्व अ० ४०/१५ पृष्ठ १८१

हे राजन्! उर्वशी इस भवन में बड़ी शङ्का के साथ प्रविष्ट हुई। इस रात के समय में अर्जुन ने उर्वशी का अभ्युत्थान आदि से सत्कार किया॥ १८॥

दृष्टैव चोर्वशीं पार्थो लज्जासंवृतलोचनः।
तदाभिवादनं कृत्वा गुरुपूजां प्रयुक्तवान्॥१९॥

अर्जुन, उर्वशी को देखकर लज्जा से झुक गया और इसने प्रणाम करके इसकी बड़ी भारी पूजा की॥१९॥

अर्जुन उवाच—

अभिवादे त्वां शिरसा प्रवराप्सरसां वरे।
किमाज्ञापयसे देवि प्रेष्यस्तेऽहमुपस्थितः॥२०

अर्जुन ने कहा—हे देवि! मैं तुमको प्रणाम करता हूँ, तुम सब अप्सराओं में श्रेष्ठ हो। कहिए—आपकी क्या आज्ञा है, यह सेवक वह सब कुछ करने को तैयार है॥२०॥

फाल्गुनस्य वचः श्रुत्वा गतसंज्ञा तदोर्वशी।
गन्धर्ववचनं सर्वं श्रावयामास तं तदा॥ २१॥

अर्जुन के वचन सुनकर अचेत सी हुई उर्वशी ने अर्जुन को गन्धर्व चित्रसेन की कही हुई सारी कथा सुनाई॥२१॥

उर्वश्युवाच—

यथा मे चित्रसेनेन कथितं मनुजोत्तम।
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि यथा चाहमिहागता॥ २२॥

उर्वशी बोली—हे मनुजोत्तम! जो कुछ मुझे चित्रसेन ने कहा है या जिस लिये मैं यहां आई हूँ, वह सब तुमको सुनाती हूँ २२

उपस्थाने महेन्द्रस्य वर्त्तमाने मनोरमे
तवागमनतो वृत्ते स्वर्गस्य परमोत्सवे ॥ २३ ॥

हे अर्जुन ! तेरे आगमन के कारण इन्द्र का सुन्दर दरबार लगा और स्वर्ग में अनेक प्रकार के आनन्दोत्सव मनाये जाने लगे ॥ २३ ॥

रुद्राणाञ्चैव सानिध्यमादित्यानाञ्च सर्वशः ।
समागमेऽश्विनोश्चैव वसूनाञ्च नरोत्तम ॥ २४ ॥
महर्षीणाञ्च सङ्घेषु राजर्षिप्रवरेषु च ।
सिद्धचारणयक्षेषु महोरगगणेषु च ॥ २५ ॥
उपविष्टेषु सर्वेषु स्थानमानप्रभावतः ।
ऋद्ध्या प्रज्वलमानेषु अग्निसोमार्कवर्ष्मसु ॥२६ ॥
वीणासु वाद्यमानासु गन्धर्वैः शक्रनन्दन ।
दिव्ये मनोरमे गेये प्रवृत्ते पृथुलोचन ॥ २७ ॥
सर्वाप्सरःसु मुख्यासु प्रनृत्यासु कुरूद्वह ।
त्वं किलानिमिषः पार्थ मामेकां तत्र दृष्टवान् ॥ २८ ॥

हे नरोत्तम ! अर्जुन ! रुद्रों के सम्मुख, आदित्य, अश्विन और वसुदेव के समक्ष, महर्षि और राजर्षियोंके सङ्घमें, सिद्ध चारण यक्ष, तथा उरगों के गणों के अपने २ स्थान के नियम से स्थित हो जाने पर, अग्नि, सोम और सूर्य के चमकने के समय, गन्धर्वों के वीणा की तान छेड़ देने पर, दिव्य मन को हरने वाले गानों के आरम्भ हो जाने पर सारी उत्तम २ अप्सराओं के

नाचने के समय तुम अनिमेष (पलक न झपका कर) मुझे ही देखते रहे ॥ २४-२८॥

तत्र चावभृथे तस्मिन्नुपस्थाने दिवौकसाम् ।
तव पित्राभ्यनुज्ञाता गताः स्वं स्वं गृहं सुराः ॥ २६॥

उस यज्ञ के अन्तिम स्नान के समय उस देव सभा में आपके पिता इन्द्र की आज्ञा से देवता अपने २ स्थान को चले गए ॥२६॥

तथैवाप्सरसः सर्वा विशिष्टाः स्वगृहं गताः ।
अपि चान्याश्च शत्रुघ्न तव पित्रा विसर्जिताः ॥३० ॥

हे अरिमर्दन ! इसी प्रकार सारी उत्तम २ अप्सराएं भी अपने २ घर को चली गई । इसके सिवा जो अन्य शेष रह गई, वे भी तुम्हारे पिता ने भेज दी ॥ ३० ॥

ततः शक्रेण सन्दिष्टश्चित्रसेनो ममान्तिकम् ।
प्राप्तः कमलपत्राक्ष स च मामब्रवीदथ ॥ ३१ ॥

हे कमल-लोचन ! इसके बाद, इन्द्र की आज्ञा से चित्रसेन मेरे पास आया और मुझसे कहने लगा ॥३१॥

त्वत्कृतेऽहं सुरेशेन प्रेषितो वरवर्णिनि ।
प्रियं कुरु महेन्द्रस्य मम चैवात्मनश्च ह ॥ ३२ ॥

हे सुन्दरि ! तुम्हारे पास मुझे इन्द्र ने भेजा है, तू इन्द्र, का मेरा या अपना प्रिय सम्पादन कर ॥ ३२॥

शक्रतुल्यं रणे शूरं सदौदार्य्यगुणान्वितम् ।
पार्थं प्रार्थय सुश्रोणि त्वमित्येव तदाब्रवीत् ॥ ३३ ॥

हे सुन्दरि ! इन्द्रके समान रणमें शूर वीर, उत्तम और उदार गुणों से युक्त, अर्जुन को तू प्रसन्न कर। इस प्रकार चित्रसेन ने मुझे कहा है ॥ ३३ ॥

ततोऽहं समनुज्ञाता तेन पित्रा च तेऽनघ ।
तवान्तिकमनुप्राप्ता शुश्रूषितुमरिन्दम ॥ ३४ ॥

हे अनघ ! इस प्रकार मैं तुम्हारे पिता इन्द्र या चित्रसेन की आज्ञा से तुम्हारी सेवा करने के लिए तुम्हारे पास आई हूं ॥३४

त्वद्गुणाकृष्टचित्ताहमनङ्गवशमागता ।
चिराभिलषिता वीर ममाप्येष मनोरथः ॥ ३५ ॥

मैं तेरे गुणों पर मुग्ध हो गई हूँ, इससे कामदेव ने मुझ पर अधिकार किया है। हे वीर ! तुम से मिलने की मेरी बहुत दिन की अभिलाषा थी ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तां तथा ब्रुवतीं श्रुत्वा भृशं लज्जावृतोऽर्जुनः ।
उवाच कर्णौ हस्ताभ्यां पिधाय त्रिदशालये ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन बोले– हे राजन् ! उर्वशी के इतना कहने पर अर्जुन, अत्यन्त लज्जित हुआ और स्वर्ग में हाथों से कानों को ढक कर यह कहने लगा ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच—

दुश्रुतं मेऽस्तु सुभगे यन्मां वदसि भाविनि ।
गुरुदारैः समाना मे निश्चयेन वरानने ॥ ३७ ॥

अर्जुन ने कहा--हे सुभगे ! जो तुमने कहा, यह तो बड़ी बुरी बात सुनाई । हे सुन्दरि ! तुमतो मेरी माता के समान हो—इसमें सन्देह नहीं है ॥३७॥

यथा कुन्ती महाभागा यथेद्राणी शची मम ।
तथा त्वमपि कल्याणि नात्र कार्य्या विचारणा॥ ३८ ॥

हे कल्याणि ! जैसी पूज्य महाभागा माता कुन्ती है, तथा जैसी इन्द्र की भार्य्या शची है, वैसी ही तुम भी हो, इसमें कोई विचार की बात नहीं है ॥३८॥

यच्चेक्षितासि विस्पष्टं विशेषेण मया शुभे ।
तच्चकारणपूर्वं हि शृणु सत्यं शुचि-स्मिते ॥ ३९ ॥

हेसुन्दरि ! मैं जो तुम्हारी ओर स्पष्ट रूप से देख रहा था, उसका तो अन्य कारण है, तू उस सत्य को सुन ॥३९॥

इयं पौरववंशस्य जननी मुदितेति च ।
त्वामहं दृष्टावांस्तत्र विज्ञायोत्फुल्ललोचनः ॥ ४० ॥

यह पौरव वंश की उदार माता है, इसलिए मैंने तुमको देखा था और यह जान कर ही मेरी आंखें आनन्द से विकसित हो गई थी ॥४०॥

न मामर्हसि कल्याणि अन्यथा ध्यातुमप्सरः ।
गुरोर्गुरुतरा मे त्वं मम त्वं वंशवर्द्धिनी ॥ ४१ ॥

हेकल्याणि ! उर्वशी ! तू मुझ में अन्य कुछ भाव न कर । तू मेरे पूज्य पिता से भी अधिक पूज्य है और मेरे वंश की बढ़ाने वाली है ॥४१॥

उर्वश्युवाच—

अनावृताश्च सर्वाः स्म देवराजाभिनन्दन ।
गुरुस्थाने न मां वीर नियोक्तुं त्वमिहार्हसि ॥ ४२ ॥

उर्वशी ने कहा—हे देवराज के अतिथि, वीर अर्जुन ! हम सब तो खुली स्त्रियां हैं, हमको पूजनीय मानना तुमको उचित नहीं है ॥४२॥

पुरोर्वंशे हि ये पुत्रा नप्तारो वा त्विहागताः ।
तपसा रमयन्त्यस्मान्न च तेषां व्यतिक्रमः ॥ ४३ ॥

राजा पुरु के पुत्र पौत्र, सब स्वर्ग में आये हुए हैं और तप के कारण वे हमारे साथ भोग करते हैं, परन्तु इससे कोई धर्म का विरोध नहीं माना जाता है ॥४३॥

तत् प्रसीद न मामार्त्तां विसर्ज्जयितुमर्हसि ।
हृच्छयेन च सन्तप्तां भक्ताञ्च भज मानद ॥ ४४ ॥

अब तुम भी प्रसन्न हो जावो और मुझ व्याकुल की अवहेलना न करो । हे मानद ! कामदेव से आतुर मुझ दासी के साथ विहार करो ॥४४॥

अर्जुन उवाच—

शृणु सत्यं वरारोहे यत्त्वां वक्ष्याम्यनिन्दिते ।
शृण्वन्तु मे दिशश्चैव विदिशश्च सदेवताः ॥ ४५ ॥

अर्जुन बोला—हे अनिन्दिते ! सुन्दरि ! तुम मेरी सत्यवाणी सुनो, जो मैं तुमसे कहता हूँ, देवों के साथ दिशा और विदिशाएं भी मेरे इस कथन को सुनलें ॥४५॥

यथा कुन्ती च माद्री च शची चेह ममानघे ।
तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी ॥ ४६ ॥

हेअनघे ! जैसी कुन्ती या माद्री मेरी माता हैं, वैसी ही तुम भी मेरे वंश के उत्पन्न करने वाली हो। इससे तुम भी मेरी उतनी ही पूज्य हो ॥४६॥

गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि ।
त्वं हि मे मातृवत् पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत्त्वया । ॥ ४७ ॥

हेसुन्दरि ! तुम पधारो, मैं तुम्हारे चरणों में शिर झुका कर प्रणाम करता हूँ। तुमतो मेरी माता के तुल्य पूज्य हो और तुमको मेरी पुत्र के समान रक्षा करनी चाहिये ॥४७॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्त्वा तु पार्थेन उर्वशी क्रोधमूर्च्छिता ।
वेपन्ती भ्रुकुटी वक्त्रा शशापाथ धनञ्जयम् ॥ ४८ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! अर्जुन के इतना कहने पर उर्वशी क्रोध से झल्ला उठी और उसने क्रोधसे कांपती हुई बांकी भौंहें करके अर्जुन को शाप दिया ॥४८॥

उर्वश्युवाच—

तव पित्राभ्यनुज्ञातां स्वयञ्च गृहमागताम् ।
यस्मान्मां नाभिनन्देथाः कामबाणवशङ्गताम् ॥ ४९ ॥
तस्मात्त्वं नर्त्तकः पार्थ स्त्रीमध्ये मानवर्जितः ।
अपुमानिति विख्यातः षण्ढवद्विचरिष्यसि ॥ ५० ॥

उर्वशी बोली—हे पार्थ ! तेरे पिता इन्द्र के आज्ञा देने पर और स्वयं ही घर आने पर भी जो तुमने मुझ कामातुर की लालसा पूरी नहीं की, इससे तुम्हें लज्जा छोड़ कर स्त्रियों के मध्य में नाचना पड़ेगा। तुम जगत् में नपुंसक विख्यात होगे और नपुँसकों की भांति ही आचरण करोगे ॥४६॥-॥५०॥

वैशम्पायन उवाच—

एवं दत्वार्जुने शापं स्फुरदोष्ठी श्वसन्त्यथ।
पुनःप्रत्यागता क्षिप्रमुर्वशीगृहमात्मनः ॥ ५१ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजेन्द्र ! क्रोध से ओठों को फड़काती हुई और श्वास लेती हुई, उर्वशी, अर्जुन को शाप देकर शीघ्र ही अपने घर को लौट आई ॥५१॥

ततोर्जुनस्त्वरमाणश्चित्रसेनमरिन्दमः ।
संप्राप्य रजनीवृत्तं तदुर्वश्या यथा तथा ॥ ५२ ॥
निवेदयामास तदा चित्रसेनाय पाण्डवः ।
तत्र चैव यथावृत्तं शापञ्चैव पुनः पुनः ॥ ५३ ॥

अब अरि—विजयी अर्जुन, शीघ्रता के साथ चित्रसेन के पास पहुंचा और इसने रात में जो उर्वशी के साथ झगड़ा हुआ था, वह ज्यों का त्यों चित्रसेन को सुनाया। अर्जुन ने इस शाप के वृत्तान्त को चित्रसेन से बार २ कहा ॥५२-५३॥

न्यवेदयच्च शक्रस्य चित्रसेनोऽपि सर्वशः ।
तत आनाय्य तनयं विविक्ते हरिवाहनः ॥ ५४ ॥
सान्त्वयित्वा शुभैर्वाक्यैः स्मयमानोऽभ्यभाषत ।

चित्रसेन ने भी यह सब कुछ वृत्तान्त इन्द्र को सुनाया। इन्द्र ने अपने पुत्र अर्जुन को एकान्त में बुलाकर उत्तम वाक्यों से समझाया और हंसकर कहा ॥५४॥

सुपुत्राद्य पृथा तात त्वया पुत्रेण सत्तम ॥ ५५॥
ऋषयोऽपि हि धैर्य्येण जिता वै ते महाभुज।

हे पुरुष-सत्तम। आज तुझ पुत्र से कुन्ती सुपुत्र, उत्पन्न करने वाली मानी गई। हे महाबाहो ! तू ने अपने धैर्य से महर्षियों को भी जीत लिया है ॥५५

यत्तु दत्तवती शापमुर्वशी तव मानद ॥ ५६ ॥
स चापि तेऽर्थकृत्तात साधकश्च भविष्यति।

हे मानद ! उर्वशी ने जो तुमको शाप दिया है, हे तात ! समय पर यह भी तुम्हारे कार्य की सिद्धि में कारण होगा ॥५६॥

अज्ञातवासो वस्तव्यो भवद्भिर्भूतलेऽनघ ॥ ५७ ॥
वर्षे त्रयोदशे वीर तं तत्र क्षपयिष्यसि।

हे अनघ ! तुम्हें भूतल पर एक वर्ष अज्ञात वास से रहना होगा, तेरहवें वर्ष में तुम उस अज्ञात वास को समाप्त करोगे ॥५७॥

तेन नर्त्तनवेशेन अपुंस्त्वेन तथैव च ॥ ५८ ॥
वर्षमेकं विहृत्यैवं ततः पुंस्त्वमवाप्स्यसि।

उस समय तुम नाचने वाले नपुंसक के रूप में हो जावोगे। एक वर्ष इस रूप में व्यतीत करके फिर पुंस्त्व प्राप्त करलोगे।५८।

एवमुक्तस्तु शक्रेण फाल्गुनः परवीरहा ॥ ५९ ॥
मुदं परमिकां लेभे न च शापं व्यचिन्तयत्।

जब शत्रुविजयी अर्जुन से इन्द्र ने यह कहा, तो अर्जुन बड़ा प्रसन्न हुआ और शाप को भूल गया ॥५६॥

चित्रसेनेन सहितो गन्धर्वेण यशस्विना ॥ ६० ॥
रेमे स स्वर्गभवने पाण्डुपुत्रो धनञ्जयः ।

पाण्डु पुत्र अर्जुन, स्वर्ग में यशस्वी गन्धर्व के सहित बड़े आनन्द से रहने लगा ॥६०॥

य इदं शृणुयान्नित्यं वृत्तं पाण्डुसुतस्य वै ।
न तस्य कामः कामेषु पापकेषु प्रवर्त्तते ॥ ६१ ॥

जो मनुष्य, पाण्डु पुत्र अर्जुन के इस वृत्तान्त को सुनेगा। उसकी इच्छा पाप कर्मों में कभी प्रवृत्त नहीं होगी ॥६१॥

इदममरवरात्मजस्यघोरं शुचिचरितं विनिशम्य फाल्गुनस्य
व्यपगतमददम्भरागदोषास्त्रिदिवगताभिरमन्ति मानवेन्द्राः

इति आरण्य-पर्वणि इन्द्रलोकाभिमनपर्वणि उर्वशीशापे
षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४६॥

जो इन्द्र के सुत, अर्जुन के इस अत्यन्त पवित्र चरित्र को सुनते हैं, वे मनुष्य श्रेष्ठ, मद, पाखण्ड, राग, द्वेष से रहित होकर स्वर्ग में अनेक वर्ष तक विहार करते हैं ॥६२॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमन
पर्व में उर्वशी शाप का छियालीसवां अध्याय
समाप्त हुआ।



सैंतालीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

कदाचिदटमानस्तु महर्षिरुत लोमशः ।
जगाम शक्रभवनं पुरन्दरदिदृक्षया ॥ १ ॥

वैशम्पायन कहने लगे—हेराजन्! किसी समय घूमते हुए महर्षि लोमश इन्द्र के घर पर पधारे ॥१॥

स समेत्य नमस्कृत्य देवराजं महामुनिः ।
ददर्शार्द्धासनगतं पाण्डवं वासवस्य हि ॥ २ ॥

इस महर्षि ने इन्द्र को देखकर नमस्कार किया। इस समय इसने इन्द्र के अर्द्ध आसन पर बैठे हुए अर्जुन को देखा ॥२॥

ततः शक्राभ्यनुज्ञात आसने विष्टरोत्तरे ।
निषसाद द्विजश्रेष्ठः पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ ३ ॥

यह महा-मुनिभी इन्द्र के आसन के उत्तर की ओर आसन पर इन्द्र की आज्ञानुसार बैठ गया। अनेक महर्षियों ने इन लोमश मुनि की पूजा की ॥३॥

तस्य दृष्ट्वाभवद्बुद्धिः पार्थमिन्द्रासने स्थितम् ।
कथन्तु क्षत्रियः पार्थः शक्रासनमवाप्तवान् ॥ ४ ॥

अर्जुन को इन्द्र के आसन पर बैठा हुआ देख कर महर्षि लोमश विचारने लगा कि यह साधारण क्षत्रिय, अर्जुन, इन्द्र के आसन पर कैसे बैठा हुआ है ॥४॥

किन्त्वस्य सुकृतं कर्म के लोका वै विनिर्जिताः ।
य एवमनुसम्प्राप्तः स्थानं देवनमस्कृतम् ॥ ५ ॥

इसका इतना बड़ा क्या सुकर्म है और इसने किन लोकों पर विजय करलिया है, जो देवों से नमस्कृत इस इन्द्र के आसन पर पहुंच गया है ॥५॥

तस्य विज्ञाय सङ्कल्पं शक्रो वृत्रनिषूदनः ।
लोमशं प्रहसन् वाक्यमिदमाह शचीपतिः ॥ ६ ॥

वृत्रासुर का मारने वाला इन्द्र, लोमश के इस विचार को समझ गया, इसलिये वह इन्द्र, हँसकर लोमश ऋषि से कहने लगा ॥६॥

ब्रह्मर्षे श्रूयतां यत्ते मनसैतद्विवक्षितम् ।
नायं केवलमर्त्यो वै मानुषत्वमुपागतः ॥ ७ ॥

हेब्रह्मर्षे ! जो तुम्हारा मन तर्क वितर्क कर रहा है, उसके विषय में सुनो। यह अर्जुन, कोई साधारण प्राणी, मनुष्य जाति में उत्पन्न नहीं हो गया है ॥७॥

महर्षे मम पुत्रोऽयं कुन्त्यां जातो महाभुजः ।
अस्त्रहेतोरिह प्राप्तः कस्माच्चित् कारणान्तरात् ॥ ८ ॥

हे महर्षे ! यह मेरा पुत्र है और कुन्ती में उत्पन्न हुआ है। यह किसी कारण से अस्त्र विद्या सीखने के लिए यहां आया है ॥८॥

अहो नैनं भवान् वेत्ति पुराणमृषिसत्तमः ।
शृणु मे वदतो ब्रह्मन् योऽयं यच्चास्य कारणम् ॥ ९ ॥

हे ब्रह्मन् ! आप इस पुराने ऋषि अर्जुन को नहीं जानते, यह बड़े अचम्भे की बात है । अब मैं तुमको यह बताता हूँ, कि यह कौन है और यहां क्यों आया है ॥९॥

नरनारायणौ यौ तौ पुराणावृषिसत्तमौ ।
ताविमावनुजानीहि हृषीकेशधनञ्जयौ ॥ १० ॥

पूर्व काल में जो नर नारायण नामक दो ऋषि हुए हैं, वे दोनों ही श्रीकृष्ण और अर्जुन के रूप में अवतार हुए हैं, तुम यह अच्छी तरह समझो ॥१०॥

विख्यातौ त्रिषु लोकेषु नरनारायणावृषी ।
कार्य्यार्थमवतीर्णौ तौ पृथ्वीं पुण्यप्रतिश्रयाम् ॥ ११ ॥

ये नर नारायण नामक ऋषि तीनों लोकों में प्रसिद्ध हैं । इस पवित्र पृथिवी पर देवों का कार्य करने के लिए उन्होंने अवतार धारण किया है ॥११॥

यन्न शक्यं सुरैर्द्रष्टुमृषिभिर्वा महात्मभिः ।
तदाश्रमपदं पुण्यं बदरीनामविश्रुतम् ॥ १२ ॥

जिस पवित्र आश्रम को देवता, ऋषि और महात्मा भी नहीं देख सकते हैं, वह बदरिकाश्रम जगत् में प्रसिद्ध है ॥१२॥

स निवासोऽभवद्विप्र विष्णोर्जिष्णोस्तथैव च ।
यतः प्रववृते गङ्गा सिद्धचारणसेविता ॥ १३ ॥

हे विप्र ! इस आश्रम में ही श्रीकृष्ण और अर्जुन ने निवास किया । यह आश्रम उस स्थान पर है, जहां सिद्ध और चारणों से सेवित गङ्गा का प्रादुर्भाव होता है ॥१३॥

तौ मन्नियोगाद् ब्रह्मर्षे क्षितौ जातौ महाद्युती ।
भूमेर्भारावतरणं महावीर्यौ करिष्यतः ॥ १४ ॥

हे ब्रह्मर्षे ! इन दोनों तेजस्वी ऋषियों ने, मेरी आज्ञा से पृथिवी पर जन्म लिया है। ये महाबली अब भूमि के भार का अपहरण करेंगे ॥१४॥

उद्वृत्ता ह्यसुराः केचिन्निवातकवचा इति ।
विप्रियेषु स्थितास्माकं वरदानेन मोहिताः ॥ १५ ॥

कुछ निवात-कवच संज्ञक, असुर, बड़े उद्दण्ड हो गए हैं, वे वरदान से मोहित होकर हमारे अप्रिय करने में उद्यत हो रहे हैं ॥१५॥

तर्कयन्ते सुरान् हन्तुं बलदर्पसमन्विताः ।
देवान्न गणयन्त्येते तथा दत्तवरा हि ते ॥ १६ ॥

ये बल के अभिमान में चूर होकर देवों के मारने का विचार कर रहे हैं। ये देवों को भी कुछ नहीं गिनते हैं, क्योंकि इनको वरदान प्राप्त हो रहा है ॥१६॥

पातालवासिनो रौद्रा दनोः पुत्रा महाबलाः ।
सर्वदेवनिकाया हि नालं योधयितुं हितान् ॥१७ ॥

पाताल के वासी महाबली दनु पुत्र भी, देवों के समान शरीर-धारी हैं, वे भी इनसे लड़ने के लिए समर्थ नहीं हैं ॥१७॥

योऽसौ भूमिगतः श्रीमान् विष्णुर्मधुनिसूदनः ।
कपिलो नाम देवोऽसौ भगवानजितो हरिः ॥ १८ ॥

मधु दैत्य के नाशक पराजित नहीं होने वाले भगवान् विष्णु ने पूर्वकाल में भूमि पर कपिल का रूप धारण किया, ॥१८॥

येन पूर्वं महात्मानः खनमाना रसातलम् ।
दर्शनादेव निहताः सगरस्यात्मजा विभो ॥ १९ ॥

जिन कपिल ने रसातल को खोदने वाले, महात्मा, सगर के पुत्रों को पूर्वकाल में देखने मात्र से ही नष्ट कर दिया था ॥१९॥

तेन कार्य्यं महत् कार्य्यमस्माकं द्विजसत्तम ।
पार्थेन च महायुद्धे समेताभ्यां न संशयः ॥ २० ॥

हे द्विजसत्तम ! विष्णु तथा अर्जुन इन दोनों से महा युद्ध में हमारा बड़ा भारी कार्य पूरा होगा, इसमें सन्देह नहीं है ॥२०॥

सोऽसुरान् दर्शनादेव शक्तो हन्तुं सहानुगान् ।
निवातकवचान् सर्वान् नागानिव महाह्रदे ॥२१॥

यह सारे निवात कवच असुरों को उनकी सेना के साथ देखने मात्र से भस्म कर सकता है, जैसे महाह्रद (बड़े तालाब) में हाथियों को ग्राह मार लेता है ॥२१॥

किन्तु नाल्पेन कार्य्येण प्रबोध्यो मधुसूदनः ।
तेजसः सुमहाराशिः प्रबुद्धः प्रदहेज्जगत् ॥२२॥

परन्तु थोड़े से काम के लिए भगवान् विष्णु का जगाना ठीक नहीं है । यह तेज की बड़ी भारी राशि (ढेरी) है, जागने पर यदि क्रुद्ध हो गया तो जगत् को भस्म कर देगा ॥२२॥

अयं तेषां समस्तानां शक्तः प्रतिसमासने ।
तान्निहत्य रणे शूरः पुनर्यास्यति मानुषान् ॥२३॥

यह अर्जुन भी उन सबका मुकाबिला करने में समर्थ है। यह शूर, उन सबको मार कर फिर मनुष्यों के लोक प्राप्त कर सकता है ॥२३॥

भवानस्मन्नियोगेन यातु तावन्महीतलम् ।
काम्यके द्रक्ष्यसे वीरं निवसन्तं युधिष्ठिरम् ॥२४॥

अब तुम मेरी आज्ञा से पृथिवी पर जाओ। वहां तुम काम्यक वन में रहते हुए राजा युधिष्ठिर के दर्शन करोगे ॥२४॥

स वाच्यो मम सन्देशाद्धर्मात्मा सत्यसङ्गरः ।
नोत्कण्ठा फाल्गुने कार्या कृतास्त्रः शीघ्रमेष्यति ॥२५॥

वहां तुम सत्य प्रतिज्ञा के करने वाले, राजा युधिष्ठिर से मेरी ओर से कहना, कि तुम अर्जुन की उत्कण्ठा न करो, वह शस्त्र विद्या ग्रहण करके शीघ्र ही आ रहा है ॥२५॥

नाशुद्धबाहुवीर्य्येण नाकृतास्त्रेण वा रणे ।
भीष्मद्रोणादयो युद्धे शक्याः प्रतिसमासितुम् ॥२६

रण में भुजाओं के बल की कमी या शस्त्रों के चलाने में कुशल न होने पर भीष्म और द्रोण आदि को कोई भी नहीं मार सकता है ॥२६॥

गृहीतास्त्रो गुडाकेशो महाबाहुर्महामनाः ।
नृत्यवादित्रगीतानां दिव्यानां पारमीयिवान् ॥२७॥

महाबाहु और मनस्वी अर्जुन, अब शस्त्र विद्या ग्रहण कर चुका है और गाने, बजाने तथा नाचने में भी कुशल होगया है ॥२७॥

महात्मना शङ्करेण त्रिपुरं निहतं यदा ।
तदेतदस्त्रं निर्मुक्तं येन दग्धा महासुराः ॥४०॥

जब महात्मा शङ्कर ने त्रिपुर असुर को मारा, तब यही अस्त्र छोड़ा गया था, जिससे सारे महा-असुर दग्ध हो गये थे ॥४०॥

त्वदर्थमुद्यतञ्चेदं मया सत्यपराक्रम ।
त्वमर्हो धारणे चास्य मेरुप्रतिमगौरव ॥४१॥

हे सत्य-पराक्रम ! यह शस्त्र तेरे लिए ही तय्यार किया गया है । तुम मेरु पर्वत के तुल्य गौरव वाले हो, इससे शस्त्र को ग्रहण कर सकते हो ॥ ४१ ॥

ततोऽर्जुनो महाबाहुर्विधिवत् कुरुनन्दनः ।
कौबेरमभिजग्राह दिव्यमस्त्रं महाबलः ॥४२॥

अब कुरुनन्दन, महाबली अर्जुन ने विधि-पूर्वक, कुबेर का अस्त्र ग्रहण कर लिया ॥ ४२ ॥

ततोऽब्रवीद्देवराजः पार्थमक्लिष्टकारिणम् ।
सान्त्वयन् श्लक्ष्णया वाचा मेघदुन्दुभिनिस्वनः ॥४३॥

उत्तम कर्मों के करने वाले अर्जुन को उत्तम वाणी से समझाता हुआ मेघ और दुन्दुभि के समान स्वरधारी देवराज, कहने लगा ॥ ४३ ॥

कुन्तीमातर्महाबाहो त्वमीशानः पुरातनः ।
परां सिद्धिमनुप्राप्तः साक्षाद्देवगतिङ्गतः ॥४४॥

हे कुन्तीपुत्र ! महाबाहो ! तु बड़ा पुराना और शक्तिशाली है। तूने अब बड़ी सिद्धि प्राप्त की है और साक्षात् देवों की गति को प्राप्त हो गया है ॥ ४४ ॥

देवकार्य्यन्तु सुमहत्त्वया कार्य्यमरिन्दम ।
आरोढ्व्यस्त्वया स्वर्गः सज्जीभव महाद्युते ॥४५॥

हे अरिन्दम ! तुमको अभी देवताओं के विशाल कार्य करने हैं। हे महा-कान्ति-धारी ! तुम स्वर्ग के दर्शन करो और चलने को तय्यार हो जाओ। ॥ ४५ ॥

रथो मातलिसंयुक्त आगन्ता त्वत्कृते महीम् ।
तत्र तेऽहं प्रदास्यामि दिव्यान्यस्त्राणि कौरव ॥४६॥

हे कौरव ! तुम्हारे लिए मातलि सारथि से युक्त रथ, पृथिवी पर ही आ जावेगा। तब तुमको हम दिव्य अस्त्र प्रदान करेंगे ४६

तान् दृष्ट्वा लोकपालांस्तु समेतान् गिरिमूर्द्धनि ।
जगाम विस्मयं धीमान् कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ॥४७॥

हिमालय की चोटी पर इकट्ठे इन देवराजों को देखकर कुन्तीपुत्र बुद्धिमान, अर्जुन को बड़ा अचम्भा हुआ ॥ ४७ ॥

ततोऽर्जुनो महातेजा लोकपालान् समागतान् ।
पूजयामास विधिवद्वाग्भिरद्भिः फलैरपि ॥४८॥

इस समय महा-तेजस्वी अर्जुन ने आये हुए लोकपालों की विधि-पूर्वक वाणी, जल और फलों से पूजा की ॥ ४८ ॥

ततः प्रतिययुर्देवाः प्रतिमान्य धनञ्जयम् ।
यथागतेन विबुधाः सर्वे काममनोजवाः ॥४६॥

कामना के समान वेग वाले, सारे देवता, अर्जुन का सत्कार करके जैसे आये थे, वैसे ही लौट गए ॥ ४६ ॥

ततोऽर्जुनो मुदं लेभे लब्धास्त्रः पुरुषर्षभः ।
कृतार्थमथ चात्मानं स मेने पूर्णमानसम् ॥५०॥

इति आरण्यपर्वणि कैरातपर्वणि इन्द्रादिदेवप्रस्थाने एक
चत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तञ्च कैरातपर्व ॥४१॥

अब पुरुष-श्रेष्ठ अर्जुन, इन देवों के शस्त्र प्राप्त कर चुका, जिससे यह बड़ा आनन्दित हो रहा था। इसने अपनी आत्मा को कृतार्थ समझा और इसका मन सन्तुष्ट हो गया ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत कैरात पर्व में इन्द्र
आदि देवों के लौट जाने का पर्व समाप्त हुआ
और यहीं पर कैरात पर्व भी समाप्त होगया ।



अथ इन्द्रलोकाभिगमनपर्व

बयालीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

गतेषु लोकपालेषु पार्थः शत्रुनिबर्हणः ।
चिन्तयामास राजेन्द्र देवराजरथं प्रति ॥१॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजेन्द्र ! लोकपालों के चले जाने पर शत्रु-विजयी अर्जुन, इन्द्र के रथ की प्रतीक्षा करने लगा ॥१

ततश्चिन्तयमानस्य गुडाकेशस्य धीमतः ।
रथो मातलिसंयुक्त आजगाम महाप्रभः ॥२॥

बुद्धिमान् अर्जुन इस विषय का विचार ही कर रहे थे, कि मातलि से युक्त, चमकदार रथ वहां आकर खड़ा हो गया ॥२॥

नभो वितिमिरं कुर्वन् जलदान् पाटयन्निव ।
दिशः सम्पूरयन्नादैर्महामेघरवोपमैः ॥३॥

यह रथ आकाश को प्रकाशमान और मेघों को छिन्न भिन्न सा कर रहा था । यह महा-मेघों के शब्द के तुल्य शब्दोंसे दिशाओं को शब्दायमान बना रहा था ॥ ३ ॥

अयसः शक्तयो भीमा गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ।
दिव्यप्रभावाः प्रासाश्च विद्युतश्च महाप्रभाः ॥४॥

यह, लोहे की भयानक शक्ति, उग्र रूप वाली गदा, अत्यन्त प्रभाव वाले प्रास नामक शस्त्र और बड़ी भारी बिजली को धारण किये हुए था ॥ ४ ॥

तथैवाशनयश्चैव चक्रयुक्तास्तुलागुडाः ।
वायुस्फोटाः सनिर्घाताः महामेघस्वनास्तथा ॥५॥

इसी तरह यह वज्र युक्त था और इसके चक्र में लगी हुई घण्टियां थी, जिनमें वायु के साथ महा-मेघों के समान शब्द होता था और ये परस्पर टकराकर महा नाद करती थी ॥५॥

तत्र नागा महाकाया ज्वलितास्याः सुदारुणाः ।
सिताभ्रकूटप्रतिमाः संहताश्च तथोपलाः ॥६॥

इसमें बड़ी विशाल काय के दारुण और दीप्त मुख वाले सर्प थे। इसमें इकट्ठे हुए पत्थर, श्वेत बादलों के कूटों के समान प्रतीत होते थे ॥ ६ ॥

दशवाजिसहस्राणि हरीणां वातरंहसाम् ।
वहन्ति ये नेत्रमुषं दिव्यं मायामयं रथम् ॥७॥

वायु के समान वेग वाले, दश हजार घोड़े नेत्रों को चका-चौंध करने वाले, इस माया मय रथ को ले जा रहे थे ॥ ७ ॥

तत्रापश्यन्महानीलं वैजयन्तं महाप्रभम् ।
ध्वजमिन्दीवरश्यामं वंशं कनकभूषणम् ॥८॥

इसमें अर्जुन ने महानील, चमकती हुई नील कमल के समान रङ्ग वाली वैजयन्ती ध्वजा को देखा, जिसमें सुवर्ण का दण्ड लगा था ॥ ८ ॥

तस्मिन्रथे स्थितं सूत तप्तहेमविभूषितम् ।
दृष्ट्वा पार्थो महाबाहुर्देवमेवान्वतर्कयत् ॥९॥

इस रथ में शुद्ध-सुवर्ण धारण किये हुए मातलि सारथि बैठा था। इसको देखकर महाबाहु अर्जुन ने उनको अग्नि समझा ॥९॥

तथा तर्कयतस्तस्य फाल्गुनस्याथ मातलिः ।
सन्नतः प्रश्रितो भूत्वा वाक्यमर्जुनमब्रवीत् ॥१०॥

अर्जुन, इस प्रकार तर्क वितर्क कर ही रहा था, कि मातलि, नम्र होकर अर्जुन के सामने आकर झुका और कहने लगा ॥१०॥

मातलिरुवाच —

भो भोः शक्रात्मज श्रीमान् शक्रस्त्वां द्रष्टुमिच्छति ।
आरोहतु भवान् शीघ्रं रथमिन्द्रस्य सम्मतम् ॥११॥

मातलि बोला—हे इन्द्र पुत्र, अर्जुन ! आपको श्रीमान् इन्द्र बुला रहे हैं, आप इस इन्द्र के अभिमत रथ में चढ़कर चलिये ।

आह माममरश्रेष्ठः पिता तव शतक्रतुः ।
कुन्तीसुतमिह प्राप्तं पश्यन्तु त्रिदशालयाः ॥१२॥

देवों में श्रेष्ठ, तुम्हारे पिता इन्द्र ने मुझे कहा है, कि तुम अर्जुन को यहां लाओ, जिससे सारे देवता इसके दर्शन कर लें ॥ १२ ॥

एष शक्रः परिवृतो देवैर्ऋषिगणैस्तथा ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च त्वां दिदृक्षुः प्रतीक्षते ॥१३॥

इन्द्र भी, देव, गन्धर्व, ऋषि और अप्सरा से युक्त होकर सभा में तुम्हारे दर्शन करना चाहता है ॥ १३ ॥

अस्माल्लोकाद्देवलोकं पाकशासनशासनात् ।
आरोह त्वं मया सार्द्धं लब्धास्त्रः पुनरेष्यसि ॥१४॥

अब तुम इन्द्र की आज्ञा से इस लोक से चलकर स्वर्ग लोक में मेरे साथ पधारो, वहां शस्त्रों की प्राप्ति करके फिर लौट आना ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच—

मातले गच्छ शीघ्रं त्वमारोहस्व रथोत्तमम् ।
राजसूयाश्वमेधानां शतैरपि सुदुर्ल्लभम् ॥ १५॥

हे मातले ! सैकड़ों राजसूय और अश्वमेधों से भी दुर्लभ इस रथ में तुम शीघ्र चढ़ो ॥ १५ ॥

पार्थिवैः सुमहाभागैर्यज्वभिर्भूरिदक्षिणैः ।
दैवतैर्वा समारोढुं दानवैर्वा रथोत्तमम् ॥१६॥

यह रथ, बड़ी २ दक्षिणा से यज्ञ करने वाले, महानुभाव राजा और देवता तथा दानवों के चढ़ने के लिये भी नहीं हो सकता है ॥ १६ ॥

नातप्ततपसा शक्य एष दिव्यो महारथः ।
द्रष्टुं वाप्यथवा स्प्रष्टुमारोढुं कुत एव च ॥१७॥

जिसने तप नहीं किया है, वह पुरुष, इसको देख या छू भी नहीं सकता है, फिर चढ़ने का तो कहना ही क्या है ॥१७॥

त्वयि प्रतिष्ठितं साधो रथस्थे स्थिरवाजिनि ।
पश्चादहमथारोक्ष्ये सुकृती सत्पथे यथा ॥१८॥

हे महाभाग ! उत्तम घोड़ों वाले इस खड़े हुए रथ में आपके चढ़जाने पर पीछे मैं चढ़ूंगा, जैसे पुण्यात्मा उत्तम मार्ग में चलता है ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा मातलिः शक्रसारथिः ।
आरुरोह रथं शीघ्रं हयान् येमे च रश्मिभिः ॥१९॥

वैशम्पायनबोले—हेराजन् ! इन्द्र का सारथि, मातलि उसके वचन सुनकर, शीघ्र रथ में चढ़कर और रास पकड़ कर घोड़ों का नियमन करने लगा ॥ १९ ॥

ततोऽर्जुनो हृष्टमना गङ्गायामाप्लुतः शुचिः ।
जजाप जप्यं कौन्तेयो विधिवत् कुरुनन्दनः ॥२०॥

कुरुनन्दन अर्जुन भी गङ्गा में स्नान करके पवित्र होगया । और विधि पूर्वक जप करने लगा ॥ २० ॥

ततः पितॄन् यथान्यायं तर्पयित्वा यथाविधि ।
मन्दरं शैलराजन्तमाप्रष्टुमपचक्रमे ॥२१॥

शास्त्र की विधि के अनुसार पितरों का तर्पण करके अर्जुन ने शैलराज मन्दराचल से आज्ञा लेनी चाही ॥ २१ ॥

साधूनां पुण्यशीलानां मुनीनां पुण्यकर्मणाम् ।
त्वं सदा संशयः शैल स्वर्गमार्गाभिकाङ्क्षिणाम् ॥२१॥

हे शैलराज ! स्वर्ग के चाहने वाले पुण्यात्मा, साधु पुरुष और महात्मा मुनियों का तू ही आश्रय है ॥ २१ ॥

त्वत्प्रसादात् सदा शैल ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ।
स्वर्गं प्राप्ताश्चरन्तिस्म देवैः सह गतव्यथाः ॥२२॥

हे महाशैल ! तेरे—अनुग्रह से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्वर्ग को पा लेते हैं और क्लेश रहित होकर देवों के साथ विहार करते हैं ॥ २२ ॥

अद्रिराज महाशैल मुनिसंश्रय तीर्थवन् ।
गच्छाम्यामन्त्रयिता त्वां सुखमस्म्युषितस्त्वयि ॥२३॥

हे अद्रिराज ! महाशैल, तू—मुनियों का आश्रय और तीर्थों का धारण करने वाला है। अब मैं तुमसे आज्ञा लेकर जाता हूँ, क्योंकि तेरे यहां मैंने सुख से निवास किया है ॥ २३ ॥

तव सानूनि कुञ्जाश्च नद्यः प्रस्रवणानि च ।
तीर्थानि च सुपुण्यानि मया दृष्टान्यनेकशः ॥२४॥

हे शैलराज ! मैंने यहां तेरे शिखर, लता, कुञ्ज, नदी, झरने, पवित्र तीर्थ, अनेक प्रकार से देखे हैं ॥ २४ ॥

फलानि च सुगन्धीनि भक्षितानि ततस्ततः ।
सुसुगन्धाश्च वार्य्योघास्त्वच्छरीरविनिःसृताः ॥२५॥

अमृताः स्वादनीया मे पीताः प्रस्रवणोदकाः
शिशुर्यथा पितुरङ्के सुसुखं वर्त्तते नग ॥२६॥
तथा तवाङ्के ललितं शैलराज मया प्रभो ।
अप्सरोगणसङ्कीर्णे ब्रह्मघोषानुनादिते ॥२७॥
सुखमस्म्युषितः शैल तव सानुषु नित्यदा ।

हे पर्वत राज ! मैंने यहां अनेक भांति के सुगन्धित फल-भक्षण किए और तेरी चोटियों से गिरने वाले, अमृत के तुल्य स्वादिष्ट, झरनों के जल पीए। मैंने पिता की गोदी में शिशु के समान अप्सराओं के गणों से व्याप्त, वेद ध्वनि से शब्दायमान, तेरे पास अत्यन्त सुख पाया है। हे शैल ! मैं नित्य ही तेरी चोटियों पर आनन्द से नित्य विहार करता रहा हूं ॥ २५ २७ ॥

एवमुक्त्वार्जुनः शैलमामन्त्र्य परवीरहा ॥२८॥
आरुरोह रथं दिव्यं द्योतयन्निव भास्करः ।

यह कह कर शत्रु विजयी अर्जुन ने शैलराज से विदा ग्रहण की और आकश को प्रकाशमान करने वाले सूर्य की भांति उस दिव्य रथ में आरोहण किया ॥ २८ ॥

स तेनादित्यरूपेण दिव्येनाद्भुतकर्मणा ॥२९॥
ऊर्ध्वमाचक्रमे धीमान् प्रहृष्टः कुरुनन्दनः ।

उस अद्भुत, सूर्य के समान देदीप्यमान दिव्य रथ से बुद्धिमान् अर्जुन, हर्ष के साथ आकाश को उड़ गया ॥ २९ ॥

सोऽदर्शनपथं यातो मर्त्यानां धर्मचारिणाम् ॥३०॥
ददर्शाद्भुतरूपाणि विमानानि सहस्रशः ।

अब यह मनुष्यों की दृष्टि से आगे निकल गया। यहां इसने सहस्रों की संख्या में विमान (महल) देखे॥ ३० ॥

न तत्र सूर्य्यः सोमो वा द्योतते न च पावकः ॥३१॥
स्वयैव प्रभया तत्र द्योतन्ते पुण्यलब्धया।

स्वर्ग में न तो यहाँ के समान सूर्य, न चन्द्रमा और अग्नि ही प्रकाश कर रहा था। ये महल तो अपने पुण्य से प्राप्त दिव्य प्रभा से प्रकाशित हो रहे थे॥ ३१ ॥

तारारूपाणि यानीह दृश्यन्ते द्युतिमन्ति वै ॥३२॥
दीपवद्विप्रकृष्टत्वात्तनूनि सुमहान्त्यपि।

इस लोक में जो चमकदार तारे दिखाई देते हैं, जो दूर होने से दीपक के तुल्य छोटे २ प्रतीत होते हैं, ये बड़े २ स्थान हैं ३२

तानि तत्र प्रभास्वन्ति रूपवन्ति च पाण्डवः ॥३३॥
ददर्श स्वेषु धिष्ण्येषु दीप्तिमन्ति स्वयार्चिषा।

ये दिव्य-भवन ही अपने रूप में चमक रहे हैं। अर्जुन ने अपनी वेदी पर अपनी कान्ति से चमकते हुए इन भवनों को देखा॥ ३३ ॥

तत्र राजर्षयः सिद्धा वीराश्च निहता युधि ॥३४॥
तपसा च जितं स्वर्गं संपेतुः शतसङ्घशः।

इन भवनों में वीर राजर्षि, जिन्होंने युद्ध में प्राण-त्यागे और बड़े २ सिद्ध, जिन्होंने तप से स्वर्ग जीता था, निवास कर रहे थे॥ ३४ ॥

गन्धर्वाणां सहस्राणि सूर्यज्वलिततेजसाम् ॥३५॥
गुह्यकानामृषीणाञ्च तथैवाप्सरसां गणान् ।
लोकानात्मप्रभान् पश्यन् फाल्गुनो विस्मयान्वितः ॥३६॥

सूर्य के समान तेजस्वी हजारों गन्धर्व, गुह्यक ऋषि, तथा अप्सराओं के गणों को एवं अपने प्रकाश से चमकते हुए लोकों को अचम्भे के साथ अर्जुन ने देखा ॥ ३५-३६ ॥

पप्रच्छ मातलिं प्रीत्या स चाप्येनमुवाच ह ।
एते सुकृतिनः पार्थ स्वेषु धिष्ण्येष्ववस्थिताः ॥३७॥
यान् दृष्टवानसि विभो तारारूपाणि भूतले ।

अब अर्जुन ने, मातलि सारथि से पूछा, वह इनसे कहने लगा। हे पार्थ ! ये पुण्यात्मा लोग हैं, जो अपने २ भवनों में रह रहे हैं, ये वे ही भवन हैं, जिनको तुम, पृथिवी पर तारे खयाल करके देखते रहते हो ॥ ३७ ॥

ततोऽपश्यत् स्थितं द्वारि शुभ्रं वैजयिनं गजम् ॥३८॥
ऐरावतश्चतुर्दन्तं कैलासमिव शृङ्गिणम् ।

इसके बाद स्वर्ग के द्वार पर खड़े हुए, चार दांत वाले, चोटी वाले कैलाश के सदृश, विजयी ऐरावत हाथी को देखा ।

स सिद्धमार्गमाक्रम्य कुरुपाण्डवसत्तमः ॥३९॥
व्यरोचत यथापूर्वं मान्धाता पार्थिवोत्तमः ।
अतिचक्राम लोकान् स राज्ञां राजीवलोचनः ॥४०॥

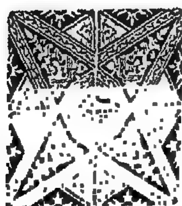
इस कुरु-वंश श्रेष्ठ, अर्जुन ने सिद्धों के मार्ग का अतिक्रमण किया। यहां यह राजा मान्धाता के समान उज्ज्वल प्रतीत होता था। इस कमल के तुल्य नेत्र वाले अर्जुन ने राजाओं के अनेक लोकों में भ्रमण किया ॥३९-४०॥

एवं स संक्रमंस्तत्र स्वर्गलोके महायशाः ।
ततो ददर्श शक्रस्य पुरींताममरावतीम् ॥४१॥

इति आरण्यपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि शक्रपुरीदर्शने द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

अब इस महा-यशस्वी अर्जुन ने स्वर्ग-लोक में घूमते हुए इन्द्रकी विशाल-पुरी अमरावती के दर्शन किए ॥४१॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्व में इन्द्रपुरी दर्शन का बयालीसवां अध्याय पूरा हुआ



तेतालीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

स ददर्श पुरीं रम्यां सिद्धचारणसेविताम् ।
सर्वर्त्तुकुसुमैः पुण्यैः पादपैरुपशोभिताम् ॥१॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन् ! अर्जुन ने सब ऋतुओं के सुगन्धित पुष्प और वृक्षों से सुशोभित, सिद्ध चारणों से सेवित, उस इन्द्र की नगरी अमरावती के दर्शन किए ॥१॥

तत्र सौगन्धिकानाञ्च पुष्पाणां पुण्यगन्धिनाम् ।
उद्वीज्यमानो मिश्रेण वायुना पुण्यगन्धिना ॥२॥

वहां उत्तम २ गन्ध वाले कल्प-वृक्षों के पुष्पों की सुगन्ध से युक्त, उत्तम वायु से अर्जुन का पंखा सा हो रहा था ॥२॥

नन्दनञ्च वनं दिव्यमप्सरोगणसेवितम् ।
ददर्श दिव्यकुसुमैराह्वयद्भिरिव द्रुमैः ॥३॥

दिव्य कुसुम वाले वृक्षों से आह्वान सा पाकर यह अर्जुन, अप्सराओं से युक्त, उस दिव्य नन्दन वन को देखने लगा ॥३॥

नातप्ततपसा शक्यो द्रष्टुं नानाहिताग्निना ।
स लोकः पुण्यकर्तॄणां नापि युद्धे पराङ्मुखैः ॥४॥

इस स्वर्गलोक को तप से रहित, अग्नि होत्र नहीं करने वाला मनुष्य, कभी नहीं देख सकता है ॥४॥

नायज्वद्भिर्नाव्रतिकैर्न वेदश्रुतिवर्जितैः ।
नानाप्लुताङ्गैस्तीर्थेषु यज्ञदानबहिष्कृतैः ॥५॥

यज्ञ नहीं करने वाले, व्रत से रहित, वेदध्ययन से पराङ्मुख, तीर्थों के स्नान से वञ्चित, यज्ञदान से बहिष्कृत पुरुष भी इस लोक को नहीं देख सकता ॥५॥

नापि यज्ञहनैः क्षुद्रैर्द्रष्टुं शक्यः कथञ्चन ।
पानपैर्गुरुतल्पैश्च मांसादैर्वा दुरात्मभिः ॥६॥

यज्ञ के विध्वंस करने वाले, क्षुद्र प्राणी, शराबी, गुरु की स्त्री के साथ गमन करने वाले, मांस-भोजी, दुरात्मा भी इस लोक में कभी नही आ सकते हैं ॥६॥

स तद्दिव्यं वनं पश्यन् दिव्यगीतनिनादितम् ।
प्रविवेश महाबाहुः शक्रस्य दयितां पुरीम् ॥७॥

दिव्य गीतों से शब्दायमान इस नन्दन वन को देखता हुआ महाबाहु अर्जुन, इन्द्र की प्रिय पुरी अमरावती में प्रविष्ट हुआ ॥७॥

तत्र देवविमानानि कामगानि सहस्रशः ।
संस्थितान्यभियातानि ददर्शायुतशस्तदा ॥८॥

यहां इसने सैकड़ों की संख्या में ऐसे देवों के विमान (भवन) देखे, जो कामना के अनुसार गमन करते थे और हजारों की संख्या में एक ही स्थान पर ठहरे हुए तथा हजारों की संख्या में चल फिर रहे थे ॥८॥

संस्तूयमानो गन्धर्वैरप्सरोभिश्च पाण्डवः ।
पुष्पगन्धवहैः पुण्यैर्वायुभिश्चानुवीजितः ॥९॥

अनेक गन्धर्व और अप्सराएं, अर्जुन की प्रशंसा में गा रहे थे और पुष्पों की सुगन्ध से युक्त पवित्र वायु, इनकी सेवा सी कर रहा था ॥९॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
हृष्टाः सम्पूजयामासुः पार्थमक्लिष्टकारिणम् ॥१०॥

इसके अनन्तर गन्धर्वों के सहित, सिद्ध, परमर्षि, और देवों ने बड़े हर्ष से उत्तम धर्म सम्पादन कर लेने वाले अर्जुन की पूजा की ॥१०॥

आशीर्वादैः स्तूयमानो दिव्यवादित्रनिस्वनैः ।
प्रतिपेदे महाबाहुः शङ्खदुन्दुभिनादितम् ॥११॥

दिव्य बाजों के शब्दों के साथ आशीर्वादों से अर्जुन की स्तुति की गई । इस महाबाहु अर्जुन ने शङ्ख और दुन्दुभि के शब्दों को भली भांति सुना ॥११॥

नक्षत्रमार्गं विपुलं सुरवीथीतिविश्रुतम् ।
इन्द्राज्ञया ययौ पार्थः स्तूयमानः समन्ततः ॥१२॥

सुरवीथि नामक जो देवों का प्रसिद्ध विशाल नक्षत्र मार्ग था, इन्द्र की आज्ञा से स्तुति के साथ अर्जुन, उसी मार्ग से निकला ॥१२॥

तत्र साध्यास्तथा विश्वे मरुतोऽथाश्विनौ तथा ।
आदित्या वसवो रुद्रास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥१३॥
राजर्षयश्च बहवो दिलीपप्रमुखा नृपाः ।
तुम्बुरुर्नारदश्चैव गन्धर्वौ च हाहाहूहूः ॥१४॥
तान् सर्वान् स समागम्य विधिवत् कुरुनन्दनः ।
ततोऽपश्यद्देवराजं शतक्रतुमरिन्दमः ॥१५॥

वहां साध्य, विश्वे देवा, मरुत, आश्विन, आदित्य, वसु, रुद्र, ब्रह्मर्षि, राजर्षि दिलीप आदि अनेक राजा, तुम्बरु, नारद, हाहा, हूहू, संज्ञक गन्धर्वों से मिलकर अरि-विजयी अर्जुन ने देवराज इन्द्र को देखा ॥१३-१५॥

ततः पार्थो महाबाहुरवतीर्य्य रथोत्तमात् ।
ददर्श साक्षाद्देवेशं पितरं पाकशासनम् ॥१६॥

इसके अनन्तर महाबाहु, अर्जुन ने उस उत्तम रथ से उतर कर, देवों के स्वामी अपने पिता इन्द्र को देखा ॥१६॥

पाण्डुरेणातपत्रेण हेमदण्डेन चारुणा ।
दिव्यगन्धाधिवासेन व्यजनेन विधूयता ॥१७॥

यह इन्द्र, सुवर्ण के दण्ड वाले, श्वेत छत्र से युक्त, दिव्य गन्ध से सुगन्धित किए हुए पंखे से पवन करा रहा था ॥१७॥

विश्वावसुप्रभृतिभिर्गन्धर्वैस्स्तुतिवन्दिभिः ।
स्तूयमानं द्विजाग्र्यैश्च ऋग्यजुःसामसम्भवैः ॥१८॥

स्तुति करने वाले विश्वा-वसु आदि गन्धर्व तथा ऋग, यजु, साम वेद की स्तुतिओं से ब्राह्मण, इन्द्र की स्तुति कर रहे थे ॥१८॥

ततोऽभिगम्य कौन्तेयः शिरसाभ्यगमद्बली ।
स चैनं वृत्तपीनाभ्यां बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णत ॥१९॥

महाबली अर्जुन, इसके पास पहुँचा और शिर झुका कर खड़ा होगया। इन्द्र ने भी गोल और पुष्ट भुजाएँ फैलाकर इसका आलिङ्गन किया ॥१९॥

ततः शक्रासने पुण्ये देवर्षिगणसेविते ।
शक्रः पाणौ गृहीत्वैनमुपावेशयदन्तिके ॥२०॥

इन्द्र ने देव और ऋषियों के गणों से युक्त, पवित्र, इन्द्रासन पर हाथ पकड़ कर अर्जुन को पास बैठाया ॥२०॥

मूर्द्धि चैनमुपाघ्राय देवेन्द्रः परवीरहा ।
अङ्कमारोपयामास प्रश्रयावनतं तदा ॥२१॥

दैत्यों के नाश करने वाले इन्द्र ने अर्जुन का शिर सूंघा और विनय से झुके हुए अर्जुन को इन्द्र ने गोदी में बैठा लिया।

सहस्राक्षनियोगात् स पार्थः शक्रासनं गतः ।
अध्यक्रामदमेयात्मा द्वितीय इव वासवः ॥२२॥

इन्द्र की आज्ञा से महात्मा अर्जुन, इन्द्र के आसन पर दूसरे इन्द्र के तुल्य बैठ गया ॥२२॥

ततः प्रेम्णा वृत्रशत्रुरर्जुनस्य शुभं मुखम् ।
पस्पर्श पुण्यगन्धेन करेण परिसान्त्वयन् ॥२३॥

अब वृत्रशत्रु, इन्द्र ने अर्जुन के मुख को, पवित्र गन्ध वाले अपने हाथ से शान्ति देते हुए बड़े प्रेम से छुआ ॥२३॥

प्रमार्ज्यमानः शनकैर्बाहू चास्यायतौ शुभौ ।
ज्याशरक्षेपकठिनौ स्तम्भाविव हिरण्मयौ ॥२४॥

इन्द्र ने इसकी लम्बी सुन्दर धनुष की डोरी खैंचने और बाण चढ़ाने से कर्कश, सुवर्ण के खम्भे के सदृश बाहुओं को धीरे २ साफ किया ॥२४॥

वज्रग्रहणचिह्नेन करेण परिसान्त्वयन् ।
मुहुर्मुहुर्वज्रधरो बाहू चास्फोटयञ्छनैः ॥२५॥

यह वज्रधारी इन्द्र, धीरे २ शान्ति देता हुआ वज्र के ग्रहण करने के चिन्ह से चिन्हित, हाथ से अर्जुन की भुजाओं को साफ कर रहा था ॥२५॥

स्मयन्निव गुडाकेशं प्रेक्षमाणः सहस्रदृक् ।
हर्षेणोत्फुल्लनयनो न चातृप्यत वृत्रहा ॥२६॥

वृत्र का नाशक, सहस्र नेत्रधारी इन्द्र, हर्ष से नेत्रों को विकसित करके हंसता हुआ, अर्जुन को देख रहा था और तृप्त नहीं होता था ॥२६॥

एकासनोपविष्टौ तौ शोभयाञ्चक्रतुः सभाम् ।
सूर्याचन्द्रमसौ व्योम चतुर्दश्यामिवोदितौ ॥२७॥

एक आसन पर बैठे हुए इन्द्र और अर्जुन, उस सभा को इस तरह से सुशोभित कर रहे थे जैसे सूर्य और चन्द्र चतुर्दशी को उदय होकर आकाश को सुशोभित करते हैं ॥२७॥

तत्र स्म गाथा गायन्ति साम्ना परमवल्गुना ।
गन्धर्वास्तुम्बुरुश्रेष्ठाः कुशला गीतसामसु ॥२८॥

वहां बड़े मीठे स्पष्ट स्वर वाले, साम गान में चतुर, तुम्बरु आदि गन्धर्व, गीतों को गा रहे हैं ॥२८॥

घृताची मेनका रम्भा पूर्वचित्तिः स्वयम्प्रभा ।
उर्वशी मिश्रकेशी च दण्डगौरी वरूथिनी ॥२९॥
गोपाली सहजन्या च कुम्भयोनिः प्रजागरा ।
चित्रसेना चित्रलेखा सहा च मधुरस्वना ॥३०॥
एताश्चान्याश्च ननृतुस्तत्र तत्र सहस्रशः ।
चित्तप्रसादने युक्ताः सिद्धानां पद्मलोचनाः ॥३१॥

वहां घृताची, मेनका, रम्भा, पूर्वचित्ति, स्वयम्प्रभा, उर्वशी, मिश्रकेशी, दण्डगौरी, वरुथिनी, गोपाली, सहजन्या, कुम्भयोनि प्रजागरा, चित्रसेना, चित्रलेखा, सहा, मधुरस्वना, ये अप्सरा तथा अन्य अप्सराएं सहस्रों की संख्या में नाच गा रही थीं, ये सब कमल के तुल्य नेत्र वाली, सिद्धों के भी चित्तों को खैंच लेने वाली थीं ।

महाकटितटश्रोण्यः कम्पमानैः पयोधरैः ।
कटाक्षहावमाधुर्य्यैश्चेतोबुद्धिमनोहरैः ॥३२॥

इति आरण्यपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि इन्द्रसभादर्शने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

ये विशाल नितम्बों वाली अप्सराएं, अपने कांपते हुए स्तन तथा चित्त बुद्धि और मन के हरने वाले कटाक्ष और हाव भावों के सौन्दर्य से सबको वश कर रही थी ॥३२

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमन पर्व में इन्द्रसभा के देखने का तेतालीसवां अध्याय पूरा हुआ।



चवालीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततो देवाः सगन्धर्वा समादायार्घ्यमुत्तमम् ।
शक्रस्य मतमाज्ञाय पार्थमानर्चु रञ्जसा ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजेन्द्र ! इसके अनन्तर गन्धर्वों के सहित, देवता, उत्तम अर्घ्य लेकर इन्द्र की इच्छानुसार शीघ्र ही अर्जुन की पूजा करने लगे ॥ १ ॥

पाद्यमाचमनीयञ्च प्रतिग्राह्य नृपात्मजम् ।
प्रवेशयामासुरथो पुरन्दरनिवेशनम् ॥२॥

इन्होंने प्रथम अर्जुन को पाद्य और आचमन प्रदान करके उसको इन्द्र के भवन में प्रविष्ट कराया ॥ २ ॥

एवं सम्पूजितो जिष्णुरुवास भवने पितुः ।
उपशिक्षन्महास्त्राणि ससंहाराणि पाण्डवः ॥३॥

इस प्रकार आदर के साथ अर्जुन, अपने पिता इन्द्र के भवन में रहने लगा। इस समय अर्जुन, इन्द्र के समस्त महास्त्रों को चलाने और संहार की विधि के साथ २ सीखने लगा ॥३॥

शक्रस्य हस्ताद्दयितं वज्रमस्त्रञ्च दुःसहम्।
अशनीश्च महानादा मेघबर्हिणलक्षणाः ॥४॥

इसने इन्द्र के हाथ से उस के प्रिय, दुःसह, अस्त्र वज्र को और मेघ तथा मयूरों से जानने योग्य महा-शब्द-कारी अशनि (बिजली) को भी ग्रहण किया॥ ४ ॥

गृहीतास्त्रस्तु कौन्तेयो भ्रातॄन् सस्मार पाण्डवः।
पुरन्दरनियोगाच्च पञ्चाब्दानवसत् सुखी ॥५॥

इन्द्र की आज्ञा से अर्जुन पांच वर्ष तक स्वर्ग में रहे। अब शस्त्र ग्रहण करने के अनन्तर पाण्डुपुत्र अर्जुन ने अपने भाइयों को याद किया ॥ ५ ॥

ततः शक्रोऽब्रवीत् पार्थं कृतास्त्रं काल आगते।
नृत्यं गीतञ्च कौन्तेय चित्रसेनादवाप्नुहि ॥६॥

जब अर्जुन ने सारे शस्त्र सीख लिये और लौटने का समय आया, तो कहा कि अब तुम चित्रसेन से नाचना और गाना और सीख लो ॥ ६ ॥

वादित्रं देवविहितं नृलोके यन्न विद्यते।
तदर्जयस्व कौन्तेय श्रेयो वै ते भविष्यति ॥७॥

हे अर्जुन ! तुम देवों से सम्पादित वाद्य (बाजा) बजाना और सीख लो, यह मनुष्य लोक में प्राप्त नहीं हो सकेगा, इससे तुम्हारा बड़ा कल्याण होगा ॥ ७ ॥

सखायं प्रददौ चास्य चित्रसेनं पुरन्दरः ।
स तेन सह सङ्गम्य रेमे पार्थो निरामयः ॥८॥

इन्द्र ने अपने मित्र चित्रसेन के लिए अर्जुन को सौंप दिया। अर्जुन, कष्ट रहित होकर इस के साथ आनन्द से रहने लगा ॥८

गीतवादित्रनृत्यानि भूय एवादिदेश ह ।
तथापि नालभच्छर्म तरस्वी द्यूतकारितम् ॥९॥
दुःशासनवधामर्षी शकुनेः सौबलस्य च ।

इसने गाना, बजाना और नाचना अर्जुन को सिखा दिया, तो भी यह तेजस्वी अर्जुन, दुःशासन, सुबलपुत्र शकुनि के वध के आवेश में इन खेल तमाशों में आनन्द नहीं मानता था ॥९॥

ततस्तेनातुलां प्रीतिमुपागम्य क्वचित् क्वचित् ।
गान्धर्वमतुलं नृत्यं वादित्रञ्चोपलब्धवान् ॥१०॥

इस चित्रसेन गन्धर्व के साथ कहीं २ पर अर्जुन ने अत्यन्त आनन्द प्राप्त किया और गाना, बजाना तथा नाचना यह सब कुछ सीख लिया ॥ १० ॥

स शिक्षितो नृत्यगुणाननेकान् वादित्रगीतार्थगुणांश्च सर्वान् ।
न शर्म लेभे परवीरहन्ता भ्रातॄन् स्मरन्मातरञ्चैव कुन्तिम् ॥

इति आरण्यपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि अर्जुनास्त्रादि-
शिक्षायां चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४४॥

यह शत्रु विजयी अर्जुन, अपने भाई और माता कुन्ती का स्मरण करके, इस स्थान में भी सुख नहीं मान रहा था। इसने नाचने के अनेक गुण, बाजा बजाना और गाना सब कुछ अच्छी तरह सीख लिया॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमन पर्व में
अर्जुन के अस्त्र ग्रहण करने का चवालीसवां
अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥



पैंतालीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

कदाचिदथ तं शक्रश्चित्रसेनं रहोऽब्रवीत्।
पार्थस्य चक्षुरुर्वश्यां सक्तं विज्ञाय वासवः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! एक बार इन्द्र ने अपने मित्र चित्रसेन से कहा, कि अर्जुन की दृष्टि कुछ उर्वशी पर टिक गई मालूम होती है॥ १ ॥

गन्धर्वराज गच्छाद्य प्रतीतोऽप्सरसां वराम्।
उर्वशीं पुरुषव्याघ्रं सोपतिष्ठतु फाल्गुनम् ॥२॥

हे गन्धर्वराज! मैं तुमको भेजता हूँ, तुम आज ही जाकर अप्सराओं में श्रेष्ठ उर्वशी से कहो, कि वह पुरुष श्रेष्ठ अर्जुन के पास चली जावे॥ २ ॥

यथार्चितो गृहीतास्त्रो विद्यायां मन्नियोगतः ।
तथा त्वया विधातव्यः स्त्रीषु सङ्गविशारदः ॥३॥

जैसे पूजा करके मैंने इसको अस्त्र ग्रहण करा दिए हैं, वैसे ही तुम इसको ऐसा बना, दो कि यह स्त्रियों के सहवास में चतुर हो जावे ॥ ३ ॥

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा सोऽनुज्ञां प्राप्य वासवात् ।
गन्धर्वराजोऽप्सरसमभ्यगादुर्वशीं वराम् ॥४॥

इन्द्र के इतना कहने पर चित्रसेन ने स्वीकार कर लिया। यह गन्धर्वराज इन्द्र की आज्ञा पाकर अप्सराओं में श्रेष्ठ, उर्वशी के पास पहुँचा ॥ ४ ॥

तां दृष्ट्वा विदितो हृष्टः स्वागतेनार्चितस्तथा ।
सुखासीनः सुखासीनां स्मितपूर्वं वचोऽब्रवीत् ॥५॥

उर्वशी को देखकर चित्रसेन पहचान गया और बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने इसका बड़ा भारी स्वागत और सत्कार किया। फिर सुख से बैठ कर शान्ति में बैठी हुई उर्वशी से हंसता २ कहने लगा ॥ ५ ॥

विदितं तेऽस्तु सुश्रोणि प्रहितोऽहमिहागतः ।
त्रिदिवस्यैकराजेन त्वत्प्रसादाभिनन्दिना ॥६॥

हे सुन्दरी ! तुमको मालूम होगा, कि मैं स्वर्ग के राजा इन्द्र का भेजा हुआ यहां आया हूँ, जो तेरी प्रसन्नता से स्वयं भी प्रसन्न होता है ॥ ६ ॥

यस्तु देवमनुष्येषु प्रख्यातः सहजैर्गुणैः ।
श्रिया शीलेन रूपेण व्रतेन च दमेन च ॥ ७ ॥

जो देव और मनुष्यों में अपने स्वाभाविक गुणों से तथा कान्ति, शील, रूप, व्रत और मन के विजय करने में प्रसिद्ध है॥

प्रख्यातो बलवीर्य्येण सम्मतः प्रतिभानवान् ।
वर्च्चस्वी तेजसा युक्तः क्षमावान् वीतमत्सरः ॥ ८ ॥

यह बल और पराक्रम में भी प्रसिद्ध है, सब इसकी प्रतिष्ठा करते हैं और यह बड़ी भारी स्फूर्ति का धारण करने वाला है। यह बड़ा ओजस्वी, तेज से युक्त, क्षमाशील और सब प्रकार के राग द्वेषों से रहित है ॥ ८ ॥

साङ्गोपनिषदान् वेदान् चतुराख्यानपञ्चमान् ।
योऽधीते गुरुशुश्रूषां मेधाञ्चाष्टगुणाश्रयाम् ॥ ९ ॥

इसने उपनिषदों के साथ चारों ही वेदों को पढ़ा है, तथा गुरु की सेवा की विधि और आठ गुण वाली बुद्धि प्राप्त की है ॥९॥

ब्रह्मचर्य्येण दाक्ष्येण प्रसवैर्वयसापि च ।
एको वै रक्षिता चैव त्रिदिवं मघवानिव ॥ १० ॥

यह ब्रह्मचर्य, चतुराई, उत्पत्ति तथा युवावस्था से, स्वर्ग का इन्द्र के समान जगत् का अकेला ही रक्षक हो सकता है ॥१०॥

अकत्थनो मानयिता स्थूललक्ष्यः प्रियम्वदः ।
सुहृदश्चान्नपानेन विविधेनाभिवर्षति ॥ ११ ॥

यह अपनी प्रशंसा नहीं करता है और मनस्वी है। यह सूक्ष्म विषयों को भी स्थूल की भांति ग्रहण करता है और प्रिय बोलने वाला है तथा यह मित्र पर अनेक प्रकार के अन्न पान की वर्षा सी करता रहता है ॥ ११ ॥

सत्यवाक् पूजितो वक्ता रूपवाननहंकृतः ।
भक्तानुकम्पी कान्तश्च प्रियश्च स्थिरसङ्गरः ॥ १२ ॥

यह सत्यवादी वक्ता, रूपमान्, अहङ्कार से रहित, भक्तों पर दया करने वाला, सुन्दर, प्रिय और वीरता के साथ युद्ध करने वाला है।

प्रार्थनीयैर्गुणगणैर्महेन्द्रवरुणोपमः ।
विदितस्तेऽर्जुनो वीरः स स्वर्गफलमाप्नुयात् ॥ १३ ॥

यह, सब के ग्रहण करने योग्य गुण समूह से इन्द्र और वरुण के तुल्य हैं। इस अर्जुन को तुम भी जानती होंगी। यह वीर अर्जुन, स्वर्ग के फल प्राप्त कर सकता है ॥ १३ ॥

तव शक्राभ्यनुज्ञातः पादावद्य प्रपद्यताम् ।
तदेवं कुरु कल्याणि प्रपन्नस्त्वां धनञ्जयः ॥१४॥

आज इन्द्र की आज्ञा से वह तेरे पास आवेगा। हे कल्याणि! तुम इस प्रकार व्यवहार करो, कि जिससे अर्जुन तुम पर मुग्ध हो जावे। ॥ १४ ॥

एवमुक्त्वा स्मितं कृत्वा सम्मानं बहुमन्य च ।
प्रत्युवाचोर्वशी प्रीत्या चित्रसेनमनिन्दिता ॥१५॥

चित्रसेन इतना कह कर और उर्वशी के लिये बहुत मान प्रदर्शित करके चुप हो गया। अब सुन्दरी उर्वशी प्रेम पूर्वक चित्रसेन से कहने लगी॥ १५॥

यस्त्वस्य कथितः सत्यो गुणोद्देशस्त्वया मम।
तं श्रुत्वाव्यथयं पुंसो वृणुयां किमतोऽर्जुनम् ॥१६॥

तूने जो सत्य २ गुण लेशों का मुझसे वर्णन किया है, इस को सुन कर मेरा चित्त बड़ा दुःखी हुआ है, कि मनुष्यों में अर्जुन को स्वीकार करूं, खैर ? मैंने पूर्व ही अर्जुन के गुण सुन लिए हैं, इससे मैं उसे स्वीकार कर सकूंगी।

महेन्द्रस्य नियोगेन त्वत्तः संप्रणयेन च।
तस्य चाहं गुणौघेन फाल्गुने जातमन्मथा।
गच्छ त्वं हि यथाकाममागमिष्याम्यहं सुखम् ॥१७॥

इति आरण्यपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि चित्रसेनोर्वशी संवादे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४५॥

इन्द्र की आज्ञा, तेरे प्रेम और अर्जुन के गुणों के समूहों के कारण अर्जुन में मेरा भी प्रेम हो गया है। अब तुम अपनी इच्छा के अनुसार जाओ, मैं आनन्द से आ रही हूं॥ १७॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमन पर्व में चित्रसेन उर्वशी के सम्वाद का पैंतालीसवां अध्याय पूरा हुआ।



छियालीसवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततो विसृज्य गन्धर्वं कृतकृत्यं शुचिस्मिता।
उर्वशी चाकरोत् स्नानं पार्थप्रार्थनलालसा ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! सुन्दर मुस्कुराने वाली, उर्वशी ने चित्रसेन को विदा किया। यह चित्रसेन भी उर्वशी के स्वीकार कर लेने से कृतार्थ हो गया। अब अर्जुन की प्राप्ति की लालसा वाली, उर्वशी ने स्नान किया॥ १॥

स्नानालङ्करणैर्हृद्यैर्गन्धमाल्यैश्च सुप्रभैः।
धनञ्जयस्य रूपेण शरैर्मन्मथचोदितैः॥२॥
अतिविद्धेन मनसा मन्मथेन प्रदीपिता।
दिव्यास्तरणसंस्तीर्णे विस्तीर्णे शयनोत्तमे ॥३॥
चित्तसङ्कल्पभावेन स्वचित्तानन्यमानसा।
मनोरथेन संप्राप्तं रमत्येनं हि फाल्गुनम् ॥४॥

स्नान, सुन्दर अलङ्कार, उत्तम गन्ध और माला तथा अर्जुन के रूप के कारण कामदेव के प्रेरित किये हुए बाणों से अत्यन्त विंधे हुए मनसे, दिव्य विस्तारों से युक्त, सुन्दर विशाल शय्या पर, कामदेव से पीडित, केवल अर्जुन के ही ध्यान में तत्पर, उर्वशी, अपने संकल्प से ही कल्पना द्वारा प्राप्त अर्जुन के साथ रमण करने लगी॥ २-४॥

निर्गत्य चन्द्रोदयने विगाढे रजनीमुखे ॥
प्रस्थिता सा पृथुश्रोणी पार्थस्य भवनं प्रति ॥

अब रात्रि के बढ़ जाने पर चन्द्रमा के उदय काल में यह पुष्ट नितम्बों वाली उर्वशी, अर्जुन के वास भवन की ओर चलदी

मृदुकुञ्चितदीर्घेण कुसुमोत्करधारिणा ।
केशहस्तेन ललना जगामाथ विराजती ॥६॥

यह सुन्दरी, कोमल और बांके, मूंड से लम्बे तथा कुमुद केसरे के तुल्य सुन्दर और कोमल बालों से सुशोभित होती हुई, चली जा रही थी ॥ ६ ॥

भ्रूक्षेपालापमाधुर्यैः कान्त्या सौम्यतयापि च ।
शशिनं वक्त्रचन्द्रेण साह्वयन्तीव गच्छती ॥७॥

यह उर्वशी भ्रूकुटी के चलाने, वार्तालाप के सौन्दर्य, कान्ति और सौम्यता से सुशोभित हो रही थी तथा अपने मुख चन्द्र से चन्द्रमा से बराबरी करती हुई सी जा रही थी ॥ ७ ॥

दिव्याङ्गरागौ सुमुखौ दिव्यचन्दनरूषितौ ।
गच्छन्त्या हाररुचिरौ स्तनौ तस्या ववल्गतुः ॥८॥

इस उर्वशी के गमन के समय अङ्गराग और चन्दन के लेप से युक्त सुन्दर मुख वाले, हार सहित, स्तन, धीरे २ हिल रहे थे ॥ ८ ॥

स्तनोद्वहनसङ्क्षोभान्नम्यमाना पदे पदे ।
त्रिवलीदामचित्रेण मध्येनातीव शोभिना ॥९॥

स्तनों के भार के कारण तथा उदर की त्रिवली की अद्भुतता और अत्यन्त शोभा वाले मध्य भाग से यह सुन्दरी, पद २ पर लचक जाती थी ॥ ९ ॥

अधोभूधरविस्तीर्णं नितम्बोन्नतपीवरम् ।
मन्मथायतनं शुभ्रं रसनादामभूषितम् ॥१०॥

नीचे के भाग में पर्वत के समान विशाल कामदेव के निवास स्थान, सुन्दर तथा सुवर्ण की तगड़ी से सुशोभित, ऊंचे और पुष्ट इसके नितम्ब थे ॥ १० ॥

ऋषीणामपि दिव्यानां मनोव्याघातकारणम् ।
सूक्ष्मवस्त्रधरं रेजे जघनं निरवद्यवत् ॥११॥

बारीक वस्त्र धारण किये हुए, सब प्रकार से सुन्दर, इस उर्वशी का यह जघन प्रदेश, दिव्य ऋषियों के मन को भी विचलित कर देता था ॥ ११ ॥

गूढगुल्फधरौ पादौ ताम्रायततलाङ्गुलौ ।
कूर्मपृष्ठोन्नतौ चापि शोभेते किङ्किणीकिणौ ॥१२॥

इसके टखने बिल्कुल दृष्टिगोचर नहीं होते थे और लाल तल तथा लम्बी २ अङ्गुलि धारी कछुवे की पीठ के तुल्य ऊंचे घूंघरूओं के चिन्हों से युक्त, इसके चरण सुशोभित हो रहे थे ॥ १२ ॥

सीधुपानेन चाल्पेन तुष्टाथ मदनेन च ।
विलासनैश्च विविधैः प्रेक्षणीयतराभवत् ॥१३॥

यह, स्वल्प से मदपान, प्रसन्नता और कामदेव तथा अनेक प्रकार के विलासों से, अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होती थी ॥ १३॥

सिद्धचारणगन्धर्वैः सा प्रयाता विलासिनी ।
बह्वाश्चर्येऽपि वै स्वर्गे दर्शनीयतमाकृतिः ॥१४॥

यह विलासिनी, सिद्ध, चारण और गन्धर्वों के साथ जा रही थी। बहुत से आश्चर्यों से युक्त इस स्वर्ग में भी यह सुन्दरी, अत्यन्त ही शोभा वाली प्रतीत होती थी ॥ १४ ॥

सुसूक्ष्मेणोत्तरीयेण मेघवर्णेन राजता ।
तन्वभ्राद्रावृता व्योम्नि चन्द्रलेखेव गच्छती ॥१५॥

श्वेत मेघों के समान चमकते हुए सूक्ष्म वस्त्रों से ढकी और चलती हुई उर्वशी, बादलों से ढकी हुई चन्द्र-लेखा के तुल्य मालूम पड़ती थी ॥ १५ ॥

ततः प्राप्ता क्षणेनैव मनःपवनगामिनी ।
भवनं पाण्डुपुत्रस्य फाल्गुनस्य शुचिस्मिता ॥१६॥

मन और पवन के समान वेगवाली, उर्वशी क्षण भर में ही अर्जुन के वास भवन में पहुँच गई ॥ १६ ॥

तत्र द्वारमनुप्राप्ता द्वारस्थैश्च निवेदिता ।
अर्जुनस्य नरश्रेष्ठ उर्वशी शुभलोचना ॥१७॥

हे नर श्रेष्ठ ! अब यह उर्वशी अर्जुन के भवन के द्वार पर पहुंची। द्वारपालों ने इस सुन्दरी की सूचना अर्जुन को दी ॥१७॥

उपातिष्ठत तद्वेश्म निर्मलं सुमनोहरम् ।
सशङ्कितमना राजन् प्रत्युद्गच्छत तां निशि ॥१८॥

भवानपि विविक्तानि तीर्थानि मनुजेश्वर।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैर्द्रष्टुमर्हत्यरिन्दम ॥२८॥

हे मनुजेश्वर! आप भी अपने भाइयों के साथ एकान्त तीर्थों के दर्शन करो ॥२८॥

तीर्थेष्वाप्लुत्य पुण्येषु विपाप्मा विगतज्वरः।
राज्यं भोक्ष्यसि राजेन्द्र सुखी विगतकल्मषः ॥२९॥

हे राजेन्द्र! तुम उन तीर्थों में स्नान करके पाप और क्लेशों से रहित हो जाओ, इस प्रकार पापों से रहित होकर सुख के साथ राज्य का भोग कर सकोगे ॥२९॥

भवांश्चैनं द्विजश्रेष्ठ पर्य्यटन्तं महीतलम्।
त्रातुमर्हति विप्राग्र्य तपोबलसमन्वितः ॥३०॥

हे द्विजश्रेष्ठ! आप, पृथिवी पर घूमते हुए राजा युधिष्ठिर की रक्षा तपोबल से करते रहना ॥३०॥

गिरिदुर्गेषु च सदा देशेषु विषमेषु च।
वसन्ति राक्षसा रौद्रास्तेभ्यो रक्षां विधास्यति ॥३१॥

दुर्गम पर्वत, ऊँचे नीचे देशों में भयकारी राक्षस रहते हैं, उनसे तुम उनकी रक्षा करना ॥३१

एवमुक्ते महेन्द्रेण बीभत्सुरपि लोमशम्।
उवाच प्रयतो वाक्यं रक्षेथाः पाण्डुनन्दनम् ॥३२॥

इन्द्र के इतना कहने पर अर्जुन भी लोमश ऋषि से आतुरता से कहने लगा—कि हां तुम राजा युधिष्ठिर की रक्षा करो ॥३२॥

यथागुप्तस्त्वया राजा चरेत्तीर्थानि सत्तम।
दानं दद्याद्यथा चैव तथा कुरु महामुने ॥२३॥

हे महामुने! तुमसे सुरक्षित होकर राजा युधिष्ठिर, जिस तरह तीर्थाटन और दान करले, तुम वैसा ही प्रयत्न करो ॥२३॥

वैशम्पायन उवाच—

तथेति सम्प्रतिज्ञाय लोमशः सुमहातपाः।
काम्यकं वनमुद्दिश्य समुपायान्महीतलम् ॥२४॥

वैशम्पायन बोले—हेराजन्! महातपस्वी, लोमश, इन्द्र के वचन स्वीकार करके काम्यक वन में जाने के लिए पृथिवी पर उतरे ॥२४॥

ददर्श तत्र कौन्तेयं धर्मराजमरिन्दमम्।
तापसैर्भ्रातृभिश्चैव सर्वतः परिवारितम् ॥२५॥

इति आरण्यपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि लोमशागमने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

उसने वहां अपने भाई और तपस्वियों से घिरे हुए शत्रुविजयी राजा युधिष्ठिर को देखा ॥२५॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमन पर्व में लोमश मुनि के आगमन का सैंतालीसवां अध्याय पूरा हुआ।



अड़तालीसवां अध्याय

जनमेजय उवाच—

अत्यद्भुतमिदं कर्म्म पार्थस्यामिततेजसः ।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः श्रुत्वा विप्र किमब्रवीत् ॥१॥

जनमेजय बोले—हे ब्रह्मन्! अत्यन्त तेजस्वी, अर्जुन के इस अद्भुत कर्म को सुनकर महा बुद्धिमान् धृतराष्ट्र ने क्या कहा? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच—

शक्रलोकगतं पार्थं श्रुत्वा राजाम्बिकासुतः ।
द्वैपायनादृषिश्रेष्ठात् सञ्जयं वाक्यमब्रवीत् ॥२॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! राजा धृतराष्ट्र महर्षि कृष्ण-द्वैपायन व्यास से अर्जुन को इन्द्र लोक में पहुंचा हुआ सुनकर सञ्जय से कहने लगा ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

श्रुतं मे सूत कार्त्स्न्येन कर्म पार्थस्य धीमतः ।
कच्चित्तवापि विदितं याथातथ्येन सारथे ॥३॥

धृतराष्ट्र बोले—हे सारथे! सञ्जय! बुद्धिमान् अर्जुन के कर्मों की मैंने कुछ प्रशंसा सुनी है। क्या इस विषय में तुमको कुछ ठीक २ मालूम है ॥ ३ ॥

प्रमत्तो ग्राम्यधर्मेषु मन्दात्मा पापनिश्चयः ।
मम पुत्रः सुदुर्बुद्धिः पृथिवीं घातयिष्यति ॥४॥

हे सञ्जय! मेरा मूर्ख पुत्र पापी दुर्योधन, गंवारपने के कामों में लग रहा है, जो सारी पृथ्वी का नाश कराके छोड़ेगा॥ ४॥

यस्य नित्यमृता वाचः स्वैरेष्वपि महात्मनः।
त्रैलोक्यमपि तस्य स्याद्योद्धा यस्य धनञ्जयः॥५॥

जिस महात्मा युधिष्ठिर की वाणी, उपहास में भी सत्य ही निकलती है और जिसका योद्धा अर्जुन है, वह त्रिलोकी का भी राजा हो सकता है॥ ५॥

अस्यतः कर्णिनाराचांस्तीक्ष्णाग्रांश्च शिलाशितान्।
कोऽर्जुनस्याग्रतस्तिष्ठेदपि मृत्युर्ज्जरातिगः॥६॥

शिला पर तीक्ष्ण किए हुये, नोकदार, कान तक खैंचकर बाण छोड़ने वाले, अर्जुन के सामने जरा व्याधि से वहिर्भूत मृत्यु भी नहीं ठहर सकता है।॥६॥

मम पुत्रा दुरात्मानः सर्वे मृत्युवशानुगाः।
येषां युद्धं दुराधर्षैः पाण्डवैः प्रत्युपस्थितम्॥७॥

मेरे बेसमझ सारे पुत्र, मृत्यु के मुख में जाने वाले हैं, क्योंकि उनका युद्ध महाबली पाण्डवों से ठन गया है॥ ७॥

तथैव च न पश्यामि युधि गाण्डीवधन्वनः।
अनिशञ्चिन्तमानोऽपि य एनमुदियाद्रथी॥८॥

मैं लगातार विचार करने पर भी युद्ध में गाण्डीव धारी अर्जुन के मुकाबिले का वीर नहीं देखता हूं, जो महारथी इस के सामने जा सके॥ ८॥

द्रोणकर्णौ प्रतीयातां यदि भीष्मोऽपि वा रणे ।
महान् स्यात् संशयो लोके तत्र पश्यामि नो जयम् ॥९॥

द्रोण, कर्ण या भीष्म, रण में अर्जुन के सन्मुख जा सकते हैं, इसमें भी बड़ा सन्देह है । मैं तो अब भी विजय नहीं देखता हूं

घृणी कर्णः प्रमादी च आचार्यः स्थविरो गुरुः ।
अमर्षी बलवान् पार्थः संरम्भी दृढविक्रमः ॥१०॥

कर्ण, बड़ा प्रमादी और घृणा (नफरत) करने वाला है । द्रोणाचार्य वृद्ध हो चुके । अर्जुन बड़ा तेजस्वी, वेगवान्, दृढ़ता के साथ पराक्रम करने वाला क्रोधी वीर है ॥ १० ॥

सम्भवेत्तुमुलं युद्धं सर्वशोऽप्यपराजितम् ।
सर्वे ह्यस्त्रविदः शूराः सर्वे प्राप्ता महद्यशः ॥११॥

सब ओर से बड़ा घमसान युद्ध प्रवृत्त होगा, क्योंकि सारे अस्त्र विद्या के जानने वाले, शूरवीर हैं और सारे युद्धों में यश प्राप्त कर चुके हैं ॥ ११ ॥

अपि सर्वेश्वरत्वं हि ते वाञ्छन्त्यपराजिताः ।
वधे नूनं भवेच्छान्तिरेषां फाल्गुनस्य वा ॥१२॥

ये पराजित नहीं होने वाले वीर अपना २ स्वामित्व चाहते हैं। इस युद्ध की शांति तो इन वीर या अर्जुन के मारे जाने पर ही होगी ॥ १२ ॥

न तु हन्तार्जुनस्यास्ति जेता वास्य न विद्यते ।
मन्युस्तस्य कथं शाम्येन्मान्चैव प्रतिसंहितः ॥१३॥

अर्जुन का मारने वाला या जीतने वाला कोई है ही नहीं, मुझ पर भी बढ़ा हुआ अर्जुन का कोप अब कैसे शांत हो सकता है ॥ १३ ॥

त्रिदशेशसमो वीरः खाण्डवेऽग्निमतर्पयत् ।
जिगाय पार्थिवान् सर्वान् राजसूये महाक्रतौ ॥१४॥

यह इन्द्र के समान वीर है। इस ने खाण्डव वन में अग्नि को तृप्त किया है। इसी ने महायज्ञ राज-सूय में सारे राजाओं को जीता है ॥ १४ ॥

शेषं कुर्य्याद्गिरेर्वज्रो निपतन्मूर्ध्नि सञ्जय ।
न तु कुर्य्युः शराः शेषं क्षिप्तास्तात किरीटिना ॥१५॥

हे सञ्जय ! पर्वत पर गिरे हुए वज्र से कुछ बच सकता है, परन्तु अर्जुन के चलाये बाणों से कुछ भी नहीं बच सकता है ॥ १५ ॥

यथा हि किरणा भानोस्तपन्तीह चराचरम् ।
तथा पार्थभुजोत्सृष्टाः शरास्तप्स्यन्ति मत्सुतान् ॥१६॥

जैसे सूर्य की किरण इस चराचर जगत् को तपाती है, उसी तरह अर्जुन की भुजाओं से छोड़े हुए बाण, मेरे पुत्रों को भस्म कर देंगे ॥ १६ ॥

अपि तद्रथघोषेण भयार्त्ताः सव्यसाचिनः ।
प्रतिभाति विदीर्णेव सर्वतो भारती चमूः ॥१७॥

अर्जुन के रथ के घोष से डर कर हमारी सेना, सब ओर से बिखर कर भाग जाती है ॥ १७ ॥

यदुद्वमन् प्रवपश्चैव बाणान् स्थाताततायी समरे किरीटी।
सृष्टोऽन्तकः सर्वहरो विधात्रा भवेद्यथा तद्वदपारणीयः॥

इति आरण्यपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि धृतराष्ट्रविलापे
अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः॥४८॥

जब यह घातक अर्जुन, युद्ध में बाणों को छोड़ता या बरसाता है, तो विधाता ने सब के संहार करने वाले काल को जैसा बनाया है, वैसे ही यह अर्जुन भी अपार शक्ति-शाली है॥ १८॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमन-पर्व में धृतराष्ट्र के विलाप का अड़तालीसवां अध्याय पूरा हुआ



उनचासवां अध्याय

सञ्जय उवाच—

यदेतत् कथितं राजंस्त्वया दुर्य्योधनं प्रति।
सर्वमेतद्यथा तत्त्वं नैतन्मिथ्या महीपते॥१॥

संजय ने कहा—हे राजन्! आपने जो दुर्योधन के विषय में कहा है, वह सब कुछ ठीक है। इस में कुछ भी मिथ्या नहीं है।

मन्युना हि समाविष्टाः पाण्डवास्ते महौजसः।
दृष्ट्वा कृष्णां सभां नीतां धर्म्मपत्नीं यशस्विनीम्॥२॥

महा-ओजस्वी पाण्डव, धर्म राज की पत्नी द्रौपदी को सभा में लाई हुई देख कर बड़े ही क्रोध में भर गये हैं॥ २॥

दुःशासनस्य ता वाचः श्रुत्वा ते दारुणोदयाः।
कर्णस्य च महाराज जुगुप्सन्तीति मे मतिः ॥३॥

हे महाराज ! दुःशासन और कर्ण की दारुण बातें सुन कर वे उनको धिक्कार दे रहे थे, मेरा ऐसा ख़याल है ॥ ३ ॥

श्रुतं हि मे महाराज यथा पार्थेन संयुगे।
एकादशतनुः स्थाणुर्धनुषा परितोषितः ॥४॥

हे महाराज ! मैंने सुना है कि अर्जुन ने ग्यारह शरीरों के धारी, भगवान् शंकर को युद्ध में धनुर्विद्या से सन्तुष्ट कर लिया है ॥ ४ ॥

कैरातं वेशमास्थाय योधयामास फाल्गुनम्।
जिज्ञासुः सर्वदेवेशः कपर्दी भगवान् स्वयम् ॥५॥

अर्जुन के बल की परीक्षा करने के लिए सब देवों के स्वामी, भगवान् शंकर ने किरात का रूप धारण करके इसके साथ युद्ध किया है ॥ ५ ॥

तत्रैनं लोकपालास्ते दर्शयामासुरच्युतम्।
अस्त्रहेतोः पराक्रान्तं तपसा कौरवर्षभम् ॥६॥

वहां सारे लोकपालों ने शस्त्र प्राप्ति के लिए तप द्वारा पराक्रम करने वाले, कुरुवंश श्रेष्ठ, दृढ़-प्रतिज्ञ, अर्जुन को दर्शन दिए हैं ॥ ६ ॥

नैतदुत्सहते चान्यो लब्धुमन्यत्र फाल्गुनात्।
साक्षाद्दर्शनमेतेषामीश्वराणां नरो भुवि ॥७॥

अर्जुन को छोड़ कर कोई भी मनुष्य इस पृथ्वी पर इन देवों के दर्शन करने में समर्थ नही हो सकता है ॥ ७ ॥

महेश्वरेण यो राजन्न जीर्णो हृष्टमूर्तिना ।
कस्तमुत्सहते वीरो युद्धे जरयितुं पुमान् ॥८॥

हे राजन्! प्रसन्न मूर्ति धारी, शङ्कर भी, जिसको युद्ध में नहीं जीत सका, फिर कौन ऐसा वीर पुरुष है जो युद्धमें अर्जुनको जीत सकता है ॥ ८ ॥

आसादितमिदं घोरं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
द्रौपदीं परिकर्षद्भिः कोपयद्भिश्च पाण्डवान् ॥९॥

द्रौपदी को खैंचकर पाण्डवों को कुपित करने वाले दुर्योधनने यह बड़ा घोर, लोमहर्षक संग्राम खड़ा कर लिया है ॥ ९ ॥

यत्तु प्रस्फुरमाणौष्ठो भीमः प्राह वचोऽर्थवत् ।
दृष्ट्वा दुर्य्योधनेनोरू द्रौपद्या दर्शितावुभौ ॥१०॥

जब दुर्योधन ने द्रौपदी को अपनी दोनों जंघायें दिखाई, तो उस समय क्रोध से फड़कते हुए होठों वाले भीमसेन ने यह सार्थक वचन कहा था ॥ १० ॥

ऊरूं भेत्स्यामि ते पाप गदया भीमवेगया ।
त्रयोदशानां वर्षाणामन्ते दुर्द्यूतदेविनः ॥११॥

हे पापी! दुर्योधन! तू कपट का जुआ खेल कर यह दुर्व्यवहार कर रहा है। अब तेरह वर्ष के अनंतर में तेरी इस भीषण गदा से इन ही जंघाओं को तोड़ दूंगा ॥ ११॥

इदं हि सुमहच्चित्रमर्जुनस्येह सञ्जय ।
महादेवेन बाहुभ्यां यत्समेत इति श्रुतिः ॥२१॥

हे सञ्जय ! अर्जुन की यह घटना बड़ी ही विचित्र है, जो यह श्रीमहादेव के साथ अपनी भुजाओं से मिला है ॥२१॥

प्रत्यक्षं सर्वलोकस्य खाण्डवे यत्कृतं पुरा ।
फाल्गुनेन सहायार्थं वह्नेर्दामोदरेण च ॥२२॥

यह बात सब लोगों को मालूम है, जो पूर्व काल में अग्नि की सहायता के लिए खाण्डव वन में अर्जुन और श्रीकृष्ण ने की है ॥२२॥

समर्था न हि मे पुत्राः सहामात्याः ससौबलाः ।
क्रुद्धे भीमे च पार्थे च वासुदेवे च सात्वते ॥२३॥

इति आरण्यपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि धृतराष्ट्रखेदे
एकोनपञ्चाशोऽध्यायः ॥४९॥

अपने मन्त्री और शकुनि के साथ, मेरे सारे पुत्र, भीम, अर्जुन और यदुनाथ श्रीकृष्ण के कुपित होने पर कभी भी विजय नहीं पा सकते हैं ॥२३॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमन
पर्व में धृतराष्ट्र के चिन्ता करने का उनचासवां
अध्याय पूरा हुआ ।



पचासवाँ अध्याय

जनमेजय उवाच—

यदिदं शोचितं राज्ञा धृतराष्ट्रेण वै मुने ।
प्रव्राज्य पाण्डवान् वीरान् सर्वमेतन्निरर्थकम् ॥१॥

जनमेजय बोले—हे मुने ! धृतराष्ट्र ने वीर पाण्डवों को घर से निकाल कर जो पश्चाताप किया यह सब निरर्थक ही था ।१।

कथञ्च राजा पुत्रं तमुपेक्षेताल्पचेतसम् ।
दुर्य्योधनं पाण्डुपुत्रान् कोपयानं महारथान् ॥२॥

राजा धृतराष्ट्र, महारथी पाण्डवों के कुपित करने वाले, क्षुद्र, अपने पुत्र दुर्योधन की कैसे उपेक्षा कर सकता था ॥२॥

किमासीत् पाण्डुपुत्राणां वने भोजनमुच्यताम् ।
वानेयमथवा कृष्टमेतदाख्यातु मे भवान् ॥३॥

हे ब्रह्मन् ! वन में पाण्डुपुत्रों का भोजन, वनोत्पन्न अन्नथा या क्षेत्रोत्पन्न अन्न था, यह आप हमको बताइए ॥३॥

वैशम्पायन उवाच—

वानेयञ्च मृगांश्चैव शुद्धैर्बाणैर्निपातितान् ।
ब्राह्मणानां निवेद्याग्रमभुञ्जन् पुरुषर्षभाः ॥ ४ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! वन का उत्पन्न अन्न और शुद्ध बाणों से मारे हुए वनैले जन्तु ही उनका आहार थे। ये पुरुषरत्न, इस भोजन को भी ब्राह्मणों के अर्पण करके ही खाते थे ॥ ४ ॥

तांस्तु शूरान् महेष्वासांस्तदा निवसतो वने ।
अन्वयुर्ब्राह्मणा राजन् साग्नयोऽनग्नयस्तथा ॥ ५ ॥

हे राजन्! इन धनुषधारी शूरवीर, पाण्डवों के वन में रहने के समय में कर्मकाण्डी और ज्ञानकाण्डी दोनों प्रकार के ब्राह्मण उनके साथ थे ॥ ५ ॥

ब्राह्मणानां सहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम् ।
दश मोक्षविदां तत्र यान् बिभर्त्ति युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥

राजा युधिष्ठिर, महात्मा; स्नातक, एक हजार ब्राह्मण और ज्ञान योगी दश हजार ब्राह्मणों का पालन पोषण करते थे ॥६॥

रुरून् कृष्णमृगांश्चैव मेध्यांश्चान्यान् वनेचरान् ।
बाणैरुन्मथ्य विविधैर्ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयत् ॥ ७ ॥

ये पाण्डव, भूरे या काले वर्ण के मृग तथा अन्य पवित्र वनैले जन्तुओं को बाणों से मारकर ब्राह्मणों के अर्पण कर देते थे ॥ ७ ॥

नतत्र कश्चिद्दुर्वर्णो व्याधितो वापि दृश्यते ।
कृशो वा दुर्बलो वापि दीनो भीतोऽपि वा पुनः ॥८॥

उन हरिणों में कोई भी हरिण, दुबला पतला, दीन या डरा हुआ तथा बुरे रङ्ग वाला या रोगी दिखाई नहीं देता था ॥८॥

पुत्रानिव प्रियान् भ्रातॄन् ज्ञातीनिव सहोदरान् ।
पुपोष कौरवश्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

कुरु-वंश-श्रेष्ठ, राजा युधिष्ठिर, अपने प्रिय पुत्र तथा प्यारे सहोदर भाइयों के समान इन ब्राह्मणों का पालन पोषण करते थे।

पतींश्च द्रौपदी सर्वान् द्विजातींश्च यशस्विनी।
मातृवद्भोजयित्वाग्रे शिष्टमाहारयत्तदा ॥ १० ॥

यशस्विनी द्रौपदी, सारे पति और ब्राह्मणों को माता के तुल्य भोजन करा कर शेषान्न का भोजन करती थी ॥ १० ॥

प्राचीं राजा दक्षिणां भीमसेनो यमौ प्रतीचीमथवाप्युदीचीम्।
धनुर्द्धरा मांसहेतोर्मृगाणां क्षयञ्चक्रुर्नित्यमेवोपगम्य॥ ११

पूर्व में राजा युधिष्ठिर, दक्षिण में भीमसेन, उत्तर और पश्चिम में, नकुल और सहदेव, धनुष धारण करके मृगों के मांस के लिए वन में जाकर नित्य मृगों का वध करते थे ॥ ११ ॥

तथा तेषां वसतां काम्यके वै विहीनानामर्जुनेनोत्सुकानाम्।
पञ्चैव वर्षाणि तथा व्यतीयुरधीयतां जपतां जुह्वताञ्च ॥ १२॥

इति आरण्यपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि पार्थाहारकथने
पञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५०॥

इस प्रकार काम्यक वन में अर्जुन से हीन और उसकी उत्कण्ठा से व्याकुल, पाण्डवों ने अध्ययन, जप और हवन में पांच वर्ष व्यतीत कर दिए ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमन
पर्व में पाण्डवों के आहार कथन का
पचासवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

इक्यावनवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

तेषां तच्चरितं श्रुत्वा मनुष्यातीतमद्भुतम् ।
चिन्ताशोकपरीतात्मा मन्युनाभिपरिप्लुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन ! पाण्डवों के मनुष्यों से अद्भुत चरित्रों को सुनकर चिन्ता और शोक से आतुर, धृतराष्ट्र, दीन सा हो गया ॥ १ ॥

दीर्घमुष्णञ्च निश्वस्य धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
अब्रवीत् सञ्जयं सूतमामन्त्र्य पुरुषर्षभः ॥ २ ॥

इस अम्बिका के सुत, पुरुषरत्न राजा धृतराष्ट्र ने ठण्डा श्वास लिया और सञ्जय को सम्बोधित करके कहा ॥ २ ॥

न रात्रौ न दिवा सूत शान्तिं प्राप्नोमि वै क्षणम् ।
सञ्चिन्त्य दुर्नयं घोरं पुत्राणां द्यूतजं हि यत् ॥ ३ ॥
तेषामसह्यवीर्याणां शौर्यं धैर्यं धृतिं पराम् ।
अन्योऽन्यमनुरागञ्च भ्रातृणामतिमानुषम् ॥ ४ ॥

हे सूत ! अपने पुत्रों के द्यूत में किये हुए दुर्व्यवहार तथा महापराक्रमी पाण्डवों की शूरता, युद्ध या विपत्ति आदि के समय धैर्य एवं परस्पर भाइयों का मनुष्यों में दुर्लभ प्रेम देखकर मुझे रात या दिन किसी भी समय में क्षण भर भी शान्ति नहीं मिलती है।

देवपुत्रौ महाभागौ देवराजसमद्युती ।
नकुलः सहदेवश्च पाण्डवौ

महानुभाव नकुल और सहदेव पाण्डव भी देवपुत्र और इन्द्र के समान कान्ति वाले तथा युद्ध में दुर्भेद हैं ॥५॥

दृढ़ायुधौ दूरपातौ युद्धे च कृतनिश्चयौ ।
शीघ्रहस्तौ दृढ़क्रोधौ नित्ययुक्तौ तरस्विनौ ॥ ६ ॥

इनके शस्त्र बड़े दृढ़ हैं, वाण बड़ी दूर तक मार करते हैं और ये युद्ध में बड़े निश्चयी हैं। ये दोनों बड़े ही फुर्तीले, युद्ध में क्रोध करने वाले, कर्मशील और वेगवान् हैं ॥६॥

भीमार्जुनौ पुरोधाय यदा तौ रणमूर्द्धनि ।
स्थास्येते सिंहविक्रान्तावश्विनाविव दुःसहौ ॥७ ॥

जब ये रण में भीम और अर्जुन को आगे करके स्थित होंगे, तब ये सिंह के समान पराक्रमी और अश्विनों के तुल्य दुःसह प्रतीत होंगे ॥७॥

न शेषंहि प्रपश्यामि मम सैन्यस्य सञ्जय ।
तौ ह्यप्रतिरथौ युद्धे देवपुत्रौ महारथौ ॥ ८ ॥

हे सञ्जय ! मेरी सम्मति में तो मेरी सेना, युद्ध में कुछ भी शेष नहीं रहेगी, क्योंकि ये दोनों देव पुत्र, महारथी नकुल और सहदेव युद्ध में अद्भुत वीर हैं ॥८॥

द्रौपद्यास्तं परिक्लेशं न क्षंस्येते त्वमर्षिणौ ।
वृष्णयोऽथ महेष्वासाः पञ्चाला वा महौजसः ॥ ९ ॥

ये दोनों बड़े आवेश में आने वाले हैं, इससे द्रौपदी के अपमान को कभी नहीं सह सकेंगे। इनके अतिरिक्त महा धनुर्धर यादव और ओजस्वी पाञ्चाल भी इस अपमान को नहीं सह सकते

युधि सत्याभिसन्धेन वासुदेवेन रक्षिताः ।
प्रधक्ष्यन्ति रणे पार्थाः पुत्राणां मम वाहिनीम् ॥ १० ॥

युद्ध में सच्चे पराक्रमी, श्रीकृष्ण से सुरक्षित, पाण्डव, मेरे पुत्रों की सेना को भस्म करके ही छोड़ेंगे ॥१०॥

रामकृष्णप्रणीतानां वृष्णीनां सूतनन्दन ।
न शक्यः सहितुं वेगः सर्वैस्तैरपि संयुगे ॥ ११ ॥

हे सूतनन्दन ! बलराम और श्रीकृष्ण से सुशोभित यादवों के वेग को ये मेरे सारे पुत्र मिल कर भी युद्ध में नहीं सह सकेंगे ॥ ११ ॥

तेषां मध्ये महेष्वासो भीमो भीमपराक्रमः ।
शैक्यया वीरघातिन्या गदया विचरिष्यति ॥ १२ ॥

उनके मध्य में महा धनुषधारी, भीम, भीषण पराक्रमी है । वह भीम, वीरों का घातक, छींके पर रखी जाने वाली गदा को लेकर युद्ध में भ्रमण करेगा । उनको कोई नहीं रोक सकता है ।

तथा गाण्डीवनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
गदावेगञ्च भीमस्य नालं सोढुं नराधिपाः ॥ १३ ॥

बिजली की कड़क और गाण्डीव के निर्घोष तथा भीमसेन की गदा के वेग का सहन करने में कोई भी राजा समर्थ नहीं है ॥ १३ ॥

ततोऽहं सुहृदां वाचो दुर्योधनवशानुगः ।
स्मरणीयाः स्मरिष्यामि मया या न कृताः पुरा ॥१४॥

दुर्योधन के वश में होकर मैं अपने सुहृदों के वचनों को स्मरण कर रहा हूँ, जो इस समय स्मरण के योग्य हैं और जिन को प्रथम मैंने स्वीकार नहीं किया ॥१४

सञ्जय उवाच—

व्यतिक्रमोऽयं सुमहांस्त्वया राजन्नुपेक्षितः ।
समर्थेनापि यन्मोहात् सुतस्ते न निवारितः ॥ १५ ॥

सञ्जय ने कहा—हे राजन् ! आपने इस बड़ी बुराई की प्रथम उपेक्षा कर दी, जो समर्थ होकर भी मोह से अपने पुत्र को इस झगड़े से नहीं रोका ॥१५॥

श्रुत्वा हि निर्जितान् द्यूते पाण्डवान् मधुसूदनः ।
त्वरितः काम्यके पार्थान् समभावयदच्युतः ॥ १६ ॥

श्री कृष्ण ने पाण्डवों को जुआ में हारे हुए सुनकर बड़ी शीघ्रता से काम्यक वन में पहुंचकर उनको ढाढस बंधाया है १६

द्रुपदस्य तथा पुत्रा धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ।
विराटो धृष्टकेतुश्च कैकेयाश्च महारथाः ॥ १७ ॥

इसी प्रकार द्रुपद के धृष्टद्युम्न आदि पुत्र, विराट, धृष्टकेतु, महारथी कैकय देश के राजा, इन सबने भी वन में पाण्डवों को आश्वासन दिया है ॥१७॥

तैश्च यत् कथितं राजन् दृष्ट्वा पार्थान् पराजितान् ।
चारेण विदितं सर्वं तन्मया विदितञ्च ते ॥ १८॥

हे राजन् ! इन्होंने पराजित पाण्डवों को देखकर जो कहा—वह दूतों से मुझे और तुम्हें सबको मालूम है ॥१८॥

समागम्य वृतस्तत्र पाण्डवैर्मधुसूदनः।
सारथ्ये फाल्गुनस्याजौ तथेत्याह च तान् हरिः ॥ १९ ॥

उस समय पाण्डवों ने श्रीकृष्ण से युद्ध में अर्जुन का सारथि बनने की प्रार्थना की थी। भगवान् कृष्ण ने उस समय यह भी स्वीकार कर लिया ॥१९॥

अमर्षितो हि कृष्णोऽपि दृष्ट्वा पार्थांस्तथागतान्।
कृष्णाजिनोत्तरासङ्गानब्रवीच्च युधिष्ठिरम् ॥ २० ॥

काले मृग के चर्म को ओढ़े हुए, पाण्डवों को इस दुर्दशा में देखकर श्रीकृष्ण बड़े कुपित हुए हैं ॥२०॥

या सा समृद्धिः पार्थानामिन्द्रप्रस्थे बभूव ह।
राजसूये मया दृष्टा नृपैरन्यैः सुदुर्लभा ॥२१॥

जो ऐश्वर्य, पाण्डवों का इन्द्रप्रस्थ में था और जिसको मैंने राजसूय यज्ञ के समय देखा, वह समृद्धि अन्य राजाओं को अत्यन्त ही दुर्लभ है ॥२१॥

यत्र सर्वान्महीपालान् शस्त्रतेजोभयार्दितान्।
सवङ्गाङ्गान् सपौण्ड्रोड्रान् सचोलद्राविड़ान्ध्रकान् ।२२॥
सागरानूपकांश्चैव ये च पत्तनिवासिनः।
सिंहलान् बर्बरान् म्लेछान् ये च लङ्कानिवासिनः ॥२३॥
पश्चिमानि च राष्ट्राणि शतशः सागरान्तिकान्।
पल्लवान् दरदान् सर्वान् किरातान् यवनाञ्छकान् ॥

हारहूणांश्च चीनांश्च तुषारान् सैन्धवांस्तथा ।
जागुडान्रमटान् हूणान् स्त्रीराज्यानथ तङ्गणान् ।
कैकेयान्मालवांश्चैव तथा काश्मीरकानपि ॥२५॥
अद्राक्षमहमाहूतान् यज्ञांते परिवेषकान् ।

उस जगह शस्त्र के तेज से दबाये हुए, अङ्ग, वङ्ग, पौंड्र, उड्र, चोल, द्रविण, अन्धक, समुद्र के द्वीप, जल प्रदेश, पत्तनिवासी, सिंहल, बर्बर, म्लेच्छ, लङ्कानिवासी, पश्चिम के राष्ट्र, समुद्र के समीप के देश, पह्लव, दरद, सारे किरात, यवन, शक, हारहूण, चीन, तुषार, सैन्धव, जागुड़, रमट, हूण, स्त्रियों के राज्य, तङ्गल कैकय, मालव, काश्मीर, आदि उन २ प्रदेशों के राजा या भिन्न२ ये सारी जातियां, उस राजसूय यज्ञ में मैंने देखी थी। जिन्होंने यज्ञ के अन्त में अन्न परोसने का कार्य किया था ॥२१-२५॥

सा ते समृद्धिर्यैरात्ता चपला प्रतिसारिणी ॥२६॥
आदाय जीवितं तेषामाहरिष्यामि तामहम् ।
रामेण सह कौरव्य भीमार्जुनयमैस्तथा ।२७॥
अक्रूरगदसाम्बैश्च प्रद्युम्नेनाहुकेन च ।
धृष्टद्युम्नेन वीरेण शिशुपालात्मजेन च ॥२८॥
दुर्योधनं रणे हत्वा सद्यः कर्णञ्च भारत ।
दुःशासनं सौबलेयं यश्चान्यः प्रतियोत्स्यते ॥२६॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे युधिष्ठिर! तेरी राज्य लक्ष्मी को जिन्होंने अपहरण कर लिया है, बलराम, भीम, अर्जुन और नकुल-सहदेव

अक्रूर, गद, साम्ब, प्रद्युम्न, आहुक, वीर धृष्टद्युम्न, तथा शिशुपाल के सुत इन सबको साथ लेकर, युद्धमें शीघ्र ही दुर्योधन, कर्ण दुःशासन तथा शकुनि या जो अन्य कोई युद्ध करेगा, उन सब को मारकर उस चपल समृद्धि को मैं फिर वापिस उनसे छीनकर ला दूंगा ॥२६-२९॥

ततस्त्वं हास्तिनपुरे भ्रातृभिः सहितो वसन् ।
धार्त्तराष्ट्रीं श्रियं प्राप्य प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ॥३०॥

हे राजन्! इसके बाद तुम अपने भाइयों के साथ हस्तिनापुर में रहकर और धृतराष्ट्र की राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करके इस पृथ्वी का शासन करना ॥३०॥

अथैनमब्रवीद्राजा तस्मिन् वीरसमागमे ।
शृण्वत्सु तेषु वीरेषु धृष्टद्युम्नमुखेषु च ॥३१॥

इसके अनन्तर इस वीरों की गोष्ठी में धृष्टद्युम्न आदि वीरों के सुनते हुए राजा युधिष्ठिर, श्रीकृष्ण से कहने लगे ॥३१॥

युधिष्ठिर उवाच—

प्रतिगृह्णामि ते वाचमिमां सत्यां जनार्दन ।
अमित्रान्मे महाबाहो सानुबन्धान् हनिष्यसि ॥३२॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे जनार्दन! महाबाहो! मैं तुम्हारी इस बात को सत्य मानता हूँ। तुम अवश्य मेरे शत्रुओं को उनकी सेना के साथ नष्ट कर दोगे ॥३२॥

वर्षात्त्रयोदशादूर्ध्वं सत्यं मां कुरु केशव ।
प्रतिज्ञातो वने वासो राजमध्ये मया ह्ययम् ॥३३॥

हे केशव! इस प्रतिज्ञा को तुम तेरह वर्ष के अनन्तर सत्य सिद्ध करना, क्योंकि मैंने राजाओं की सभा के मध्य में तेरह वर्ष वन में रहना स्वीकार कर लिया है ॥३३॥

तद्धर्म्मराजवचनं प्रतिश्रुत्य सभासदः ।
धृष्टद्युम्नपुरोगास्ते शमयामासुरञ्जसा ॥३४॥
केशवं मधुरैर्वाक्यैः कालयुक्तैरमर्षितम् ।
पाञ्चालीं प्राहुराक्लिष्टां वासुदेवस्य शृण्वतः ॥३५॥

धर्मराज के ये वचन सुनकर धृष्टद्युम्न आदि वीरों ने, क्रोध में भरे हुए, श्रीकृष्ण को समयानुसार मीठे वचनों से शान्त किया और श्रीकृष्ण के सुनते २ द्रौपदी से कहा ॥३४-३५॥

दुर्य्योधनस्तव क्रोधाद् देवि त्यक्ष्यति जीवितम् ।
प्रतिजानीमहे सत्यं मा शुचो वरवर्णिनि ॥३६॥

हे देवि! तेरे क्रोध से दुर्योधन मारा जावेगा। हे सुन्दरि! हम सब यही प्रतिज्ञा करते हैं, तुम चिन्ता मत करो ॥३६॥

ये स्म तेऽक्षजितां कृष्णे दृष्ट्वा त्वां प्राहसंस्तदा ।
मांसानि तेषां खादन्तो हसिष्यन्ति वृकद्विजाः ॥३७॥

हे कृष्णे! जुआ में जीती हुई तुमको देखकर उस समय उन्होंने हंसी की थी, भविष्य में उनके मांस को खाते हुए भेड़िये या काक आदि पक्षी, हँसेंगे ॥३७॥

पास्यन्ति रुधिरं तेषां गृध्रगोमायवस्तथा ।
उत्तमाङ्गानि कर्षन्तो यैः कृष्टासि सभातले ॥३८॥

हे देवि ! उन कौरवों के रुधिर को गीध और गीदड़, उनके मस्तकों को खैंच २ कर पान करेंगे, जिन्होंने सभा में तुमको खैंचा है ॥३८॥

तेषां द्रक्ष्यसि पाञ्चालि गात्राणि पृथिवीतले ।
क्रव्यादैः कृष्यमाणानि भक्ष्यमाणानि चासकृत् ॥३९॥

हे पाञ्चालि ! पृथिवी पर पड़े हुए और मांस-भोजी जीवों से खैंच २ कर वार २ खाते हुए उन दुष्टों के शरीरों को तू स्वयं देखेगी ॥३९॥

परिक्लिष्टासि यैस्तत्र यैश्चापि समुपेक्षिता ।
तेषामुत्कृत्तशिरसां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥४०॥

जिन्होंने सभा में तुझे खैंचा था, जो इसको देखकर चुप रहे, है, उन मस्तक रहित मनुष्यों के रक्त को यह भूमि पीवेगी ॥४०॥

एवं बहुविधा वाचस्त ऊचुर्भरतर्षभाः ।
सर्वे तेजस्विनः शूराः सर्वे चाहवलक्षणाः ॥४१॥

हे भरतर्षभ ! इस प्रकार वे वीर, अनेक प्रकार की वाणी उच्चारण करने लगे । ये सारे शूर, तेजस्वी और युद्ध विद्या के जानने वाले थे ॥४१॥

ते धर्म्मराजेन वृता वर्षादूर्ध्वं त्रयोदशात् ।
पुरस्कृत्योपयास्यन्ति वासुदेवं महारथाः ॥४२॥

इन सब को तेरह वर्ष के अनन्तर राजा युधिष्टिर ने युद्ध में आने का निमन्त्रण दे दिया है । ये सब महारथी, श्रीकृष्ण को आगे करके अवश्य आवेंगे ॥४२॥

रामश्च कृष्णश्च धनञ्जयश्च प्रद्युम्नसाम्बौ युयुधानभीमौ।
माद्रीसुतौ कैकेयराजपुत्राः पाञ्चालपुत्राः सह मत्स्यराज्ञा ॥

बलराम, श्रीकृष्ण, अर्जुन, प्रद्युम्न, साम्ब, युयुधान, भीम, माद्रीपुत्र नकुल, सहदेव, केकय देश के राजपुत्र, विराट के साथ पाञ्चाल के पुत्र, ये सब इस होने वाले युद्ध में अवश्य पाण्डवों की ओर से आवेंगे ॥४३॥

एतान् सर्वान्लोकवीरानजेयान्महात्मनःसानुबन्धान्ससैन्यान्
को जीवितार्थी समरेऽभ्युदीयात् क्रुद्धान् सिंहान्केशरिणोयथैव

लोक में सबसे अधिक पराक्रमी, पराजित नहीं होने वाले, महावीर, सेना और अपने समाज के साथ पधारे हुए, शस्त्रधारी क्रुद्ध सिंहों के समान इन सारे राजाओं के सन्मुख जीने की इच्छा वाला कौन ऐसा पुरुष होगा, जो युद्ध में इनके सन्मुख जा सके ॥४४॥

धृतराष्ट्र उवाच—

यन्माब्रवीद्विदुरो द्यूतकाले त्वं पाण्डवान् जेष्यसि चेन्नरेन्द्र।
ध्रुवं कुरूणामयमन्तकालो महाभयो भविता शोणितौघः ॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे सञ्जय! मुझे द्यूत खेलने के समय विदुर ने कहा था, कि जो तुम जुआ में पाण्डवों को जीत लोगे, तो यह निश्चय कौरवों के अन्तकाल का हेतु होगा और महा-भयकारी रक्त का प्रवाह बह निकलेगा ॥४५॥

मन्ये तथा तद्भवितेति सूत यथा क्षत्ता प्राह वचः पुरा माम् ।
असंशयं भविता युद्धमेतद्गते काले पाण्डवानां यथोक्तम् ॥

इति आरण्यपर्वणि इन्द्रलोकाभिगमनपर्वणि धृतराष्ट्रविलापे एकपञ्चाशोऽध्यायः समाप्तञ्च इन्द्रलोकाभिगमनपर्व ॥५१॥

हे सूत ! अब मैं समझ गया कि अब वही होगा, जो विदुरने पूर्वकाल में मुझसे कहा था। यह युद्ध पाण्डवों के वनवास के तेरह वर्ष व्यतीत हो जाने पर अवश्य होगा ॥४६॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत इन्द्रलोकाभिगमनपर्व में धृतराष्ट्र के विलापका इक्यावनवां अध्याय पूरा हुआ ।



नलोपाख्यानपर्व

बावनवाँ अध्याय

जनमेजय उवाच—

अस्त्रहेतोर्गते पार्थे शक्रलोकं महात्मनि ।
युधिष्ठिरप्रभृतयः किमकुर्वत पाण्डवाः ॥१॥

जनमेजय बोले—हे ब्रह्मन् अस्त्र-विद्या ग्रहण करने के लिए इन्द्रलोक में जब महात्मा अर्जुन चले गए, तो उनके पीछे युधिष्ठिर आदि पाण्डवों ने क्या किया ॥१॥

वैशम्पायन उवाच—

अस्त्रहेतोर्गते पार्थे शक्रलोकं महात्मनि ।
न्यवसन् कृष्णया सार्द्धं काम्यके भरतर्षभाः ॥ २ ॥

वैशम्पायन ने कहा—जब अर्जुन, अस्त्र ग्रहण करने के लिए इन्द्रलोक चले गए, उस समय शेष सारे पाण्डव, द्रौपदी के साथ काम्यक वन में रहते थे ॥२॥

ततः कदाचिदेकान्ते विविक्त इव शाद्वले ।
दुःखार्त्ता भरतश्रेष्ठा निषेदुः सह कृष्णया ॥ ३ ॥

एक समय अत्यन्त निर्जन एकान्त में ये सारे भरतवंश श्रेष्ठ दुःखी पाण्डव, दूर्वा प्रदेश में द्रौपदी के साथ बैठ गए ॥३॥

धनञ्जयं शोचमानाः साश्रुकण्ठाः सुदुःखिताः ।
तद्वियोगार्दितान् सर्वान् शोकः समभिपुप्लुवे ॥ ४ ॥

ये सब रो २ कर अर्जुन की याद कर रहे थे और बड़े क्लेशित थे। अर्जुन के वियोग से व्याकुल इन सारे पाण्डवों को उस समय शोक ने घर दबाया ॥४॥

धनञ्जयवियोगाच्च राज्यभ्रंशाच्च दुःखिताः ।
अथ भीमो महाबाहुर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ५ ॥

ये सब अर्जुन के वियोग और राज्य के नाश से दुःखी हो रहे थे। इस समय महाबाहु भीम ने राजा युधिष्ठिर से कहा ॥५॥

निदेशात्ते महाराज गतोऽसौ भरतर्षभः ।
अर्जुनः पाण्डुपुत्राणां यस्मिन् प्राणाः प्रतिष्ठिताः ॥ ६ ॥

हे महाराज! भरतवंश श्रेष्ठ, अर्जुन, आपकी आज्ञा से तप करने गया है, जिसमें हम सब पाण्डवों के प्राण बसते हैं ॥६॥

यस्मिन् विनष्टे पाञ्चालाः सह पुत्रैस्तथा वयम् ।
सात्यकिर्वासुदेवश्च विनश्येयुर्न संशयः ॥ ७ ॥

यदि इसका विनाश हो गया, तो अपने पुत्रों के सहित पाञ्चालराज, हम लोग, सात्यकि और श्रीकृष्ण सब नष्ट हो जावेंगे ॥७॥

योऽसौ गच्छति धर्मात्मा बहून् क्लेशान् विचिन्तयन् ।
भवन्नियोगाद्वीभत्सुस्ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ८ ॥

बड़े २ क्लेशों को विचार कर भी आपकी आज्ञा से धर्मात्मा अर्जुन, यहां से चला गया है, यह बड़े दुःख की बात है ॥८॥

यस्य बाहू समाश्रित्य वयं सर्वे महात्मनः ।
मन्यामहे जितानाजौ परान् प्राप्तांश्च मेदिनीम् ॥ ६ ॥

जिसकी भुजाओं के बल का अवलम्ब लेकर हम सब लोग युद्ध में अपने को जीता हुआ और पृथिवी को प्राप्त किया हुआ ही मानते हैं ॥९॥

यस्य प्रभावान्न मयासभामध्ये धनुष्मतः ।
नीता लोकममुं सर्वे धार्त्तराष्ट्राः ससौबलाः ॥ १०॥

जिस धनुषधारी के प्रभाव से ही मैंने सभा के मध्य में शकुनि के साथ धृतराष्ट्र पुत्र, परलोक को नहीं भेजे ॥१०॥

ते वयं बाहुबलिनः क्रोधमुत्थितमात्मनः ।
सहामहे भवन्मूलं वासुदेवेन पालिताः ॥ ११ ॥

हम सब अपनी २ भुजाओं में बल रखते हैं, तो भी आपकी कमज़ोरी से उठे हुए कोप को रोक रहे हैं। इस समय हमारे रक्षक केवल श्रीकृष्ण ही हैं ॥११॥

वयं हि सहकृष्णेन हत्वा कर्णमुखान् परान् ।
स्वबाहुविजितां कृत्स्नां प्रशासेम वसुन्धराम् ॥ १२ ॥

हम श्रीकृष्ण की सहायता से कर्ण आदि शत्रुओं को मार कर अपने बाहुओं से जीती हुई, इस सारी भूमि का अवश्य शासन करेंगे ॥ १२ ॥

भवतो द्यूतदोषेण सर्वे वयमुपप्लुताः ।
अहीनपौरुषा बाला बलिभिर्बलवत्तराः ॥ १३ ॥

आपके द्यूत के दोष से ही हम सब पर उन बलवान् शत्रुओं से यह विपत्ति लाई गई है। यद्यपि हम भी पराक्रमी, बलवान् और युवावस्था वाले हैं ॥ १३ ॥

क्षात्रधर्मं महाराज त्वमेवेक्षितुमर्हसि ।
न हि धर्मो महाराज क्षत्रियस्य वनाश्रयः ॥ १४ ॥

हे महाराज ! आपही क्षात्र धर्म की ओर जरा देखें । हे राजन्! वन में वास करना क्षत्रिय का धर्म नहीं है ॥ १४ ॥

राज्यमेव परं धर्मं क्षत्रियस्य विदुर्बुधाः ।
सक्षत्रधर्मविद्राजा धर्म्यान्मा नीनशः पथः ॥१५॥

बुद्धिमानों ने राज्य प्राप्त करना ही क्षत्रिय का धर्म माना है । तुम भी क्षात्र धर्म के जानने वाले राजा हो, इस लिए धार्मिक मार्ग से कभी भ्रष्ट मत होओ ॥ १५ ॥

प्राग्द्वादशसमा राजन् धार्त्तराष्ट्रान्निहन्महि ।
निवर्त्य च वनात् पार्थमानाय्य च जनार्दनम् ॥ १६ ॥

हे राजन् ! वन से अर्जुन को लौटा कर और श्रीकृष्ण को लाकर, हम तो बारह वर्ष से पूर्व ही धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारेंगे ॥ १६ ॥

व्यूढानीकान्महाराज जवेनैव महामते ।
धार्त्तराष्ट्रानमुं लोकं गमयामि विशाम्पते ॥ १७॥

हे महामते ! राजन्, बड़ी दृढ़ सेना वाले धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि पर वेग से आक्रमण करके उनको परलोक शीघ्र ही भेजकर छोड़ेंगे ॥ १७ ॥

सर्वानहं हनिष्यामि धार्त्तराष्ट्रान् ससौबलान् ।
दुर्योधनञ्च कर्णञ्च यो वान्यः प्रतियोत्स्यते ॥ १८ ॥

मैं शकुनि के साथ सारे धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन और कर्ण को बिना मारे नहीं छोड़ूँगा। इन के सिवा जो हमारे सामने लड़ने आवेगा, उस को भी मारूंगा ॥१८॥

मया प्रशमिते पश्चात्त्वमेष्यसि वनं पुनः।
एवं कृते न दोषाश्च भविष्यन्ति विशाम्पते ॥ १६ ॥

हे विशाम्पते ! जब प्रथम मैं इनको मार लूंगा, तब तुम वन से आना। इस प्रकार करने पर तो तुमको कोई पाप नहीं लगेगा ॥ १६ ॥

यज्ञैश्च विविधैस्तात कृतं पापमरिन्दमस।
अवधूय महाराज गच्छेम स्वर्गमुत्तमम् ॥ २० ॥

हे अरिमर्दन ! फिर अनेक यज्ञ करके इस किये हुये पाप का प्रायश्चित्त कर लेंगे, जिससे हम भी उत्तम स्वर्ग को प्राप्त कर सकेंगे ॥ २० ॥

एवमेतद्भवेद्राजन् यदि राजा न बालिशः।
अस्माकं दीर्घसूत्रः स्याद्भवान् धर्मपरायणः ॥ २१ ॥

हे राजन् ! यह सब कुछ इसी तरह होजाता, जो तुम बेसमझ दीर्घ-सूत्री, धर्म-परायण हमारे राजा नहीं होते ॥ २१ ॥

निकृत्या निकृतप्रज्ञा हन्तव्या इति निश्चयः।
न हि नैकृतिकं हत्वा निकृत्या पापमुच्यते ॥ २२ ॥

नीच बुद्धि वाले दुष्टों को छल से भी मार देना चाहिये, मेरी तो यही सम्मति है, कि छली को छल से मार देने में कोई भी पाप नहीं माना गया है ॥ २२ ॥

तथा भारत धर्मेषु धर्म्मज्ञैरिह दृश्यते ।
अहोरात्रं महाराज तुल्यं सम्वत्सरेण ह ॥ २३ ॥

हे भारत ! धर्म के कृत्यों में तो धर्मात्माओं ने एक रात दिन एक सम्वत्सर के बराबर माना है ॥ २३ ॥

तथैव वेद वचनं श्रूयते नित्यदा विभो ।
सम्वत्सरो महाराज पूर्णो भवति कृच्छ्रतः ॥ २४ ॥

हे महाराज ! हम नित्य यह वेद (सत्य) वचन सुनते हैं, कि अज्ञात, वास का एक वर्ष बड़ी ही कठिनता से पूरा होता है ॥ २४ ॥

यदि वेदाः प्रमाणस्ते दिवसादूर्ध्वमच्युत ।
त्रयोदशसमाः कालो ज्ञायतां परिनिष्ठितः ॥ २५ ॥

यदि तुम वेद को प्रमाण मानते हो, तो तेरह वर्ष का काल दिनों में ही पूरा हो सकता है, इस निर्देश का तुम पता लगा लो ॥ २५ ॥

कालो दुर्य्योधनं हन्तुं सानुबन्धमरिन्दम ।
एकाग्रां पृथिवीं सर्वां पुरा राजन् करोति सः ॥ २६ ॥
द्यूतप्रियेण राजेन्द्र तथा तद्भवता कृतम् ।
प्रायेणाज्ञातचर्य्यायां वयं सर्वे निपातिताः ॥ २७ ॥

हे अरिन्दम ! यह काल, दुर्योधन के सहायकों के साथ उन के मारने का है । जिसने प्रथम ही सारी पृथ्वी को अपने अधिकार में कर लिया है । हे राजेन्द्र ! आप को जुआ बड़ा प्रिय है,

इससे आप ने यह किया कि हम सब को अज्ञात-वास की विपत्ति में डाल दिया ॥ २६ ॥

न तं देशं प्रपश्यामि यत्र सोऽस्मान् सुदुर्जनः ।
न विज्ञास्यति दुष्टात्मा चारैरिति सुयोधनः ॥ २८ ॥

मैं उस प्रदेश को जानता ही नहीं हूँ, जहां हमको वह दुर्जन दुष्टात्मा दुर्योधन, अपने गुप्तचरों से जान नहीं सकेगा ॥ २८ ॥

अधिगम्य च सर्वान्नो वनवासमिमं ततः ।
प्रव्राजयिष्यति पुनर्निकृत्याधमपूरुषः ॥ २९ ॥

यह पापी दुर्योधन, हम सब का पता लगाकर फिर छल से हमको वनवास ही भेज देगा ॥ २९ ॥

यद्यस्मानभिगच्छेत पापः स हि कथञ्चन ।
अज्ञातचर्य्यामुत्तीर्णान् दृष्ट्वा च पुनराह्वयेत् ॥ ३० ॥

यदि किसी प्रकार हमने अज्ञात-वास के दिन व्यतीत भी कर लिए, तो वह दुष्ट दुर्योधन, हमको फिर जुआ के लिये बुला भेजेगा ॥ ३० ॥

द्यूतेन ते महाराज पुनर्द्यूतमवर्त्तत ।
भवांश्च पुनराहूतो द्यूतेनैवापनेष्यति ॥ ३१ ॥

हे महाराज ! फिर आपके साथ उनका जुआ मचेगा । आप को बुलाकर फिर इस जुआ से ही आपको फिर निकाल देगा॥३१।

स तथाक्षेषु कुशलो निश्चितो गतचेतनः ।
चरिष्यसि महाराज वनेषु वसतीः पुनः ॥ ३२ ॥

हे महाराज ! तुम जुआ खेलने के बड़े शौकीन हो, इससे चिन्ता-रहित होकर दुःख के साथ फिर वन में वास करोगे ॥ ३२ ॥

यद्यस्मान् न महाराज कृपणान् कर्त्तुमर्हसि ।
यावज्जीवमवेक्षस्व वेदधर्मांश्च कृत्स्नशः ॥ ३३ ॥

हे महाराज ; यदि तुम हमको दीन बनाना नहीं चाहते हो, तो सारे वेद के धर्मों का आयु भर निरीक्षण करके देखलो ॥३३॥

निकृत्या निकृतिप्रज्ञा हन्तव्या इति निश्चयः ।
अनुज्ञातस्त्वया गत्वा यावच्छक्ति सुयोधनम् ॥३४॥

उस में यही निश्चय है, कि नीचों को छल से भी मार देना चाहिये । अपनी शक्ति के अनुसार दुर्योधन को तुम सचेतन कर सकते हो ॥ ३४ ॥

यथैव कक्षमुत्सृष्टो दहेदनिलसारथिः ।
हनिष्यामि तथा मन्दमनुजानातु मे भवान् ॥ ३५ ॥

जैसे काष्ठ की ढेरी में डाला हुआ अग्नि, उसको जला डालता है, उसी तरह मैं उस मूर्ख को मार डालूंगा, आप मुझे आज्ञा देदीजिये ॥ ३५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवं ब्रुवाणं भीमन्तु धर्म्मराजो युधिष्ठिरः।
उवाच सान्त्वयन् राजा मूर्ध्न्युपाघ्राय पाण्डवम् ॥३६॥

वैशम्पायन बोले—भीम सेन के इतना कहने पर धर्मराज राजा युधिष्ठिर, भीम का मस्तक सूंघ कर उसको समझाने लगा ॥३६॥

असंशयं महाबाहो हनिष्यसि सुयोधनम् ।
वर्षात्त्रयोदशादूर्ध्वं सह गाण्डीवधन्वना ॥३७॥

हे महाबाहो ! तुम गान्डीव-धारी अर्जुन के साथ अवश्य दुर्योधन को मारना, परन्तु अभी तेरह वर्ष तक चुप रहो॥३७॥

यत्त्वं मां भाषसे पार्थ प्राप्तः काल इति प्रभो ।
अनृतं नोत्सहे वक्तुं न ह्येतन्मयि विद्यते ॥३८॥

हे भीम! जो तुम कहते हो कि उसके मारने का समय आ गया, यह मिथ्या है। मैं इस झूंठ को कभी नहीं कह सकता, क्योंकि मैं झूंठा व्यवहार नहीं करता हूं ॥ ३८ ॥

अन्तरेणापि कौन्तेय निकृतिं पापनिश्चयाम् ।
हन्ता त्वमसि दुर्द्धर्ष सानुबन्धं सुयोधनम् ॥३९॥

हे भीम सेन ! पाप-पूर्ण छल का आश्रय लिये विना भी तुम महाबली दुर्योधन को उनके साथियों के साथ अवश्य मार डालोगे ॥ ३९ ॥

एवं ब्रुवति भीमन्तु धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
आजगाम महाभागो बृहदश्वो महानृषिः ॥४०॥

धर्मराज युधिष्ठिर ने भीम सेन से इतना कहा ही था, कि इतने में महानुभाव बृहदश्व नामक महर्षि वहां चले आए ॥४०

तमभिप्रेक्ष्य धर्मात्मा सम्प्राप्तं धर्मचारिणम् ।
शास्त्रवन्मधुपर्केण पूजयामास धर्मराट्॥४१॥

इस धर्मात्मा को आया हुआ देख कर महात्मा युधिष्ठिर ने शास्त्रानुसार मधुपर्क से उसकी पूजा की ॥ ४१ ॥

आश्वस्तश्चैनमासीनमुपासीनो युधिष्ठिरः ।
अभिप्रेक्ष्य महाबाहुः कृपणं बह्वभाषत ॥४२॥

जब यह महर्षि, विश्राम करके बैठा, तब राजा युधिष्ठिर भी इस के पास आकर बैठ गए। इस समय महाबाहु युधिष्ठिर उनकी ओर देख कर दीनता के साथ बहुत सी बातें कहने लगे ॥४२॥

अक्षद्यूते च भगवन् धनं राज्यञ्च मे हृतम् ।
आहूय निकृतिप्रज्ञैः कितवैरक्षकोविदैः ॥४३॥

हे भगवन ! जुआ में छली, जुआरी, धूर्तों ने मुझे बुला कर मेरा धन और राज्य सब कुछ छीन लिया ॥ ४३ ॥

अनक्षज्ञस्य हि सतो निकृत्या पापनिश्चयैः।
भार्य्या च मे सभां नीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥४४॥

मैं जुआ खेलना नहीं जानता था, इससे पापी धोखे से मेरी भार्या को भी सभा में खेंच लाये, जो कि मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है ॥ ४४ ॥

पुनर्द्यूतेन मां जित्वा वनवासं सुदारुणम् ।
प्राव्राजयन्महारण्यमजिनैः परिवारितम् ॥४५॥

फिर जुआ में मुझे जीत कर उन धूर्तों ने दारुण वनवास की प्रतिज्ञा से मृग-चर्म धारण कराके मुझे बड़े भारी वन में रहने को भेज दिया ॥ ४५ ॥

अहं वने दुर्वसतीर्वसन् परमदुःखितः ।
अक्षद्यूताधिकारे च गिरः शृण्वन् सुदारुणा ॥४६॥

मैं वन में बड़े क्लेश से अपना जीवन चला रहा हूँ। जुआ के समय में भी मैंने बड़ी २ अपमान जनक दारुण वाणी सुनी हैं ॥ ४६ ॥

आर्त्तानां सुहृदां वाचो द्यूतप्रभृति शंसताम् ।
अहं हृदि श्रिताः स्मृत्वा सर्वरात्रीर्विचिन्तयन् ॥४७॥

मैं व्याकुल हुए अपने मित्रों की जुआ के समय से आजतक कही हुई वाणियों को याद करके सारी रात चिन्ता से काट रहा हूँ ॥ ४७ ॥

यस्मिंश्चैव समस्तानां प्राणा गाण्डीवधन्वनि ।
विना महात्मना तेन गतसत्त्व इवाभवम् ॥४८॥

हम सबों के प्राण गाण्डीव-धारी अर्जुन में बसते हैं । उस महानुभाव के बिना तो हम मृतक से हो रहे हैं ॥ ४८ ॥

कदा द्रक्ष्यामि बीभत्सुं कृतास्त्रं पुनरागतम् ।
प्रियवादिनमक्षुद्रं दयायुक्तमतन्द्रितम् ॥४९॥

अब मैं अस्त्र ग्रहण करके लौटे हुए प्रियवादी, महात्मा, दयालु निरालस, अर्जुन को कब देखूंगा ॥ ४९ ॥

अस्ति राजा मया कश्चिदल्पभाग्यतरो भुवि।
भवता दृष्टपूर्वो वा श्रुतपूर्वोऽपि वा क्वचित्।
न मत्तो दुःखिततरः पुमानस्तीति मे मतिः ॥५०॥

क्या अन्य भी कोई मुझ से अधिक भाग्यहीन राजा आपने कभी देखा या सुना है। मेरे ख्याल में तो मुझसे अधिक अन्य कोई मनुष्य इतना दुःखी नहीं होगा। ॥ ५० ॥

बृहदश्व उवाच—

यद्ब्रवीषि महाराज न मत्तो विद्यते क्वचित्।
अल्पभाग्यतरः कश्चित् पुमानस्तीति पाण्डव ॥५१॥
अत्र ते वर्णयिष्यामि यदि शुश्रूषसेऽनघ।
यस्त्वत्तो दुःखिततरो राजासीत् पृथिवीपते ॥५२॥

बृहदश्व बोले—हे महाराज! जो आप कहते हैं, कि मुझ से अधिक कहीं कोई भाग्यहीन पुरुष नहीं होगा, यह बात नहीं है। हे अनघ! यदि तू सुनना चाहता है, तो मैं तुझ को बतलाता हूं, कि तुझसे भी अधिक दीन और भाग्यहीन राजा हो चुका है ॥ ५१-५२ ॥

वैशम्पायन उवाच—

अथैनमब्रवीद्राजा ब्रवीतु भगवानिति।
इमामवस्थां संप्राप्तं श्रोतुमिच्छामि पार्थिवम् ॥५३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन्! अब इस महर्षि से राजा युधिष्ठिर ने कहा, आप कहिये:—मैं इस दशा को प्राप्त हुए राजा की कथा सुनना चाहता हूँ ॥ ५३ ॥

बृहदश्व उवाच—

शृणु राजन्नवहितः सह भ्रातृभिरच्युत ।
यस्त्वत्तो दुःखिततरो राजासीत् पृथिवीपते ॥५४॥

बृहदश्व कहने लगा— हे राजन् ! तू सावधान होकर अपने भाइयों के साथ सुन, जोकि तुमसे अधिक दुःखी राजा हो चुका है ॥ ५४ ॥

निषधेषु महीपालो वीरसेन इति श्रुतः ।
तस्य पुत्रोऽभवन्नाम्ना नलो धर्मार्थकोविदः ॥५५॥

निषध देश में एक वीरसेन राजा था, उस का पुत्र धर्म और नीति का जाननेवाला था। जिस का नाम नल था ॥ ५५ ॥

स निकृत्या जितो राजा पुष्करेणेति नः श्रुतम् ।
वनवासं सुदुःखार्त्तो भार्य्यया न्यवसत् सह ॥५६॥

उस को भी उसके भाई पुष्कर ने छल से जीत लिया। इस ने भी अपनी भार्या के साथ वन में बड़े क्लेश से निवास किया, यह हमने सुना है ॥ ५६ ॥

न तस्य दासा न रथो न भ्राता न च बान्धवाः ।
वने निवसतो राजन् शिष्यन्ते स्म कदाचन ॥५७॥

हे राजन् ! जिस समय यह वन में निर्वाह कर रहा था, उस समय इस के पास दास, रथ, भाई, बान्धव, आदि कुछ भी नहीं था ॥ ५७ ॥

भवान् हि संवृतो वीरैर्भ्रातृभिर्देवसन्निभैः ।
ब्रह्मकल्पैर्द्विजाग्र्यैश्च तस्मान्नार्हसि शोचितुम् ॥५८॥

तुम तो अपने देवों के समान भाई और ब्रह्मा के समान उत्तम ब्राह्मणों से युक्त हो,—इससे तुमको तो कुछभी चिन्ता नहीं करनी चाहिए ॥ ५८॥

युधिष्ठिर उवाच—

विस्तरेणाहमिच्छामि नलस्य सुमहात्मनः ।
चरितं वदतां श्रेष्ठ तन्माख्यातुमर्हसि ॥५९॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि बृहदश्वयुधिष्ठिरसंवादे
द्विपञ्चाशोऽध्यायः ॥५२॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे महानुभाव ! मैं महात्मा राजा नल का चरित विस्तार के साथ सुना चाहता हूँ। आप उसको अच्छी तरह सुनाइये ॥ ५९ ॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्व में बृहदश्व
और युधिष्ठिर के सम्वाद का बावनवां
अध्याय सम्पूर्ण हुआ।



तरेपनवां अध्याय

बृहदश्व उवाच—

आसीद्राजा नलो नाम वीरसेनसुतो बली।
उपपन्नो गुणैरिष्टैरूपवानश्वकोविदः ॥१॥

बृहदश्वने कहा—हे राजन् ! एक महाबली नल नाम का राजा हुआ है। यह गुणों से युक्त और अश्वों के पहचानने में बड़ा ही चतुर था ॥ १॥

अतिष्ठन्मनुजेन्द्राणां मूर्ध्नि देवपतिर्यथा।
उपर्युपरि सर्वेषामादित्य इव तेजसा ॥२॥

यह सारे राजाओं का शिरोमणि था, जैसे देवों का इन्द्र है। यह सबसे श्रेष्ठ, और सूर्य के समान तेजस्वी था ॥ २ ॥

ब्रह्मण्यो वेदवित् शूरो निषधेषु महीपतिः।
अक्षप्रियः सत्यवादी महानक्षौहिणी पतिः ॥३॥

यह ब्राह्मणों का भक्त, वेद का ज्ञाता, शूरवीर और निषध देश का स्वामी था। यह जुआ खेलने का व्यसनी (शौकीन) सत्यवादी तथा अनेक अक्षौहिणी सेना का अधिपति था ॥ ३ ॥

ईप्सितो नरनारीणामुदारः संयतेन्द्रियः।
रक्षिता धन्विनां श्रेष्ठः साक्षादिव मनुः स्वयम् ॥४॥

सारे नर और नारी इसको मनसे चाहते थे; यह उदार जितेन्द्रिय प्रजापालक और धनुषधारियों में उत्तम, साक्षात् राजा मनु के समान था ॥ ४ ॥

तथैवासीद्विदर्भेषु भीमो भीमपराक्रमः ।
शूरः सर्वगुणैर्युक्तः प्रजाकामः स चाप्रजः ॥५॥

इसी प्रकार विदर्भ देश में अत्यन्त पराक्रमी भीम नाम का राजा था। यह शूर वीर, सब गुणों से युक्त सन्तान का अभिलाषी था, क्योंकि इसके अभी तक कोई सन्तान न थी ॥ ५ ॥

स प्रजार्थे परं यत्नमकरोत् सुसमाहितः ।
तमभ्यगच्छद् ब्रह्मर्षिर्दमनो नाम भारत ॥६॥

हे भारत ! इसने सन्तान के लिए बड़ी सावधानी से प्रयत्न किया। इसके पास एक दिन दमन नामक महर्षि आए ॥६॥

तं स भीमः प्रजाकामस्तोषयामास धर्मवित् ।
महिष्या सह राजेन्द्र सत्कारेण सुवर्च्चसम् ॥७॥

हे राजेन्द्र ! धर्मात्मा भीम ने सन्तान की प्राप्ति के लिए अपनी रानी के साथ २ इसकी सेवा करके इस तेजस्वी को महान् सत्कार से सन्तुष्ट कर लिया ॥७॥

तस्मै प्रसन्नो दमनः सभार्य्याय वरं ददौ ।
कन्यारत्नं कुमारांश्च त्रीनुदारान् महायशाः ॥८॥
दमयन्तीं दमं दान्तं दमनञ्च सुवर्च्चसम् ।
उपपन्नान् गुणैः सर्वैर्भीमान् भीमपराक्रमान् ॥९॥

महायशस्वी दमन ऋषि इस पर प्रसन्न हो गया, इस लिए भार्या सहित इसको वरदान दिया, कि तुम्हारे एक कन्या और तीन उत्तम पुत्र होंगे इन में कन्या का नाम दमयन्ती और कुमारों

के नाम क्रम से दम, दान्त, दमन थे । ये अत्यन्त तेजस्वी, सारे गुणों से युक्त तथा शत्रु को भयभीत करने वाले, भीषण पराक्रमी थे॥८-९॥

दमयन्ती तु रूपेण तेजसा यशसा श्रिया ।
सौभाग्येषु च लोकेषु यशः प्राप सुमध्यमा ॥१०॥

दमयन्ती ने भी रूप, तेज, यश, और श्री से सारे जगत में यश प्राप्त किया। यह सौभाग्यवती, बड़ी सुन्दरी थी ॥१०॥

अथ तां वयसि प्राप्ते दासीनां समलङ्कृतम् ।
शतं शतं सखीनाञ्च पर्य्युपासच्छचीमिव ॥११॥

जब यह, युवति हुई तो एक सौ दासी और एक सौ सहेली, इन्द्राणी के तुल्य इस दमयन्ती की सेवा किया करती थी ॥११॥

तत्र स्म राजते भैमी सर्वाभरणभूषिता ।
सखीमध्येऽनवद्याङ्गी विद्युत्सौदामिनी यथा ॥१२॥

सारे अलङ्कारों से अलंकृत यह दमयन्ती उन सखियों में ऐसी सुशोभित होती थी, जैसे साधारण बिजलियों में सौदामिनी (बिजली) चमकती है ॥१२॥

अतीव रूपसम्पन्ना श्रीरिवायतलोचना ।
न देवेषु न यक्षेषु तादृग्रूपवती क्वचित् ॥१३॥

यह लक्ष्मी के तुल्य अत्यन्त रूपवती और विशाल नेत्रों वाली थी, देव या यक्ष किसी भी जाति में ऐसी सुन्दरी को नहीं थी ॥१३॥

मानुषेष्वपि चान्येषु दृष्टरूपाथ वा श्रुता ।
चित्तप्रसादनी बाला देवानामपि सुन्दरी ॥१४॥

मनुष्यों में ऐसी रूपवती न तो देखी गई और न कहीं सुनी गई थी । यह बाला देवों के चित्त में भी विकार उत्पन्न कर देने वाली थी ॥१४॥

नलश्च नरशार्दूलो लोकेष्वप्रतिमो भुवि ।
कन्दर्प इव रूपेण मूर्त्तिमानभवत् स्वयम् ॥१५॥

मनुष्यों में उत्तम राजा नल भी पृथिवी पर सारे लोकों में अद्वितीय था । वह रूप में द्वितीय काम-देव था ॥१५॥

तस्याः समीपे तु नलं प्रशशंसुः कुतूहलात् ।
नैषधस्य समीपे तु दमयन्तीं पुनः पुनः ॥१६॥

लोग, दमयन्ती के पास नल की और नल के पास दमयन्ती की प्रशंसा करते रहते थे । लोगों को इनकी प्रशंसा में आनन्द सा मिलता था ॥१६॥

तयोरदृष्टः कामोऽभूत् शृण्वतः सततं गुणान् ।
अन्योऽन्यं प्रति कौन्तेय स व्यवर्द्धत हृच्छयः ॥१७॥

हे कौन्तेय ! एक दूसरे के गुणों को सुनते २ इनके अभिलाषा उत्पन्न हो गई । अब इन दोनों में एक दूसरे से मिलाने के लिए कामदेव बढ़ने लगा ॥१७॥

अशक्नुवन्नलः कामं तदा धारयितुं हृदा ।
अन्तः पुरसमीपस्थे वन आस्ते रहोगतः ॥१८॥

नल, इस काम के वेग का सहन नहीं कर सका। वह रनवास के एकान्त बगीचे में अपने दिन बिताने लगा ॥१८॥

स ददर्श ततो हंसान् जातरूपपरिष्कृतान्।
वने विचरतां तेषामेकं जग्राह पक्षिणम् ॥१९॥

इस समय राजा नल ने सुवर्ण के समान उज्ज्वल बगीचे में घूमते हुए कुछ हंसों को देखा। उनमें से इसने किसी प्रकार एक हंस को पकड़ लिया ॥१९॥

ततोऽन्तरीक्षगो वाचं व्याजहार नलं तदा।
हन्तव्योऽस्मि न ते राजन् करिष्यामि तव प्रियम् ॥२०॥

इस राजहंस ने इस समय नल से कहा—हे राजन्! आप मुझे मारें नहीं, मैं आपका बड़ा प्रिय कार्य पूरा करूँगा ॥२०॥

दमयन्तीसकाशे त्वां कथयिष्यामि नैषध।
यथा त्वदन्यं पुरुषं न सा मंस्यति कर्हिचित् ॥२१॥

हे निषेधराज! मैं दमयन्ती के समीप तुम्हारी इस प्रकार प्रशंसा करूंगा, जिससे वह किसी भी तरह तुम्हारे सिवा किसी को भी अपना पति न बना सकेगी ॥२१॥

एवमुक्तस्ततो हंसमुत्ससर्ज महीपतिः।
ते तु हंसाः समुत्पत्य विदर्भानगमंस्ततः ॥२२॥

जब हंस ने इतना कहा तो राजा नल ने उस पक्षी को छोड़ दिया। अब ये सारे हंस उड़कर विदर्भ देश को चल दिए ॥२२॥

विदर्भनगरीं गत्वा दमयन्त्यास्तदन्तिके।
निपेतुस्ते गरुत्मन्तः सा ददर्श च तान् गणान् ॥२३॥

ये सारे पक्षी विदर्भ देश में पहुंचे और दमयन्ती के समीप उतर पड़े। दमयन्ती ने भी इस हंस के समूह को देखा ॥२३॥

सा तानद्भुतरूपान् वै दृष्ट्वा सखीगणावृता ।
हृष्टा ग्रहीतुं खगमांस्त्वरमाणोपचक्रमे ॥२४॥

सखियों से घिरी हुई दमयन्ती ने जब इन अद्भुत सुन्दर पक्षियों को देखा, तो प्रसन्न होकर इन पक्षियों के पकड़ने के लिये शीघ्रता से प्रयत्न करने लगी ॥ २४ ॥

अथ हंसा विससृपुः सर्वदा प्रमदावने ।
एकैकशस्तदा कन्यास्तान् हंसान् समुपाद्रवन् ॥२५॥

अब ये हंस भी उस स्त्रियों के बगीचे में फुदक २ कर सरकने लगे। प्रत्येक कन्या एक २ हंस के पीछे २ होली ॥२५॥

दमयन्ती तु यं हंसं समुपाधावदन्तिके ।
स मानुषीं गिरं कृत्वा दमयन्तीमथाब्रवीत् ॥२६॥

दमयन्ती जिस हंस के पीछे चली, वह मनुष्य की बोली बना कर उससे बोला ॥ २६ ॥

दमयन्ति नलो नाम निषधेषु महीपतिः ।
अश्विनोः सदृशो रूपे न समास्तस्य मानुषाः ।
कन्दर्प इव रूपेण मूर्त्तिमानभवत् स्वयम् ॥२७॥

हे दमयन्ती ! नल नामक एक निषध देश का राजा है। यह अश्विनी कुमारों के सदृश सुन्दर है। इसके समान सुन्दर,

मनुष्यों में तो मिल ही नहीं सकता। यह कामदेव की द्वितीय मूर्ति है ॥ २७ ॥

तस्य वै यदि भार्य्या त्वं भवेथा वरवर्णिनि ।
सफलन्ते भवेज्जन्म रूपञ्चेदं सुमध्यमे ॥२८॥

हे सुन्दरि, यदि तू उसकी किसी प्रकार भार्या बन जावे, तो तेरा यह रूप और जन्म सफल हो जावे ॥ २८ ॥

वयं हि देवगन्धर्वमनुष्योरगराक्षसान् ।
दृष्टवन्तो न चास्माभिर्दृष्टपूर्वस्तथाविधः ॥२९॥

हमने देव, गन्धर्व, मनुष्य, उरग और राक्षस जाति के सब लोग देख रखे हैं, हमने वैसा पुरुष कभी कहीं पहिले नहीं देखा है ॥ २९ ॥

त्वञ्चापि रत्न नारीणां नरेषु च नलो वरः ।
विशिष्टाया विशिष्टेन सङ्गमो गुणवान् भवेत् ॥३०॥

तू नारियों में रत्न है और नल मनुष्यों में श्रेष्ठ है। एक उत्तम गुण वाले का द्वितीय गुणवान् के साथ मिलना उत्तमता के लिये होगा ॥ ३० ॥

एवमुक्ता तु हंसेन दमयन्ती विशाम्पते ।
अब्रवीत्तत्र तं हंसं त्वमप्येवं नलं वद ॥३१॥

जब हंस ने दमयन्ती से इतना कहा, तो दमयन्ती भी इस हंस से बोली, कि तू जा, और इसी प्रकार राजा नल से भी कह देना ॥ ३१ ॥

तथेत्युक्त्वाण्डजः कन्यां विदर्भस्य विशाम्पते ।
पुनरागम्य निषधान्नले सर्वं न्यवेदयत् ॥३२॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि हंसवाक्ये
त्रिपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

हे विशाम्पते ! यह हंस, विदर्भ राजा की कन्या दमयन्ती से यह बात स्वीकार करके नल के पास निषध देश में आया और राजा नल को यह सारा वृत्तान्त सुनाया ॥ ३२ ॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्व में हंस वाक्य का तरेपनवां अध्याय समाप्त हुआ ।

चौवनवाँ अध्याय

बृहदश्व उवाच—

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा वचो हंसस्य भारत ।
ततः प्रभृति न स्वस्था नलं प्रति बभूव सा ॥१॥

बृहदश्व बोले—हे भारत ! जब से दमयन्ती ने हंस के वचन सुने, तभी से वह नल के ध्यान से बड़ी व्याकुल रहने लगी ॥ १ ॥

ततश्चिन्तापरा दीना विवर्णवदना कृशा ।
बभूव दमयन्ती तु निश्वासपरमा तदा ॥२॥

अब दमयन्ती बड़ी चिन्तातुर दीन, श्वेत मुखवाली एवं दुर्बल हो गई और बड़े लम्बे २ निःश्वास लेने लगी ॥ २ ॥

ऊर्ध्वदृष्टिर्ध्यानपरा बभूवोन्मत्तदर्शना ।
पाण्डुवर्णा क्षणेनाथ हृच्छयाविष्टचेतना ॥३॥

इसकी ऊपर की ओर दृष्टि ठहर सी गई । यह सदा ध्यान मग्न और पागल सी दिखाई देने लगी । काम के आवेग से क्षण भर में इसका सफेद रंग निकल आया ॥ ३ ॥

न शय्यासनभोगेषु रतिं विन्दति कर्हिचित् ।
न नक्तं न दिवा शेते हाहेति रुदती पुनः ॥४॥

दमयन्ती, शयन, आसन और अन्य भोगों में कहीं भी आनन्द नहीं मानती थी । यह न तो रात को और न दिन को कभी सोती थी तथा हाय ? हाय ! करके रोती रहती थी ॥ ४ ॥

तामस्वस्थां तदाकारां सख्यस्ता जग्मुरिङ्गितैः ।
ततो विदर्भपतये दमयन्त्याः सखीगणः ॥५॥

सखियों ने दमयन्ती की चेष्टाओं से अनुमान कर लिया, कि यह कामदेव से व्याकुल और अस्वस्थ है । अब सखियों ने दमयन्ती का यह सारा वृत्तान्त राजा भीम से कहा ॥ ५ ॥

न्यवेदयत्तामस्वस्थां दमयन्तीं नरेश्वरे ।
तच्छ्रुत्वा नृपतिर्भीमो दमयन्तीं सखीगणात् ॥६॥
चिन्तयामास तत्कार्य्यं सुमहत् स्वां सुतां प्रति ।
किमियं दुहिता मेऽद्य नातिस्वस्थेव लक्ष्यते ॥७॥

सखियों ने दमयन्ती के रुग्ण होने की राजा से कही। राजा भीम भी सखियों से यह वृत्तान्त सुन कर और अपनी पुत्री के प्रति अपने महान् कर्तव्य को सोचकर विचारने लगा, कि क्या कारण है ? जो मेरी पुत्री दमयन्ती अस्वस्थ दिखाई देती है ॥ ६-७ ॥

स समीक्ष्य महीपालः स्वां सुतां प्राप्तयौवनाम् ।
अपश्यदात्मना कार्य्यं दमयन्त्याः स्वयम्वरम् ॥८॥

राजा भीम ने अपनी पुत्री दमयन्ती को जब तरुणी देखा, तो इस समय दमयन्ती का स्वयम्वर करना ही अपना कर्तव्य समझा ॥ ८ ॥

स तं निमन्त्रयामास महीपालान् विशाम्पतिः ।
अनुभूयतामयं वीराः स्वयम्वर इति प्रभो ॥९॥

राजा भीम ने अन्य राजाओं के पास निमन्त्रण पत्र भेजा। हे वीरों ! आओ और मेरी पुत्री दमयन्ती के स्वयम्वर में सम्मिलित होओ ॥ ९ ॥

श्रुत्वा तु पार्थिवाः सर्वे दमयन्त्या स्वयम्वरम् ।
अभिजग्मुस्ततो भीमं राजानो भीमशासनात् ॥१०॥
हस्त्यश्वरथघोषेण पूरयन्तो वसुन्धराम् ।
विचित्रमाल्याभरणैर्बलैर्दृश्यैः स्वलंकृतैः ॥११॥

जब सारे राजाओं ने सुना, कि दमयन्ती का स्वयम्वर है, तो राजा भीम के निमन्त्रण पर हाथी, घोड़े, रथ के शब्द से पृथिवी

को भरते हुए तथा विचित्र२ माला, भूषणों से सजी हुई सेना से युक्त होकर राजा लोग, उसकी राजधानी की ओर चल पड़े ॥१०॥

तेषां भीमो महाबाहुः पार्थिवानां महात्मनाम् ।
यथार्हमकरोत् पूजां तेऽवसंस्तत्र पूजिताः ॥१२॥

राजा भीम ने इन बड़े २ राजाओं का अपनी शक्ति के अनुसार सत्कार किया। सत्कार पाने के अनन्तर राजाओं ने वहां अपने २ डेरे डाल दिए ॥ १२ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु सुराणामृषिसत्तमौ ।
अटमानौ महात्मानाविन्द्रलोकमितो गतौ ॥१३॥

इसी समय महात्मा देवर्षि नारद और पर्वत घूमते हुए इन्द्रलोक में पहुंचे ॥ १३ ॥

नारदः पर्वतश्चैव महाप्राज्ञौ महाव्रतौ ।
देवराजस्य भवनं विविशाते सुपूजितौ ॥१४॥

ये नारद और पर्वत, दोनों ही बड़े बुद्धिमान् और व्रतशील थे। ये पूजा होने के अनन्तर देवराज के भवन में प्रविष्ट हुए ॥१४॥

तावर्चयित्वा मघवा ततः कुशलमव्ययम् ।
पप्रच्छानमयञ्चापि तयोः सर्वगतं विभुः ॥१५॥

इन्द्र ने इन दोनों की पूजा की और इनसे इन दोनों और सब की कुशल तथा प्रसन्नता पूछी ॥ १५ ॥

नारद उवाच—

आवयोः कुशलं देव सर्वत्र गतमीश्वर ।
लोके च मघवन् कृत्स्ने नृपाः कुशलिनो विभो ॥१६॥

नारद ने कहा—हे देवराज! हमारी सब जगह कुशल रही और संसार में सारे राजा भी कुशल से हैं ॥ १६ ॥

बृहदश्व उवाच—

नारदस्य वचः श्रुत्वा पप्रच्छ बलवृत्रहा ।
धर्मज्ञाः पृथिवीपालास्त्यक्तजीवितयोधिनः ॥१७॥

बृहदश्व बोले—हे राजन्! नारद के वचन सुनकर देवराज इन्द्र ने कहा, धर्मात्मा राजा लोग तो अपने प्राणों पर खेलकर युद्ध किया करते हैं ॥ १७ ॥

शस्त्रेण निधनं काले ये गच्छन्त्यपराङ्मुखाः ।
अयं लोकोऽक्षयस्तेषां यथैव मम कामधुक् ॥१८॥

जब युद्धमें शस्त्र चलते हैं और उस समय जो मुंह न मोड़ कर मृत्यु पाते हैं, उनको इस अक्षय स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है। यह लोक मेरी कामधेनु के समान सुखदायी है ॥ १८ ॥

क्व नु ते क्षत्रियाः शूरा न हि पश्यामि तानहम् ।
आगच्छतो महीपालान् दयितानतिथीन् मम ।
एवमुक्तस्तु शक्रेण नारदः प्रत्यभाषत ॥१९॥
शृणु मे मघवन् येन न दृश्यन्ते महीक्षितः ।

अब वे शूरवीर क्षत्रिय कहां गए, जिनको आजकल में देख ही नहीं रहा हूँ और जो राजा मेरे इस लोकमें आते थे तथा मेरे

प्रिय अतिथि बनते थे। जब इन्द्र ने इतना कहा तो नारद जी बोले—हे महेन्द्र! सुनो, जिससे आजकल तुमको राजा लोग दिखाई नहीं देते हैं॥ १९॥

नारद उवाच—

विदर्भराज्ञो दुहिता दमयन्तीति विश्रुता।
रूपेण समतिक्रान्ता पृथिव्यां सर्वयोषितः ॥२०॥

विदर्भ राजकी पुत्री दमयन्ती बड़ी ही प्रसिद्ध है। इसने अपने रूप से पृथिवी की सारी स्त्रियों का अतिक्रमण कर लिया है॥ २०॥

तस्याः स्वयम्वरः शक्र भविता न चिरादिव।
तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः ॥२१॥

हे इन्द्र! थोड़े ही समय में इसका स्वयम्वर होने वाला है, जहां सारे राजा और राजपुत्र भागे जा रहे हैं॥ २१॥

तां रत्नभूतां लोकस्य प्रार्थयन्तो महीक्षितः।
काङ्क्षन्ति स्म विशेषेण बलवृत्रनिसूदन ॥२२॥

हे बल और वृत्र के मारने वाले, इन्द्र! संसार की रत्न, उस दमयन्ती को विशेष रूप से आजकल राजा लोग चाह रहे हैं॥ २२॥

एतस्मिन् कथ्यमाने तु लोकपालाश्च साग्निकाः।
आजग्मुर्देवराजस्य समीपममरोत्तमाः ॥२३॥

इतना कहते ही अग्निदेव के सहित, सारे अन्य लोकपाल, इन्द्र के समीप आ पहुंचे॥ २३॥

ततस्ते शुश्रुवुः सर्वे नारदस्य वचो महत् ।
श्रुत्वैव चाब्रुवन् हृष्टा गच्छामो वयमप्युत ॥२४॥

इस समय इन्होंने भी नारदजी के वचन सुने । सुनते ही ये भी बोले, कि हम भी स्वयम्वर में जावेंगे ॥ २४ ॥

ततः सर्वे महाराज सगणाः सहवाहनाः ।
विदर्भानभिजग्मुस्ते यतः सर्वे महीक्षितः ॥२५॥

हे महाराज ! इसके अनन्तर सारे लोक-पाल, अपने अपने वाहनों पर चढ़ कर, अन्य सारे राजाओं की भांति विदर्भ देश को चल पड़े ॥ २५ ॥

नलोऽपि राजा कौन्तेय श्रुत्वा राज्ञां समागमम् ।
अभ्यगच्छददीनात्मा दमयन्तीमनुव्रतः ॥२६॥

हे कौन्तेय ! राजा नल भी, अन्य राजाओं के आने का समाचार सुन कर दमयन्ती पर आसक्त हुआ, प्रसन्नता के साथ चल दिया ॥ २६ ॥

अथ देवाः पथि नलं ददृशुर्भूतले स्थितम् ।
साक्षादिव स्थितं मूर्त्या मन्मथं रूपसम्पदा ॥२७॥

अब देवों ने मार्ग में राजा नल को देखा; जो पृथ्वी पर रूप में दूसरा मूर्तिमान् कामदेव था ॥ २७ ॥

तं दृष्ट्वा लोकपालास्ते भ्राजमानं यथा रविम् ।
तस्थुर्विगतसङ्कल्पा विस्मिता रूपसम्पदा ॥२८॥

लोकपाल चमकते हुए सूर्य के तुल्य, नल को देख कर, उसकी रूप सम्पत्ति से भौचक से रह गए और चुपचाप खड़े देखते रहे ॥२८॥

ततोऽन्तरीक्षे विष्टभ्य विमानानि दिवौकसः ।
अब्रुवन्नैषधं राजन्नवतीर्य्य नभस्तलात् ॥२९॥

हे राजन् ! अंतरिक्ष में अपने २ विमानों को रोक कर तथा आकाश से नीचे उतर कर सारे देवता, राजा नल से कहने लगे ॥ २९ ॥

भो भो निषधराजेन्द्र नल सत्यव्रती भवान् ।
अस्माकं कुरु साहाय्यं दूतो भव नरोत्तम ॥३०॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलदौत्ये
चतुःपञ्चाशोऽध्यायः ॥५४॥

हे निषध-राज ! नल ! तुम सत्य प्रतिज्ञा वाले हो, हमारी सहायता करो और थोड़ी देर के लिये हमारा दूत कार्य कर दो ॥ ३० ॥

इति श्री महाभारत वनपर्वांतर्गत नलोपाख्यान
पर्व में नल दौत्य का चौवनवां अध्याय पूरा हुआ



पचपनवां अध्याय

बृहदश्व उवाच—

तेभ्यः प्रतिज्ञाय नलः करिष्य इति भारत ।
अथैतान् परिपप्रच्छ कृताञ्जलिरुपस्थितः ॥१॥
के वै भवन्तः कश्चासौ यस्याहं दूत ईप्सितः ।
किञ्च तद्वो मया कार्य्यं कथयध्वं यथातथम् ॥२॥

बृहदश्व कहने लगे, हे भारत ! राजा नल ने उनसे प्रतिज्ञा करली, कि मैं तुम्हारा दूत कार्य कर दूंगा। अब यह इनके सामने हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया और पूंछने लगा कि तुम कौन हो, जो मुझे दूत बनाना चाहते हो। तुम्हारा मुझसे क्या काम अटक गया ? मुझे सब सच सच बताओ ॥ १-२ ॥

एवमुक्ते नैषधेन मघवानभ्यभाषत ।
अमरान् वै निबोधास्मान् दमयन्त्यर्थमागतान् ॥३॥

जब निषधराज नल ने, इतना कहा तो इन्द्र कहने लगा- कि हम देवता हैं और दमयन्ती के वरने के लिये आ रहे हैं ॥ ३ ॥

अहमिन्द्रोयमग्निश्च तथैवायमपाम्पतिः ।
शरीरान्तकरो नृणां यमोऽयमपि पार्थिव ॥४॥

हे राजन् ! मैं इन्द्र हूँ, यह अग्नि है, यह वरुण और यह प्राणियों का अन्त करने वाला यम है ॥ ४ ॥

त्वं वै समागतानस्मान् दमयन्त्यै निवेदय ।
लोकपाला महेन्द्राद्याः सभां यान्ति दिदृक्षवः ॥५॥

तू दमयन्ती के पास जाकर हमारे आने की सूचना दे दे, कि इन्द्रादि-लोकपाल भी तेरे स्वयम्वर को देखने के लिए सभा में पहुंच गए हैं ॥ ५ ॥

प्राप्तुमिच्छन्ति देवास्त्वां शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः ।
तेषामन्यतमं देवं पतित्वे वरयस्त्वह ॥६॥

देव-श्रेष्ठ, इन्द्र अग्नि, वरुण और यमराज, तुमको वरना चाहते हैं, इसलिए उनमें से किसी एक को तुम पति बना लो ॥६॥

एवमुक्तः स शक्रेण नलः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
एकार्थसमुपेतं मां न प्रेषयितुमर्हथ ॥७॥

इन्द्र ने जब नल से यह कहा तो हाथ जोड़कर राजा नल बोले, मैं भी दमयन्ती को ग्रहण करने के लिए आया हूं, इससे आपको मुझे नहीं भेजना चाहिए॥ ७ ॥

कथन्तु जातसङ्कल्पः स्त्रियमुत्सहते पुमान् ।
परार्थमीदृशं वक्तुं तत् क्षमन्तु महेश्वराः ॥८॥

कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो स्वयं स्त्री के वरणके लिए इच्छा करके उसी स्त्री को अन्य के वरने का प्रयत्न करदे । हे देवों ! इससे तुम मुझे इस विषय में क्षमा कर दो ॥ ८ ॥

देवा ऊचुः—

करिष्य इति संश्रुत्य पूर्वमस्मासु नैषध ।
न करिष्यसि कस्मात्त्वं व्रज नैषध मा चिरम् ॥९॥

देवों ने कहा—हे निषधराज, प्रथम तो तुमने हमसे यह प्रतिज्ञा करली, कि मैं तुम्हारा दूत कार्य्य कर दूंगा और अब कैसे निषेध करते हो। हे राजन्! अब तो आपको शीघ्र जाना चाहिए, देर करनी उचित नहीं है ॥ ९ ॥

बृहदश्व उवाच—

एवमुक्तः स देवैस्तैर्नैषधः पुनरब्रवीत् ।
सुरक्षितानि वेश्मानि प्रवेष्टुं कथमुत्सहे ॥१०॥

बृहदश्व ने कहा—जब देवों ने राजा नल से इतना कहा—तो नल फिर बोला, कि राज-गृह बड़े सुरक्षित होते हैं, मैं उनमें कैसे घुस सकूंगा ॥ १० ॥

प्रवेक्ष्यसीति तं शक्रः पुनरेवाभ्यभाषत ।
स जगाम तथेत्युक्त्वा दमयन्त्या निवेशनम् ॥११॥

इन्द्रने कहा—तुम इसकी चिन्ता न करो, तुम सब प्रवेश कर लोगे । राजा नल उनके वचनों को स्वीकार करके दमयन्ती के महल की ओर चल दिया ॥ ११ ॥

ददर्श तत्र वैदर्भीं सखीगणसमावृताम् ।
देदीप्यमानां वपुषा श्रिया च वरवर्णिनीम् ॥१२॥

वहां राजा ने सखियों सहित शरीर की कान्ति से देदीप्यमान, सुन्दरी दमयन्ती को देखा ॥ १२ ॥

अतीवसुकुमाराङ्गीं तनुमध्यां सुलोचनाम् ।
आक्षिपन्तीमिव प्रभां शशिनः स्वेन तेजसा ॥१३॥

इसके अङ्ग बड़े ही सुकुमार थे, इसका कटि भाग अत्यन्त पतला और आंखें बड़ी सुन्दर थी। यह अपनी कान्ति से चन्द्रमा की कान्ति को दूर फैंक रही थी ॥ १ ॥

तस्य दृष्ट्वैव ववृधे कामस्तांश्चारुहासिनीम् ।
सत्यश्चिकीर्षमाणस्तु धारयामास हृच्छयम् ॥१४॥

उस सुन्दर हंसने वाली को देख कर इसकी इच्छा प्रबल हो गई, परन्तु सत्य के निर्वाह करने के लिए अपनी कामना को नल ने रोक लिया ॥ १४ ॥

ततस्ता नैषधे दृष्ट्वा संभ्रान्ताः परमाङ्गनाः ।
आसनेभ्यः समुत्पेतुस्तेजसा तस्य धर्षिताः ॥१५॥

ये सुन्दरी स्त्रियां नैषधराज नल को देखकर चौकन्नी होगई और उसके तेजसे दबकर अपने२ आसनों से खड़ी होगई ॥१५॥

प्रशशंसुश्च सुप्रीता नलं ता विस्मयान्विताः ।
न चैनमभ्यभाषन्त मनोभिस्त्वभ्यपूजयन् ॥१६॥

ये सारी अङ्गनाएं अचम्भे में भर गई और नल पर प्रसन्न होकर उसकी प्रशंसा करने लगी। ये इससे अभी तक कुछ भी नहीं बोली, परन्तु मनमें उसके रूप की सराहना कर रही थी ॥ १६ ॥

अहो रूपमहो कान्तिरहो धैर्यं महात्मनः ।
कोऽयं देवोऽथ वा यक्षो गन्धर्वो वा भविष्यति ॥१७॥

इस महात्मा का रूप कितना उत्तम है, इसकी कान्ति कितनी मनोहर है और इसका धैर्य कितना श्रेष्ठ है। यह कोई देव यक्ष या गन्धर्व होगा ॥ १७ ॥

न तास्तं शक्नुवन्ति स्म व्याहर्त्तु मपि किञ्चन ।
तेजसा धर्षितास्तस्य लज्जावत्यो वराङ्गना ॥१८॥

ये सुन्दरियां, राजा नल के तेज से इतनी दबगईं, कि इससे कुछ भी नहीं बोल सकी, किन्तु लज्जा के मारे सिकुड़ सी गईं ॥१८

अथैनं स्मयमानन्तु स्मितपूर्वाभिभाषिणी ।
दमयन्ती नलं वीरमभ्यभाषत विस्मिता ॥१९॥

इस समय राजा नल कुछ मुसकुराने लगा। उसको देखकर मुस्कुरा कर बोलने वाली, दयमन्ती, अचम्भित होकर राजा नल से कहने लगी ॥ १९ ॥

कस्त्वं सर्वानवद्याङ्ग मम हृच्छयवर्द्धनः ।
प्राप्तोऽस्यमरवद्वीर ज्ञातुमिच्छामि तेऽनघ ॥२०॥

हे सर्वाङ्ग सुन्दर ! तुम कौन हो, जो मेरी कामना को जागृत कर रहे हो। हे वीर ! तुम देवों की तरह यहां, घुस आये हो, मैं तुम्हें जानना चाहती हूं ॥ २० ॥

कथमागमनञ्चेदं कथञ्चासि न लक्षितः ।
सुरक्षितं हि मे वेश्म राजा चैवोग्रशासनः ।
एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलस्तां प्रत्युवाच ह ॥२०॥
नल मां विद्धि कल्याणि देवदूतमिहागतम् ।

तुम यहां कैसे आये और कैसे किसीने तुमको नहीं देखा। हमारे महल तो बड़े सुरक्षित है और राजा बड़ा कठोर दण्ड देने वाला है। जब दयमन्ती ने इतना कहा, तो नल उससे बोला—हे कल्याणि! मैं नल हूं और देवों का दूत बन कर यहां आया हूँ ॥ २१ ॥

नल उवाच—

देवास्त्वां प्राप्तुमिच्छन्ति शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः ।
तेषामन्यतमं देवं पतिं वरय शोभने ॥२२॥

हे सुन्दरी! इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम देवता तुमको वरना चाहते हैं, उनमें से किसी एक को तुम अपना पति बना लो ॥२२॥

तेषामेव प्रभावेन प्रविष्टोऽहमलक्षितः ।
प्रविशन्तं न मां कश्चिदपश्यन्नाप्यवारयत् ॥२३॥

इनके प्रभाव से ही मैं, अलक्षित होकर यहां घुस आया हूँ। इसीसे महलों में घुसने के समय न तो किसी ने देखा और न किसीने रोका ॥ २३ ॥

एतदर्थमहं भद्रे प्रेषितः सुरसत्तमैः ।
एतच्छ्रुत्वा शुभे बुद्धिं प्रकुरुष्व यथेच्छसि ॥२४॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलस्य देवदौत्ये
पञ्चपञ्चाशोऽध्यायः ॥५५॥

हे भद्रे! इसीलिये देवों ने मुझे यहां भेजा है। हे महा-भागे अब तुम यह सुन कर जो करना चाहो करो ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्व में नलके
दूत कर्म करने का पचवनवां अध्याय
समाप्त हुआ।

छप्पनवां अध्याय

बृहदश्व उवाच—

सा नमस्कृत्य देवेभ्यः प्रहस्य नलमब्रवीत् ।
प्रणयस्व यथाश्रद्धं राजन् किं करवाणि ते ॥१॥

बृहदश्व बोले—हे राजन् ! दमयन्ती ने देवों को प्रणाम किया और हँसकर नल से कहा। हे निषधराज ! मेरी श्रद्धा के अनुसार आप प्रसन्न हो जाओ, कहिये-आपका क्या सत्कार करूँ ॥ १ ॥

अहञ्चैव हि यच्चान्यन्ममास्ति वसु किञ्चन ।
तत्सर्वं तव विश्रब्धं कुरु प्रणयमीश्वर ॥२॥

हे राजन् ! मैं और जो कुछ मेरा धन है, वह सब आपके अर्पित है। आप मुझ पर अपनी प्रीति का परिचय दें ॥२ ॥

हंसानां वचनं यत्तु तन्मां दहति पार्थिव ।
त्वत्कृते हि मया वीर राजानः सन्निपातिताः ॥३॥

हे पृथिवी-पते ! जो हंसों ने वचन कहे, वे मुझे रात दिन सन्तापित करते रहते हैं। हे वीर ! मैंने तो तुम्हारे लिये ही ये सारे राजा बुलाये हैं॥ ३ ॥

यदि त्वं भजमानां मां प्रत्याख्यास्यसि मानद ।
विषमग्निं जलं रज्जुमास्थास्ये तव कारणात् ॥४॥

हे माननीय ! आपने यदि मुझ दासी को ग्रहण करने में आना-कानी की तो मैं तुम्हारे प्रेम के कारण विष, अग्नि, जल या रस्सी से अपने प्राणों का नाश कर दूंगी ॥४॥

एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलस्तां प्रत्युवाच ह।
तिष्ठत्सु लोकपालेषु कथं मानुषमिच्छसि ॥५॥

जब दमयन्ती ने इतना कहा तो निषधराज नल बोले—हे सुन्दरि ! देवों के रहते हुए तुम क्यों मनुष्य को स्वीकार करना चाहती हो ॥५॥

येषामहं लोककृतामीश्वराणां महात्मनाम्।
न पादरजसां तुल्यो मनस्तेषु प्रवर्त्तताम् ॥६॥

मैं तो लोकों के रचने वाले, इन महानुभाव देवों के चरणों की मिट्टी के भी बराबर नहीं हूँ, इससे तुम उनको ही पसन्द करलो ॥ ६ ॥

विप्रियं ह्याचरन्मर्त्यो देवानां मृत्युमृच्छति।
त्राहि मामनवद्याङ्गि वरयस्व सुरोत्तमान् ॥७॥

हे सर्वाङ्ग-सुन्दरी ! जो मनुष्य, देवों के विरुद्ध आचरण करता है, वह मौत से लड़ता है। तुम मुझ पर कृपा करो और देवों में से किसी एक को वर लो ॥७॥

विरजांसि च वासांसि दिव्याश्चित्राः स्रजस्तथा।
भूषणानि च मुख्यानि देवान् प्राप्य तु भुङ्क्ष्व वै ॥८॥

तुम देवों को प्राप्त करके चमकते हुए वस्त्र, दिव्य और रंग विरङ्गी मालाएँ तथा उत्तम २ भूषण प्राप्त कर सकोगी ॥८॥

य इमां पृथिवीं कृत्स्नां संक्षिप्य ग्रसते पुनः।
हुताशमीशं देवानां का तं न वरयेत पतिम् ॥९॥

जो इस सारी पृथिवी को एक क्षण भर में भस्म कर सकता है, उस देवों के देव अग्नि को कौन ऐसी स्त्री होगी, जो पति रूप में स्वीकार न करेगी ॥९॥

यस्य दण्डभयात् सर्वे भूतग्रामाः समागताः ।
धर्ममेवानुरुध्यन्ति का तं न वरयेत् पतिम् ॥ १० ॥

जिसके दण्ड के भय से सारे प्राणी धर्म का सेवन करते हैं, उस यमराज को कौन पति बनाना न चाहेगी ॥१०॥

धर्मात्मानं महात्मानं दैत्यदानवमर्दनम् ।
महेन्द्रं सर्वदेवानां का तं न वरयेत् पतिम् ॥ ११ ॥

जो धर्मात्मा और महात्मा तथा देव और दानवों का नाशक है, उस सब देवों के स्वामी इन्द्र को कौन स्त्री पति न बनावेगी ॥११॥

क्रियतामविशङ्केन मनसा यदि मन्यसे ।
वरुणं लोकपालानां सुहृद्वाक्यमिदं शृणु ॥ १२ ॥

हे दमयन्ती ! यदि तुम मुझ हितकारी के वाक्यों को सुनना चाहती हो, तो यही एक बात है, कि तुम निःशंक मन से लोकपालों में वरुण को वरलो ॥१२॥

नैषधेनैवमुक्ता सा दमयन्ती वचोऽब्रवीत् ।
समाप्लुताभ्यां नेत्राभ्यां शोकजेनाथ वारिणा ॥ १३ ॥

राजा नल के इतना कहने पर शोक के अश्रुओं से आखें भर कर दमयन्ती इस प्रकार कहने लगी ॥१३॥

देवेभ्योऽहं नमस्कृत्य सर्वेभ्यः पृथिवीपते ।
वृणे त्वामेव भर्त्तारं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १४॥

हे पृथिवी-पते ! मैं इन सारे देवों को तो नमस्कार करती हूँ, और तुमको पति बनाना चाहती हूँ, यह सत्य बात है ॥१४

तामुवाच ततो राजा वेपमानां कृताञ्जलिम् ।
दौत्येनागत्य कल्याणि तथा भद्रे विधीयताम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार हाथ जोड़कर काँपती हुई दमयन्ती से राजा नल कहने लगा—हे कल्याणि ! मैं दूत बनकर आया हूं, इससे तुम मेरे दूत कर्म को ही सफल करो ॥१५॥

कथं ह्यहं प्रतिश्रुत्य देवतानां विशेषतः ।
परार्थे यत्नमारभ्य कथं स्वार्थमिहोत्सहे ॥ १६ ॥

जब मैंने अन्य से इस कार्य के करने की प्रतिज्ञा करली और वह भी देवताओं से की है, तो फिर दूसरे के लिए प्रयत्न आरम्भ करके उस काम को अपने लिए कैसे कर सकता हूं ॥१६

एष धर्मो यदि स्वार्थो ममापि भविता ततः ।
एवं स्वार्थं करिष्यामि तथा भद्रे विधीयताम् ॥ १७ ॥

हे भद्रे ! मेरा इस समय यही धर्म है और इससे ही मेरा स्वार्थ सिद्ध होगा । जिस प्रकार मेरा स्वार्थ सिद्ध हो जावे तुम भी वैसा ही प्रयत्न करो ॥१७॥

ततो बाष्पाकुलां वाचं दमयन्ती शुचिस्मिता ।
प्रत्याहरन्ती शनकैर्नलं राजानमब्रवीत् ॥ १८ ॥

इसके अनन्तर सुन्दर मुस्कुराने वाली दमयन्ती, आंसुओं से गद्गद वाणी होकर धीरे २ राजा नल से बोली ॥१८॥

उपायोऽयं मया दृष्टो निरपायो नरेश्वर ।
येन दोषो न भविता तव राजन् कथञ्चन ॥ १९ ॥

हे राजन् ! मैंने सब दोषों से रहित एक मार्ग ढूंढ निकाला है, जिससे तुम्हारा इसमें कोई भी अपराध नहीं रहेगा ॥१९॥

त्वञ्चैव हि नरश्रेष्ठ देवाश्चेन्द्रपुरोगमाः ।
आयान्तु सहिताः सर्वे मम यत्र स्वयम्वरः ॥ २० ॥

हे नरश्रेष्ठ ! तुम और इन्द्रादि देवता, सारे साथ २ मेरे स्वयम्वर में पधारो ॥२०॥

ततोऽहं लोकपालानां सन्निधौ त्वां नरेश्वर ।
वरयिष्ये नरव्याघ्र नैवं दोषो भविष्यति ॥ २१ ॥

हे नरेश्वर ! तब मैं उन्हीं लोकपालों के सन्मुख तुमको पति बनाऊंगी, इसमें तुम्हारा कोई भी दोष नहीं माना जावेगा ॥२१॥

एवमुक्तस्तु वैदर्भ्या नलो राजा विशाम्पते ।
आजगाम पुनस्तत्र यत्र देवाः समागताः ॥ २२ ॥

हे विशाम्पते ! जब दमयन्ती ने इतना कहा, तो राजा नल चुपचाप वहां लौट आया, जहां सारे देवता ठहरे हुए थे ॥२२॥

तमपश्यंस्तथायान्तं लोकपाला महेश्वराः ।
दृष्ट्वा चैनं ततोऽपृच्छन् वृतांत्तं सर्वमेव तम् ॥ २३॥

महा-शक्ति-शाली देवों ने लौट कर आये हुए राजा नल को देखा। इसको देखकर सारे देवों ने दमयन्ती का सारा वृत्तान्त पूछा ॥२३॥

कच्चिद्दृष्टा त्वया राजन् दमयन्ती शुचिस्मिता ।
किमब्रवीच्च नः सर्वान् वद भूमिपतेऽनघ ॥ २४ ॥

हे निषधराज ! क्या सुन्दरी दमयन्ती से तुम्हारी भेंट हो गई। हे भूमि-पते ! हम सबको उसने क्या संदेश कहा है, तुम शीघ्र सुनाओ ॥ २४ ॥

नल उवाच—

भवद्भिरहमादिष्टो दमयन्त्या निवेशनम् ।
प्रविष्टः सुमहाकक्षं दण्डिभिः स्थविरैर्वृतम् ॥ २५ ॥

नल ने कहा—हे महानुभावों ! आप लोगों ने मुझे आज्ञा दी, जिससे मैं दण्डधारी वृद्ध पुरुषों से घिरे हुए दमयन्ती के विशाल महल में घुस गया ॥२५॥

प्रविशन्तञ्च मां तत्र न कश्चिद् दृष्टवान्नरः ।
ऋते तां पार्थिवसुतां भवतामेव तेजसा ॥ २६ ॥

उसमें घुसते समय तुम्हारे प्रभाव से मुझको दमयन्ती के सिवा अन्य कोई भी पुरुष, नहीं देख सका ॥२६॥

सख्यश्चास्या मया दृष्टास्ताभिश्चाप्युपलक्षितः ।
विस्मिताश्चाभवन् सर्वा दृष्ट्वा मां विबुधेश्वराः॥ २७ ॥

हे देवो ! इसकी सखियाँ मैंने देखी और उन्होंने भी मुझ को देख लिया। वे सब, मुझको देखकर अत्यन्त अचम्भित हो गईं।

वर्ण्यमानेषु च मया भवत्सु रुचिरानना ।
मामेव गतसङ्कल्पा वृणीते सा सुरोत्तमाः ॥ २८ ॥

हे देवों ! जब मैंने तुम लोगों की प्रशंसा की, तो उस सुन्दरी ने अपनी इच्छा मुझे स्वीकार करने की प्रकट की ॥२८॥

अब्रवीच्चैव मां बाला आयान्तु सहिताः सुराः ।
त्वया सह नरव्याघ्र मम यत्र स्वयम्वरः ॥ २९ ॥

हेमहानुभावों ! उस बाला ने मुझसे कहा—कि तुम सब देवों के साथ जहां मेरा स्वयम्वर है, वहां आओ ॥ २९ ॥

तेषामहं सन्निधौ त्वां वरयिष्यामि नैषध ।
एवं तव महाबाहो दोषो न भवितेति ह ॥ ३० ॥

मैं उन देवों के सम्मुख ही तुमको वरूँगी । हेमहाभाग ! इस तरह तुम्हारा 'इसमें कुछ भी अपराध नहीं माना जावेगा॥३०॥

एतावदेव विबुधा यथावृत्तमुदाहृतम् ।
मया शेषे प्रमाणन्तु भवन्तस्त्रिदशेश्वराः ॥ ३१ ॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलस्य देवदौत्ये
षट् पञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

हे देवगण ! जो कुछ वृत्तान्त वहां हुआ है, वह मैंने तुमको सब सुना दिया । यदि इसमें मैंने कुछ बचा रखा होगा, तो तुम स्वयं जान सकते हो ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्व में
नल के देवों के दूत होने का छप्पनवां अध्याय समाप्त हुआ

सत्तावनवां अध्याय

बृहदश्व उवाच—

अथ काले शुभे प्राप्ते तिथौ पुण्ये क्षणे तथा ।
आजुहाव महीपालान् भीमो राजा स्वयम्वरे । १ ।

बृहदश्व बोले—हे राजन् ! इसके अनन्तर शुभकाल और उत्तम तिथि तथा पवित्र लग्न के प्राप्त होने पर राजा भीम ने स्वयम्वर में सारे राजाओं को बुलाया ॥ १ ॥

तच्छ्रुत्वा पृथिवीपालाः सर्वे हृच्छयपीडिताः ।
त्वरिताः समुपाजग्मुर्दमयन्तीमभीप्सवः । २ ।

इस आह्वान को सुन कर कामातुर, सारे राजा, शीघ्रता से स्वयम्वर के स्थान में पहुंचे । ये सारे राजा दमयन्ती के प्राप्त करने के मनोरथ बना रहे थे ॥ २ ॥

कनकस्तम्भरुचिरं तोरणेन विराजितम् ।
विविशुस्ते नृपा रङ्गं महासिंहा इवाचलम् ॥ ३ ॥

बड़े २ सिंह जिस तरह पर्वत पर चढ़ते हों, इसी तरह सोने के खम्भों से सुशोभित, तोरण से विराजमान, रङ्ग-स्थल में उन राजाओं ने प्रवेश किया ॥ ३ ॥

तत्रासनेषु विविधेष्वासीनाः पृथिवीक्षितः ।
सुरभिस्रग्धराः सर्वे प्रमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ ४ ॥

उस मण्डप में स्वच्छ मणि सहित कुंडल पहने हुए, सुगन्ध (इत्र) और माला धारी, सारे राजा, अनेक प्रकार के आसनों पर बैठ गए ॥ ४ ॥

तां राजसमितिं पुण्यां नागैर्भोगवतीमिव ।
सम्पूर्णां पुरुषव्याघ्रैर्व्याघ्रैर्गिरिगुहामिव ॥५॥

यह राजसभा, नागों से भोगवती नगरी और सिंहों से पर्वत की कन्दरा के समान उन वीरों से सुशोभित होने लगी ॥ ५ ॥

तत्र स्म पीना दृश्यन्ते बाहवः परिघोपमाः ।
आकारवर्णसुश्लक्ष्णाः पञ्चशीर्षा इवोरगाः ॥ ६ ॥

उन वीरों की भुजाएँ अर्गला के समान पुष्ट थीं । उनके आकार और वर्ण बड़े स्वच्छ थे, जो पांच सिर वाले सांप के आकार की प्रतीत होती थी ॥ ६ ॥

सुकेशान्तानि चारूणि सुनासाक्षिभ्रुवाणि च ।
मुखानि राज्ञां शोभन्ते नक्षत्राणि यथा दिवि ॥ ७ ॥

वहां आकाश में नक्षत्रों के तुल्य, उत्तम २ बाल कटे हुए, सुन्दर नासिका, आंख और भौंह धारण करने वाले, राजाओं के मुख, अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होते थे ॥ ७॥

दमयन्ती ततो रङ्गं प्रविवेश शुभानना ।
मुष्णन्ती प्रभया राज्ञां चक्षूंषि च मनांसि ॥ ८ ॥

सुन्दर मुख वाली दमयन्ती ने इस समय इस रङ्ग-स्थली में प्रवेश किया । यह सुन्दरी अपनी कान्ति से राजाओं की आंखें और मन को वश में कर रही थी ॥ ८ ॥

तस्या गात्रेषु पतिता तेषां दृष्टिर्महात्मनाम् ।
तत्र तत्रैव सक्ताभून्न चचाल च पश्यताम् ॥ ९॥

उन महानुभाव, राजाओं की दृष्टि, दमयन्ती के जिस अङ्ग पर पड़ गई, वह उसी स्थान पर आसक्त हो गई, जरा भी न डिगी

ततः सङ्कीर्त्यमानेषु राज्ञां नामसु भारत।
ददर्श भैमी पुरुषान् पञ्चतुल्याकृतीनथ ॥ १० ॥

हे भारत ! जब सखी ने दमयन्ती के सम्मुख राजाओं के नामों का कथन किया। उस समय दमयन्ती ने तुल्य-आकृति-धारी पांच नल देखे ॥ १० ॥

तान् समीक्ष्य ततः सर्वान् निर्विशेषाकृतीन् स्थितान्।
सन्देहादथ वैदर्भी नाभ्यजानन्नलं नृपम् ॥ ११ ॥

समान-आकृति-धारी, किसी भी प्रकार के भेद (फर्क) से रहित उन पांच नलों को देखकर दमयन्ती को बड़ा सन्देह हुआ। यह कुछ भी नहीं जान सकी, कि सच्चा नल कौन है ११

यं यं हि ददृशे तेषां तं तं मेने नलं नृपम्।
सा चिन्तयन्ती बुद्ध्या तर्कयामास भाविनी ॥ १२ ॥
कथं हि देवान् जानीयां कथं विद्यां नलं नृपम्।
एवं सञ्चिन्तयन्ती सा वैदर्भी भृशदुःखिता ॥ १३ ॥

यह इन पांचों में जिस २ की ओर देखती थी, उस २ को ही राजा नल समझती थी। इस बुद्धिमान ने ध्यान देकर विचार किया, कि अब मैं क्या उपाय करूं, जिससे यह जान-सकूं, कि ये देव हैं और यह राजा नल है। यह विचारती हुई, दमयन्ती बड़ी व्याकुल हुई ॥ १२-१३ ॥

श्रुतानि देवलिङ्गानि तर्कयामास भारत ।
देवानां यानि लिङ्गानि स्थविरेभ्यः श्रुतानि मे ॥ १४ ॥
तानीह तिष्ठन्तां भूमावेकस्यापि न लक्षये ।

हे भारत ! इसने जो वृद्धों के मुख से देवों के चिन्ह सुने थे, उनका स्मरण करने लगी, परन्तु भूमि पर इन देवों के एक भी चिन्ह प्रकट नहीं हो—रहा था ॥ १४ ॥

सा विनिश्चित्य बहुधा विचार्य्य च पुनः पुनः ॥१५ ॥
शरणं प्रतिदेवानां प्राप्तकालममन्यत ।

इसने अनेक प्रकार से विचार करके निश्चय किया कि इस समय तो देवों की शरण में ही प्राप्त होना चाहिये ॥ १५ ॥

वाचा च मनसा चैव नमस्कारं प्रयुज्य सा ॥ १६ ॥
देवेभ्यः प्राञ्जलिभूत्वा वेपमानेदमब्रवीत् ।

दमयन्ती ने वाणी और मन से देवों का नमस्कार किया और हाथ जोड़ कर कांपती हुई ने कहा ॥ १६ ॥

हंसानां वचनं श्रुत्वा यथा मे नैषधो वृतः ॥ १७ ॥
पतित्वे तेन सत्येन देवास्तं प्रदिशन्तु मे ।

हे देवो ! मैंने हंसों के वचन सुनकर नल का पति रूप से वरण कर लिया था । मैं इस सत्य को पूरा करना चाहती हूं, तुम मुझे नल का ज्ञान कराओ ॥ १७ ॥

मनसा वचसा चैव यथा नाभिचराम्यहम् ॥ १८ ॥
तेन सत्येन विबुधास्तमेव प्रदिशन्तु मे ।

मैं मन या वचन किसी से भी मिथ्या आचरण करना नहीं चाहती हूं, इसी सत्य के बल से देवता, मुझे राजा नल का परिचय करा दें ॥ १८ ॥

यथा दैवैः स मे भर्त्ता विहितो निषधाधिपः ॥ १९ ॥
तेन सत्येन मे देवास्तमेव प्रदिशन्तु मे ।

जो देवों ने मेरा भर्ता राजा नल नियत किया है, तो इस सत्य के वश में हो कर देव मुझे उसका सत्य दर्शन करादें॥१९॥

यथेदं व्रतमारब्धं नलस्याराधने मया ॥ २० ॥
तेन सत्येन मे देवास्तमेव प्रदिशन्तु मे ।

जो मैंने राजा नल के आराधन का व्रत धारण किया है तो देव, इस सत्य के आधार से मुझे उसकी पहचान करादें ॥२०॥

स्वञ्चैव रूपं कुर्वन्तु लोकपाला महेश्वरा ॥ २१ ॥
यथाहमभिजानीयां पुण्यश्लोकं नराधिपम् ।

महा-ऐश्वर्य-शाली इन्द्रादि लोकपाल, अपने २ रूप को धारण करलें, जिससे मैं पवित्र-कीर्ति-धारी राजा नल को पहचान लूं ॥

निशम्य दमयन्त्यास्तत् करुणं परिदेवितम् ॥ २२ ॥
निश्चयं परमं तथ्यमनुरागञ्च नैषधे ।
मनोविशुद्धिं बुद्धिञ्च भक्तिं रागञ्च नैषधे ॥ २३ ॥
यथोक्तञ्चक्रिरे देवाः सामर्थ्यं लिङ्गधारणे ।

देवों ने जब दमयन्ती का करुणा-पूर्ण, आर्त-नाद अत्यन्त-दृढ़ता, सचाई और राजा नल में प्रेम, प्रीति और भक्ति,

मन की शुद्धि और बुद्धि, देखी; तब देवों ने अपने २ रूप धारण कर लिये, क्योंकि वे अपने २ रूप धारण करने की भी सामर्थ्य रखते थे ॥२२-२३॥

सापश्यद्विबुधान् सर्वानस्वेदांस्तब्धलोचनान् ॥२४॥
हृषितस्रग्रजोहीनान् स्थितानस्पृशतः क्षितिम् ।

इसने स्वेद रहित, पलक नहीं झपकाने वाले नेत्र-धारी, खिली माला धारण किये हुए रज से हीन, पृथिवी को न छूकर ही स्थित हुए देवों को देखा ॥२४॥

छायाद्वितीयो म्लानस्रग्रजःस्वेदसमन्वितः ॥ २५ ॥
भूमिष्ठो नैषधश्चैव निमिषेण च सूचितः ।

इसने छाया से युक्त, मलिन माला धारी, रज और पसीने से युक्त, भूमि में स्थित, राजा नल को देखा। यह पलक झपकाने से स्पष्ट मनुष्य विदित हो रहा था ॥२५॥

सा समीक्ष्य तु तान्देवान् पुण्यश्लोकश्च भारत ॥ २६ ॥
नैषधं वरयामास भैमी धर्मेण पाण्डव ।
विलज्जमाना वस्त्रान्ते जग्राहायतलोचना ॥ २७ ॥

हे भारत ! अब दमयन्ती ने राजा नल का वरण किया। इस विशाल नेत्र वाली ने लज्जित होकर वस्त्र के प्रान्त को ग्रहण किया अर्थात् उसमें अपने मुख को छुपा सा लिया ॥२६-२७॥

स्कन्धदेशेऽसृजत्तस्य स्रजं परमशोभनाम् ।
वरयामास चैवैनं पतित्वे वरवर्णिनी ॥ २८ ॥

इस सुन्दरी ने इसके गले में अत्यन्त सुन्दर माला डाल दी और इसको पति रूप से वरण कर लिया ॥२८॥

ततो हाहेति सहसा मुक्तः शब्दो नराधिपैः ।
देवैर्महर्षिभिस्तत्र साधुसाध्विति भारत ॥ २९ ॥
विस्मितैरीरितः शब्दः प्रशंसद्भिर्नलं नृपम् ।

उस समय राजाओं में हाय ? हाय ? मच गई और अचम्भित हुए देव तथा महर्षियों ने राजा नल की प्रशंसा करते हुए, साधु शब्द का उच्चारण किया ॥ २९ ॥

दमयन्तीन्तु कौरव्य वीरसेनसुतो नृपः ॥ ३० ॥
आश्वासयद्वरारोहां प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।

हे कुरुराज ! वीरसेन के पुत्र राजा नल ने सुन्दरी दमयन्ती को प्रसन्न चित्त से सन्तुष्ट किया और कहा ॥ ३० ॥

यत्त्वं भजसि कल्याणि पुमांसं देवसन्निधौ ॥ ३१ ॥
तस्मान्मां विद्धि भर्त्तारमेतत्ते वचने रतम् ।

हे कल्याणि ! जो तुमने देवों के सम्मुख भी मुझ मनुष्य को प्राप्त किया, वह तेरा भर्ता राजा नल तेरी आज्ञा में उपस्थित है ॥

यावच्च मे धरिष्यन्ती प्राणा देहे शुचिस्मिते ॥ ३२ ॥
तावत्त्वयि भविष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
दमयन्ती तथा वाग्भिरभिवन्द्य कृताञ्जलिः ॥ ३३ ॥

हे शुचिस्मिते ! जब तक मेरी देह में प्राण रहेंगे, तब तक मैं तेरा अनुचर रहूँगा, यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ । दयमन्ती ने भी हाथ जोड़कर वाणी से राजा नल का स्वागत किया ॥ ३२-३३॥

तौ परस्परतः प्रीतौ दृष्ट्वा त्वग्निपुरोगमान् ।
तानेव शरणं देवान् जग्मतुर्मनसा तदा ॥ ३४ ॥

ये दोनों परास्पर बड़े प्रसन्न हो रहे थे। अब अग्नि आदि देवों को देखकर मनसे उनकी शरण को प्राप्त हुए ॥ ३४ ॥

वृते तु नैषधे भैम्या लोकपाला महौजसः ।
प्रहृष्टमनसः सर्वे नलायाष्टौ वरान् ददुः ॥ ३५ ॥

जब दमयन्ती ने निषधराज नल को वर लिया, तो महा-ओजस्वी देवों ने प्रसन्न मन से राजा नल को आठ वरदान दिए ॥ ३५ ॥

प्रत्यक्षदर्शनं यज्ञे गतिञ्चानुत्तमां शुभाम् ।
नैषधाय ददौ शक्रः प्रीयमाणः शचीपतिः ॥ ३६ ॥

प्रसन्न हुए, शचिपति इन्द्रने, नैषध को वरदान दिया, कि तेरे यज्ञ में मेरे प्रत्यक्ष दर्शन हो सकेंगे और तुझे शुभ गति प्राप्त होगी ॥ ३६ ॥

अग्निरात्मभवं प्रादाद्यत्र वाञ्छति नैषधः ।
लोकानात्मप्रभांश्चैव ददौ तस्मै हुताशनः ॥ ३७॥

अग्नि ने इच्छानुकूल अपनी उत्पत्ति और प्रकाश-मान लोकों की प्राप्ति का वरदान दिया, कि जिनमें यह राजा नल जाना चाहेगा, जा सकेगा ॥३७॥

यमस्त्वन्नरसंप्रादाद्धर्मे च परमां स्थितिम् ।
अपाम्पतिरपाम्भावं यत्र वाञ्छति नैषधः ३८ ॥

यम ने रसोई बनाने में अधिक रस लाने की शक्ति प्रदान की और धर्ममें दृढ़ रहने का वरदान दिया। वरुण ने इच्छानुसार जल प्राप्त करने की शक्ति दी ॥ ३८ ॥

स्रजश्चोत्तमगन्धाढ्याः सर्वे च मिथुनं ददुः ।
वरानेवं प्रदायास्य देवास्ते त्रिदिवं गताः ॥ ३९ ॥

इन देवों ने दिव्य गन्धवाली मालाएँ इन दोनों को पहनाईं। ये देवता इस प्रकार इनको वरदान देकर स्वर्ग को चल दिये।३६

पार्थिवाश्चानुभूयास्य विवाहं विस्मयान्विताः ।
दमयन्त्या च मुदिताः प्रतिजग्मुर्यथागतम् ॥४०॥

अन्य राजा भी राजा नल और दमयन्ती के इस विवाह को देखकर बड़े चकित हुए और प्रसन्न होकर अपने २ देशों को लौट गए ॥४०॥

गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु भीमः प्रीतो महामनाः ।
विवाहं कारयामास दमयन्त्या नलस्य च ॥ ४१ ॥

जब अन्य राजा चले गए, तब महानुभाव राजा भीम ने राजा नल और दमयन्ती का विवाह बड़े प्रेम के साथ कर दिया ॥४१॥

उष्य तत्र यथाकामं नैषधो दिपदाम्वरः ।
भीमेन समनुज्ञातो जगाम नगरं स्वकम् ॥ ४२ ॥

अपनी इच्छा के अनुसार कुछ दिन वहां रहकर नर श्रेष्ठ, राजा नल, राजा भीम से आज्ञा लेकर अपनी राजधानी को चल दिया ॥४२॥

अवाप्य नारीरत्नन्तु पुण्यश्लोकोऽपि पार्थिवः ।
रेमे सह तया राजन् शच्येव बलवृत्रहा ॥ ४३ ॥

हे राजन्! पवित्र कान्तिधारी, राजा नल, नारी-रत्न दमयन्ती को पाकर, इन्द्राणी के साथ इन्द्र के समान, उससे विहार करने लगा ॥४३॥

अतीव मुदितो राजा भ्राजमानोंऽशुमानिव ।
अरञ्जयत् प्रजा वीरो धर्मेण परिपालयन् ॥ ४४ ॥

इस समय महाराजा नल, सूर्य के समान चमक कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त कर रहा था। इस वीर ने धर्म पूर्वक प्रजा का पालन करके उसको आनन्दित किया ॥४४॥

ईजे चाप्यश्वमेधेन ययातिरिव नाहुषः ।
अन्यैश्च बहुभिर्धीमान् क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ॥ ४५ ॥

इस राजा नल ने, नहुष के पुत्र, ययाति की भांति अश्वमेध, तथा बहुत सी दक्षिणा के अनेक अन्य यज्ञों से यजन किया ॥४५

पुनश्च रमणीयेषु वनेषूपवनेषु च ।
दमयन्त्या सह नलो विजहारामरोपमः ॥ ४६ ॥

यह राजा नल, देवों के तुल्य, सुन्दर २ बाग और बगीचों में दमयन्ती के साथ विहार करने लगा ॥४६॥

जनयामास च ततो दमयन्त्यां महामनाः ।
इन्द्रसेनं सुतञ्चापि इन्द्रसेनाञ्च कन्यकाम् ॥ ४७ ॥

इस महा-मनस्वी ने दमयन्ती में एक इन्द्रसेन नामक पुत्र और इन्द्रसेना नाम की कन्या उत्पन्न की ॥४७॥

एवं स यजमानश्च विहरंश्च नराधिपः ।
ररक्ष वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिपः ॥ ४८ ॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्ती स्वयम्वरे सप्तपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार यह राजा नल यज्ञ और भोग विलास करता हुआ, धन से भरी हुई पृथिवी का शासन करने लगा ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्व में दमयन्ती के स्वयम्बर का सत्तावनवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ।



अट्ठावनवां अध्याय

बृहदश्व उवाच—

वृते तु नैषधे भैम्या लोकपाला महौजसः ।
यान्तो ददृशुरायान्तं द्वापरं कलिना सह ॥ १ ॥

बृहदश्व कहने लगे—हे राजन् ! दमयन्ती के राजा नल को वर लेने के अनन्तर अत्यन्त ओजस्वी इन्द्रादि लोकपाल, चले जा रहे थे, कि उन्हों ने कलियुग के साथ आते हुए द्वापरयुग को देखा ॥ १ ॥

अथाब्रवीत् कलिं शक्रः सम्प्रेक्ष्य बलवृत्रहा !
द्वापरेण सहायेन कले ब्रूहि क यास्यसि ॥ २ ॥

वल और वृत्र असुर के नाशक इन्द्र ने कलियुग को देख कर पूछा—हे कलि-देव ! आप द्वापर के साथ कहां पधार रहे हैं ॥ २ ॥

ततोऽब्रवीत् कलिः शक्रं दमयन्त्याः स्वयम्वरम् ।
गत्वा हि वरयिष्ये तां मनो हि मम वाङ्गतम् ॥ ३ ॥

कलि ने इन्द्र से कहा—मैं दमयन्ती के स्वयम्वर में जा रहा हूँ। मैं उस देवी को ग्रहण करना चाहता हूं, क्योंकि मेरा मन, उसमें आशक्त हो गया है ॥ ३ ॥

तमब्रवीत् प्रहस्येन्द्रो निर्वृत्तः स स्वयम्वरः ।
वृतस्तया नलो राजा पतिरस्मत्समीपतः ॥ ४ ॥

इन्द्र ने हंस कर कहा-कि वह स्वयम्वर तो समाप्त हो चुका हमारे सामने ही उसने राजा नल को अपना पति वर लिया है ।

एवमुक्तस्तु शक्रेण कलिः कोपसमन्वितः ।
देवानामन्त्र्य तान् सर्वानुवाचेदं वचस्तदा ॥ ५ ॥

जब इन्द्र ने इतना कहा—तो कलियुग, कोप में भर गया और देवों को सम्बोधित करके उनसे कहने लगा ॥ ५ ॥

देवानां मानुषं मध्ये यत् सा पतिमविन्दत ।
तत्र तस्यां भवेन्न्याय्यं विपुलं दण्डधारणम् ॥ ६ ॥

जो दमयन्ती ने देवों के रहते हुए भी मनुष्य को अपना पति बना लिया है, उसको अधिक दण्ड देना ही इस समय न्याय है ॥ ६ ॥

एवमुक्ते तु कलिना प्रत्युचुस्ते दिवौकसः ।
अस्माभिः समनुज्ञाते दमयन्त्या नलो वृतः ॥ ७ ॥

जब कलि ने इतना कहा-तो देवता बोले, कि हमारे अनुमति दे देने पर ही दमयन्ती ने राजा नल को वर लिया है।

का च सर्वगुणोपेतं नाश्रयेत नलं नृपम् ।
यो वेद धर्मानखिलान् यथावच्चरितव्रतः ॥ ८ ॥

ऐसी कौन स्त्री हो सकती है, जो सर्व गुण सम्पन्न, राजा को पति न बनावे। यह राजा, सारे धर्मों का ज्ञाता और सदाचारी है ॥ ८ ॥

योऽधीते चतुरो वेदान् सर्वानाख्यानपञ्चमान् ।
नित्यं तृप्ता गृहे यस्य देवा यज्ञेषु धर्मतः ॥ ९ ॥

इसने चारों वेद और पांचवें इतिहास शास्त्र को पढ़ रखा है। इसके घर पर यज्ञों में सारे देवता, धर्मानुसार तृप्त होते रहते हैं ॥ ९ ॥

अहिंसानिरतो यश्च सत्यवादी दृढव्रतः ।
यस्मिन् सत्यं धृतिर्ज्ञानं तपः शौचं दमः शमः ॥१०॥
ध्रुवाणि पुरुषव्याघ्रे लोकपालसमे नृपे ।

यह सब प्रकार की हिंसाओं का त्यागी, सत्यवादी और दृढ़ प्रतिज्ञा धारी है। सत्य, धैर्य, ज्ञान, तप, शौच, दम, शम, आदि गुण, लोक पालों के, समान, इस पुरुष श्रेष्ठ, राजा नल में विद्यमान हैं ॥ १० ॥

एवं रूपं नलं यो वै कामयेच्छपितुं कले ॥ ११ ॥
आत्मानं स शपेन्मूढो हन्यादात्मानमात्मना ।

हे कले! इस प्रकार के राजा नल को जो शाप देना चाहता है, वह मूर्ख अपने आप को शाप देता है और अपने आप ही अपना नाश करता है ॥ ११ ॥

एतद्गुणं नलं यो वै कामयेच्छपितुं कले । १२ ।
कृच्छ्रे स नरके मज्जेदगाधे विपुले ह्रदे ।
एवमुक्त्वा कलिं देवा द्वापरञ्च दिवं ययुः । १३ ।

हे कलिदेव! इन गुणों से सुशोभित राजा नल को जो शाप देने की इच्छा करता है, वह बड़े कठिन नरक में या अगाध महान अन्धकार के ह्रद में डूब जाता है। देवता कलियुग और द्वापर से इतना कह कर स्वर्ग को चले गये ॥ १२-१३ ॥

ततो गतेषु देवेषु कलिर्द्वापरमब्रवीत् ।
संहर्त्तुं नोत्सहे कोपं नले वत्स्यामि द्वापर ॥१४॥

देवों के चले जाने पर कलियुग, द्वापर से बोला—हे द्वापर! मैं तो अपने कोप को रोक नहीं सकता हूं। नल पर अपना कोप अवश्य उतारूंगा ॥ १४ ॥

भ्रंशयिष्यामि तं राज्यान्न भैम्या सह रंस्यते ।
त्वमप्यक्षान् समाविश्य साहाय्यं कर्त्तुमर्हसि । १५ ।

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि कलिदेवसंवादे
अष्टपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

मैं उसको राज्य से नष्ट करूंगा, जिससे यह दमयन्ती के साथ रमण का आनन्द न ले सके। तू पासों में प्रवेश करके मेरी सहायता कर ॥ १५ ॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्व में कलि और देवों के सम्वाद का अट्ठावनवां अध्याय पूरा हुआ।



उनसठवां अध्याय

बृहदश्व उवाच—

एवं स समयं कृत्वा द्वापरेण कलिः सह।
आजगाम ततस्तत्र यत्र राजा स नैषधः। १।

बृहदश्व ने कहा—हे राजन्! द्वापर के साथ कलि, इस तरह निश्चय करके, जहां राजा नल राज्य करता था, वहां पहुंचा॥१॥

स नित्यमन्तरप्रेप्सुर्निषधेष्ववसच्चिरम्।
अथास्य द्वादशे वर्षे ददर्श कलिरन्तरम्। २।

यह कलि, नित्य नल पर आक्रमण करने का मौका देखता रहता था। इस तरह इसको निषध देश में बहुत दिन तक निवास करना पड़ा। अब इसको बारह वर्ष के अनन्तर आक्रमण करने का मौका मिला ॥ २ ॥

कृत्वा मूत्रमुपस्पृश्य सन्ध्यामन्वास्त नैषधः।
अकृत्वा पादयोः शौचं तत्रैनं कलिराविशत्। ३।

एक दिन राजा नल ने मूत्रोत्सर्ग किया और आचमन करके सन्ध्या करली। इसने पदों का शौच नहीं किया, जिससे इस पर कलियुग ने आक्रमण कर दिया॥ ३॥

स समाविश्य च नलं समीपं पुष्करस्य च।
गत्वा पुष्करमाहेदमेहि दीव्य नलेन वै। ४।

यह कलियुग नल में प्रविष्ट हो कर पुष्कर के समीप पहुंचा और वहां जाकर पुष्कर से बोला-तुम नल के साथ जुआ खेलो।

अक्षद्यूते नलं जेता भवान् हि सहितो मया।
निषधान् प्रतिपद्यस्व जित्वा राज्यं नलं नृपम् ॥५॥

तुम मेरे साथ से नल को जुआ में जीत सकोगे। तुम राजा नल और उसके राज्य को जीत कर निषध देश को अपने अधिकार में करो॥५॥

एवमुक्तस्तु कलिना पुष्करो नलमभ्ययात्।
कलिश्चैव वृषो भूत्वा गवां पुष्करमभ्यगात् ॥६॥

जब कलि ने पुष्कर से इतना कहा, तो पुष्कर नल के पास पहुंचा। कलियुग भी एक उत्तम वृष बनकर पुष्कर के पीछे २ चल दिया॥ ६॥

आसाद्य तु नलं वीरं पुष्करः परवीरहा।
दीव्यावेत्यब्रवीद् भ्राता वृषेणेति मुहुर्मुहुः ॥७॥

शत्रु-विजयी, नल का भ्राता, पुष्कर, वीर-श्रेष्ठ नल के पास पहुँचा और इसने नल से बड़े आग्रह के साथ कहा, कि इस वृषको दांव पर लगा कर जुआ खेलें॥ ७॥

न चक्षमे ततो राजा समाह्वानं महामनाः ।
वैदर्भ्याः प्रेक्ष्यमाणायाः पणकालममन्यत ॥८॥

महामनस्वी नल ने उसकी इस ललकार को सहन नहीं किया और वह दमयन्ती के सामने ही जुआ खेलने लगा ॥ ८ ॥

हिरण्यस्य सुवर्णस्य यानयुग्यस्य वाससाम् ।
आविष्टः कलिना द्यूते जीयते स्म नलस्तदा ॥ ९ ॥

सोने, सोन के बने हुए रथ, वस्त्र आदि, कलिसे दबाया हुआ नल, सब कुछ हार गया ॥ ९ ॥

तमक्षमदसंमत्तं सुहृदां न तु कश्चन ।
निवारणेऽभवच्छक्तो दीव्यमानमरिन्दमम् ॥ १० ॥

जुआ के नशे में चूर, इस तेजस्वी अरिमर्दन नल का कोई शक्तिशाली मित्र नहीं था, जो इसको इस अनुचित कार्य से रोक दे ॥ १० ॥

ततः पौरजनाः सर्वे मन्त्रिभिः सह भारत ।
राजानं द्रष्टुमागच्छन्निवारयितुमातुरम् ॥ ११ ॥

हे भारत ! अब सारे मन्त्री और पुरवासी, राजा को इस कर्म से निवृत्त करने के लिए वहां आये ॥ ११॥

ततः सूत उपागम्य दमयन्त्यै न्यवेदयत् ।
एष पौरजनो देवि द्वारि तिष्ठति कार्य्यवान् ॥ १२ ॥

अब सारथी ने आकर दमयन्ती से कहा—हे देवी ! ये पुरवासी, किसी कार्य की अभिलाषा से द्वार पर खड़े हैं ॥ १२ ॥

निवेद्यतां नैषधाय सर्वाः प्रकृतयः स्थिताः ।
अमृष्यमाणा व्यसनं राज्ञो धर्मार्थदर्शिनः ॥ १३ ॥

तुम राजा से निवेदन करो, कि तुम धर्मात्मा की विपत्ति से प्रजा दुःखी होकर तुम को रोकने के लिए आई हुई हैं ॥१३॥

ततः सा बाष्पकलया वाचा दुःखेन कर्षिता ।
उवाच नैषधं भैमी शोकोपहतचेतना ॥ १४ ॥

अब शोकातुर दुःखी दमयन्ती ने आसुओं से गद्गद वाणी द्वारा राजा नल कहा से ॥ १४ ॥

राजन् पौरजनो द्वारि त्वां दिदृक्षुरवस्थितः ।
मन्त्रिभिः सहितः सर्वै राजभक्तिपुरस्कृतः ॥ १५ ॥
तंद्रष्टु मर्हसीत्येवं पुनः पुनरभाषत ।

हे राजन्! पुरवासी जन, तुमसे मिलने के लिए द्वार पर खड़े हैं। इनके साथ सारे मन्त्री हैं, जो भक्तिमें लीन हो रहे हैं। आप उनसे एक बार बातचीत तो करलें ॥ १५ ॥

तां तथा रुचिरापाङ्गीं विलपन्तीं तथाविधाम् ॥ १६ ॥
आविष्टः कलिना राजा नाभ्यभाषत किञ्चन ।

इस सुन्दर नेत्रों वाली, रोती हुई दमयन्ती से राजा नल ने बात भी नहीं की। यह इस समय कलियुग से घिरा हुआ था, इससे इसने कुछ भी नहीं कहा ॥ १६ ॥

ततस्ते मन्त्रिणः सर्वे ते चैव पुरवासिनः ॥ १७ ॥
नायमस्तीति दुःखार्त्ता व्रीडिता जग्मुरालयान् ।

सारे मन्त्री और पुरवासियों ने समझ लिया, कि अब यह नष्ट होकर रहेगा। ये सारे दुःखी और लज्जित होकर अपने अपने घर को गए ॥ १७ ॥

तथा तदभवद् द्यूतं पुष्करस्य नलस्य च ।
युधिष्ठिर बहून् मासान् पुण्यश्लोकस्त्वजीयत ॥ १८ ॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलद्यूते
एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

यह जुआ, पुष्कर और नल में बहुत महीनों तक होता रहा। अन्त में पुष्कर ने राजा नल को जीत लिया ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यान पर्व में नल
के जुआ खेलने का उनसठवां अध्याय
पूरा हुआ।



साठवां अध्याय

बृहदश्व उवाच—

दमयन्ती ततो दृष्ट्वा पुण्यश्लोकं नराधिपम् ।
उन्मत्तवदनुन्मत्ता देवने गतचेतसम् ॥ १ ॥

बृहदश्व बोले—हे राजन् ! बुद्धिमती दमयन्ती ने पागलों की भांति खेलने में बेहोश, पवित्र-कीर्ति राजा नल को देखा ॥ १ ॥

भयशोकसमाविष्टा राजन् भीमसुता ततः ।
चिन्तयामास तद् कार्य्यं सुमहत् पार्थिवं प्रति ॥२ ॥

हे राजन् ! दमयन्ती भय और शोक से व्याकुल हो उठी और इसने राजा के प्रति अपने महान् कर्तव्य का विचार किया

सा शङ्कमाना तत् पापं चिकीर्षन्ती च तत्प्रियम् ।
नलश्च हृतसर्वस्वमुपलभ्येदमब्रवीत् ॥ ३ ॥
बृहत्सेनामतियशां तां धात्रीं परिचारिकाम् ।
हितां सर्वार्थकुशलामनुरक्तां सुभाषिताम् ॥ ४ ॥

वह उस पापसे होने वाली बुराई का विचार और राजा नल के हित की अभिलाषा कर रही थी। वह सर्वस्व से रहित राजा नल को देख कर अत्यन्त यश वाली, सब कार्य करने में कुशल, अनुरक्त, मधुर-भाषिणी, हित करने में तत्पर, बृहत्सेना नामक दासी, धाय से यह वचन बोली ॥३-४॥

बृहत्सेने व्रजामात्यानानाय्य नलशासनात् ।
आचक्ष्व यद्धृतं द्रव्यमवशिष्टञ्च यद्वसु ॥ ५॥

हे बृहत्सेने ! तुम मन्त्रियों के पास जाओ और नल की आज्ञा से उनको लावो तथा जो द्रव्य शेष है, वह उनको सूचित कर दो ॥५ ॥

ततस्ते मन्त्रिणः सर्वे विज्ञाय नलशासनम् ।
अपि नो भागधेयं स्यादित्युक्त्वा नलमाव्रजन् ॥ ६ ॥

इसके अनन्तर सारे मन्त्री नल के शासन को जानकर शायद हमारा भाग्य काम दे जावे—यह कह कर फिर नल के पास पहुंचे ॥ ६ ॥

तास्तु सर्वाः प्रकृतयो द्वितीयं समुपस्थिताः ।
न्यवेदयद्भीमसुता न च स प्रत्यनन्दत ॥ ७॥

दमयन्तीने नलसे कहा—यह सारी प्रजा फिर दुबारा आपकी सेवा में उपस्थित हुई है, परन्तु राजा नल ने कुछ भी ध्यान नहीं दिया ॥ ७ ॥

वाक्यमप्रतिनन्दन्तं भर्त्तारमभिवीक्ष्य सा ।
दमयन्ती पुनर्वेश्म व्रीडिता प्रविवेश ह ॥ ८ ॥

दमयन्ती ने देखा, कि उसके पतिने उसके वाक्य का आदर नहीं किया, तो वह खिसयाती होकर फिर महल में घुस गई ।८।

निशम्य सततं चाचान् पुण्यश्लोकपराङ्मुखान् ।
नलञ्च हृतसर्वस्वं धात्रीं पुनरुवाच ह ॥ ९ ॥

जब इसने देखा कि पासे राजा नल के विरुद्ध ही पड़रहे हैं और राजा नल सर्वस्व हार गया है, तो यह अपनी धाय से बोली ॥ ९ ॥

बृहत्सेने पुनर्गच्छ वार्ष्णेयं नलशासनात् ।
सूतमानय कल्याणि महत्कार्य्यमुपस्थितम् ॥ १० ॥

हे बृहत्सेने ! अब तुम फिर जाओ और नल की आज्ञा का नाम लेकर वार्ष्णेय सारथि को ले आवो-बड़ा आवश्यक कार्य्य है।

बृहत्सेना तु सा श्रुत्वा दमयन्त्या प्रभाषितम् ।
वार्ष्णेयमानयामास पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ ११ ॥

जब बृहत्सेना ने दमयन्ती की आज्ञा सुनी, तो हितकारी मनुष्यों के द्वारा सारथि वार्ष्णेय को लिवा लाई ॥ ११ ॥

वार्ष्णेयन्तु ततो भैमी सान्त्वयन् श्लक्ष्णया गिरा ।
उवाच देशकालज्ञा प्राप्तकालमनिन्दिता ॥ १२ ॥

अब दमयन्ती ने मधुर वाणी से समझाया। सर्व गुण-सम्पन्न देश काल के जानने वाली, दमयन्ती, समयानुसार यह बोली ॥१२॥

जानीषे त्वं यथा राजा सम्यग्वृत्तः सदा त्वयि ।
तस्य त्वं विषमस्थस्य साहाय्यं कर्त्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

हे सारथि ! तू यह जानता है, कि राजा तेरे ऊपर किस प्रकार दयालु है, अब यह विपत्ति में फंस गया है, तुझे इसकी सहायता करनी चाहिए ॥ १३ ॥

यथा यथा हि नृपतिः पुष्करेणेव जीयते ।
तथा तथास्य वै द्यूते रागो भूयोऽभिवर्द्धते ॥ १४ ॥

जैसे २ यह राजा नल, पुष्कर से जीता जा रहा है, उसी तरह इसका प्रेम जुआ में बढ़ता जा रहा है ॥ १४ ॥

यथा च पुष्करस्याक्षाः पतन्ति वशवर्त्तिनः ।
तथा विपर्य्ययश्चापि नलस्याक्षेषु दृश्यते ॥ १५ ॥

जितने पुष्कर के पासे पुष्कर के अनुकूल पड़ते हैं, उतने ही नल के पासे प्रतिकूल गिरते हैं ॥१५॥

सुहृत्स्वजनवाक्यानि यथावन्न शृणोति च ।
ममापि च तथा वाक्यं नाभिनन्दति मोहितः ॥ १६ ॥

यह इस व्यसन में इतना मोहित हो गया है, कि अपने मित्र या हितकारी किसी के भी वचन नहीं सुनता है और न यह मेरी बात पर ध्यान देता है ॥१६॥

नूनं मन्ये न दोषोऽस्ति नैषधस्य महात्मनः ।
यत्तु मे वचनं राजा नाभिनन्दति मोहितः ॥ १७ ॥

मैं तो इस समय महात्मा नल का अपराध भी नहीं समझती हूँ, क्योंकि इस समय तो इसका दिमाग ही ठीक नहीं रह गया है, जिसके कारण यह मेरे वचनों का निरादर करता है ॥१७॥

शरणं त्वां प्रपन्नास्मि सारथे कुरु मद्वचः ।
न हि मे शुध्यते भावः कदाचिद्विनशेदपि ॥ १८ ॥

हे सारथि ! मैं तेरी शरण में आई हूँ, तू मेरे वचनों को पूरा कर । तुझ शुद्ध आत्मा से मैं कभी उऋण नहीं हो सकूंगी ॥१८॥

नलस्य दयितानश्वान् योजयित्वा मनोजवान् ।
इदमारोप्य मिथुनं कुण्डिनं यातुमर्हसि ॥ १९ ॥

तू मन के समान वेग शील, नल के प्रिय घोड़ों को रथ में जोड़ कर और इन दोनों बच्चों को कुण्डिन पुर को ले जावो ॥१६॥

मम ज्ञातिषु निक्षिप्य दारकौ स्यन्दनन्तथा ।
अश्वांश्चेमान् यथाकामं वस चान्यत्र गच्छ वा ॥ २० ॥

मेरे बान्धवों में इन दोनों सन्तानों और इस रथ को तथा अश्वों को छोड़कर तेरी इच्छा हो तो वहीं रह, अन्यथा कहीं भी चले जाना २०॥

दमयन्त्यास्तु तद्वाक्यं वार्ष्णेयो नलसारथिः ।
न्यवेदयदशेषेण नलामात्येषु मुख्यशः ॥ २१॥

वृष्णिवंशोद्भव, नल के सारथि ने, दमयन्ती के ये वाक्य, राजा नल के मुख्य २ मन्त्रियों को सुनाए ॥२१॥

तैः समेत्य विनिश्चित्य सोऽनुज्ञातो महीपते ।
ययौ मिथुनमारोप्य विदर्भांस्तेन वाहिना ॥२२॥

हे महीपते ! उन सबने इकट्ठे होकर निश्चय किया और उसको रथ लेजाने की आज्ञा देदी । यह सारथि, दोनों बच्चों को रथ में बैठाकर विदर्भ देश की ओर चल दिया ॥२२॥

हयांस्तत्र विनिक्षिप्य सूतो रथवरञ्च तम् ।
इन्द्रसेनाञ्च तां कन्यामिन्द्रसेनञ्च बालकम् ॥२३॥
आमन्त्र्य भीमं राजानमार्त्तः शोचन्नलं नृपम् ।
अटमानस्ततोऽयोध्यां जगाम नगरीन्तदा॥२४॥

इस सारथि ने उस रथ और घोड़े तथा इन्द्रसेना कन्या, और इन्द्रसेन बालक को विदर्भ देश के राजा के पास छोड़कर

तथा भीम राजा से आज्ञा लेकर, नल का सोच करता हुआ, दुःखी. अयोध्या नगरी में पहुंचा ॥२३-२४॥

ऋतुपर्णं स राजानमुपतस्थे सुदुःखितः ।
भृतिञ्चोपययौ तस्य सारथ्येन महीपतेः ॥२५॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलद्यूते
षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

यह दुःखी सारथि; राजा ऋतुपर्ण के यहां गया और उसका सारथि बनकर अपना निर्वाह करने लगा ॥२५॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यान पर्व में
नल के द्यूत का साठवां अध्याय पूरा हुआ ।

इकसठवां अध्याय

बृहदश्व उवाच—

ततस्तु याते वार्ष्णेये पुण्यश्लोकस्य दीव्यतः ।
पुष्करेण हृतं राज्यं यच्चान्यद्वसु किञ्चन ॥१॥

बृहदश्व ने कहा—जब सारथि चला गया, तो जुआ खेलते हुए, राजा नल से पुष्कर ने सब कुछ द्रव्य जीत लिया ॥१॥

हृतराज्यं नलं राजन् प्रहसन् पुष्करोऽब्रवीत् ।
द्यूतं प्रवर्त्ततां भूयः प्रतिपाणोऽस्ति कस्तव ॥२॥

हे राजन् ! जब सारा राज्य छीन लिया तो हंसता हुआ पुष्कर फिर राजा नल से बोला अब तुम्हारे पास दाव लगाने को कुछ रह गया हो तो और पासे फेंकलो ॥२॥

शिष्टा ते दमयन्त्येका सर्वमन्यज्जितं मया ।
दमयन्त्याः पणः साधु वर्त्ततां यदि मन्यसे ॥३॥

अब तो तुम्हारे पास एक दमयन्ती रह गई है, अन्य सब कुछ तो मैंने जीत लिया। यदि इच्छा हो तो दमयन्ती को भी दाव पर रख कर जुआ खेल लो ॥३॥

पुष्करेणैवमुक्तस्य पुण्यश्लोकस्य मन्युना ।
व्यदीर्य्यतेव हृदयं न चैनं किञ्चिदब्रवीत् ॥४॥

पुष्कर के इतना कहते ही क्रोधसे नल का हृदय फटने लगा, परन्तु वह कुछ भी नहीं बोला ॥४॥

ततः पुष्करमालोक्य नलः परममन्युमान् ।
उत्सृज्य सर्वगात्रेभ्यो भूषणानि महायशाः ॥५॥

अत्यन्त कुपित महायशस्वी राजा नल ने, पुष्कर की ओर देखा और अपने शरीर पर से सारे भूषण उतार कर, डाल दिए ॥५॥

एकवासा ह्यसंवीतः सुहृच्छोकविवर्द्धनः ।
निश्चक्राम ततो राजा त्यक्त्वा सुविपुलां श्रियम् ॥६॥

इसने इस समय एक वस्त्र ही धारण कर रखा था, अन्य कुछ नहीं पहना। इसको देखकर मित्रों का शोक उछल रहा था। यह राजा अपनी विशाल राज्य-लक्ष्मी को छोड़कर अपने घर से निकल पड़ा ॥६॥

दमयन्त्येकवस्त्राथ गच्छन्तं पृष्ठतोऽन्वगात् ।
स तया बाह्यतः सार्द्धं त्रिरात्रं नैषधोऽवसत् ॥७॥

दमयन्ती भी एक धोती पहन कर इसके पीछे २ चल दी । राजा नल दमयन्ती के साथ तीन दिन तक नगर के बाहर ठहरा ॥७॥

पुष्करस्तु महाराज घोषयामास वै पुरे ।
नले यः सम्यगातिष्ठेत् स गच्छेद्वध्यतां मम ॥८॥

हे महाराज ! राजा पुष्कर ने नगर में डोंडी पिटवा दी, कि जो नल को अपने घर ठहरावेगा, उसको या तो मरवा दिया जावेगा या देश से निकाल दिया जावेगा ॥८॥

पुष्करस्य तु वाक्येन तस्य विद्वेषणेन च ।
पौरा न तस्य सत्कारं कृतवन्तो युधिष्ठिर ॥९॥

हे युधिष्ठिर ! पुष्कर की आज्ञा और उसके द्वेष के कारण पुरवासियों ने राजा नल का सत्कार छोड़ दिया ॥९॥

स तथा नगराभ्यासे सत्कारार्हो न सत्कृतः ।
त्रिरात्रमुषितो राजा जलमात्रेण वर्त्तयन् ॥१०॥

सत्कार के योग्य राजा नल का जब प्रजा ने भय से कुछ भी सत्कार नहीं किया, उस समय इस राजा ने नगर के पास में ही तीन दिन केवल जल पीकर बिताए ॥१०॥

पीड्यमानः क्षुधा तत्र फलमूलानि कर्षयन् ।
प्रातिष्ठत ततो राजा दमयन्ती तमन्वगात् ॥११॥

यह क्षुधा से व्याकुल राजा नल, फल फूल खाता हुआ वहां से चल दिया। इसके पीछे २ दमयन्ती भी चल पड़ी ॥११॥

क्षुधया पीडामानस्तु नलो बहुतिथेऽहनि।
अपश्यत् शकुनान् कांश्चिद्धिरण्यसदृशच्छदान् ॥१२॥

एक दिन राजा नल कई दिनका भूखा था, तब इसने सुनहरी परों वाले कुछ पक्षी देखे ॥१२॥

स चिन्तयामास तदा निषधाधिपतिर्बली।
अस्ति भक्ष्यो ममाद्यायं वसु चेदं भविष्यति ॥१३॥

महाबली राजा नल ने विचारा कि आज के लिये तो मेरे आहार को यह काफी होगा और कल को यह हो जावेगा ॥१३॥

ततस्तान् परिधानेन वाससा स समावृणोत्।
तस्य तद्वस्त्रमादाय सर्वे जग्मुर्विहायसा ॥१४॥

इसने अपने पहनने की धोती से उनको दावना चाहा, तो ये सारे पक्षी, इसके वस्त्र को लेकर आकाश को उड़ गए ॥१४॥

उत्पतन्तः खगा वाक्यमेतदाहुस्ततो नलम्।
दृष्ट्वा दिग्वाससं भूमौ स्थितं दीनमधोमुखम् ॥१५॥

उड़ते हुए पक्षियों ने, नंगे, भूमि में खड़े हुए, दीन नल को देख कर यह वचन कहा ॥१५॥

वयमक्षाः सुदुर्बुद्धे तव वासो जिहीर्षवः।
आगता न हि नः प्रीतिः सवाससि गते त्वयि ॥१६॥

महाभारत चित्र संख्या ३१



अर्जुन उर्वशी सम्वाद
महाभारत वन पर्व अ० ४६/३७ पृष्ठ २२६

पापूलर प्रेस, देहली।

हे मूर्ख ! हम तो वे ही पासे हैं, तेरे वस्त्र छीनने के लिए यहां आये थे। तेरे वस्त्र पहने हुए निकल आने से हमारे चित्त को संतोष नहीं था ॥१६॥

तान् समीपगतानक्षानात्मानञ्च विवाससम् ।
पुण्यश्लोकस्तदा राजन् दमयन्तीमथाब्रवीत् ॥१७॥

हे राजन् ! समीप में आये हुए पासे और अपने को नग्न देख कर पुण्य-कीर्ति, राजा नल, दमयन्ती से कहने लगा ॥१७॥

येषां प्रकोपादैश्वर्य्यात् प्रच्युतोऽहमनिन्दिते ।
प्राणयात्रान्न विन्देयं दुःखितः क्षुधयान्वितः ॥१८॥
येषां कृते न सत्कारमकुर्वन्मयि नैषधाः ।
इमे ते शकुना भूत्वा वासो भीरु हरन्ति मे ॥१९॥

हे सुन्दरि ! मैं जिनके कोप के कारण राज्य से भ्रष्ट हुआ और दुःखी तथा क्षुधातुर होकर अपना निर्वाह भी नहीं कर कर सकता हूँ, तथा जिनके कोप से ही पुरवासियों ने मेरा सत्कार नहीं किया, वे ही पक्षी बनकर मेरे वस्त्र छीन कर ले जा रहे हैं ॥१८-१९॥

वैषम्यं परमं प्राप्तो दुःखितो गतचेतसः ।
भर्त्ता तेऽहं निबोधेदं वचनं हितमात्मनः ॥२०॥

मैं बड़ी भारी विपत्ति को प्राप्त हो रहा हूं और क्लेशित हूं। तुम भी बेहोश सी हो रही हो। मैं तुम्हारा पति हूं, तुम मेरे इस वचन को मान जावो ॥२०॥

एते गच्छन्ति बहवः पन्थानो दक्षिणापथम् ।

अवन्तीमृक्षवन्तञ्च समतिक्रम्य पर्वतम् ॥२१॥

ये दक्षिण देश को अनेक मार्ग जाते हैं। यह मार्ग ऋक्षवान् पर्वत को उलांघकर अवन्ती तक जाता है ॥२१॥

एष विन्ध्यो महाशैलः पयोष्णी च समुद्रगा ।

आश्रमाश्च महर्षीणां बहुमूलफलान्विताः ॥२२॥

यह बड़ा भारी विन्ध्य पर्वत है ! यह पयोष्णी नामक नदी है। ये महर्षियों के अनेक फल मूलों से लदे हुए आश्रम हैं ।२२॥

एष पन्था विदर्भाणामसौ गच्छति कोशलाम् ।

अतः परञ्च देशोऽयं दक्षिणे दक्षिणापथः ॥२३॥

यह विदर्भ देश का मार्ग है, यह कोशल नगरी को जाता है। इसके आगे दक्षिण में दक्षिणापथ नाम का देश है ॥२३॥

एतद्वाक्यं नलो राजा दमयन्ती समाहितः ।

उवाचासकृदार्तो हि भैमीमुद्दिश्य भारत ॥२४॥

हे भारत ! राजा नल ने सावधानी से दमयन्ती को ये वाक्य वार २ कहे। इस समय राजा नल बड़ा क्लेशित था ॥ २४ ॥

ततः सा बाष्पकलया वाचा दुःखेन कर्षिता ।

उवाच दमयन्ती तं नैषधं करुणं वचः ॥२५॥

इस के बाद, दुःख से व्याकुल दमयन्ती ने अंसुओं से गद्गद वाणी द्वारा राजा नल से दीनता के साथ कहा ॥ २५॥

उद्वेजते मे हृदयं सीदन्त्यङ्गानि सर्वशः ।
तव पार्थिव सङ्कल्पं चिन्तयन्त्याः पुनः पुनः ॥२६ ॥

हे राजन् ! तेरे चित्त के अभिप्राय का अनुमान करके मेरा हृदय कांपता है और अङ्ग फटे से जाते हैं ॥ २६ ॥

हृतराज्यं हृतद्रव्यं विवस्त्रं क्षुच्छ्रमान्वितम् ।
कथमुत्सृज्य गच्छेयं त्वामहं निर्ज्जने वने ॥२७॥

मैं राज्य और धन से हीन, वस्त्रों से रहित, भूख, प्यास से व्याकुल तुम्हें इस निर्जन वन में छोड़ कर कैसे जा सकती हूं ॥ २७ ॥

श्रान्तस्य ते क्षुधार्त्तस्य चिन्तयानस्य तत् सुखम् ।
वने घोरे महाराज नाशयिष्याम्यहं क्लमम् ॥ २८ ॥

हे महाराज ! मैं अपने पूर्व सुख की याद करने वाले, थके हुए, भूखे अपने पति के इस घोर वन में होने वाले क्लेशों को नाश करती हुई, साथ रहूंगी ॥ २८ ॥

न च भार्य्यासमं किञ्चिद्विद्यते भिषजां मतम् ।
औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेतद् ब्रवीमि ॥ २६ ॥

हे राजन् ! इस संसार में दुःखों की औषधि स्त्री के समान अन्य कुछ नहीं है; मैं सत्य कहती हूं ॥ २६ ॥

नलउवाच—

एवमेतद्यथात्थ त्वं दमयन्ति सुमध्यमे ।
नास्ति भार्य्यासमं मित्रं नरस्यार्त्तस्य भेषजम् ॥ ३० ॥

नल ने कहा—हे सुन्दरी, दमयन्ती ! तुम कहती हो, सो ठीक है। दुःखी मनुष्य को भार्या के तुल्य कोई औषध नहीं है।

न चाहं त्यक्तुकामस्त्वां किमलं भीरु शङ्कसे।
त्यजेयमहमात्मानं न चैव त्वामनिन्दिते ॥३१॥

हे सुन्दरी ! मैं तुमको छोड़ना नहीं चाहता हूं। हे भीरु ! तुम वृथा शङ्का कर रही हो। मैं अपने आपको छोड़ दूंगा, परन्तु तुमको नहीं छोड़ सकता हूं ॥ ३१ ॥

दमयन्त्युवाच।
यदि मां त्वं महाराज न विहातुमिहेच्छसि।
तत्किमर्थं विदर्भाणां पन्थाः समुपदिश्यते ॥ ३२ ॥

दमयन्ती ने कहा—हे महाराज ! यदि तुम मुझको छोड़ना नहीं चाहते हो, तो विदर्भदेश का मार्ग क्यों बता रहे हो ॥३२॥

अवैमि चाहं नृपते न तु मां त्यक्तुमर्हसि।
चेतसा त्वपकृष्टेन मां त्यजेथा महीपते ॥ ३३ ॥

हे राजन् ! मैं यह जानती हूं, कि तुम मुझे छोड़ना नहीं चाहते हो, परन्तु चित्त की निर्बलता से मुझे छोड़ भी सकते हो।

पन्थानं हि ममाभीक्ष्णमाख्यासि च नरोत्तम।
अतो निमित्तं शोकं मे वर्द्धयस्यमरोपम ॥ ३४ ॥

हे नर श्रेष्ठ ! तुम वार २ मुझे अपने देश का मार्ग बता रहे हो। हे महा-भाग ! इसीसे तुम मेरे शोक के बढ़ाने वाले हो रहे हो ॥ ३४ ॥

यदि चायमभिप्रायस्तव ज्ञातीन् व्रजेदिति ।
सहितावेव गच्छावो विदर्भान् यदि मन्यसे ॥ ३५ ॥

यदि तुम्हारी यह इच्छा है, कि यह अपने पिता के देश विदर्भ नगर को चली जावे, तो हम तुम दोनों साथ ही विदर्भ देश को चल सकते हैं ॥ ३५ ॥

विदर्भराजस्तत्र त्वां पूजयिष्यति मानद ।
तेन त्वं पूजितो राजन् सुखं वत्स्यसि नो गृहे ॥३६॥

इति आरण्यपर्वाणि नलोपाख्यानपर्वणि नलयात्राया
मेकषष्ठोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

हे माननीय ! विदर्भ देशका स्वामी, मेरा पिता, तुम्हारा अत्यन्त आदर करेगा । हे राजन् ! उनसे आदर सत्कार पाकर तुम हमारे घर पर सुखसे रह सकोगे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्वमें नल की
यात्रा का इकसठवां अध्याय समाप्त हुआ ।



बासठवां अध्याय

नल उवाच—

यथा राज्यं तव पितुस्तथा मम न संशयः ।
न तु तत्र गमिष्यामि विषमस्थः कथञ्चन ॥१॥

नल ने कहा—हे महाभागे ! जैसा राज्य तेरे पिता का है, वैसा ही वह मेरा भी है, तो भी मैं इस विपत्ति में वहां कभी न जाऊंगा ॥ १ ॥

कथं समृद्धो गत्वाहं तव हर्षविवर्द्धनः ।
परिच्युतो गमिष्यामि तव शोकविवर्द्धनः ॥ २ ॥

मैं ऐश्वर्य शाली होकर वहाँ गया, जिससे तेरा हर्ष बढ़ता था । अब राज्य से हीन होकर तेरे शोक का कारण होकर कैसे जा सकता हूँ ॥ २ ॥

बृहदश्व उवाच ।

इति ब्रुवन्नलो राजा दमयन्तीं पुनः पुनः ।
सान्त्वयामास कल्याणीं वाससोऽर्द्धेन संवृताम् ॥३॥

बृहदश्वने कहा—हे राजन् ! इस प्रकार कहते हुए राजा नल ने आधी धोती पहने हुए, कल्याणी दमयन्ती को बार२ समझाया

तावेकवस्त्रसंवीतावटमानावितस्ततः ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ सभां काञ्चिदुपेयतुः ॥ ४ ॥

इन दोनों ने एक वस्त्र पहन रखा था । ये इधर उधर घूमते हुए, भूखे, प्यासे, थके हुए किसी सभा, धर्मशाला, में पहुँचे ॥४॥

तां सभामुपसम्प्राप्य तदा स निषधाधिपः ।
वैदर्भ्या सहितो राजा निषसाद महीतले ॥ ५ ॥

उस सभा में पहुंचकर 'निषधदेश का स्वामी राजा नल, दमयन्ती के साथ पृथिवी पर ही बैठ गया ॥५॥

स चैकवस्त्रो मलिनो विकटः पांशुगुण्ठितः ।
दमयन्त्या सह श्रांतः सुस्वाप धरणीतले ॥ ६ ॥

एक वस्त्र धारी, मलिन और कुरूप वेष वाला, मिट्टी में लिपटा हुआ, श्रान्त, राजा नल, दमयन्ती के साथ वहीं भूमि में सो गया ॥ ६ ॥

दमयन्त्यपि कल्याणी निद्रयापहृता ततः ।
सहसा दुखमासाद्य सुकुमारी तपस्विनी ॥ ७ ॥

कल्याणी दमयन्ती भी नींद के वश में होगई, क्योंकि इस बिचारी ने अचानक दुःख देखा था। यह बड़ी सुकुमारी थी ।७।

सुप्तायां दमयन्त्यान्तु नलो राजा विशाम्पते ।
शोकोन्मथितचित्तात्मा न स्म शेते यथा पुरा ॥ ८ ॥

हे विशाम्पते ! जब दमयन्ती सोगई, तब भी यह राजा नल, शोक से व्याकुल होकर जाग रहा था। इसको पूर्व की भांति अब नींद नहीं आती थी ॥ ८ ॥

स तद्राज्यापहरणं सुहृत्त्यागञ्च सर्वशः ।
वने च तं परिध्वंसं प्रेक्ष्य चिन्तामुपेयिवान् ॥ ९ ॥

इस प्रकार राज्य अपहरण, मित्रों का त्याग, और वनमें सब तरह की कठिनाई देख कर यह बड़ी चिन्ता कर रहा था ।६।

किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वतः ।
किं नु मे मरणं श्रेयः परित्यागो जनस्य वा ॥ १० ॥

इस कार्य को इस तरह करलूं, तो क्या हो और इस तरह न करूं तो क्या हो जावे । क्या इस समय मेरा मर जाना अच्छा है या अपने प्राण प्यारी का छोड़ देना अच्छा है ।। १० ॥

मामियं ह्यनुरक्तैवं दुःखं प्राप्नोति मत्कृते ।
मद्विहीना त्वियं गच्छेत् कदाचित् स्वजनं प्रति ॥११॥

यह मुझसे अत्यन्त प्रेम करती है, जिससे ही इस महा-क्लेश को भोग रही है । मुझसे वियुक्त होकर शायद यह अपने पिता के घर चली जावे ॥ ११ ॥

मयि निःसंशयं दुःखमिमं प्राप्स्यत्यनुव्रता ।
उत्सर्गे संशयः स्यात्तु विन्देतापि सुखं क्वचित् ॥१२॥

मेरे साथ तो यह पतिव्रता अवश्य क्लेश भोगती रहेगी । यदि इसको छोड़ गया, तो शायद इसको कहीं सुख मिल जावे ।१२

स विनिश्चित्य बहुधा विचार्य्य च पुनः पुनः ।
उत्सर्गं मन्यते श्रेयो दमयन्त्या नराधिप ॥ १३ ॥

हे नराधिप ! इसने अनेक प्रकार से विचार करके निश्चय किया और इस समय दयमन्ती का छोड़देना ही अच्छा समझा ।

न चैषा तेजसा शक्या कैश्चिद्धर्षयितुं पथि।
यशस्विनी महाभागा मद्भक्तेयं पतिव्रता ॥ १४ ॥

मार्ग में इसके तेज के कारण कोई भी इस पर आक्रमण नहीं कर सकेगा। यह यशस्विनी मेरी भक्त और पतिव्रता है ॥१४॥

एवं तस्य तदा बुद्धिर्दमयन्त्यां न्यवर्त्तत।
कलिना दुष्टभावेन दमयन्त्या विसर्ज्जने ॥ १५ ॥

इस समय दमयन्ती के विषय में उसकी बुद्धि ऐसी ही होगई। कलियुग ने दुष्टता करके दमयन्ती का त्याग ही निश्चय कराया।

सोऽवस्त्रतामात्मनश्च तस्याश्चाप्येकवस्त्रताम्।
चिन्तयित्वाभ्यगाद्राजा वस्त्रार्द्धस्यावकर्त्तनम् ॥ १६ ॥

नल ने अपने को नङ्गा और दमयन्ती को एक वस्त्र धारी विचार कर उसका आधा कपड़ा फाड़ना चाहा ॥१६॥

कथं वासो विकर्त्तेयं न च बुध्येत मे प्रिया।
विचिन्त्यैवं नलो राजा सभां पर्य्यचरत्तदा ॥ १७ ॥

यह वस्त्र किस तरह फाड़ूं; जिससे यह मेरी प्रिया जग न जावे। यह सोचकर उस सभा (धर्मशाला) में इधर उधर कुछ टटोलने लगा।'१७॥

परिधावन्नथ नल इतश्चेतश्च भारत।
आससाद सभोद्देशे विकोशं खड्गमुत्तमम् ॥ १८ ॥

हे भारत! इधर उधर खोजते हुए नल ने सभा के किसी कोने में एक नङ्गी तलवार देखी ॥ १८ ॥

तेनार्द्धं वाससश्छित्वा निरस्य च परन्तपः ।
सुप्तामुत्सृज्य वैदर्भीं प्राद्रवद्गतचेतनाम् ॥ १९ ॥

इस परन्तप ने इससे आधा कपड़ा फाड़ लिया और फिर तलवार को वहीं डाल दिया । अब यह अचेत सोती हुई दमयन्ती को छोड़ कर चल दिया ॥ १९ ॥

गतो निवृत्तहृदयः पुनरागम्य तां सभाम् ।
दमयन्तीं तदा दृष्ट्वा रुरोद निषधाधिपः ॥ २० ॥

यह निषधराज, हृदय को कठोर करके चल दिया और फिर लौट कर उसी स्थान पर आया । यह दमयन्ती को उसी दशा में सोती देख कर रोने लगा ॥२०॥

यां न वायुर्न चादित्यः पुरा पश्यति मे प्रियाम् ।
सेयमद्य सभामध्ये शेते भूमावनाथवत् ॥ २१ ॥

जिस मेरी प्रिया को पहले वायु या सूर्य भी नहीं देख सकते थे, वही आज इस इस धर्मशाला में अनाथ की भांति भूमि में सो रही है ॥ २१ ॥

इयं वस्त्रावकर्त्तेन संवीता चारुहासिनी ।
उन्मत्तेव वरारोहा कथं बुध्वा भविष्यति ॥ २२ ॥

यह उत्तम हंसने वाली दमयन्ती अपने कटे हुए वस्त्र को पहने हुए है । जब यह जागेगी, तो यह सुन्दरी, पागल की भांति होकर क्या करेगी ॥ २२॥

कथमेका सती भैमी मया विरहिता शुभा ।
चरिष्यति वने घोरे मृगव्यालनिषेविते ॥ २३ ॥

यह अकेली मुझ से वियुक्त, सती, दमयन्ती इन सिंह सर्पों से भरे हुए, घोर, वन में कैसे घूमेगी ॥२३॥

आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ समरुद्गणौ ।
रक्षन्तु त्वां महाभागे धर्मेणासि समावृता ॥ २४ ॥

हे महाभागे ! आदित्य, वसु, रुद्र, अश्विन, मरुद्गण, तेरी रक्षा करें, क्योंकि तू धर्म से आच्छादित है ॥२४॥

एवमुक्त्वा प्रियां भार्य्यां रूपेणाप्रतिमां भुवि ।
कलिनापहृतज्ञानो नलः प्रातिष्ठदुद्यतः ॥ २५ ॥

हे राजन् ! इस प्रकार मन ही मन कह कर अद्वितीय रूप वाली, अपनी प्रिय भार्या को छोड़ कर कलि से नष्ट ज्ञान वाला राजा नल, चलने को तैयार हो गया ॥ २५ ॥

गत्वा गत्वा नलो राजा पुनरेति सभां मुहु ।
आकृष्यमाणः कलिना सौहृदेनावकृष्यते ॥ २६ ॥

राजा नल, जाकर फिर उसी सभा में वापिस लौट आता था । यह कलि की लीला और प्रेम से खचा जा रहा था ॥२६॥

द्विधेव हृदयं तस्य दुःखितस्याभवत्तदा ।
दोलेव मुहुरायाति याति चैव सभां प्रति ॥ २७ ॥

इस दुःखी नल का हृदय दोनों ओर लटक रहा था—झूले की तरह कभी उधर और कभी सभा की ओर चला आता था ।

अवकृष्टस्तु कलिना मोहितः प्राद्रवन्नलः ।
सुप्तामुत्सृज्य तां भार्य्यां विलप्य करुणं बहु ॥ २८ ॥

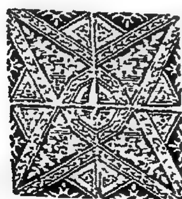
कलियुग से मोहित और खैंचा हुआ राजा नल, अनेक प्रकार से विलाप करके और दमयन्ती को सोती हुई छोड़ कर चल ही दिया ॥ २८ ॥

नष्टात्मा कलिना स्पृष्टस्तचाद्विगणयन्नृपः ।
जगामैको वने शून्ये भार्य्यामुत्सृज्य दुःखितः ॥ २९ ॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलस्य दमयन्ती—
त्यागे द्विषष्टोऽध्यायः ॥ २६ ॥

कलि से दबाया हुआ अचेत सा राजा नल, अनेक प्रकार के विचार कर रहा था। यह दुःखी, अन्त में अकेली अपनी भार्या दमयन्ती को छोड़ कर चल दिया ॥ २९ ॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यान पर्व में दमयन्ती के त्याग का बासठवां अध्याय समाप्त हुआ।



तरेसठवाँ अध्याय

बृहदश्व उवाच—

अपक्रान्ते नले राजन् दमयन्ती गतक्लमा ।
अबुध्यत वरारोहा संत्रस्ता विजने वने ॥ १ ॥

बृहदश्व ने कहा—हे राजन् ! नल के चले जाने पर सुन्दरी दमयन्ती ने चेत किया । इस समय इसकी थकान उतर चुकी थी । यह अपने को अकेली देखकर इस निर्जन वन में बड़ी भयभीत हुई ॥ १ ॥

अपश्यमाना भर्त्तारं शोकदुःखसमन्विता ।
प्राक्रोशदुच्चैः संत्रस्ता महाराजेति नैषधम् ॥ २ ॥

जब इसने अपने पति राजा नल को नहीं देखा, तो शोक और दुःख से आतुर हुई, भयभीत, जोर २ से महाराज २ कह कर राजा नल को पुकारने लगी ॥ २ ॥

हा नाथ हा महाराज हा स्वामिन् किं जहासि माम् ।
हा हतास्मि विनष्टास्मि भीतास्मि विजने वने ॥ ३ ॥

हे नाथ ! हे महाराज ! हे स्वामिन् ! क्या तुम मुझको छोड़ गए हो । हाय ? आज मैं मारी गई; सब तरह से नष्ट हो गई ! मैं इस निर्जन वन में बड़ी डर रही हूँ ॥ ३ ॥

ननु नाम महाराज धर्मज्ञः सत्यवागसि ।
कथमुक्त्वा तथा सत्यं सुप्तामुत्सृज्य कानने ॥ ४ ॥

हे महाराज ! आप तो धर्म के जानने वाले, सत्यवादी हो। तुम नहीं छोड़ने की प्रतिज्ञा करके भी मुझे कहां इस वन में सोती हुई छोड़ गए हो !॥ ४ ॥

कथमुत्सृज्य गन्तासि दक्षां भार्य्यामनुव्रताम् ।
विशेषतोऽनपकृते परेणापकृते सति ॥ ५ ॥

तुम, चतुर, पतिव्रता भार्या को छोड़ कर कैसे चले गए। मैंने आपका कोई अपकार भी नहीं किया और इस समय तो तुम, शत्रु के अपकार को भोग रहे थे ॥ ५ ॥

शक्यसे ता गिर सम्यक् कर्त्तुं मयि नरेश्वर ।
यास्तेषां लोकपालानां सन्निधौ कथिताः पुरा ॥ ६ ॥

हे नरेश्वर ! तुम अपने उन वचनों को सत्य करो, तुमने जो लोकपालों के सम्मुख कहे थे ॥ ६ ॥

नाकाले विहितो मृत्युर्मर्त्यानां पुरुषर्षभ ।
यत्र कान्ता त्वयोत्सृष्टा मुहूर्त्तमपि जीवति ॥ ७ ।

हे पुरुष—श्रेष्ठ ! मनुष्यों की अकाल में मृत्यु नहीं होती है, यह बिल्कुल सत्य है; जो तुमसे छोड़ी हुई तुम्हारी प्राण—प्यारी क्षण भर भी जीवित रह सकती है ॥७॥

पर्य्याप्तः परिहासोऽयमेतावान् पुरुषर्षभ ।
भीताहमतिदुर्द्धर्ष दर्शयात्मानमीश्वर ॥ ८ ॥

हे पुरुषर्षभ ! बस! इतनी ही हंसी पर्याप्त (काफी) है । मैं बहुत डर गई हूं, तुम अब मुझे अपनी तेजस्वी मूर्ति के दर्शन दो ॥ ८ ॥

दृश्यसे दृश्यसे राजन्नेष दृष्टोऽसि नैषध ।
आवार्य्य गुल्मैरात्मानं किं मां न प्रतिभाषसे ॥ ९ ॥

हे निषधराज ! लो, अब दिखाई दे गए। अबतों तुमको देख ही लिया। तुम अपने को झाड़ियों में छुपाकर मुझ से बातें क्यों नहीं करते हो ॥ ९ ॥

नृशंसं बत राजेन्द्र यन्मामेवं गतामिह ।
विलपन्तीं समागम्य नाश्वासयसि पार्थिव ॥ १० ॥

हे राजेन्द्र ! यह बहुत बुरी बात है, कि मैं तो इस दशा को पहुंच चुकी हूं और विलाप कर रही हूं, तो भी तुम आकर मुझे क्यों नहीं तसल्ली देते हो ॥ १० ॥

न शोचाम्यहमात्मानं न चान्यदपि किञ्चन ।
कथं नु भवितास्येक इति त्वां नृप शोचिमि ॥ ११ ॥

हे राजन् ! न तो मुझे अपनी चिन्ता है और न इस समय अन्य कुछ ध्यान है। मैं तो केवल यही सोच कर मरी जा रही हूं, कि मेरे बिना तुम अकेले कैसे क्लेश से रह रहे होंगे ॥११॥

कथं नु राजंस्तृषितः क्षुधितः श्रमकर्षितः ।
सायाह्ने वृक्षमूलेषु मामपश्यन् भविष्यसि ॥ १२ ॥

हे राजन् ! भूखे, प्यासे, थके हुए आप सायंकाल मुझे न देख कर वृक्षों की जड़ों में कैसे रहते होंगे ॥१२॥

ततः सा तीव्रशोकार्त्ता प्रदीप्तेव च मन्युना ।
इतश्चेतश्च रुदती पर्य्यधावत दुःखिता ॥ १३ ॥

बड़े भारी शोक में भरी हुई मानो शोक से जलती हुई, बड़ी क्लेशित दमयन्ती, रोती हुई इधर उधर दौड़ने लगी ॥१३॥

मुहुरुत्पतते बाला मुहुः पतति विह्वला ।
मुहुरालीयते भीता मुहुः क्रोशति रोदिति ॥ १४ ॥

कभी तो यह सुकुमारी भागती थी और कभी व्याकुल होकर गिर जाती थी कभी डरकर छुप जाती और कभी रोने चिल्लाने लग जाती थी ॥१४॥

अतीव शोकसन्तप्ता मुहुर्निश्वस्य विह्वला ।
उवाच भैमी निश्वस्य रुदत्यथ पतिव्रता ॥ १५ ॥

यह पतिव्रता दमयन्ती, बड़ी विकल हो रही थी और शोक से बार २ निःश्वास फेंक रही थी। अब यह रोती हुई इस प्रकार कहने लगी ॥१५॥

यस्याभिशापाद् दुःखार्त्तो दुःखं विन्दति नैषधः ।
तस्य भूतस्य नो दुःखाद् दुःखमभ्यधिकं भवेत् ॥ १६ ॥

जिस प्राणी के क्रोध से दुःखी नल, बार २ दुःख उठा रहा है, उस प्राणी को भी मेरे दुःख से अधिक दुःख हो ॥१६॥

अपापचेतसं पापो य एवं कृतवान्नलम् ।
तस्माद् दुःखतरं प्राप्य जीवत्वसुखजीविकाम् ॥ १७ ॥

जो पापी निरपराधी नल को इस तरह दुःखी कर रहा है, वह उससे भी अधिक दुःख पाकर दुःख की आयु, व्यतीत करे।

एवन्तु विलपन्ती सा राज्ञो भार्या महात्मनः ।
अन्वेषमाणा भर्त्तारं वने श्वापदसेविते ॥ १८ ॥

उस महात्मा नल की भार्या, दमयन्ती, इस प्रकार विलाप करती हुई, वनैले जन्तुओं से भरे हुए वन में अपने पति को खोजने लगी ॥१८॥

उन्मत्तवद्भीमसुता विलपन्ती इतस्ततः ।
हा हा राजन्निति मुहुरितश्च तश्च धावति ॥ १९ ॥

राजा भीम की पुत्री दमयन्ती, इधर उधर विलाप कर रही है और हे राजन्! हे राजन्! कह २ कर इधर उधर दौड़ने लगती है ॥१९॥

तां क्रन्दमानामत्यर्थं कुररीमिव वाशतीम् ।
करुणं बहु शोचन्तीं विलपन्तीं मुहुर्मुहुः ॥ २० ॥

सहसाभ्यागतां भैमीमभ्यासपरिवर्त्तिनीम् ।
जग्राहाजगरो ग्राहो महाकायः क्षुधान्वितः ॥ २१ ॥

कुररी की भांति चिल्लाती हुई और करुणा के साथ चिन्ता तथा अत्यन्त विलाप करती हुई, बार २ इधर उधर दौड़ती हुई। दमयन्ती को पास आई हुई देखकर महा-काय-धारी, एक भयानक भूखे, अजगर ने पकड़ ली ॥२०-२१॥

सा ग्रस्यमाना ग्राहेण शोकेन च परिप्लुता ।
नात्मानं शोचति तथा यथा शोचति नैषधम् ॥ २२ ॥

इसको जब भयानक अजगर ने पकड़ लिया, तब भी यह शोकातुर दमयन्ती, अपनी चिन्ता नहीं करती थी, प्रत्युत राजा नल की चिन्ता ही कर रही थी ॥२२

हा नाथ मामिह वने ग्रस्यमानामनाथवत् ।
ग्राहेणानेन विजने किमर्थं नानुधावसि ॥ २३ ॥

हे नाथ ! मुझे यह भीषण अजगर अनाथ की भाँति निगल रहा है, तुम इस निर्जन वन में मुझे छुटाने के लिए क्यों नहीं दौड़ते हो ॥२३

कथं भविष्यसि पुनर्मामनुस्मृत्य नैषध ।
कथं भवान् जगामाद्य मामुत्सृज्य वने प्रभो ॥ २४ ॥

हे नैषध ! मुझे याद करके तुम्हारा क्या हाल होता होगा । हे प्रभो ! मुझे वन में अकेली छोड़कर आप चले कैसे गए ।

शापान्मुक्तः पुनर्लब्धा बुद्धिश्चेतो धनानि च ।
श्रान्तस्य ते क्षुधार्त्तस्य परिम्लानस्य नैषध ॥ २५ ॥
कः श्रमं राजशार्दूल नाशयिष्यति तेऽनघ ।

हे राजशार्दूल ! जब तुम शाप से मुक्त होगे, तब तुम्हारी बुद्धि, चित्त और धन तुम्हें फिर प्राप्त होगा । अब भूखे, थके हुए और उदास हुए तुम्हारे श्रम को कौन दूर करेगा ॥२५॥

ततः कश्चिन्मृगव्याधो विचरन् गहने वने ॥ २६ ॥
आक्रन्दमानां संश्रुत्य जवेनाभिससार ह ।

उस समय कोई शिकारी इस गहन वन में घूम रहा था । वह चिल्लाती हुई दमयन्ती के आर्त नाद को सुनकर वेगसे दौड़ा ।

तां तु दृष्ट्वा तथा ग्रस्तामुरगेणायतेक्षणाम् ॥ २७ ॥
त्वरमाणो मृगव्याधः समतिक्रम्य वेगतः ।
मुखतः पाटयामास शस्त्रेण निशितेन च ॥ २८ ॥

इस विशाल-नेत्र-वाली, दमयन्ती को सर्प से निगली हुई देखकर व्याध ने शीघ्रता से आक्रमण किया और अजगर को तीक्ष्ण शस्त्र से मुख की ओर से काट गिराया ॥२७-२८॥

निर्विचेष्टं भुजङ्गं तं विशस्य मृगजीवनः ।
मोक्षयित्वा स तां व्याधः प्रक्षाल्य सलिलेन ह ॥ २९

चेष्टा रहित सर्प को व्याध ने चीर डाला और दमयन्ती को उससे छुड़ाकर उसका जलसे प्रक्षालन किया ॥२९॥

समाश्वास्य कृताहारामथ पप्रच्छ भारत ।
कस्य त्वं मृगशावाक्षि कथञ्चाभ्यागतं वनम् ॥ ३० ॥
कथञ्चेदं महत् कृच्छ्रं प्राप्तवत्यसि भाविनि ।

हे भारत ! उसने दमयन्ती को तसल्ली दी और आहार करवा कर पूछा। हे मृग के समान नेत्रों वाली, तुम किसकी पुत्री या भार्या हो और इस वन में कैसे आई। हे भाविनि ! तुम इस प्रकार की बड़ी कठिन विपत्ति का क्यों सामना कर रही हो ॥३०

दमयन्ती तथा तेन पृच्छमाना विशाम्पते ॥ ३१ ॥
सर्वमेतद्यथावृत्तमाचचक्षेऽस्य भारत ।

हे विशाम्पते ! उसके इतना पूछने पर दमयन्ती ने अपना सारा वृतान्त उसको सुना दिया ॥३१॥

तामर्द्धवस्त्रसंवीतां पीनश्रोणिपयोधराम् ॥ ३२ ॥
सुकुमारानवद्याङ्गीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।
अरालपक्ष्मनयनां तथा मधुरभाषिणीम् ॥ ३३ ॥
लक्षयित्वा मृगव्याधः कामस्य वशमीयिवान् ।

इस पुष्ट नितम्ब और कुचों वाली, आधी धोती पहने हुए, सुकुमार, और उत्तम अङ्गों वाली, पूर्ण चन्द्रमा के तुल्य मुख से सुशोभित, तीखी पलक और नेत्रों से सुन्दर, मधुर भाषिणी दमयन्ती को देख कर व्याध, काम के वश में हो गया ॥३२-३३॥

तामेवं श्लक्ष्णया वाचा लुब्धको मृदुपूर्वया ॥३४॥
सान्त्वयामास कामार्त्तस्तदबुध्यत भाविनी ।

इस कामार्त लुब्धक ने कोमल और मधुर वाणी से दमयन्ती को समझाया। इस चतुर दमयन्ती ने उसकी चेष्टाको लक्ष्य कर लिया ॥ ३४ ॥

दमयन्त्यपि तं दुष्टमुपलभ्य पतिव्रता ॥ ३५ ॥
तीव्ररोषसमाविष्टा प्रजज्वालेव मन्युना ।

पतिव्रता दमयन्ती, उस दुष्ट को पाकर बड़े भारी क्रोध से भरी हुई, जल सी उठी ॥३५॥

स तु पापमतिः क्रुद्धः प्रधर्षयितुमातुरः ॥३६॥
दुर्द्धर्षान्तर्कयामास दीप्तामग्निशिखामिव ।

उस पापी कामातुर व्याध ने भी क्रोध में भर कर उस पर आक्रमण करना चाहा, परन्तु यह तो अग्नि की लपटों के समान प्रतीत होती थी, इससे वह इस पर आक्रमण नहीं कर सका ३६।

दमयन्ती तु दुःखार्त्ता पतिराज्यविनाकृता ॥ ३७ ॥
अतीतवाक्पथे काले शशापैनं रुषान्विता ।

अब दमयन्ती बड़ी क्लेशित हो रही थी, क्योंकि इस पर इस समय पति की छत्र छाया नहीं थी। यह समय बातचीत के मार्ग का अतिक्रमण कर चुका था, जिससे कुपित दमयन्ती को शाप ही देना पड़ा ॥३७॥

यद्यहं नैषधादन्यं मनसापि न चिन्तये । ३८ ।
तथायं पततां क्षुद्रः परासुर्मृगजीवनः ।

जो मैंने निषधराज नल के सिवा मन से भी किसी अन्य का चिन्तन नहीं किया हो, तो यह नीच व्याध, गिर कर मर जावे ।

उक्तमात्रे तु वचने तथा स मृगजीवनः ।
व्यसुः पपात मेदिन्यामग्निदग्ध इव द्रुमः ॥ ३९ ॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीसर्पग्रासमोचने त्रिषष्टोऽध्यायः ॥ ६३॥

दमयन्ती का इतना कहना ही था, कि वह शिकारी मरकर अग्नि से जले हुए वृक्ष के समान भूमि पर गिर पड़ा ॥३९॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यान पर्व में दमयन्ती को सर्प के निगलने से छुड़ाने का तरेसठवां अध्याय पूरा हुआ ।



चौंसठवाँ अध्याय

बृहदश्व उवाच ।

सा निहत्य मृगव्याधं प्रतस्थे कमलेक्षणा ।
वनं प्रतिभयं शून्यं झिल्लिकागणनादितम् ॥१॥

बृहदश्व ने कहा—हे राजन् ! कमल के समान नेत्रों वाली, दमयन्ती, व्याध को मार कर झिल्लिकाओं के गणोंसे शब्दायमान, उस भयानक निर्जल वन में आगे चलदी ॥ १ ॥

सिंहद्वीपिरुरुव्याघ्रमहिषर्क्षमृगैर्युतम् ।
नानापक्षिगणाकीर्णं म्लेच्छतस्करसेवितम् ॥ २ ॥

यह वन, सिंह, चीते, मृग, व्याघ्र महिष, (भैंसे) रीछ, आदि जंगली, जीवों से भरा पड़ा था। यह अनेक पक्षियों से व्याप्त और म्लेच्छ तथा चोरों से युक्त था ॥ २ ॥

शालवेणुधवाश्वत्थतिन्दुकेंगुदकिंशुकैः
अर्जुनारिष्टसंच्छन्नं स्यन्दनैश्च सशाल्मलैः ॥ ३ ॥

जम्ब्वाम्रलोध्रखदिरसालवेत्रसमाकुलम् ।
पद्मकामलकप्लक्षकदम्बोडुम्बरावृतम् ॥ ४ ॥
बदरीबिल्वसंच्छन्नं न्यग्रोधैश्च समाकुलम् ।
पियालतालखर्जूरहरीतकविभीतकैः ॥५॥

यह वन, शाल, वेणु, धौक, पीपल, तिन्दुक, इंगुदी, ढाक, अर्जुन, नीम, तिंतिश, सैंमल, जामुन, आम, लोध, खदिर,

लम्बे २ बाँस, पद्माख, आंवला, पिलखन, कदम्ब, गूलर, बदरी, बिल्व, बड़, पियाल, ताल, खजूर, हरड़, बहेड़ा, आदि के वृक्षों से सङ्कीर्ण था ॥ ३ ५ ॥

नानाधातुशतैर्नद्धान् विविधानपि चाचलान् ।
निकुञ्जान् परिसङ्घुष्टान् दरीश्चाद्भुतदर्शनाः ॥ ६ ॥

उसमें अनेक धातुओं से अनेक पर्वत भरे हुए थे, लताओं के घर पक्षियों के शब्दों से परिपूर्ण थे और गुफाएँ बड़ी अद्भुत दिखाई देती थीं ॥ ६ ॥

नदीः सरांसि वापीश्च विविधांश्च मृगद्विजान् ।
सा बहून् भीमरूपांश्च पिशाचोरगराक्षसान् । ७ ।
पल्वलानि तडागानि गिरिकूटानी सर्वशः ।
सरितो निर्झरांश्चैव ददर्शाद्भुतदर्शनान् ॥ ८ ॥

दमयन्ती ने उस वन में नदी, सरोवर, बावड़ी, अनेक वनैले जीव और पक्षी, भयानक पिशाच, सर्प और राक्षस, तलाई, तालाब, पर्वतों की चोटी, छोटी २ नदी, झरने, आदि अनेक अद्भुत २ वस्तुओं को देखा ॥ ७-८ ॥

यूथशो ददृशे तत्र विदर्भाधिपनन्दिनी ।
महिषांश्च वराहांश्च ऋक्षांश्च वनपन्नगान् । ९ ।

विदर्भ राजसुता दमयन्ती ने अरणे भैंसे, वराह, रीछ, वनके सर्पों के झुंड के झुंड देखे ॥ ९ ॥

तेजसा यशसा लक्ष्म्या स्थित्या च परया युता।
वैदर्भी विचरत्येका नलमन्वेषती तदा ।१०।

तेज, यश, लक्ष्मी और अत्यन्त रूप से युक्त होकर दयमन्ती नल को खोजती हुई अकेली उस वन में घूमने लगी ॥ १० ॥

नाबिभ्यत सा नृपसुता भैमी तत्राथ कस्यचित्।
दारुणामटवीं प्राप्य भर्तृव्यसनपीडिता । ११ ।

अपने पति के क्लेश से व्याकुल दमयन्ती, उस भयानक वन में पहुंचकर भी किसी से नहीं डरती थी ॥ ११ ॥

विदर्भतनया राजन् विललाप सुदुःखिता।
भर्तृशोकपरीताङ्गी शिलातलमथाश्रिता। १२ ।

हे राजन् ! अपने भर्ता की विपत्तिसे अत्यन्त दुःखी दमयन्ती बड़ा विलाप करने लगी और एक पत्थर की चट्टान पर बैठ गई॥

दमयन्ती उवाच—

व्यूढोरस्क महाबाहो नैषधानां जनाधिप।
क्व नु राजन् गतोस्यद्य विसृज्य विजने वने ॥१३॥

हे निषधराज ! महाबाहो ! दृढ़ वक्षस्थल-धारी ! राजन् ! मुझे इस निर्जन वनमें छोड़ कर आज कहां चले गए हो ॥ १३ ॥

अश्वमेधादिभिर्वीर क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।
कथमिष्ट्वा नरव्याघ्र मयि मिथ्या प्रवर्त्तसे ॥१४॥

हे वीर ! नर-व्याघ्र ! तुम तो महान् दक्षिणा वाले; अश्वमेधादि यज्ञों को भी कर चुके हो, फिर इतने धर्मात्मा होकर भी मेरे साथ यह मिथ्या व्यवहार क्यों कर रहे हो ॥ १४ ॥

यत्त्वयोक्तं नरश्रेष्ठ मत् समक्षं महाद्युते ।
स्मर्त्तुमर्हसि कल्याण वचनं पार्थिवर्षभ ॥१५॥

हे नर-श्रेष्ठ ! तुमने जो वचन मुझ से कहे थे, उनका स्मरण तो करो ॥ १५ ॥

यच्चोक्तं विहगैर्हंसैः समीपे तव भूमिप ।
मत् समक्षं यदुक्तञ्च तदवेक्षितुमर्हसि ॥१६॥

हे राजन् ! जो तुम्हारे पास हंसों ने कहा या मेरे सामने कहा-तुम उन वचनों को याद तो करो ॥ १६ ॥

चत्वार एकतो वेदाः साङ्गोपाङ्गा सविस्तराः ।
स्वधीता मनुजव्याघ्र सत्यमेकं किलैकतः ॥१७॥

हे मनजु- श्रेष्ठ ! एक ओर तो अङ्ग उपाङ्गों के विस्तार सहित पढ़े हुए चारों वेदों का महत्व है और दूसरी ओर अकेला सत्य है, जो उसकी बराबर माना गया है । १७ ।

तस्मादर्हसि शत्रुघ्न सत्यं कर्त्तुं नरेश्वर ।
उक्तवानसि यद्वीर मत्सकाशे पुरा वचः ॥ १८ ॥

हे शत्रु-नाशक ! राजन् ! इससे तुमने जो मेरे सामने प्रतिज्ञा की है उसे पूरा कर दिखाना चाहिए ॥ १८ ॥

हा वीर नल नामाहं नष्टा किल तवानघ ।
अस्यामटव्यां घोरायां किं मां न प्रतिभाषसे ॥ १९ ॥

हे वीर ! नल ! आज मैं नष्ट हो चुकी हूँ, जो तू इस घोर वन में भी मुझसे बातें नहीं करता है ॥ १९ ॥

भक्षयत्येष मां रौद्रो व्यात्तास्यो दारुणाकृतिः ।
अरण्यराट् क्षुधाविष्टः किं मां न त्रातुमर्हसि ॥ २० ॥

यह मुंह खोले हुए वनका राजा, भयानक-आकृति-धारी, भीषण भूखा, सिंह, मुझे खाना चाहता है, क्या इस समय तुमको मेरी रक्षा करना उचित प्रतीत नहीं होता है ॥ २० ॥

न मे त्वदन्या काचिद्धि प्रियास्तीत्यब्रवीः सदा ।
तामृतां कुरु कल्याण पुरोक्तां भारतीं नृप ॥ २१ ॥

हे नृप ! तुम पहिले कहते रहते थे, कि तेरे सिवा मेरी अन्य कोई प्रिया नहीं है । हे कल्याण-कारी, उस अपनी वाणी को आज सत्य करके दिखलाओ ॥ २१ ॥

उन्मत्तां विलपन्तीं मां भार्यामिष्टां नराधिप ।
ईप्सितामीप्सितोऽसि त्वं किं मां न प्रतिभाषसे ॥ २२ ॥

नराधिप ! मैं पागल की भांति विलाप कर रही हूं और तेरे चाहने वाली, तेरी चाही हुई, प्रिय पत्नी हूं, फिर भी तू मुझ से क्यों नहीं बोलता है ॥ २२ ॥

कृशां दीनां विवर्णाञ्च मलिनां वसुधाधिप ।
वस्त्रार्द्धप्रावृतामेकां विलपन्तीमनाथवत् ॥ २३ ॥
यूथभ्रष्टामिवैकां मां हरिणीं पृथुलोचन ।
न मानयसि मामार्य रुदतीमरिकर्षण ॥ २४ ॥

हे वसुधाधिप ! मैं कृश, दीन, विवर्ण और मलिन हो रही हूं और आधे वस्त्र को पहने हुए अनाथ की भांति विलाप करती

हूं। हे आर्य! अपने यूथ से बिछुड़ी हुई हरिणी की तरह इधर उधर घूम रही हूँ, तुम मुझ रोती हुई को क्यों नहीं आश्वासन देते हो॥ २३-२४॥

महाराज महारण्ये अहमेकाकिनी सती।
दमयन्त्यभिभाषे त्वां किं मां न प्रतिभाषसे॥ २५॥

हे महाराज! मैं अकेली दमयन्ती, इस घोर वन में तुमको बुला रही हूं, तुम मुझसे क्यों नहीं बोलते हो॥ २५॥

कुलशीलोपसम्पन्नं चारुसर्वाङ्गशोभनम्।
नाद्य त्वामनुपश्यामि गिरावस्मिन्नरोत्तम॥ २६॥

हे नरोत्तम! कुल और शीलसे सम्पन्न, सर्वाङ्ग सुन्दर, आपको मैं आज इस पर्वत में खोजने पर भी नहीं देख रही हूँ॥२६॥

वने चास्मिन्महाघोरे सिंहव्याघ्रनिषेविते।
शयानमुपविष्टं वा स्थितं वा निषधाधिप॥ २७॥
प्रस्थितं वा नरश्रेष्ठ मम शोकविवर्द्धन।
कं नु पृच्छामि दुःखार्त्ता त्वदर्थे शोककर्षिता॥२८॥

हे निषधाधिप! सिंह और व्याघ्रों से भरे हुए इस महा घोर वन में सोते, बैठते या खड़े हुए अथवा चलते हुए आपको किससे कैसे पूछूं। मैं तुम्हारे लिए शोक करती हुई, कृश हो चुकी हूं, परन्तु तुम मेरे शोक को बढ़ा ही रहे हो॥ २७-२८॥

कच्चिद्दृष्टस्त्वयारण्ये सङ्गत्येह नलोनृपः।
को नु मे वाथ प्रष्टव्यो वनेऽस्मिन् प्रस्थितं नलम्॥ २९॥

इस घोर वन में खोये हुए, राजा नल को किसी से मिल कर यह पूछूँ, कि क्या तुमने नल को देखा है ॥ २६॥

अभिरूपं महात्मानं परव्यूहविनाशनम् ।
यमन्वेषसि राजानं नलं पद्मनिभेक्षणम् ॥ ३० ॥
अयं स इति कस्याद्य श्रोष्यामि मधुरां गिरम् ।

सुन्दर, महात्मा, शत्रु की सेना के विजयी, कमल-लोचन जिस नल को तुम खोजती हो-वह यह है-मैं इस प्रकार की मधुर वाणी आज किसके मुख से सुनूं ॥ ३० ॥

अरण्यराडयं श्रीमांश्चतुर्दंष्ट्रो महाहनुः ॥ ३१ ॥
शार्दूलोऽभिमुखोऽभ्येति व्रजाम्येनमशङ्किता ।

यह चार दांतों वाला वनराज, बड़े भारी मुख का धारक, सिंह, इधर ही आ रहा है। मैं शंका-रहित होकर इसके ही पास जाती हूं ॥ ३१ ॥

भवान् मृगाणामधिपस्त्वमस्मिन् कानने प्रभुः ॥ ३२ ॥
विदर्भराजतनयां दमयन्तीति विद्धि माम् ।
निषधाधिपतेर्भार्य्यां नलस्यामित्रघातिनः ॥ ३३ ॥
पतिमन्वेषतीमेकां कृपणां शोककर्षिताम् ।
आश्वासय मृगेन्द्रेह यदि दृष्टस्त्वया नलः ॥ ३४ ॥

हे मृगराज ! तुम मृगों के और इस वन के स्वामी हो। मैं विदर्भराज की पुत्री दमयन्ती शत्रु-विजयी, निषध देश के राजा नल की भार्या हूँ। हे मृगेन्द्र ! मैं अपने पति को खोज रही हूँ।

यदि तूने कहीं राजा नल देखा है, तो शोक से व्याकुल, मुझ दीन को उसका पता बता कर तसल्ली दे ॥ ३२-३४ ॥

अथ वा त्वं वनपते नलं यदि न शंससि ।
मां खादय मृगश्रेष्ठ दुःखादस्माद्विमोचय ॥ ३५ ॥

हे वनराज ! मृगश्रेष्ठ ! यदि तू नल का पता नहीं बताता है, तो मुझे ही भक्षण कर जा और इस दुःख से छुड़ा दे ॥३५॥

श्रुत्वारण्ये विलपतीं न मामाश्वासयत्ययम् ।
यामीमां स्वादुसलिलामापगां सागरङ्गमाम् ॥ ३६ ॥

इस वन में विलाप करती हुई सुन कर भी यह मुझे कुछ भी अश्वासन नहीं देता है । अब मैं इस मीठे जल वाली समुद्र-गामिनी नदी के पास जाती हूं ॥ ३६ ॥

इमं शिलोच्चयं पुण्यं शृङ्गैर्बहुभिरुच्छ्रितम् ।
विराजद्भिरिवानेकैर्नैकवर्णैर्मनोरमैः ॥ ३७ ॥
नानाधातुसमाकीर्णं विविधोपलभूषितम् ।
अस्यारण्यस्य महतः केतुभूतमिवोत्थितम् ॥ ३८ ॥
सिंहशार्दूलमातङ्गवराहर्क्षमृगायुतम् ।
पतत्रिभिर्बहुविधैः समन्तादनुनादितम् ॥ ३९ ॥
किंशुकाशोकबकुलपुन्नागैरुपशोभितम् ।
कर्णिकारधवप्लक्षैः सुपुष्पैरुपशोभितम् ॥ ४० ॥
सरिद्भिः सविहङ्गाभिः शिखरैश्च समाकुलम् ।
गिरिराजमिमं तावत् पृच्छामि नृपतिं प्रति ॥ ४१ ॥

इनके सिवा बड़े २ सुन्दर, अनेकवर्ण के शिखरों से उन्नत, अनेक धातुओं से व्याप्त, नाना प्रकार के पत्थरों से सुशोभित, इस वन में राजा के समान, सिंह, शार्दूल, मातङ्ग, वराह रीछ और मृगों से युक्त, अनेक भांति के पक्षियों के शब्दों से शब्दायमान, किंशुक (ढाक) अशोक, बकुल, पुन्नाग के वृक्षों से सुशोभित, कनेर, धव और पिलखन के पुष्पों से सुन्दर, पक्षियों सहित नदियों से तथा चोटियों से भरे हुए इस पवित्र गिरिराज पर्वत के पास जाती हूं और इस से राजा के विषय में पूछती हूं।

भगवन्नचलश्रेष्ठ दिव्यदर्शन विश्रुत ।
शरण्य बहुकल्याण नमस्तेऽस्तु महीधर ॥ ४२ ॥

हे अचल-श्रेष्ठ ! दिव्य-दर्शन-धारी, प्रसिद्ध, शरणागत-वत्सल अनेक-कल्याण-कारी ! पर्वत-राज ! आपको नमस्कार है ॥४२ ॥

प्रणमे त्वाभिगम्याहं राजपुत्रीं निबोध माम् ।
राज्ञः स्नुषां राजभार्य्यां दमयन्तीति विश्रुताम् ॥ ४३ ॥

मैं तेरे पास आकर तुझे प्रणाम करती हूं । मैं राजा की पुत्री, राजा की पुत्रवधू और राजा की ही भार्या हूं । मेरा नाम दमयन्ती प्रसिद्ध है ॥ ४३ ॥

राजा विदर्भाधिपतिः पिता मम महारथः ।
भीमो नाम क्षितिपतिश्चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता ॥ ४४ ॥

विदर्भ देश का अधिपति, महारथी भीम, मेरा पिता है, जो राजा,चारों वर्णों का समान रूप से प्रतिपालक है ॥ ४४ ॥

राजसूयाश्वमेधानां क्रतूनां दक्षिणावताम् ।
आहर्त्ता पार्थिवश्रेष्ठः पृथुचार्वञ्चितेक्षणः ॥ ४५ ॥
ब्रह्मण्यः साधुवृत्तश्च सत्यवागनसूयकः ।
शीलवान् वीर्य्यसम्पन्नः पृथुश्रीर्धर्मविच्छुचिः ॥ ४६ ॥
सम्यग्गोप्ता विदर्भाणां निर्जितारिगणः प्रभुः ।
तस्य मां विद्धि तनयां भगवंस्त्वामुपस्थिताम् ॥ ४७ ॥

बड़ी २ दक्षिणा वाले राजसूय और अश्वमेध यज्ञ का करने वाला और मोटी तथा सुन्दर आंखों से मनोहर, ब्राह्मणों का सेवक, सदाचारी, सत्यवादी, अनिन्दक, शीलवान, पराक्रमी, ऐश्वर्य्य-सम्पन्न, धर्मात्मा और पवित्र, विदर्भदेश का सब प्रकार से रक्षक, शत्रु-विजयी, शक्तिशाली राजा भीम की पुत्री हूं। हे भगवन्! आज मैं तुम्हारे पास आई हूं ॥ ४५-४७॥

निषधेषु महाराज श्वशुरो मे नरोत्तमः ।
गृहीतनामा विख्यातो वीरसेन इति स्म ह ॥ ४८ ॥

हे महाराज! निषध देशमें नरश्रेष्ठ, मेरे श्वसुर थे, जो वीरसेन के नाम से विख्यात थे ॥ ४८ ॥

तस्य राज्ञः सुतो वीरः श्रीमान् सत्यपराक्रमः ।
क्रमप्राप्तं पितुः स्वं यो राज्यं समनुशास्ति ह ॥ ४९ ॥
नलो नामारिहा श्यामः पुण्यश्लोक इतिश्रुतः ।
ब्रह्मण्यो वेदविद्वाग्मी पुण्यकृत् सोमपोऽग्निमान् ॥ ५० ॥

उसी राजा का वीर पुत्र, सच्चा पराक्रमी शत्रु-विजयी, श्रीमान् नल है, जो अपने पिता पितामहों से प्राप्त अपने राज्य का शासन करता था। जो वर्ण का श्याम और पुण्यश्लोक-नाम से प्रसिद्ध हो चुका है। यह ब्राह्मणों का पालक, वेद का ज्ञाता बोलने वाला, पुण्यात्मा, यज्ञकर्ता, अग्निहोत्रकर्ता या अग्नि के तुल्य तेजस्वी है ॥४९-५०॥

यष्टा दाता च योद्धा च सम्यक् चैव प्रशासिता।
तस्य मामबलां श्रेष्ठां विद्धि भार्य्यामिहागताम् ॥ ५१ ॥

यह उत्तमरीति से यज्ञ करने वाला, दानी, योद्धा और उत्तम शासक है। उसकी मैं प्रिय भार्या हूं, जो आज तेरे पास आई हूं

त्यक्तश्रियं भर्तृहीनामनाथां व्यसनान्विताम्।
अन्वेषमाणां भर्त्तारं त्वं मां पर्वतसत्तम ॥५२॥

हे पर्वत-श्रेष्ठ! मैं अपनी राज्यलक्ष्मी और पति से हीन, अनाथ, विपत्ति-ग्रस्त, अपने भर्ता को खोजती हुई तेरे पास आई हूं, तुम्हें यह जान लेना चाहिए॥ ५२

समुल्लिखद्भिरेतैर्हि त्वया शृङ्गशतैर्नृपः।
कच्चिद् दृष्टोऽचलश्रेष्ठ वनेऽस्मिन्दारुणे नलः ॥५३॥

हे अचल-श्रेष्ठ! तुम अपने ऊंचे २ शिखरों से आकाश को चूम रहे हो। क्या तुमने इस दारुण वन में कहीं राजा नल देखा है? ॥ ५३ ॥

गजेन्द्रविक्रमो धीमान् दीर्घबाहुरमर्षणः ।
विक्रान्तः सत्ववान् वीरो भर्त्ता मम महायशाः ॥५४॥
निषधानामधिपतिः कच्चिद् दृष्टस्त्वया नलः ।

हाथी के समान बली, दीर्घबाहु, बुद्धिमान्, तेजस्वी, पराक्रमी, मनस्वी, वीर, महा-यशस्वी मेरा पति है। यह निषध-देश का स्वामी है। क्या उस राजा नल को तुमने कहीं देखा है ? ॥

किं मां विलपतीमेकां पर्वतश्रेष्ठ विह्वलाम् ॥५५॥
गिरा नाश्वासयस्यद्य स्वसुतामिव दुःखिताम् ।

पर्वत-श्रेष्ठ ! विलाप करती हुई, अपनी पुत्री के समान दुःखी, मुझ अकेली को तुम अपनी वाणी से भी क्यों नहीं धैर्य बँधाते हो ॥ ५५ ॥

वीर विक्रान्त धर्मज्ञ सत्यसन्ध महीपते ॥५६॥
यद्यस्मिन् वने राजन् दर्शयात्मानमात्मना ।

हे वीर ! पराक्रमी ! धर्मज्ञ, सत्य-प्रतिज्ञ, महीपते ! जो तुम इस वन में हो, तो अपने आप प्रकट हो जाओ ॥५६॥

कदा सुस्निग्धगम्भीरां जीमूतस्वनसन्निभाम् ॥५७॥
श्रोष्यामि नैषधस्याहं वाचंताममृतोपमाम् ।
वैदर्भीत्येवं विस्पष्टां शुभां राज्ञो महात्मनः ॥५८॥
आम्नायसारिणीमृद्धां मम शोकविनाशिनीम् ।
भीतामाश्वासय च मां नृपते धर्म्मवत्सल ॥५९॥

महाराजा नल की सुन्दर और गम्भीर, मेघ के समान स्वर वाली, अमृत तुल्य, ऐश्वर्यशाली, वेद के तुल्य सार वाली, मेरे शोक की नाशक, स्पष्ट वाणी को मैं दमयन्ती, कब सुनूंगी। हे नृपते ! धर्मवत्सल ! आओ, मुझ डरा हुई सहचरी को तसल्ली दो ॥ ५८-५६ ॥

इति सा तं गिरिश्रेष्ठमुक्त्वा पार्थिवनन्दिनी ।
दमयन्ती ततो भूयो जगाम दिशमुत्तराम् ॥६०॥

इस प्रकार वह राज-पुत्री दमयन्ती, इस पर्वत-राज से कह-कर फिर उत्तर दिशा को चल दी ॥६०॥

सा गत्वा त्रीनहोरात्रान् ददर्श परमाङ्गना ।
तापसारण्यमतुलं दिव्यकाननशोभितम् ॥६१॥
वशिष्ठभृग्वत्रिसमैस्तापसैरुपशोभितम् ।
नियतैः संयताहारैर्दमशौचसमन्वितैः ॥६२॥
अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च पर्णाहारैस्तथैव च ।
जितेन्द्रियैर्महाभागैः स्वर्गमार्गं दिदृक्षुभिः ।
वल्कलाजिनसंवीतैर्मुनिभिः संयतेन्द्रियैः ॥६३॥

जब यह तीन दिन रात तक चली गई, तो इस सुन्दरी ने दिव्य वनों से सुशोभित, वसिष्ठ, भृगु, अत्रि के समान, नियम-शील, नियत आहार करने वाले, दम और शौच से समन्वित, जल, पत्ते और वायु का आहार करने वाले, जितेन्द्रिय, स्वर्ग के

मार्ग के उपासक, वल्कल मृग-चर्म धारण किये हुए, इन्द्रियों के विषयों में संयमी, तपस्वियों से सुशोभित, एक अद्भुत तपोवन देखा ॥६१-६३॥

तापसाध्युषितं रम्यं ददर्शाश्रममण्डलम् ।
नानामृगगणैर्जुष्टं नानामृगगणायुतम् ॥६४॥

यह आश्रम, अनेक तपस्वियों के अनेक प्रकार के आश्रमों से मनोहर प्रतीत होता था, जो अनेक भांति के जीवों से व्याप्त और अनेक भांति के हिरणों से भरा था ॥६३॥

तापसैः समुपेतञ्च सा दृष्ट्वैव समाश्वसत् ।
सुभ्रूः सुकेशी सुश्रोणी सकुचा सुद्विजानना ॥६५॥
वर्चस्विनी सुप्रतिष्ठा स्वसितायतलोचना ।
सा विवेशाश्रमपदं वीरसेनसुतप्रिया ॥६६॥

तपस्वियों से भरे हुए, इस आश्रम के देखते ही दमयन्ती को सन्तोष सा हो गया। सुन्दर भौंहें, केश और नितम्बों वाली, सुन्दर कुच, दांत और मुख से सुशोभित, तेजस्विनी, सुन्दरता से खड़ी होने वाली, श्यामवर्ण के विशाल नेत्रों से युक्त, राजा नल की पत्नी दमयन्ती ने उस तपोवन में प्रवेश किया ॥६५-६६॥

योषिद्रत्नं महाभागा दमयन्ती तपस्विनी ।
साभिवाद्य तपोवृद्धान् विनयावनता स्थिता ॥६७॥

यह कृश, मनोहर, दमयन्ती स्त्री जाति में रत्न है। इसने उन तपस्वियों को प्रणाम किया और वह विनय के साथ खड़ी हो गई ॥६७॥

स्वागतन्तु इति प्रोक्ता तैः सर्वैस्तापसैश्च सा ।
पूजाञ्चास्या यथान्यायं कृत्वा तत्र तपोधनाः ॥६८॥
आस्यतामित्यथोचुस्ते ब्रूहि किं करवामहे ।

इन तपस्वियों ने इसका स्वागत और न्यायानुसार सत्कार किया। इन्होंने कहा—बैठो, कहो, हम तुम्हारी क्या सेवा करें।

तानुवाच वरारोहा कच्चिद्भगवतामिह ॥६९॥
तपस्यग्निषु धर्मेषु मृगपक्षिषु चानघाः ।
कुशलं वो महाभागाः स्वधर्माचरणेषु च ॥७०॥

इनसे सुन्दरी दमयन्ती बोली—हे महानुभावों! आप लोगों के तप, अग्नि-होत्र, धर्म तथा मृग पक्षियों में कुशल तो है, एवं तुम्हारा धर्माचरण ठीक तो होता रहता है ॥६९-७०॥

तैरुक्ता कुशलं भद्रे सर्वत्रेति यशस्विनि ।
ब्रूहि सर्वानवद्याङ्गि का त्वं किञ्च चिकीर्षसि ॥७१॥

उन ऋषियों ने कहा—हे भद्रे! सब कुछ आनन्द है। हे सर्वाङ्ग-सुन्दरि! यशस्विनी! कहो, तुम क्या चाहती हो? ॥७१॥

दृष्ट्वैव ते परं रूपं द्युतिश्च परमामिह ।
विस्मयो नः समुत्पन्नः समाश्वसिहि मा शुचः ॥७२॥

हे सुन्दरि! तेरा यह अद्भुत रूप और उत्तम कान्ति को देख कर हमको अचम्भा हो रहा है, तुम धैर्य धारण करो, चिन्ता को छोड़ दो ॥ ७२ ॥

अस्यारण्यस्य देवी त्वमुताहोऽस्य महीभृतः ।
अस्याश्च नद्याः कल्याणि वद सत्यमनिन्दिते ॥७३॥

तुम इस वन की देवी हो या इस पर्वत की अथवा इस नदी की अधिष्ठात्री देवी हो। हे अनिन्दिते ! सत्य बताओ ॥७३॥

साब्रवीत्तानृषीन्नाहमरण्यस्यास्य देवता ।
न चाप्यस्य गिरेर्विप्रा नैव नद्याश्च देवता ॥७४॥

वह इन ऋषियों से बोली, कि न तो मैं इस वन की देवता हूं और न इस पर्वत की तथा न इस नदी की अधिष्ठात्री देवी हूं।

मानुषीं मां विजानीत यूयं सर्वे तपोधनाः ।
विस्तरेणाभिधास्यामि तन्मे शृणुत सर्वशः ॥७५॥

हे तपस्वियों ! मैं तो एक मनुष्य हूं, तुम यह निश्चय समझो। मैं अब विस्तार से कहती हूं, तुम ध्यान से सुनो ॥७५

विदर्भेषु महीपालो भीमो नाम महीपतिः ।
तस्य मां तनयां सर्वे जानीत द्विजसत्तमाः ॥७६॥

हे ऋषियों ! विदर्भ-देश का भीम नाम का राजा है। मै उसी राजा की पुत्री हूं, यह तुम सब जान लो ॥७६॥

निषधाधिपतिर्धीमान्नलो नाम महायशाः ।
वीरः सङ्ग्रामजिद्विद्वान्मम भर्त्ता विशाम्पतिः ॥७७॥

निषध-देश का स्वामी, बुद्धिमान् नल नाम का एक महा-यशस्वी राजा है। जो वीर, संग्रामों को विजयी, विद्वान् और मेरा पति है ॥७७॥

देवताभ्यर्च्चनपरो द्विजातिजनवत्सलः ।
गोप्ता निषधवंशस्य महातेजा महाबलः ॥७८॥

यह राजा, देवों का पूजक, ब्राह्मणों का पालक, निषधवंश का रक्षक, महा-तेजस्वी और महाबली है ॥७८॥

सत्यवान् धर्मवित् प्राज्ञः सत्यसन्धोऽरिमर्दनः ।
ब्रह्मण्यो दैवतपरः श्रीमान् परपुरञ्जयः ॥७९॥

यह सत्य-परायण, धर्मात्मा, बुद्धिमान, सच्ची-प्रतिज्ञा-वाला, शत्रु-विजयी, ब्राह्मणों का सेवक, ईश्वर भक्त, श्रीमान और शत्रुओं के नगरों का विजेता है ॥७९॥

नलो नाम नृपश्रेष्ठो देवराजसमद्युतिः ।
मम भर्त्ता विशालाक्षः पूर्णेन्दुवदनोऽरिहा ॥८०॥

इसका नाम नल है, जो इन्द्र के समान कान्तिधारी है। शत्रु-विजयी, विशाल-नेत्र-धारी, पूर्ण-चन्द्र के तुल्य मुख वाला, वही राजा मेरा पति है ॥८०॥

आहर्त्ता क्रतुमुख्यानां वेदवेदाङ्गपारगः ।
सपत्नानां मृधे हन्ता रविसोमसमप्रभः ॥८१॥

इसने अनेक उत्तम २ यज्ञ कर लिए हैं और यह वेद तथा वेदाङ्ग का जानने वाला है। यह युद्ध में शत्रुओं का नाशक तथा सूर्य, और चन्द्र के समान कान्तिधारी है ॥८१॥

स कैश्चिन्निकृतिप्रज्ञैरनार्य्यैरकृतात्मभिः ।
आहूय पृथिवीपालः सत्यधर्मपरायणः ॥८२॥
देवने कुशलैर्जिह्मैर्जितो राज्यं वसूनि च ।

तस्य मामवगच्छध्वं भार्य्यां राजर्षभस्य वै ॥८२॥
दमयन्तीति विख्यातां भर्त्तुर्दर्शनलालसाम् ।

इस सत्यपरायण राजा का कुछ छली अनार्य, दुष्ट, जुआ खेलने में कुशल, पुरुषों ने बुलाकर इससे राज्य और धन जीत लिया। मैं उसी राजर्षि की धर्म पत्नी हूं। मेरा नाम दमयन्ती है और अपने भर्ता के दर्शनों की लालसा में फिरती हूं ॥८२-८३॥

सा वनानि गिरींश्चैव सरांसि सरितस्तथा ॥८४॥
पल्वलानि च सर्वाणि तथारण्यानि सर्वशः ।
अन्वेषमाणा भर्त्तारं नलं रणविशारदम् ॥८५॥
महात्मानं कृतास्त्रञ्च विचरामीह दुःखिता ।

मैं, वन, पर्वत, सरोवर, नदी, वन की सारी तलाइयों में, रण-कुशल, अस्त्र विद्या के ज्ञाता, महात्मा नल, अपने पति को दुःख के साथ खोजती फिरती हूँ ॥८४-८५॥

कच्चिद्भगवतां रम्यं तपोवनमिदं नृप ॥८६॥
भवेत् प्राप्तो नलो नाम निषधानां जनाधिपः ।

क्या तुम्हारे इस रमणीक तपोवन में निषध देश का अधिपति राजा नल आया है ॥८६॥

यत्कृतेऽहमिदं ब्रह्मन् प्रपन्ना भृशदारुणम् ॥ ८७ ॥
वनं प्रतिभयं घोरं शार्दूलमृगसेवितम् ।

हे ब्रह्मन् ! मैं राजा नल की प्राप्ति के लिए ही इस अत्यन्त दारुण, सिंह, व्याघ्रों से सेवित, इस भयानक वन में आई हूं ।

यदि कैश्चिदहोरात्रैर्न द्रक्ष्यामि नलं नृपम् ॥ ८८ ॥
आत्मानं श्रेयसा योक्ष्ये देहस्यास्य विमोचनात् ।

यदि मैंने कुछ दिन तक और भी राजा नलका पता न पाया, तो मैं इस शरीर को छोड़ कर अपने आप को सुखी बना लूंगी ॥ ८८ ॥

को नु मे जीवितेनार्थस्तमृते पुरुषर्षभम् ॥ ८९ ॥
कथं भविष्याम्यद्याहं भर्तृशोकाभिपीडिता ।

इस पुरुष रत्न के विना अब मुझे जीवन से क्या प्रयोजन है। अपने भर्ता के शोक से क्लेशित रह कर मैं जीवन धारण ही कैसे कर सकती हूं ॥ ८९ ॥

तथा विलपतीमेकामरण्ये भीमनन्दिनीम् ॥ ९० ॥
दमयन्तीमथोचुस्ते तापसाः सत्यदर्शिनः ।

इस प्रकार वन में विलाप करती हुई दमयन्ती से सत्यवादी, तपस्वी कहने लगे ॥ ९० ॥

उदर्कस्तव कल्याणि कल्याणो भविता शुभे ॥ ९१ ॥
वयं पश्याम तपसा क्षिप्रं द्रक्ष्यसि नैषधम् ।

हे कल्याणि ! तुझे भविष्य में बड़ा भारी कल्याण प्राप्त होगा । तू शीघ्र ही निषधराज नल से भेंट करेगी, यह सब कुछ हमने तप से देख लिया है ॥ ९१ ॥

निषधानामधिपतिं नलं रिपुनिपातिनम् ॥ ९२ ॥
भैमि धर्मभृतां श्रेष्ठं द्रक्ष्यसे विगतज्वरम् ।
विमुक्तं सर्वपापेभ्यः सर्वरत्नसमन्वितम् ॥ ९३ ॥
तदेव नगरं श्रेष्ठं प्रशासन्तमरिन्दमम् ।
द्विषतां भयकर्त्तारं सुहृदां शोकनाशनम् ॥ ९४ ॥
पतिं द्रक्ष्यसि कल्याणि कल्याणाभिजनं नृपम् ।

हे दमयन्ती ! शोक-रहित, धर्मात्माओं में उत्तम, क्लेशों से मुक्त, सब प्रकार के रत्नों से युक्त, अपनी राजधानी में राज्य करते हुए, अरि-नाशक, शत्रुओं को भय कारी, मित्रों के शोक का नाशक, उत्तम सेवकों सहित, अपने पति राजा नल को शीघ्र ही देखेगी ॥ ९२-९४

एवमुक्त्वा नलस्येष्टां महिषीं पार्थिवात्मजाम् ॥ ९५ ॥
तापसान्तर्हिताः सर्वे साग्निहोत्राश्रमास्तथा ।

इस प्रकार नल की प्रिय-पत्नी दमयन्ती से कह कर सारे तपस्वी, अपने २ अग्निहोत्र और आश्रमों के साथ अलक्षित हो गए ॥ ९५ ॥

सा दृष्ट्वा महदाश्चर्यं विस्मिता ह्यभवत्तदा ॥९६॥
दमयन्त्यनवद्याङ्गी वीरसेननृपस्नुषा ।

सुन्दर अङ्गों वाली, राजा वीरसेन की पुत्रवधू, दमयन्ती, इस आश्चर्य जनक घटना को देख कर बड़ी विस्मित हुई ॥९६॥

किं नु स्वप्नो मया दृष्टः कोऽयं विधिरिहाभवत् ।९७।

क्व नु ते तापसाः सर्वे क्व तदाश्रममण्डलम् ।

क्व सा पुण्यजला रम्या नदी द्विजनिषेविता ॥ ९८ ॥

क्या यह मैंने कोई स्वप्न देखा है ? यह क्या घटना हुई । वे सारे तपस्वी कहां गये और वह आश्रमों का समूह भी कहां लुप्त हो गया ! ब्राह्मणों से सेवित वह पवित्र जल-वाली-नदी भी कहां चली गई ॥ ९७-९८ ॥

ध्यात्वा चिरं भीमसुता दमयन्ती शुचिस्मिता ।

भर्तृशोकपरा दीना विवर्णवदनाभवत् ॥ ९९ ॥

इस प्रकार राजा भीम की पुत्री, सुन्दरी दमयन्ती, बहुत देर तक विचार करके अपने भर्ता राजा नल की चिन्ता में डूब सी-गई और इस विचारी का रंग फीका पड़ गया ॥ ९९ ॥

सा गत्वाथ परां भूमिं बाष्पसन्दिग्धया गिरा ।

विललापाश्रुपूर्णाक्षी दृष्ट्वाशोकतरुन्ततः ॥ १०० ॥

यह इस समय शोक की पराकाष्ठा को पहुंच चुकी थी । इसने अब एक अशोक का वृक्ष देखा । इसको देख कर आंसुओं से पूर्ण नेत्र वाली, यह दमयन्ती गद्गद वाणी से विलाप करने लगी ॥ १०० ॥

उपगम्य तरुश्रेष्ठमशोकं पुष्पितं वने ।

पल्लवापीडितं हृद्यं विहङ्गैरनुनादितम् ॥ १०१ ॥

यह, वन में पुष्प और पल्लवों से लदे हुए तथा पक्षियों से शब्दायमान, मनोहर, अशोक वृक्ष के पास पहुंची और बोली ॥ १०१ ॥

अहो बतायमगमः श्रीमानस्मिन् वनान्तरे ।
आपीडैर्बहुभिर्भाति श्रीमान् पर्वतराडिव ॥ १०२ ॥

इस वन में यह वृक्ष बड़ा अगम है। यह पुष्पों के भार और अनेक शिखरों से पर्वत के तुल्य सुशोभित हो रहा है ॥ १०२ ॥

विशोका कुरु मां क्षिप्रमशोक प्रियदर्शन ।
वीतशोकभयाबाधं कच्चित्त्वं दृष्टवान्नलम् ॥ १०३ ॥

हे सुन्दर ! अशोक ! तू मुझे भी शोक रहित कर। क्या तूने शोक और भय की बाधा से शून्य राजा नल को देखा है ॥१०३

नलं नामारिदमनं दमयन्त्याः प्रियं पतिम् ।
निषधानामधिपतिं दृष्टवानसि मे प्रियम् ॥ १०४ ॥

हे अशोक ! अरियों के दमन करने वाले, निषेधदेश के स्वामी, मुझ दमयन्ती के प्रिय पति, राजा नल को क्या तुमने कहीं देखा है ॥ १०४ ॥

एकवस्त्रार्द्धसंवीतं सुकुमारतनुत्वचम् ।
व्यसनेनार्दितं वीरमरण्यमिदमागतम् ॥ १०५ ॥

इसने एक वस्त्र का आधा भाग पहन रखा है; इसके शरीर की त्वचा बड़ी कोमल है और यह वीर, विपत्ति से आक्रान्त हो कर इस वन में आया है ॥ १०५ ॥

यथा विशोका गच्छेयमशोक नग तत् कुरु ।
सत्यनामा भवाशोक अशोकः शोकनाशनः ॥ १०६ ॥

हे अशोक! वृक्षराज! मैं जिस भांति शोक-रहित हो सकूं, तू वैसा ही कर। अशोक तो शोक के नाश करने वाले को कहते हैं, इस से तू अपने नाम को सत्य सिद्ध कर ॥ १०६ ॥

एवं साशोकवृक्षान्तमार्त्ता वै परिगम्य ह।
जगाम दारुणतरं देशं भैमी वराङ्गना ॥ १०७ ॥

अत्यन्त क्लेश में निमग्न, सुन्दरी दमयन्ती, उस अशोक वृक्ष के पास जाकर एक दुर्गम प्रदेश में फंस गई॥ १०७ ॥

सा ददर्श नगान्नैकान्नैकाश्च सरितस्तथा।
नैकांश्च पर्वतान् रम्यान् नैकाँश्च मृगपक्षिणः ॥१०८॥

यहां इसने अनेक वृक्ष, नदी, पर्वत, और अनेक जाति के मृग तथा पक्षी देखे ॥१०८॥

कन्दरांश्च नितम्बांश्च नदीश्चाद्भुतदर्शनाः।
ददर्श सा भीमसुता पतिमन्वेषती तदा ॥ १०९ ॥

अपने पति नल को खोजती हुई भीम पुत्री दमयन्ती ने, गुफा, पर्वत के उन्नत प्रदेश तथा अद्भुत २ नदियां देखी॥१०९॥

गत्वा प्रकृष्टमध्वानं दमयन्ती शुचिस्मिता।
ददर्शाथ महासार्थं हस्त्यश्वरथसंकुलम् ॥ ११० ॥
उत्तरन्तं नदीं रम्यां प्रसन्नसलिलां शुभाम्।
सुशान्ततोयां विस्तीर्णां ह्रदिनीं वेतसैर्वृताम् ॥ १११ ॥

सुन्दरता से हंसने वाली, दमयन्ती एक छोटी सी पगडण्डी पर पहुंची और वहां उसने हाथी, घोड़े और रथ से संकीर्ण,

एक बड़े भारी साथ को देखा, जो स्वच्छ और शान्त जल वाली, बेल के वृक्षों से घिरी हुई, बड़े २ सरोवर बना देने वाली, विशाल नदी को उतर रहा था ॥ १००-१११ ॥

प्रोद्घुष्टां क्रौञ्चकुररैश्चक्रवाकोपकूजिताम् ।
कूर्मग्राहझषाकीर्णां विपुलद्वीपशोभिताम् ॥ ११२ ॥

इस नदी पर हंस, कुरर, चक्रवाक आदि पक्षी शब्द कर रहे थे। यह कछुवे, ग्राह, मछली आदि जल जन्तुओं से भरी हुई और अनेक द्वीपों से सुशोभित थी ॥११२॥

सा दृष्ट्वैव महासार्थं नलपत्नी यशस्विनी ।
उपसर्प्य वरारोहा जनमध्यं विवेश ह ॥ ११३ ॥

यशस्विनी नल की पत्नी दमयन्ती, इस बड़े भारी साथ को देख कर इसके पास पहुंची और इन मनुष्यों के मध्य में घुस गई ॥ ११३ ॥

उन्मत्तरूपा शोकार्त्ता तथा वस्त्रार्द्धसंवृता ।
कृशा विवर्णा मलिना पांशुध्वस्तशिरोरुहा ॥ ११४ ॥

यह शोक से व्याकुल और पागल सी हो रही थी। इसने आधा वस्त्र पहन रखा था। यह दुर्बल, मलिन तथा रंग से फीकी पड़ी हुई थी और इसके सारे बालों में मिट्टी छा रही थीं ॥ ११४ ॥

तां दृष्ट्वा तत्र मनुजाः केचिद्भीताः प्रदुद्रुवुः ।
केचिच्चिन्तां परां जग्मुः केचित्तत्र विचुक्रुशुः ॥११५॥

इसको देखकर कुछ मनुष्य तो डर कर भाग गए और कुछ चिन्ता करने लगे तथा कुछ तो चिल्लाने लग गए॥ ११५ ॥

प्रहसन्ति स्म तां केचिदभ्यसूयन्ति चापरे ।
अकुर्वत दयां केचित् पप्रच्छुश्चापि भारत ॥ ११६ ॥

हे भारत ! कोई इसको हंसी और कोई निन्दा करने लगे, तथा किसी ने दया करके उसका वृतान्त पूछा ॥ ११६ ॥

कासि कस्यासि कल्याणि किं वा मृगयसे वने ।
त्वां दृष्ट्वा व्यथिताः स्मेह कच्चित्त्वमसि मानुषी ॥

हे कल्याणि ! तू कौन है और किस को पुत्री या पुत्र-वधू है एवं इस वन में किसको खोज रही है । हम तुझे देख कर बड़े दुःखी हुए हैं, क्या तुम सचमुच ! मनुष्य हो ॥ ११७ ॥

वद सत्यं वनस्यास्य पर्वतस्याथ वा दिशः ।
देवता त्वं हि कल्याणि त्वां वयं शरणं गताः ॥११८॥

हे कल्याणि ! तुम इस वन पर्वत या दिशा की देवी तो नहीं हो, हमको सत्य २ बताओ । हम तुम्हारी शरण में प्राप्त हुए हैं ।

यक्षी वा राक्षसी वा त्वं उताहोऽसि वराङ्गना ।
सर्वथा कुरु नः स्वस्ति रक्ष चास्माननिन्दिते ॥११६॥

हे अनिन्दिते ! तुम कोई यक्षी, राक्षसी या अप्सरा हो । तुम हमारा कल्याण और रक्षा करो ॥ ११६ ॥

यथायं सर्वथा सार्थः क्षेमी शीघ्रमितो व्रजेत् ।
तथा विधत्स्व कल्याणि यथा श्रेयो हि नो भवेत् ॥१२०॥

हे कल्याणि ! जिस तरह यह संघ, कल्याण सहित इस वन से बाहर निकल जावे और हमारा कल्याण हो, तुम वैसी ही कृपा करो ॥ १२० ॥

तथोक्ता तेन सार्थेन दमयन्ती नृपात्मजा ।
प्रत्युवाच ततः साध्वी भर्तृव्यसनपीड़िता ॥१२१॥
सार्थवाहञ्च सार्थञ्च जना ये तत्र केचन ।
युवस्थविरबालाश्च सार्थस्य च पुरोगमाः ॥१२२॥

जब इस यूथ ने इस प्रकार कहा, तो अपने पति के शोक से आतुर, नृपसुता, साध्वी दमयन्ती, संघ के स्वामी, तथा संघ के वृद्ध, युवा और बालकों से इस प्रकार बोली ॥१२१-१२२॥

मानुषीं मां विजानीत मनुजाधिपतेः सुताम् ।
नृपस्नुषां राजभार्य्यां भर्तृदर्शनलालसाम् ॥१२३॥

हे पुरुषों ! मैं मनुष्य जाति में एक राजा की कन्या हूँ। इसी तरह राजा की पुत्र वधू और राजा की भार्या हूँ। मैं अपने पति के दर्शनों के लिए यहां आई है ॥ १२३ ॥

विदर्भराड् मम पिता भर्ता राजा च नैषधः ।
नलो नाम महाभागस्तं मार्गाम्यपराजितम् ॥१२४॥

मेरा पिता विदर्भ देश का राजा है और भर्ता निषध देश का स्वामी पूज्य राजा नल है। मैं उसी शत्रु विजयी को खोज रही हूँ ॥

यदि जानीत नृपतिं क्षिप्रं शंसत मे प्रियम् ।
नलं पुरुषशार्दूलममित्रगणसूदनम् ॥१२५॥

यदि तुम इस राजा को जानते हो, तो मुझसे बिछुड़े हुए मेरे प्रेमी, नरों में श्रेष्ठ और शत्रुओं के नाशक, राजा नल को बताओ ॥१२५॥

तामुवाचानवद्याङ्गीं सार्थस्य महतः प्रभुः ।
सार्थवाहः शुचिर्नाम शृणु कल्याणि मद्वचः ॥१२६॥

इस बड़े भारी साथ का स्वामी, शुचि नामक सार्थवाह, उस सुन्दरी दमयन्ती से बोला-हे कल्याणी ! तुम मेरा वचन सुनो ॥

अहं सार्थस्य नेता वै सार्थवाहः शुचिस्मिते ।
मनुष्यं नलनामानं न पश्यामि यशस्विनि ॥१२७॥
कुञ्जरद्वीपिमहिषशार्दूलर्क्षमृगानपि ।
पश्याम्यस्मिन् वने कृत्स्ने ह्यमनुष्यनिषेविते ॥१२८॥

हे शुचि-स्मिते ! मैं इस साथ का नेता और स्वामी हूँ । हे यशस्विनी ! मैंने तो कोई भी नल नाम का पुरुष नहीं देखा ॥

ऋते त्वां मानुषीं मर्त्यं न पश्यामि महावने ।
तथा नो यक्षराडद्य मणिभद्रः प्रसीदतु ॥१२९॥

मैंने इस निर्जन वन में हाथी, चीते, भैंसे, शार्दूल, रीछ और मृग तो देखे हैं, परन्तु तुझ स्त्री के सिवा अन्य कोई मनुष्य नहीं देखा । आज हम पर मणिभद्र यक्षराज कृपा करे ॥१२९॥

साब्रवीद्वणिजः सर्वान् सार्थवाहञ्च तं ततः ।
क नु यास्यति सार्थोऽयमेतदाख्यातुमर्हसि ॥१३०॥

इसके अनन्तर वह, सारे व्यापारी और सार्थवाह से कहने लगी, कि तुम यह बताओ-यह साथ कहां जा रहा है ॥१३०॥

सार्थवाह उवाच—

सार्थोऽयं चेदिराजस्य सुबाहोः सत्यदर्शिनः ।
क्षिप्रं जनपदं गन्ता लाभाय मनुजात्मजे ॥१३१॥

सार्थवाह ने कहा—हे राजकन्ये ! यह साथ, सत्यवादी, चेदिराज सुबाहु के देश में लाभ के लिये शीघ्र ही पहुंचने वाला है ॥१३१॥

इतिश्रारण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीविलापे चतुःषष्टोऽध्यायः ॥६४॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्व में दमयन्ती के विलाप का चौंसठवां अध्याय पूरा हुआ ।

पैंसठवां अध्याय

बृहदश्व उवाच—

सा तच्छ्रुत्वानवद्याङ्गी सार्थवाहवचस्तदा ।
जगाम सह तेनैव सार्थेन पतिलालसा ॥१॥

बृहदश्व ने कहा—हे राजन् ! सुन्दर अङ्गों-वाली-दमयन्ती, इस सार्थवाह के वचन सुनकर पति की लालसा से उसी साथ के साथ होली ॥ १ ॥

अथ काले बहुतिथे वने महति दारुणे ।
तडागं सर्वतोभद्रं पद्मसौगन्धिकं महत् ॥२॥

ददृशुर्वणिजो रम्यं प्रभूतयवसेन्धनम् ।
बहुपुष्पफलोपेतं नानापक्षिनिषेवितम् ॥३॥
निर्म्मलस्वादुसलिलं मनोहारि सुशीतलम् ।
सुपरिश्रान्तवाहास्ते निवेशाय मनो दधुः ॥४॥

कुछ समय के चले जाने पर इस दारुण महा-वन में उन व्योपारियों ने सब ओर से सुन्दर, कमलों की सुगन्धधारी, बहुत घास और इन्धन से युक्त, पुष्प और फलों सहित, अनेक पक्षियों से सुसेवित, निर्मल स्वादिष्ठ जल वाले, मनोहर, शीतल और सुन्दर एक सरोवर देखा । इन व्यापारी वैश्यों के वाहन थक चुके थे, इससे इन्होंने वहीं पड़ाव डालना चाहा ॥ ३-४

सम्मते सार्थवाहस्य विविशुर्वनमुत्तमम् ।
उवास सार्थः सुमहान् वेलामासाद्य पश्चिमाम् ॥५॥

इस उत्तम वन में सार्थवाहकी आज्ञा से सबने प्रवेश किया । यह महान् साथ, वन के पश्चिम भाग का आश्रय लेकर निवास करने लगा ॥ ५ ॥

अथार्द्धरात्रसमये निःशब्दस्तिमिते तदा ।
सुप्ते सार्थे परिश्रान्ते हस्तियूथमुपागमत् ॥६॥

जब आधी रात का सन्नाटा छागया और सारा साथ, थक कर सो गया, तब एक हाथियों का झुँड आया ॥ ६ ॥

पानीयार्थं गिरिनदीं मदप्रस्रवणाविलाम् ।
अथापश्यत् सार्थन्तं सार्थजान् सुबहून गजान् ॥७॥

यह हाथियों का झुंड नदी पर पानी पीने आया था। इसके मद से नदी का जल गदला होगया। इन हाथियों ने इस साथ (काफले) और साथ में मिले हुए अनेक हाथियों को देखा।

ते तान् ग्राम्यगजान् दृष्ट्वा सर्वे वनगजास्तदा।
समाद्रवन्त वेगेन जिघांसन्तो मदोत्कटाः ॥८॥

ये सारे मदोन्मत्त वन के हाथी, गांव के हाथियों को देखकर उनके मारने के लिए बड़े वेग से उनपर टूट पड़े ॥८॥

तेषामापततां वेगः करिणां दुःसहोऽभवत्।
नगाग्रादिव शीर्णानां शृङ्गाणां पततां क्षितौ ॥९॥

पर्वत की चोटी से पृथिवी पर गिरते हुए पर्वतों के शृङ्गों के तुल्य धावा करते हुए, उन हाथियों का वेग, बड़ा दुःसह हो गया ॥ ९ ॥

स्पन्दतामपि नागानां मार्गा नष्टा वनोद्भवाः।
मार्गं संरुध्य संसुप्तं पद्मिन्याः सार्थमुत्तमम् ॥१०॥

हाथियों के इधर उधर भागने से वन के सारे मार्ग नष्ट हो गए। मार्ग को रोक कर पद्मिनियों का समूह भी इधर उधर झुक गया ॥१०॥

ते तं ममर्दुः सहसा चेष्टमानं महीतले।
हाहाकारं प्रमुञ्चन्तः सार्थिकाः शरणार्थिनः ॥११॥

पृथिवी पर हिलते डुलते हुए उस पद्मिनी समूह को, रक्षा की खोज में हाय ! हाय ! करके भागने वाले सार्थ के मनुष्यों ने कुचल डाला ॥ ११ ॥

वनगुल्मांश्च धावन्तो निद्रान्धा महतो भयात् ।
केचिद्दन्तैः करैः केचित् केचित् पद्भ्यां हता गजैः ॥१२॥

निद्रा में डूबे हुए मनुष्य, बड़े भारी भय से वनकी झाड़ियों में छुप गए। हाथियों ने कुछ लोगों को दांतों, कुछ को सूंड और कुछ को पैरों से कुचल डाला ॥ १२ ॥

निहतोष्ट्राश्च बहुलाः पदातिजनसंकुलाः ।
भयादाधावमानाश्च परस्पर हतास्तदा ॥१३॥

उस समय अनेक उष्ट्र मारे गए और पैदल मनुष्य, इधर उधर मर गए तथा भय से इधर उधर भागते हुए मनुष्यों की एक दूसरे से टक्कर होने लगी ॥ १३ ॥

घोरान्नादान् विमुञ्चन्तो निपेतुर्धरणीतले ।
वृक्षेष्वारुह्य संरब्धाः पतिता विषमेषु च ॥१४॥

ये मनुष्य, चिल्ला २ कर पृथिवी पर गिर रहे थे । इन्होंने वृक्षों पर चढ़ना प्रारम्भ किया, परन्तु घबराकर बीच में ही विपत्ति के मुख में गिर गए ॥ १४ ॥

एवं प्रकारैर्बहुभिर्दैवेनाक्रम्य हस्तिभिः ।
राजन् विनिहतं सर्वं समृद्धं सार्थमण्डलम् ॥१५॥

हे राजन् ! भाग्य से आये हुए इस प्रकार अनेक हाथियों से वह सारा समृद्धिशाली साथ, एक साथ ही नष्ट भ्रष्ट सा होगया ॥

आरावः सुमहांश्चासीत्त्रैलोक्यभयकारकः ।
एषोऽग्निरुत्थितः कष्टस्त्रायध्वं धावताधुना ॥१६॥

त्रिलोकी में भय का उत्पादक, यह शब्द हो रहा था, कि यह भीषण अग्नि खड़ा हो गया है, कोई दौड़ो और हमारी रक्षा करो

रत्नराशिर्विशीर्णोऽयं गृह्णीध्वं किं प्रधावत ।
सामान्यमेतद् द्रविणं न मिथ्यावचनं मम ॥१७॥

यह रत्न की राशि बिखर गई है। इसको समेट लो। क्यों भागते हो ? यह धन सबका समान होगा-इसमें झूंठ न समझना ॥

एवमेवाभिभाषन्तो विद्रवन्ति भयात्तदा ।
पुनरेवाभिधास्यामि चिन्तयध्वं सकातराः ॥१८॥

इस प्रकार कहे हुए भी भय से सब भाग रहे हैं। हे मनुष्यो ! मैं फिर यही कहता हूँ, तुम घबराये हुए कुछ विचार तो करो ॥

तस्मिंस्तथा वर्त्तमाने दारुणे जनसंक्षये ।
दमयन्ती च बुबुधे भयसन्त्रस्तमानसा ॥१९॥

इस प्रकार जब यह मनुष्यों का दारुण विनाश हो रहा था, उस समय भय से व्याकुल मन वाली, दमयन्ती ने भी चेत किया ॥

अपश्यद्वैशसं तत्र सर्वलोकभयङ्करम् ।
अदृष्टपूर्वं तद् दृष्ट्वा बाला पद्मनिभेक्षणा ॥२०॥

इस सुन्दरी दमयन्ती ने यह सब लोकों में भय उत्पन्न करदेने वाला, विनाश देखा। कमल के तुल्य नेत्रों वाली, इस सुन्दरी ने ऐसा विनाश कभी नहीं देखा था। इसको देख कर इसका श्वास, मुख का मुख में रह गया और भय से विह्वल होकर खड़ी की खड़ी रह गई ॥ २० ॥

संसक्तवदनाश्वासा उत्रस्थौ भयविह्वला ।

ये तु तत्र विनिर्मुक्ताः सार्थात् केचिदविक्षताः ॥२१॥

जो उस साथ में बिना चोट के बच गये, वे सब इकट्ठे हो कर कहने लगे, कि यह किसके कर्मों का फल है, इसका कुछ पता नहीं चलता है ॥ २१ ॥

तेऽब्रुवन् सहिताः सर्वे कस्येदं कर्मणः फलम् ।

नूनं स पूजितोऽस्माभिर्मणिभद्रो महायशाः ॥२२॥

तथा यक्षाधिपाः श्रीमान्न वै वैश्रवणः प्रभुः ।

न पूजा विघ्नकर्तृणामथवा प्रथमं कृता ॥२३॥

हमने महायशस्वी, यक्षों के स्वामी, श्रीमन् मणिभद्र का पूजन तो कर दिया, परन्तु शक्तिशाली कुबेर का नहीं किया अथवा विघ्न करने वाले देवों की पूजा प्रथम नहीं की ॥२२-२३॥

शकुनानां फलं वाथ विपरीतमिदं ध्रुवम् ।

ग्रहा न विपरीतास्तु किमन्यदिदमागतम् ॥२४॥

आज तो शकुनों का भी विपरीत ही फल हुआ। ग्रह तो विपरीत नहीं थे, फिर भी यह विपत्ति कहां से टूट पड़ी ॥२४॥

अपरे त्वब्रुवन् दीना ज्ञातिद्रव्यविनाकृताः ।

यासावद्य महासार्थे नारी ह्युन्मत्तदर्शना ॥२५॥

प्रविष्टा विकृताकारा कृत्वा रूपममानुषम् ।

तयेयं विहिता पूर्वं माया परमदारुणा ॥२६॥

कुछ अपने बन्धु बान्धव और धन से हीन, दीन जन, कहने लगे, कि जो इस महान् साथ में आज पागल सी, भयानक आकार वाली स्त्री, अमानुषी रूप करके प्रविष्ट हुई है, इसी ने प्रथम यह अत्यन्त दारुण माया दिखाई है ॥ २५-२६ ॥

राक्षसी वा ध्रुवं यक्षी पिशाची वा भयङ्करी।
तस्याः सर्वमिदं पापं नात्र कार्य्या विचारणा ॥२७॥

यह या तो राक्षसी है या यक्षी एवं पिशाची है । इसी का यह सारा पाप है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ २७ ॥

यदि पश्याम तां पापां सार्थघ्नीं नैकदुःखदाम् ।
लोष्टुभिः पांशुभिश्चैव तृणैः काष्ठैश्च मुष्टिभिः ॥२८॥
अवश्यमेव हन्यामः सार्थस्य किलकृत्यकाम् ।

इस साथ का नाश करने वाली और अनेक दुःख देने वाली इस दुष्टा को कहीं देखलें, तो पत्थर, मिट्टी, तृण और काष्ठ से मार मार कर साथ (काफले) की इस डँकिनी का अवश्य ढेर कर दें ॥ २८ ॥

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा वाक्यं तेषां सुदारुणम् ॥२९॥
ह्रीता भीता च संविग्ना प्राद्रवद्यत्र काननम् ।
आशङ्कमाना तत्पापमात्मानं पर्यदेवयत् ॥३०॥

जब दमयन्ती ने उनके ये दारुण वचन सुने तो यह लज्जित, भय-भीत होकर ,घबराई हुई वन को भाग गई । इसने भी यह घटना अपने ही पाप का फल समझा, जिससे इसको बड़ा खेद हुआ ॥ २९-३० ॥

अहो ममोपरि विधेः संरम्भो दारुणो महान् ।
नानुबध्नाति कुशलं कस्येदं कर्मणः फलम् ॥३१॥

मेरे ऊपर विधाता का बड़ा दारुण कोप है, जो किसी भी प्रकार की कुशल नहीं होने देता है। यह किसके कर्म का फल है ॥ ३१ ॥

न स्मराम्यशुभं किञ्चित् कृतं कस्यचिदण्वपि ।
कर्मणा मनसा वाचा कस्येदं कर्मणः फलम् ॥३२॥

मैंने तो किसी के साथ मन, वाणी या कर्म से थोड़ा भी अपकार किया हो, ऐसा स्मरण ही नहीं होता है, फिर यह किस के कर्म का फल उदय हुआ है ॥ ३२ ॥

नूनं जन्मान्तरकृतं पापमापतितं महत् ।
अपश्चिमामिमां कष्टामापदं प्राप्तवत्यहम् ॥३३॥

यह तो कोई अन्य जन्म का महा पाप उदय हुआ है, जो अन्त नहीं होने वाली, इस कठिन आपत्ति को प्राप्त हो रही हूँ।

भर्तृराज्यापहरणं स्वजनाच्च पराजयः।
भर्त्रा सह वियोगश्च तनयाभ्याञ्च विच्युतिः ॥३४॥
निर्नाथता वने वासो बहुव्यालनिषेविते ।

मेरे भर्त्ता का राज्य छीन लिया गया, अपने ही परिवार से अपमान हुआ तथा पति और पुत्रों के साथ वियोग होगया एवं अनाथ होकर अनेक वनैले जन्तुओं से व्याप्त इस निर्जन वन में घूम रही हूँ ॥ ३४॥

अथापरेद्युः संप्राप्ते हतशिष्टा जनास्तदा ॥३५॥
देशात्तस्माद्विनिष्क्रम्य ह्यशोचन् वैशसं कृतम् ।
भ्रातरं पितरं पुत्रं सखायञ्च नराधिप ॥३६॥

हे राजन् ! दूसरे दिन बचे हुए मनुष्य, उस वन से निकल कर उस विध्वंसकी चिन्ता करने लगे और अपने भाई, पिता,पुत्र और मित्रों की याद कर२ के व्याकुल होने लगे ॥ ३५ ३६ ॥

अशोचत्तत्र वैदर्भी किं नु मे दुष्कृतं कृतम् ।
योऽपि मे निर्जनेऽरण्ये संप्राप्तोऽयं जनार्णवः ॥३७॥
स हतो हस्तियूथेन मन्दभाग्यान्ममैव तत् ।
प्राप्तव्यं सुचिरं दुःखं नूनमद्यापि वै मया ॥३८॥

दमयन्ती भी चिन्ता कर रही है, कि मैंने क्या पाप किया है, जो इस निर्जन वन में इस जन समूह को पाया और इसको मेरे मन्द भाग्य के कारण हाथियों के झुण्ड ने मार गिराया । अभी मुझे बहुत काल तक दुःख उठाना है ॥३७-३८॥

नाप्राप्तकालो म्रियते श्रुतं वृद्धानुशासनम् ।
या नाहमद्य मृदिता हस्तियूथेन दुःखिता ॥३९॥
न ह्यदैवकृतं किञ्चिन्नराणामिह विद्यते ।

विना समय के आये कोई भी नहीं मरता है, यह बड़े लोगों का कहना सत्य है, जो मुझ दुःखी को हाथियों के झुण्ड ने कुचल नहीं डाला, इससे प्रतीत होता है, कि कर्मों के विना मनुष्य को कुछ भी नहीं मिलता है ॥ ३९ ॥

न च मे बालभावेऽपि किञ्चित् पापकृतं कृतम् ॥४०॥
कर्मणा मनसा वाचा यदिदं दुःखमागतम् ।

मने तो बचपन में भी मन, वाणी और शरीर से कुछ भी पाप नहीं किया, फिर यह दुःख क्यों कर आ गया ॥४०॥

मन्ये स्वयम्वरकृते लोकपालाः समागताः ॥४१॥
प्रत्याख्याता मया तत्र नलस्यार्थाय देवताः ।
नूनं तेषां प्रभावेन वियोगं प्राप्तवत्यहम् ॥४२॥

मेरा तो ऐसा खयाल है, कि मेरे स्वयम्वर में सारे लोकपाल आये थे और मैंने राजा नल के ध्यान से उनका निरादर कर दिया। मैं उन्हीं के प्रभाव से यह वियोग की व्यथा उठा रही हूं, इस में संशय नहीं है ॥४१-४२

एवमादीनि दुःखार्त्ता सा विलप्य वराङ्गना ।
प्रलापानि तदा तानि दमयन्ती पतिव्रता ॥४३॥
हतशेषैः सह तदा ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
अगच्छद्राजशार्दूल चन्द्रलेखेव शारदी ॥४४॥

हे राज-शार्दूल ! इस तरह अनेक प्रकार से वह दुःखी पतिव्रता, सुन्दरी, दमयन्ती, अनेक प्रकार से विलाप करके मरने से बचे हुए वेदपाठी ब्राह्मणों के साथ शरद् ऋतु की चांदनी की भांति चलदी ॥४३-४४॥

गच्छन्ती सा चिराद्बाला पुरमासादयन्महत् ।
सायाह्ने चेदिराजस्य सुबाहोः सत्यदर्शिनः ॥४५॥

बहुत देर चल कर यह सुन्दरी, सायङ्काल में सत्यदर्शी, राजा सुबाहु के विशाल नगर में पहुंची ॥४५॥

अथ वस्त्रार्द्ध संवीता प्रविवेश पुरोत्तमम् ।
तां विह्वलां कृशां दीनां मुक्तकेशीममार्जिताम् ॥४६॥
उन्मत्तामिव गच्छन्तीं ददृशुः पुरवासिनः ।

अर्ध वस्त्र धारण किये हुए ही दमयन्ती ने पुर में प्रवेश किया । इस समय पुरवासियों ने बड़ी व्याकुल, कृश, दीन, खुले बालों से युक्त, मिट्टी धूल में सनी हुई, पागल की तरह जाती हुई दमयन्ती को देखा ॥४६॥

प्रविशन्ततु तां दृष्ट्वा चेदिराजपुरीं तदा ॥४७॥
अनुजग्मुस्तत्र बाला ग्रामिपुत्रा कुतूहलात् ।

चेदिराज सुबाहु की नगरी में घुसती हुई, दमयन्ती को देख कर, गांव के बालक, तमाशे की इच्छा से उसके पीछे २ भागने लगे ॥४७॥

सा तैः परिवृतागच्छत् समीपं राजवेश्मनः ॥४८॥
तां प्रासादगतापश्यद्राजमाता जनैर्वृताम् ।

बालकों सहित यह दमयन्ती, जब राजमहल के समीप पहुंची, तो वहां महल पर चढ़ी हुई राजमाता ने मनुष्यों से घिरी हुई इस दमयन्ती को देखा ॥४८॥

धात्रीमुवाच चैवैनामानयेति ममान्तिकम् ॥४९॥
जनेन क्लिश्यते बाला दुःखिता शरणार्थिनी ।

इस रानी ने अपनी धाय से कहा, कि तुम इसको मेरे पास ले आओ। इसको लोग तंग कर रहे हैं। यह सुन्दरी बड़ा क्लेश पा रही है और किसी रक्षक की खोज में है ॥४९॥

याद्दग्रूपञ्च पश्यामि विद्योतयति मे गृहम् ॥५०॥
उन्मत्तवेशा कल्याणी श्रीरिवायतलोचना ।

मुझे इसका रूप ऐसा मालूम हो रहा है, कि इससे मेरा महल चमक उठेगा। यह कल्याणी, विशाल-लोचन-वाली, इस समय उन्मत्त भेष में है, तो भी लक्ष्मी सी प्रतीत होती है ॥५०॥

सा जनं वारयित्वा तं प्रासादतलमुत्तमम् ॥५१॥
आरोप्य विस्मिता राजन् दमयन्तीमपृच्छत ।

इस धाय ने अपने महल की छत से उतर कर उस जन समूह को दूर किया और दमयन्ती को देख कर बड़ा अचम्भे के साथ पूछा ॥५१॥

एवमप्यसुखाविष्टा बिभर्षि परमं वपुः ॥५२॥
भासि विद्युदिवाभ्रेषु शंस मे कासि कस्य वा ।

हे महा-भागे! इस तरह की विपत्ति में भी तू बड़े सुन्दर शरीर को धारण किये हुए बादलों में बिजली के समान चमक रही है। मुझे बताओ तुम कौन हो और किसकी पुत्री या पत्नी हो ॥५२॥

न हि ते मानुषं रूपं भूषणैरपि वर्जितम् ॥५३॥
असहाया नरेभ्यश्च नोद्विजस्यमरप्रभे ।

हे देवों की सी कान्ति वाली ! भूषणों से रहित तेरा यह सौन्दर्य, मनुष्य जाति में दुर्लभ है। तू मनुष्यों से असहाय होकर भी क्यों नहीं क्लेश मानती है ॥५३॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्या भैमी वचनमब्रवीत् ॥५४॥
मानुषीं मां विजानीहि भर्त्तारं समनुव्रताम् ।

इसके यह वचन सुन कर दमयन्ती बोली—मैं अपने भर्ता के व्रत में परायण एक नारी हूँ ॥५४॥

सैरिन्ध्रीं जातिसम्पन्नां भुजिष्यां कामवासिनीम् ॥५५॥
फलमूलाशनामेकां यत्र सायंप्रतिश्रयाम् ।

मैं सैरिन्ध्री जाती की दासी हूं, जहां इच्छा हो जाती है, वहीं निवास कर लेती हूं। मैं अकेली फल और मूल खाती हूं और जहां सायङ्काल हो जाता है, वहीं ठहर जाती हूँ ॥५५॥

असङ्ख्येयगुणो भर्त्ता माञ्च नित्यमनुव्रतः ॥५६॥
भक्ताहमपि तं वीरं छायेवानुगता पथि ।

मेरे भर्ता में अनेक गुण थे। वह केवल मुझसे ही प्रेम करता था। मैं भी उस वीर की बड़ी भक्त थी और मार्ग में छाया की भांति उसके साथ २ रहती थी ॥५६॥

तस्य दैवात् प्रसङ्गोऽभूदतिमात्रं सुदेवने ॥५७॥
द्यूतैः स निर्जितश्चैव वनमेक उपेयिवान् ।

दुर्भाग्य से उसको जुआ खेलने का मौका आ गया और उसमें वह हार गया, जिससे अकेला ही उसको वन में आना पड़ा। ॥५७।

तमेकवसनं वीरमुन्मत्तमिव विह्वलम् ॥५८॥

आश्वासयन्ती भर्त्तारमहमप्यगमं वनम् ।

एक वस्त्रधारी, पागल की भांति विह्वल, उस वीर भर्ता को आश्वासन देती हुई, मैं भी वन में चली आई ॥५८॥

स कदाचिद्वने वीरः कस्मिंश्चित् कारणान्तरे ॥५९॥

क्षुत्परीतस्तु विमनास्तदप्येकं व्यसर्जयत् ।

उस उदास, भूखे वीर ने, किसी कारणान्तर में वह एक वस्त्र भी खो दिया ॥५९॥

तमेकवसना नग्नमुन्मत्तवदचेतसम् ॥६०॥

अनुव्रजन्ती बहुला न स्वपामि निशास्तदा ।

अब मैं भी एक वस्त्र धारण किये हुए, उस नग्न पागल की भांति अचेत, पति के पीछे २ घूम रही हूँ और तभी से रात में सोती भी नहीं हूं ॥६०॥

ततो बहुतिथे काले सुप्तामुत्सृज्य मां क्वचित् ६१॥

वाससोऽर्धं परिच्छिद्य त्यक्तवान्मामनागसम् ।

तं मार्गमाणा भर्त्तारं दह्यमाना दिवानिशम् ॥६२॥

कुछ दिन के अनन्तर मुझे भी किसी वन में सोती हुई छोड़कर और मेरा आधा वस्त्र फाड़कर मुझ निरपराध को त्याग गया। अब मैं अपने भर्ता को खोजती हुई, रात दिन जलती रहती हूँ ॥६१-६२॥

साहं कमलगर्भाभमपश्यन्ती हृदि प्रियम् ।
न विन्दाम्यमरप्रख्यं प्रियं प्राणेश्वरं प्रभुम् ॥६३॥

अब मैं कमल के तुल्य सुकुमार देवों के समान सुन्दर, अपने प्रिय प्राणेश्वर पति को हृदय में भी ध्यान से नहीं देख पाती हूं ॥६३॥

तामश्रुपरिपूर्णाक्षीं विलपन्तीं तथा बहु ।
राजमाताब्रवीदार्त्तां भैमीमार्त्तस्वरां स्वयम् ॥६४॥

इस प्रकार दीन स्वर से युक्त, आंसुओं से व्याप्त, अनेक भांति विलाप करती हुई, दुःखी दमयन्ती से राजमाता बोली।

वसस्व मयि कल्याणि प्रीतिर्मे परमा त्वयि ।
मृगयिष्यन्ति ते भद्रे भर्त्तारं पुरुषा मम ॥६५॥

हे कल्याणि ! तू मेरे पास रह, मेरी तुझमें बड़ी प्रीति है, हे भद्रे ! मेरे नौकर तेरे पुरुष की भी खोज कर देंगे ॥६५॥

अपि वा स्वयमागच्छेत् परिधावन्नितस्ततः ।
इहैव वसती भद्रे भर्त्तारमुपलप्स्यसे ॥६६॥

अथवा इधर उधर घूमता हुआ तेरा पति स्वयं ही यहां आ जावेगा। हे भद्रे ! तुम यहां रहती हुई अपने भर्ता को प्राप्त कर सकोगी ॥६६॥

राजमातुर्वचः श्रुत्वा दमयन्ती वचोऽब्रवीत् ।
समयेनोत्सहे वस्तुं त्वयि वीरप्रजायिनि ॥६७॥

राजमाता के वचन सुनकर दमयन्ती बोली—मैं तुम वीर-जननी के पास कुछ शर्तों से रह सकती हूँ।

उच्छिष्टं नैव भुञ्जीयां न कुर्य्यां पादधावनम्।
न चाहं पुरुषानन्यान् प्रभाषेयं कथञ्चन ॥६८॥

एक तो मैं झूंठा भोजन नहीं करूंगी और दूसरे किसी के पैर नहीं धोऊँगी एवं किसी अन्य पुरुष से मैं बात तक नही करूंगी ॥६८॥

प्रार्थयेद्यदि मां कश्चिद्दण्डयस्ते स पुमान् भवेत्।
वध्यश्च तेऽसकृन्मन्द इति मे व्रतमाहितम् ॥६९॥

यदि कोई पुरुष मुझे छेड़ेगा, तो उसको तुम्हें दण्ड देना पड़ेगा और वह मूर्ख सब तरह से मारने के योग्य होगा-यही मेरा नियम है ॥६९॥

भर्त्तुरन्वेषणार्थन्तु पश्येयं ब्राह्मणानहम्।
यद्येवमिह वत्स्यामि त्वत्सकाशे न संशयः ॥७०॥

जो ब्राह्मण मेरे भर्ता की खोज में जावेंगे, मैं केवल उनको तो देख सकूं। यदि तुम ऐसा कर सको, तो मैं निःसन्देह तुम्हारे पास रह सकती हूँ ॥७०॥

अतोऽन्यथा न मे वासो वर्त्तते हृदये क्वचित्।
तां प्रहृष्टेन मनसा राजमातेदमब्रवीत् ॥७१॥
सर्वमेतत् करिष्यामि दृष्ट्वा ते व्रतमीदृशम्।

इसके विरुद्ध में कहीं रह सकूं, ऐसा मेरा विचार नहीं है। उससे प्रसन्न होकर राजमाता ने यह वचन कहा—मैं तेरे इस व्रत को जान चुकी हूं, तू जो कहती है, वही करूंगी ॥७१॥

एवमुक्त्वा ततो भैमीं राजमाता विशाम्पते ॥७२॥
उवाचेदं दुहितरं सुनन्दां नाम भारत।

हे विशाम्पते ! राजमाता, दमयन्ती से यह वचन कह कर अपनी पुत्री सुनन्दा से बोली ॥७२॥

सैरिन्ध्रीमभिजानीष्व सुनन्दे देवरूपिणीम् ॥७३॥
वयसा तुल्यतां प्राप्ता सखी तव भवत्वियम्।
एतया सह मोदस्व निरुद्विग्नमनाः सदा ॥७४॥

हे सुनन्दे ! इस दासी को तुम देवता समझो। यह तुम्हारी ही आयु की है, इसलिए इसको तुम अपनी सखी बनाओ और प्रसन्न चित्त से सदा इसके साथ मन बहलाती रहो ॥७३-७४॥

ततः परमसंहृष्टा सुनन्दा गृहमागमत्।
दमयन्तीमुपादाय सखीभिः परिवारिता ॥७५॥

अब अत्यन्त प्रसन्न होकर और दमयन्ती को लेकर सुनन्दा अपने महल में आई। इसको इस समय सखियों ने घेर रखा था।

सा तत्र पूज्यमाना वै दमयन्ती व्यनन्दत।
सर्वकामैः सुविहितैर्निरुद्वेगावसत्तदा ॥७६॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्ती-
चेदिराजगृहवासे पञ्चषष्टोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इन्होंने दमयन्ती का बड़ा सत्कार किया और दमयन्ती भी बड़ी आनन्दित हुई। इसकी सारी कामनाएँ पूरी कर दी जाती थी, जिससे निश्चित होकर यह वहां निवास करने लगी ॥७६॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्व में दमयन्ती का चेदिराज के घर वास करने पैंसठवां अध्याय समाप्त हुआ।



छियासठवां अध्याय

बृहदश्व उवाच—

उत्सृज्य दमयन्तीन्तु नलो राजा विशाम्पते।
ददर्श दावं दह्यन्तं महान्तं गहने वने ॥१॥

बृहदश्व बोले—हे राजन्! राजा नल, दमयन्ती को छोड़कर जब आगे चला, तो इसने गहन वन में जलती हुई वन की आग को देखा ॥१॥

तत्र शुश्राव शब्दं वै मध्ये भूतस्य कस्यचित्।
अभिधाव नलेत्युच्चैः पुण्यश्लोकेति चासकृत् ॥२॥

इसने मध्य में ही किसी प्राणी का बार २ शब्द सुना, कि हे पुण्यश्लोक! नल! जल्दी भाग कर आ ॥२॥

माभैरिति नलश्चोक्त्वा मध्यमग्नेः प्रविश्य तम्।
ददर्श नागराजानं शयानं कुण्डलीकृतम् ॥३॥

राजा नल ने कहा—डर मत। यह इतना कह कर अग्नि के मध्य में कूद पड़ा। वहां उसने कुण्डलाकार पड़े हुए, एक नागराज को देखा ॥३॥

स नागः प्राञ्जलिर्भूत्वा वेपमानो नलं तदा ।
उवाच मां विद्धि राजन् नागं कर्कोटकं नृप ॥४॥

यह नाग-राज कांपता हुआ हाथ जोड़ कर कहने लगा! हे राजन्! मैं कर्कोटक नाग हूं ॥४॥

मया प्रलब्धो महर्षिर्नारदः सुमहातपाः ।
तेन मन्युपरीतेन शप्तोऽस्मि मनुजाधिप ॥५॥
तिष्ठ त्वं स्थावर इव यावदेव नलः क्वचित् ।
इतो नेता हि तत्र त्वं शापान्मोक्ष्यसि मत्कृतात् ॥६॥

हे नृप! एक बार मैंने महातपस्वी नारद ऋषि को बहका दिया, तब उसने मुझको यह शाप दिया, कि जब तक इधर नल आवे, तब तक तू जड़ की तरह यहीं पड़ा रह। जब वह आ जावेगा, तब तू भी शाप से छुट जावेगा ॥५-६॥

तस्य शापान्नशक्तोऽस्मि पदाद्विचलितुं पदम् ।
उपदेक्ष्यामि ते श्रेयस्त्रातुमर्हति मां भवान् ॥७॥

मैं उसके शाप से एक पद भी नहीं चल सकता हूँ। मैं तुमको कुछ कल्याण की बात बताऊंगा, आप मेरी रक्षा करदें।

सखा च ते भविष्यामो मत्समो नास्ति पन्नगः ।
लघुश्च ते भविष्यामि शीघ्रमादाय गच्छ माम् ॥८॥

मैं तेरा मित्र हो जाऊंगा। सर्प जाति में मेरे समान अन्य कोई नहीं है। मैं छोटा हो जाता हूं, तू मुझे लेकर शीघ्र भाग जा।

एवमुक्त्वा स नागेन्द्रो बभूवाङ्गुष्ठमात्रकः।
तं गृहीत्वा नलः प्रायाद्देशं दावविवर्जितम् ॥९॥

इतना कह कर वह नागराज अंगुष्ठ के बराबर हो गया। उस सर्प को लेकर राजा नल अग्नि से रहित प्रदेश में पहुंच गया।

आकाशदेशमासाद्य विमुक्तं कृष्णवर्त्मना।
उत्स्रष्टुकामं तं नागः पुनः कर्कोटकोऽब्रवीत् ॥१०॥

अग्नि से रहित आकाश में पहुंच कर राजा नल सांप को छोड़ना ही चाहता था, कि यह कर्कोटक सर्प; फिर नल से कहने लगा ॥१०॥

पदानि गणयन् गच्छ स्वानि नैषध कानिचित्।
तत्र तेऽहं महाबाहो श्रेयो धास्यामि यत्परम् ॥११॥

हे नल! तू कुछ अपने पैरों को गिन कर चल। हे महाबाहो! वहां मैं तुमको कुछ कल्याणकारी बातें बताऊँगा ॥११॥

ततः सङ्ख्यातुमारब्धमदशद्दशमे पदे।
तस्य दष्टस्य तद्रूपं क्षिप्रमन्तरधीयत ॥१२॥

जब नल ने पाद गिनना आरम्भ किया तो इसने दशवें कदम पर इसको डस लिया। इसके काटते ही इसका पुराना रूप शीघ्र ही लुप्त हो गया ॥१२॥

स दृष्ट्वा विस्मितस्तस्थावात्मानं विकृतं नलः ।
स्वरूपधारिणं नागं ददर्श स महीपतिः ॥१३॥

जब राजा नल ने अपने रूप को विकृत देखा, तो बड़ा चकित हुआ। राजा ने अब अपने सामने स्वरूपधारी इस सर्प को देखा ॥१३॥

ततः कर्कोटको नागः सान्त्वयन्नलमब्रवीत् ।
मया तेऽन्तर्हितं रूपं न त्वां विद्युर्जना इति ॥१४॥

इसके अनन्तर नल को शान्ति देता हुआ कर्कोटक नाग बोला-मैंने तेरा रूप बदल दिया है, अब कोई तुझे पहचान नहीं सकेगा ॥१४॥

यत्कृते चासि निकृतो दुःखेन महता नल ।
विषेण स मदीयेन दुःखं त्वयि निवत्स्यति ॥१५॥

हे नल ! जिसने तुम्हें, महा दुःख से तिरस्कृत किया, वह कलि, इस मेरे विष से तुझ में बड़े कष्ट से निवास कर सकेगा

विषेण संवृतैर्गात्रैर्यावत्त्वां न विमोक्ष्यति ।
तावत्त्वयि महाराज दुखं वै स निवत्स्यति ॥१६॥

विष से व्याप्त शरीर से जब तक तुम्हें नहीं छोड़ेगा, तब तक तुम्हारे शरीर में वह कलि, दुःख से निवास कर सकेगा ॥१६ ॥

अनागा येन निकृतस्त्वमनर्हो जनाधिप ।
क्रोधादसूययित्वा तं रक्षा मे भवतः कृता ॥१७॥

हे राजन् ! तिरस्कार के अयोग्य, तुम निरपराधी को जिन्हों ने अपमानित किया, उन पर मुझे बड़ा क्रोध है और मैं उनकी निन्दा करके तुम्हारी रक्षा करता हूं ॥१७॥

न ते भयं नरव्याघ्र दंष्ट्रिभ्यः शत्रुतोऽपि वा ।
ब्रह्मविद्भ्यश्च भविता मत्प्रसादान्नराधिप ॥१८॥

हे नराधिप ! अब तुमको दांत वाले, जंगली जन्तु और शत्रु तथा ब्रह्म-ज्ञानियों से शाप आदि का मेरी कृपा से कुछ भी भय नहीं रहेगा ॥१८॥

राजन् विषनिमित्ता च न ते पीडा भविष्यति ।
संग्रामेषु च राजेन्द्र शश्वज्जयमवाप्स्यसि ॥१९॥

हे राजन् ! इस विष से तुमको कोई पीड़ा नहीं होगी और तुम सारे युद्धों में विजय प्राप्त कर सकोगे ॥१९॥

गच्छ राजन्नितः सूतो बाहुकोऽहमिति ब्रुवन् ।
समीपमृतुपर्णस्य स हि चैवाक्षनैपुणः ॥२०॥
अयोध्यां नगरीं रम्यामद्य वै निषधेश्वर ।
स तेऽक्षहृदयं दाता राजाश्वहृदयेन वै ॥२१॥

हे राजन् ! यहां से तुम ऋतुपर्ण के पास सुन्दर अयोध्या नगरी में जाओ। वहां अपने को बाहुक नामक सारथी बता देना। वह ऋतुपर्ण, अक्ष विद्या में बड़ा कुशल है; जो तुमको अश्व-विद्याके बदले में अक्ष-विद्या प्रदान कर देगा ॥२०-२१॥

इक्ष्वाकुकुलजः श्रीमान् मित्रश्चैव भविष्यति ।
भविष्यसि यदाक्षज्ञः श्रेयसा योक्ष्यसे तदा ॥२२॥

यह इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुआ है, तुम्हारा मित्र बन जावेगा जब तुम अक्ष (पासे) विद्या को जान लोगे, उसी दिन तुमको कल्याण से युक्त कर दिया जावेगा ॥२२॥

समेष्यसि दारैस्त्वं मा स्म शोके मनः कृथाः ।
राज्येन तनयाभ्याश्च सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥२३॥

हे राजन् ! तुम राज्य प्राप्ति के साथ २ अपनी भार्या और पुत्रों से मिल जाओगे शोक न करो । मैं तुम से सत्य कहता हूं।

स्वं रूपञ्च यदा द्रष्टुमिच्छेथास्त्वं नराधिप ।
संस्मर्त्तव्यस्तदा तेऽहं वासश्चेदं निवासयेः ॥२४॥
अनेन वाससाच्छन्नः स्वरूपं प्रतिपत्स्यते ।

हे नराधिप ! जब तुम अपने रूप को प्राप्त करना चाहो तब तुम मुझे याद कर लेना और इस वस्त्र को पहन लेना । जब तुम इस वस्त्र को पहन लोगे तो अपने स्वरूप को पा जाओगे ।

इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै दिव्यं वासोयुगं तदा ॥२५॥
एवं नलञ्च सन्दिश्य वासौ दत्त्वा च कौरव ।
नागराजस्ततो राजंस्तत्रैवान्तरधीयत ॥२६॥

इतिश्रारण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलकर्कोटक संवादे षट्षष्ठोऽध्यायः ॥६६॥

यह कह कर इस सर्पराज ने राजा नल को दिव्य दो वस्त्र दिये। हे कौरव ! इस प्रकार दो वस्त्र देकर और नल को समझा बुझा कर, नागराज वहीं अलक्षित हो गया ॥२६॥

इति श्रीमहाभारत नलोपाख्यानपर्व में नल कर्कोटक के सम्वाद का छियासठवां अध्याय पूरा हुआ।



सड़सठवाँ अध्याय

बृहदश्व उवाच—

तस्मिन्नन्तर्हिते नागे प्रययौ नैषधो नलः ।
ऋतुपर्णस्य नगरं प्राविशद्दशमेऽहनि ॥१॥

बृहदश्व कहने लगे—हे राजन् ! उस कर्कोटक नाग के अन्तर्हित हो जाने पर राजा नल दशवें दिन ऋतुपर्ण की नगरी अयोध्या में पहुंचा ॥१॥

स राजानमुपातिष्ठद्बाहुकोऽहमिति ब्रुवन् ।
अश्वानां वाहने युक्तः पृथिव्यां नास्ति मत्समः ॥२॥

राजा नल, राजा ऋतुपर्ण के पास पहुंचा और कहा कि मेरा नाम बाहुक है। अश्वों के जोतने में मेरे समान पृथिवी में कोई नहीं है ॥२॥

अर्थकृच्छ्रेषु चैवाहं प्रष्टव्यो नैपुणेषु च ।
अन्नसंस्कारमपि च जानाम्यन्यैर्विशेषतः ॥३॥

राजनीति के झगड़ों में या अन्य चतुराई के कार्य में मुझ से सलाह की जा सकती है। इसके सिवा रसोई बनाना भी मैं सब से उत्तम जानता हूं ॥३॥

यानि शिल्पानि लोकेऽस्मिन् यच्चैवान्यत् सुदुष्करम् ।
सर्वं यतिष्ये तत्कर्तुं मृतुपर्ण भरस्व माम् ॥४॥

हे राजन् ! इस लोक में जो शिल्प के कार्य हैं या अन्य कोई दुष्कर कृत्य हो, उन सब को मैं कर सकता हूं। आप कृपाकर मुझे नौकर रख लें ॥४॥

ऋतुपर्ण उवाच —

वस बाहुक भद्रन्ते सर्वमेतत् करिष्यसि ।
शीघ्रयाने सदा बुद्धिर्ध्रियते मे विशेषतः ॥५॥

ऋतुपर्ण ने कहा—हे बाहुक ! तुम आनन्द से रहो। ये ही सारे काम करते रहना। मेरी प्रीति अश्वों के शीघ्र चलाने में अधिक है, यह तुमको ज्ञात होना चाहिये ॥५॥

स त्वमातिष्ठ योगं तं येन शीघ्र हया मम ।
भवेयुरश्वाध्यक्षोऽसि वेतनं ते शतंशताः ॥६॥

अब तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे मेरे अश्व सबसे अधिक दौड़ सकें। तुमको आज से अश्वाध्यक्ष बनाया गया और तुम्हारा वेतन भी एक हजार रुपये होगा ॥६॥

त्वामुपस्थास्यतश्चैव नित्यं वार्ष्णेयजीवलौ ।
एताभ्यां रंस्यसे सार्द्धं वस वै मयि बाहुक ॥७॥

हे बाहुक! तेरी सहायता में ये दोनों वार्ष्णेय और जीवल रहेंगे। तुम इनके साथ प्रेम से रहो और हमारे यहां नौकरी करो।

बृहदश्व उवाच—

एवमुक्तो नलस्तेन न्यवसत्तत्र पूजितः।
ऋतुपर्णस्य नगरे सहवार्ष्णेयजीवलः ॥८॥

बृहदश्व ने कहा-हे राजन्! राजा नल, राजा ऋतुपर्ण की राजधानी अयोध्या में वार्ष्णेय और जीवल के साथ २ सत्कार से रहने लगा ॥८॥

स वै तत्रावसद्राजा वैदर्भीमनुचिन्तयन्।
सायं सायं सदा चेमं श्लोकमेकं जगाद ह ॥९॥

राजा नल, अब इस जगह रहता था और नित्य अपनी प्रिया दमयन्ती को याद कर लेता था। यह प्रतिदिन सायंकाल इस एक श्लोक को कहा करता ॥९॥

क्व नु सा क्षुत्पिपासार्त्ता श्रान्ता शेते तपस्विनी।
स्मरन्ती तस्य मन्दस्य कं वा साद्योपतिष्ठति ॥१०॥

वह विचारी थकी, भूखी, प्यासी कहां सोती होगी और उस मन्द बुद्धि का स्मरण करके क्या कहती होगी तथा न जाने किसके पास होगी ॥१०॥

एवं ब्रुवन्तं राजानं निशायां जीवलोऽब्रवीत्।
कामेनां शोचसे नित्यं श्रोतुमिच्छामि बाहुक ॥११॥

एक रात में राजा नल, इसी तरह कह रहा था, कि जीवल बोला--हे बाहुक ! तुम नित्य किस स्त्री की चिन्ता करते रहते हो--मैं यह सुनना चाहता हूं ॥११॥

आयुष्मन् कस्य वा नारी यामेवमनुशोचसि ।
तमुवाच नलो राजा मन्दप्रज्ञस्य कस्यचित् ॥१२॥
आसीद्बहुमता नारी तस्या दृढ़तरं वचः ।
स वै केनचिदर्थेन तया मन्दो व्ययुज्यत ॥१३॥

हे आयुष्मन् ! वह किसकी नारी है, जिसकी तुम इस प्रकार चिन्ता करते हो । इस जीवल से राजा नल ने कहा--यह किसी मन्दबुद्धि की स्त्री की कथा है । यह नारी उसको बड़ी प्रिय थी । इसने इसको बड़े दृढ़ वचन दे रखे थे । किसी कारण से इस मूढ ने उससे वियोग कर लिया ॥१२-१३॥

विप्रयुक्तः स मन्दात्मा भ्रमत्यसुखपीडितः ।
दह्यमानः स शोकेन दिवारात्रमतन्द्रितः ॥१४॥

अब इससे बिछुड़कर यह मूढ़, दुःख-पूर्वक भ्रमण करता रहता है और शोक की आग से जलता हुआ दिन रात जागता है ॥१४॥

निशाकाले स्मरंस्तस्याः श्लोकमेवं स गायति ।
स विभ्रमन्महीं सर्वां क्वचिदासाद्य किञ्चन ॥१५॥
वसत्यनर्हस्तद् दुःखं भूय एवानुसंस्मरन् ।

वह रात में उसको याद करके इस श्लोक को गाया करता था । यह सारी भूमि पर घूमा । अब कुछ धन पाकर कहीं पर

रह रहा है। उसको जीवित नहीं रहना चाहिए था, परन्तु उस दुःख का स्मरण करके भी जीता है ॥१५॥

सा तु तं पुरुषं नारी कृच्छ्रेऽप्यनुगता वने ॥१६॥
त्यक्ता तेनाल्पपुण्येन दुष्करं यदि जीवति ।

यह स्त्री बड़ी विपत्ति में इसके साथ २ वन में घूमती रही। इस कमबख्त ने इसको वन में छोड़ दिया। यदि वह अब भी जीती रही, तो बड़ी ही भारी बात है ॥१६॥

एका बालानभिज्ञा च मार्गाणामतथोचिता ॥१७॥
क्षुत्पिपासापरीताङ्गी दुष्करं यदि जीवति ।

वह अकेली बाला, मार्ग भी नहीं जानती है और इस तरह के मार्गों में भटकने के अयोग्य है। वह भूख और प्यास से व्याकुल हुई, अब भी यदि जीवित है, तो बड़ी भारी बात है ॥

श्वापदाचरिते नित्यं वने महति दारुणे ॥१८॥
त्यक्ता तेनाल्पभाग्येन मन्दप्रज्ञेन मारिष ।

हे महाभाग! बनैले जन्तुओं से भरे हुए, महा-दारुण वन में उस मन्दबुद्धि, कमबख्त ने उसको छोड़ दिया ॥१८॥

इत्येवं नैषधो राजा दमयन्तीमनुस्मरन् ।
अज्ञातवासं न्यवसद्राज्ञस्तस्य निवेशने ॥१९॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलविलापे
सप्तषष्टोऽध्यायः ॥६७॥

इस प्रकार राजा नैषध, दमयन्ती को स्मरण करता हुआ, इस राजा ऋतुपर्ण के यहां अज्ञात-वास कर रहा था ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्व में नल-विलाप का सड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ।

अड़सठवां अध्याय

बृहदश्व उवाच—

हृतराज्ये नले भीमः सभार्ये प्रेष्यतां गते।
द्विजान् प्रस्थापयामास नलदर्शनकांक्षया ॥१॥

बृहदश्व ने कहा—हे राजन्! नल का राज्य छीन लेने पर और अपनी भार्या सहित उसके वन में चले जाने पर राजा भीम ने नल के दर्शनों की इच्छा से इधर उधर ब्राह्मण भेजे।

सन्दिदेश च तान् भीमो वसु दत्त्वा च पुष्कलम्।
मृगयध्वं नलञ्चैव दमयन्तीञ्च मे सुताम् ॥२॥

राजा भीम ने उनको बहुत सा धन देकर आज्ञा दी, कि तुम राजा नल और मेरी पुत्री दमयन्ती को तलाश करो ॥२॥

अस्मिन् कर्मणि सम्पन्ने विज्ञाते निषधाधिपे।
गवां सहस्रं दास्यामि यो वस्तावानयिष्यति ॥३॥
अग्रहारांश्च दास्यामि ग्रामं नगरसम्मितम्।

जब यह तुम्हारा काम पूरा हो जावेगा और जो तुम उन दोनों का पता लगा लोगे तथा उनको ले आवोगे, तो तुमको एक

सहस्र गौएँ प्रदान करूँगा और अग्रहार (मुआफी की ज़मीन) तथा नगरों के समान गांव भेंट में दूंगा ॥३॥

नचेच्छक्याविहानेतुं दमयन्ती नलोऽपि वा ॥४॥
ज्ञातमात्रेऽपि दास्यामि गवां दशशतं धनम् ।

यदि तुम नल या दमयन्ती को यहां ला नहीं सकोगे और पता मात्र बता दोगे, तोभी मैं तुमको एक हज़ार गौएँ प्रदान कर दूंगा।

इत्युक्तास्ते ययुर्हृष्टा ब्राह्मणाः सर्वतो दिशम् ॥५॥
पुरराष्ट्राणि चिन्वन्तो नैषधं सह भार्य्यया ।
नैव क्वापि प्रपश्यन्ति नलं वा भीमपुत्रिकाम् ॥६॥

जब राजा भीम ने यह कहा-तो ब्राह्मण प्रसन्नता से सब ओर चल दिए। ये दमयन्ती के साथ राजा नल को पुर और देशों में खोज रहे थे, परन्तु इन्होंने राजा नल और भीम-सुता दमयन्ती को कहीं नहीं देखा ॥ ५-६ ॥

ततश्चेदिपुरीं रम्यां सुदेवो नाम वै द्विजः ।
विचिन्वानोऽथ वैदर्भीमपश्यद्राजवेश्मनि ॥७॥

इसके अनन्तर सुदेव नामक ब्राह्मण ने रमणीक चेदिपुरी को खोजते हुए, राजमहल में दमयन्ती को देखा ॥७॥

पुण्याहवाचने राज्ञः सुनन्दासहितां स्थिताम् ।
मन्दं प्रख्यायमानेन रूपेणाप्रतिमेन ताम् ॥८॥
निबद्धांसुधूमजालेन प्रभामिव विभावसोः ।

यह दमयन्ती, राजा के पुण्याहवाचन में सुनन्दा के साथ स्थित थी। इसका रूप यद्यपि मन्दा पड़ रहा था, तो भी रूप में अद्वितीय प्रतीत होती थी। यह धूम से घिरी हुई अग्नि की लपट सी थी ॥८॥

तां समीक्ष्य विशालाक्षीमधिकं मलिनां कृशाम्।
तर्कयामास भैमीति कारणैरुपपादयन् ॥९॥

इस विशाल-नेत्र वाली, मलिन और कृश दमयन्ती को देखकर सुदेव ने कारणों से पहचान लिया ॥९॥

सुदेव उवाच—

यथेयं मे पुरा दृष्टा तथारूपेयमङ्गना।
कृतार्थोऽस्म्यद्य दृष्ट्वेमां लोककान्तामिव श्रियम्।
पूर्णचन्द्रनिभां श्यामां चारुवृत्तपयोधराम् ॥१०॥
कुर्वन्तीं प्रभया देवीं सर्वा वितिमिरा दिशः।
चारुपद्मविशालाक्षीं मन्मथस्य रतीमिव ॥११॥

सुदेव विचारने लगा—यह स्त्री तो ऐसी है, जैसी कभी मैंने देखी हो। संसार में सुन्दर लक्ष्मी के तुल्य, इस स्त्री को देखकर मैं कृतार्थ हो गया हूँ। यह पूर्ण चन्द्रमा के समान कान्ति वाली, श्यामा, गोल और चारु स्तनों वाली, अपनी प्रभा से सारी दिशाओं को प्रकाशित कर रही है। यह उत्तम कमल के समान आँखों-वाली, कामदेव की स्त्री रति के तुल्य है ॥१०-११॥

इष्टां समस्तलोकस्य पूर्णचन्द्रप्रभामिव।
विदर्भसरसस्तस्माद्दैवदोषादिवोद्धृताम् ॥१२॥

यह सारे संसार को पूर्ण चन्द्र की चांदनी के समान मनोहर प्रतीत होती थी, मानो विदर्भ देश रूपी सरोवर से भाग्य के दोष से निकाली हुई देवाङ्गना हो ॥१२॥

मलपङ्कानुलिप्ताङ्गीं मृणालीमिव चोद्धृताम् ।
पौर्णमासीमिव निशां राहुग्रस्तनिशाकराम् ॥१३॥

यह स्त्री मल के समूह में लिपटी हुई, उखाड़ी हुई कमलिनी सी और राहु से ग्रस्त हुए चन्द्रमावाली, पूर्णमासी की रात के तुल्य हो रही है ॥१३॥

पतिशोकाकुलां दीनां शुष्कस्रोतां नदीमिव ।
विध्वस्तपर्णकमलां वित्रासितविहङ्गमाम् ॥१४॥

पति के शोक में व्याकुल, यह स्त्री, नष्ट हुए पत्तं और कमलों वाली, दुःखी पक्षियों सहित सूखी नदी सी प्रतीत होती है ॥१४॥

हस्तिहस्तपरामृष्टां व्याकुलामिव पद्मिनीम् ।
सुकुमारीं सुजाताङ्गीं रत्नगर्भगृहोचिताम् ॥१५॥

हाथी की सूंड़ से मसली हुई, कमलिनी के समान यह सुकुमारी, सुन्दरी, रत्नों से रचित, घर में रहने के योग्य है ॥१५॥

दह्यमानामिवार्केण मृणालीमिव चोद्धृताम् ।
रूपौदार्यगुणोपेतां मण्डनार्हाममण्डिताम् ॥१६॥

उत्तम रूप और गुणों से युक्त, मण्डनहीन, मण्डन के योग्य, यह नारी, सूर्य से दग्ध, उखड़ी हुई कमलिनी सी मालूम हो रही है ॥ १६ ॥

चन्द्रलेखामिव नवां व्योम्नि नीलाभ्रसंवृताम् ।
कामभोगैः प्रियैर्हीनां हीनां बन्धुजनेन च ॥१७॥

यह स्त्री, प्रिय कामनाओं के भोगों से वञ्चित, और बन्धु-जनों से विहीन, आकाश में नीले बादलों से ढकी हुई, नवीन चन्द्रलेखा सी मालूम होती है ॥ १७ ॥

देहं धारयतीं दीनं भर्तृ दर्शनकांक्षया ।
भर्त्ता नाम परं नार्या भूषणं भूषणैर्विना ॥१८॥

यह अपने भर्त्ता के दर्शनों की लालसा से दीन देह को धारण किए हुए है । भूषणों से विहीन स्त्री का भर्ता ही भूषण है

एषा हि रहिता तेन शोभमाना न शोभते ।
दुष्करं कुरुतेऽत्यर्थं हीनो यदनया नलः ॥१९॥
धारयत्यात्मनो देहं न शोकेनावसीदति ।

यह अपने पति से रहित होने से सुन्दर भी सुन्दर प्रतीत नहीं होती है । राजा नल, इससे बिछुड़ कर भी जो अभी तक जीवित है और शोक में नहीं डूबता है, यह बड़ा ही कठिन काम कर रहा है ॥ १९ ॥

इमामसितकेशान्तां शतपत्रायतेक्षणाम् ॥२०॥
सुखार्हां दुःखितां दृष्ट्वा ममापि व्यथते मनः ।

काले बालों और कमल के समान विशाल नेत्रों वाली, सुख के योग्य, दुःखी, इस नारी को देख कर मेरा मन भी बड़ा चिन्तित होता है ॥ २० ॥

कदा नु खलु दुःखस्य पारं यास्यति वै शुभा ॥२१॥
भर्त्तुः समागमात् साध्वी रोहिणी शशिनो यथा ।
अस्या नूनं पुनर्लाभान्नैषधः प्रीतिमेष्यति ॥२२॥

यह कल्याणी, चन्द्र से रोहिणी के तुल्य पति संयोग पाकर कब इस दुःख से पार होगी, इसको पाकर राजा नल, अवश्य प्रसन्न होगा ॥ २१-२२ ॥

राजा राज्यपरिभ्रष्टः पुनर्लब्ध्वा च मेदिनीम् ।
तुल्यशीलवयोयुक्तां तुल्याभिजनसंवृताम् ॥२३॥
नैषधोऽर्हति वैदर्भीं तञ्चेयमसितेक्षणा ।

अपने राज्य से भ्रष्ट राजा नल, फिर पृथिवी का राज्य पाकर शील और भय में समान तथा तुल्य कुल वाले जनों से व्याप्त, दमयन्ती को प्राप्त करने के योग्य है और यह सुन्दर नेत्र वाली भी राजा नल के मिलने के उचित ही है ॥ २३॥

युक्तन्तस्याप्रमेयस्य वीर्य्यसत्त्ववतो मया ॥२४॥
समाश्वासयितुं भार्य्यां पतिदर्शनलालसाम् ।

मुझे उस अद्भुत पराक्रमी, महावली राजा नल की भार्या को आश्वासन देना ही चाहिए। जो पति के दर्शनों को आतुर हो रही है

अहमाश्वासयाम्येनां पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ।
अदृष्टपूर्वां दुःखस्य दुःखार्त्तां ध्यानतत्पराम् ॥२५॥

मैं, पूर्ण चन्द्र के तुल्य मुखवाली, प्रथम कभी दुःख को न देखने वाली, दुःखी और अपने पति के ध्यान में तत्पर, इस दमयन्ती को अवश्य धैर्य बंधाऊंगा ॥ २५ ॥

बृहदश्व उवाच—

एवं विमृश्य विविधैः कारणैर्लक्षणैश्च ताम् ।
उपगम्य ततो भैमीं सुदेवो ब्राह्मणोऽब्रवीत् ॥२६॥

बृहदश्व ने कहा—हे राजन्! इस प्रकार अनेक कारण और लक्षणों से विचार कर, सुदेव ब्राह्मण दमयन्ती के पास पहुंचा और कहने लगा ॥ २६ ॥

अहं सुदेवो वैदर्भि भ्रातुस्ते दयितः सखा ।
भीमस्य वचनाद्राज्ञस्त्वामन्वेष्टुमिहागतः ॥२७॥

हे दमयन्ती! मैं सुदेव नामक ब्राह्मण हूं और तेरे भाई का प्रिय मित्र हूं। मैं राजा भीम के वचन से तुम्हें खोजने के लिए यहां आया हूं ॥ २७ ॥

कुशली ते पिता राज्ञि जननी भ्रातरश्च ते ।
आयुष्मन्तौ कुशलिनौ तत्रस्थौ दारकौ च तौ ॥२८॥

हे महारानी! तुम्हारे पिता, माता और भाई कुशल से हैं और वहां रहने वाले तुम्हारे दोनों बच्चे भी सकुशल हैं ॥२८॥

त्वत्कृते बन्धुवर्गाश्च गतसत्त्वा इवासते ।
अन्वेष्टारो ब्राह्मणाश्च भ्रमन्ति शतशो महीम् ॥२९॥

तेरी चिन्ता से तेरे कुटुम्बी मृतक से हो रहे हैं और तुम्हारे खोजने के लिए सैंकड़ों ब्राह्मण इधर उधर घूमते हैं ॥ २९ ॥

बृहदश्व उवाच

अभिज्ञाय सुदेवं तं दमयन्ती युधिष्ठिर ।

पर्य्यपृच्छत तान् सर्वान् क्रमेण सुहृदः स्वकान् ।

रुरोद च भृशं राजन् वैदर्भी शोककर्पिता ॥३०॥

दृष्ट्वा सुदेवं सहसा भ्रातुरिष्टं द्विजोत्तमम् ।

बृहदश्व बोले—हे युधिष्ठिर ! जब दमयन्ती ने सुदेव ब्राह्मण को पहचान लिया, तब उसने क्रम से अपने सारे प्यारे परिवार की कुशल पूछी और यह शोक से आतुर हुई, अपने भाई के मित्र सुदेव ब्राह्मण को देखकर फूट फूट कर रोने लगी ॥ ३० ॥

ततो रुदन्तीं तां दृष्ट्वा सुनन्दा शोककर्पिता ॥३१॥

सुदेवेन सहैकान्ते कथयन्तीञ्च भारत ।

जनित्र्याः कथयामास सैरिन्ध्री रुदती भृशम् ॥३२॥

ब्राह्मणेन सहागम्य तां वेद यदि मन्यसे ।

हे भारत ! दमयन्ती को रोती हुई देखकर सुनन्दा भी शोक से विह्वल होगई । जब इसने सुदेव के साथ एकान्त में बात करती हुई और रोती हुई दमयन्ती को देखा तो अपनी माता से कहा, कि आज तो सैरिन्ध्री (दासी) ब्राह्मण से मिलकर अत्यन्त रो रही है, यदि तुम जानना चाहो तो चलकर देख लो ॥ ३१-३२ ॥

अथ चेदिपतेर्माता राज्ञश्चान्तःपुरात्तदा ॥३३॥
जगाम यत्र सा बाला ब्राह्मणेन सहाभवत् ।

अब चेदि-पति की माता रनवास से बाहर वहां पहुंची, जहां दमयन्ती उस ब्राह्मण से बातें कर रही थी ॥ ३३ ॥

ततः सुदेवमानाय्य राजमाता विशाम्पते ॥३४॥
पप्रच्छ भार्य्या कस्येयं सुता वा कस्य भाविनी ।

हे राजन् ! इसके अनन्तर राज-माता, उस सुदेव ब्राह्मण को अपने साथ ले आई और पूछने लगी, कि यह महिला किसकी भार्या और किसकी पुत्री है ॥३४॥

कथञ्च नष्टा ज्ञातिभ्यो भर्त्तुर्वा वामलोचना ॥३५॥
त्वया च विदिता विप्र कथमेवङ्गता सती ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं त्वत्तः सर्वमशेषतः ॥३६॥
तत्त्वेन हि ममाचक्ष्व पृच्छन्त्या देवरूपिणीम् ।

यह सुन्दरी, अपने भाई, बन्धु या पति से कैसे बिछुड़ गई और इस दशा में भी तूने इसको कैसे पहिचान लिया । मैं ये सब बातें तुमसे जानना चाहती हूं । तुम इस देवाङ्गना के तुल्य सुन्दरी की सारी कथा मुझसे कहो ॥ ३५-३६ ॥

एवमुक्तस्तया राजन् सुदेवो द्विजसत्तमः ।
सुखोपविष्ट आचष्ट दमयन्त्या यथातथम् ॥३७॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्ती सुदेव
संवादे अष्टषष्टोऽध्यायः ॥६८॥

हे राजन्! जब राजमाता ने सुदेव से इतना कहा-तो द्विज-श्रेष्ठ सुदेव, सुख से बैठकर दमयन्ती की सत्य २ कथा सुनाने लगा ॥३७॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्व में दमयन्ती-सुदेव के सम्वाद का अड़सठवां अध्याय पूरा हुआ।

उनहत्तरवां अध्याय

सुदेव उवाच—

विदर्भराजो धर्मात्मा भीमो नाम महाद्युतिः।
सुतेयं तस्य कल्याणी दमयन्तीति विश्रुता ॥१॥

सुदेव बोला—हे देवी! महाकान्तिमान, विदर्भ देश का अधिपति, भीम नाम का राजा है, उसी की यह दमयन्ती प्रसिद्ध कन्या है ॥१॥

राजा तु नैषधो नाम वीरसेनसुतो नलः।
भार्येयं तस्य कल्याणी पुण्यश्लोकस्य धीमतः ॥२॥

हे महारानी! वीरसेन का पुत्र, निषध देश का स्वामी, जो राजा नल है। यह कल्याणी, उसी बुद्धिमान, पवित्र, कीर्ति-धारी नल की भार्या है ॥२॥

स द्यूतेन जितो भ्रात्रा हृतराज्यो महीपतिः।
दमयन्त्या गतः सार्द्धं न प्राज्ञायत कस्यचित् ॥३॥

इस राजा नल को इसके भाई पुष्कर ने जुआ में जीत कर इसका राज्य छीन लिया। वह दमयन्ती के साथ कहीं चला गया जिसको कोई नहीं जानता है ॥३॥

ते वयं दमयन्त्यर्थं चरामः पृथिवीमिमाम्।
सेयमासादिता बाला तव पुत्रनिवेशने ॥४॥

हम लोग दमयन्ती की खोज में पृथिवी पर घूमते हैं। आज इस सुन्दरी को हमने तुम्हारे पुत्र के घर पर पाया है ॥४॥

अस्या रूपेण सदृशी मानुषी न हि विद्यते।
अस्या ह्येष भ्रुवोर्मध्ये सहजः पिप्लुरुत्तमः ॥५॥

इसके रूप के सदृश अन्य कोई नारी नहीं है। इसकी भौंहों के बीच में जन्म से ही एक सुन्दर तिल है ॥५॥

श्यामायाः पद्मसङ्काशो लक्षितोऽन्तर्हितो मया।
मलेन संवृतो ह्यस्याश्छन्नोऽभ्रेणेव चन्द्रमाः ॥६॥

इस श्यामा का वह पद्माकार तिल, बादलों से चन्द्रमा के तुल्य मल से ढका सा रहता है। मैंने किसी प्रकार उसको देख लिया है ॥६॥

चिन्हभूतो विभूत्यर्थमयं धात्रा विनिर्मितः।
प्रतिपत्कलुषस्येन्दोर्लेखा नातिविराजते ॥७॥

विधाता ने इसको इसके ऐश्वर्य का चिन्ह बना दिया है, परन्तु आजकल प्रतिपदा की चन्द्रलेखा के तुल्य यह अधिक सुशोभित नहीं हो रही है ॥७॥

न चास्या दृश्यते रूपं वपुर्मलसमाचितम् ।
असंस्कृतमपि व्यक्तं भाति काञ्चनसन्निभम् ॥८॥

इसका सारा रूप अभी प्रकट नहीं हो रहा है, क्योंकि शरीर में मल चढ़ रहा है। यद्यपि शरीर के संस्कार नहीं होते, तो भी यह असंस्कृत सुवर्ण सा दमक रहा है ॥८॥

अनेन वपुषा बाला पिप्लुनानेन सूचिता ।
लक्षितेयं मया देवी निभृतोऽग्निरिवोष्मणा ॥९॥

मैंने इस तिल और शरीर से ही इस बाला को पहचाना है। किन्हीं वस्तुओं से ढकी हुई आग को उष्णता से जान लेने के समान मैंने इस देवी को लक्ष्य कर लिया है ॥९॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य सुदेवस्य विशाम्पते ।
सुनन्दा शोधयामास पिप्लुप्रच्छादनं मलम् ॥१०॥

हे राजन्! उस सुदेव ब्राह्मण के ये वचन सुन कर सुनन्दा ने उस तिल के ऊपर चढ़े हुए मैल को दूर किया ॥१०॥

स मलेनापकृष्टेन पिप्लुस्तस्या व्यरोचत ।
दमयन्त्या यथा व्यभ्रे नभसीव निशाकरः ॥११॥

जब मैल हट गया, तो वह दमयन्ती का तिल बादल रहित आकाश में चन्द्रमा के समान सुशोभित होने लगा ॥११॥

पिप्लुं दृष्ट्वा सुनन्दा च राजमाता च भारत ।
रुदन्ती तां परिष्वज्य मुहूर्त्तमिव तस्थतुः ॥१२॥

हे भारत ! सुनन्दा और राज माता दमयन्ती के तिल को देख कर उसके लिपट गई और थोड़ी देर तक रोती रही ॥१२॥

उत्सृज्य वाष्पं शनकैराजमातेदमब्रवीत् ।
भगिन्या दुहिता मेऽसि पिप्लुनानेन सूचिता ॥१३॥

अपने आंसू पोंछ कर राज माता ने धीरे २ कहा—कि तू तो मेरी बहन की पुत्री है। मैंने भी इस तिल से तुझे पहचान लिया।

अहञ्च तव माता च राज्ञस्तस्य महात्मनः ।
सुते दाशार्णाधिपतेः सुदाम्नश्चारुदर्शने ॥ १४ ॥

मैं और तेरी माता, दशार्ण देश के अधिपति राजा सुदामा की सुन्दरी कन्या है ॥१४॥

भीमस्य राज्ञः सा दत्ता वीरबाहोरहं पुनः ।
त्वन्तु जाता मया दृष्ट्वा दशार्णेषु पितुर्गृहे ॥ १५॥

राजा भीम के लिये तो बड़ी बहन को विवाह दिया और वीर-बाहु को मुझे सौंप दिया। जब तू उत्पन्न हो चुकी थी, तब मैंने तुझे दशार्ण देश में अपने पिता के घर देखा था ॥१५॥

यथैव ते पितुर्गेहं तथैव मम भाविनि ।
यथैव च ममैश्वर्य्यं दमयन्ति तथा तव ॥ १६ ॥

हे दमयन्ती ! जैसा तेरे पिता का घर तेरे लिये है, वैसा ही यह घर है और जो मेरी सम्पत्ति है, वह सब तू अपनी समझ ॥१६॥

तां प्रहृष्टेन मनसा दमयन्ती विशाम्पते ।
प्रणम्य मातुर्भगिनीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥

हे राजन्! अब दमयन्ती ने प्रसन्न मन से अपनी मौसी को प्रणाम किया और यह वचन कहा ॥१७॥

अज्ञायमानापि सतो सुखमस्मुपिता त्वयि ।
सर्वकामैः सुविहिता रक्ष्यमाना सदा त्वया ॥ १८ ॥

हे महाभागे! तुम्हारे बिना पहिचाने भी मैं तुम्हारे घर पर सुख से रही हूं। मेरी सारी कामना तुमने पूरी की और सदा मेरी रक्षा की है ॥१८॥

सुखात् सुखतरं वासो भविष्यति न संशयः ।
चिरविप्रोषितां मातर्मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ १९ ॥

हे माता! अब इस सुख से भी अधिक सुख से रहूंगी। मैं अपने बान्धवों से बहुत काल से बिछुड़ी हूँ, अब आप मुझे आज्ञा दीजिये ॥१९॥

दारकौ च हि मे नीतौ वसतस्तत्र बालकौ ।
पित्रा विहीनौ शोकार्त्तौ मया चैव कथं नु तौ ॥२०॥

मैंने अपने बान्धवों के पास दोनों बच्चों को भेज दिया है, वे मुझ माता और पिता से हीन होकर शोक-सहित कैसे दिन व्यतीत कर रहे होंगे ॥२०॥

यदि चापि प्रियं किञ्चिन्मयि कर्त्तुमिहेच्छसि ।
विदर्भान् यातुमिच्छामि शीघ्रं मे यानमादिश ॥२१ ॥

अब यदि तुम मेरा कुछ भी हित करना चाहती हो, तो मुझे सवारी तय्यार कराओ, मैं विदर्भ देश को जाना चाहती हूं।

बाढ़मित्येव तामुक्त्वा हृष्टा मातृस्वसां नृप ।
गुप्तां बलेन महता पुत्रस्यानुमते ततः ॥ २२ ॥
प्रास्थापयद्राजमाता श्रीमतीं नरवाहिना ।
यानेन भरतश्रेष्ठ स्वन्नपानपरिच्छदाम् ॥ २३ ॥

हे नृप ! प्रसन्न हुई राजमाता ने अपनी बहन की पुत्री दमयन्ती से कहा—अच्छी बात है । अब राजमाता ने अपने पुत्र की इच्छानुसार बड़ी भारी सेना से सुरक्षित, दमयन्ती को अन्न, पान और वस्त्रों के सहित पालकी में बैठा कर विदा किया २२-२३ः

ततः सा नचिरादेव विदर्भानगमत् पुनः ।
तान्तु बन्धुजनः सर्वः प्रहृष्टः समपूजयत् ॥ २४ ॥

अब यह थोड़े ही समय में विदर्भ देश में पहुंच गई । वहां इसका बन्धु जनों ने बड़ा सत्कार किया ॥२४॥

सर्वान् कुशलिनो दृष्ट्वा बान्धवान् दारकौ च तौ ।
मातरं पितरञ्चोभौ सर्वञ्चैव सखीजनम् ॥ २५ ॥
देवताः पूजयामास ब्राह्मणांश्च यशस्विनी ।
परेण विधिना देवि दमयन्ती विशाम्पते ॥ २६ ॥

सारे बान्धव और अपने दोनों बच्चे, माता पिता, सारे सखी जनों को कुशल से देख कर, यशस्विनी दमयन्ती ने सारे देवता और ब्राह्मणों की उत्तम विधि से पूजा की ॥२५-२६॥

अतर्पयत् सुदेवञ्च गोसहस्रेण पार्थिवः ।
प्रीतो दृष्ट्वैव तनयां ग्रामेण द्रविणेन च ॥ २७ ॥

अपनी पुत्री को देखकर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और इसने सुदेव ब्राह्मण को एक सहस्त्र गाय, गांव और धन से सन्तुष्ट किया ॥ २७ ॥

सा व्युष्टा रजनीन्तत्र पितुर्वेश्मनि भाविनी ।
विश्रान्ता मातरं राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ २८ ॥

हे राजन् ! इस दमयन्ती ने पिता के घर पर एक ही दिन विश्राम किया और दूसरे दिन अपनी माता से यह वचन कहा ।

दमयन्त्युवाच—

मांचेदिच्छसि जीवन्तीं मातः सत्यं ब्रवीमि ते ।
नरवीरस्य वै तस्य नलस्यानयने यत ॥ २९ ॥

दमयन्ती बोली—हे माता ! यदि तू मुझे जीवित देखना चाहती है, तो मैं तुम से सत्य कहती हूं, कि तुम राजा नल के खोजने में प्रयत्न करो ॥ २९ ॥

दमयन्त्या तथोक्ता तु सा देवी भृशदुःखिता ।
बाष्पेनापिहिता राज्ञी नोत्तरं किञ्चिदब्रवीत् ॥ ३० ॥

जब दमयन्ती ने यह कहा—तो दमयन्ती की माता बड़ी दुःखित हुई । वह आंसुओं से भीग गई और कुछ न बोली ॥

तदवस्थान्तु तां दृष्ट्वा सर्वमन्तः पुरं तदा ।
हाहाभूतमभूत्तीद् भृशञ्च प्ररुरोद ह ॥ ३१ ॥

इस अवस्था को देख कर सारे रनवास में हा हा कार मच गया और वह अत्यन्त विलाप करने लगी ॥ ३१ ॥

ततो भीमं महाराजं भार्य्या वचनमब्रवीत् ।
दमयन्ती तव सुता भर्त्तारमनुशोचति ॥ ३२ ॥

अब एक दिन महाराज भीम से उनकी रानी ने यह वचन कहा—हे राजन्! आपकी पुत्री दमयन्ती अपने पति की बहुत चिन्ता करती है ॥३२॥

अपकृष्य च लज्जां सा स्वयमुक्तवती नृप ।
प्रयतन्तु तव प्रेष्याः पुण्यश्लोकस्य मार्गणे ॥३३॥

हे नृप! इसने लज्जा छोड़ कर स्वयं कहा है। अब तुम्हारे सेवक राजा नल की खोज में जाने चाहिए ॥ ३३ ॥

तया प्रदेशितो राजा ब्राह्मणान् वशवर्त्तिनः ।
प्रास्थापयद्दिशः सर्वा यतध्वं नलमार्गणे ॥३४॥

रानी के इतने कहने पर राजा ने अपने वशवर्ती ब्राह्मणों को सब दिशाओं में भेज दिया और कहा—कि तुम नल के खोजने में प्रयत्न करो ॥ ३४ ॥

ततो विदर्भाधिपतेर्नियोगाद् ब्राह्मणास्तदा ।
दमयन्तीमथो दृत्वा प्रस्थितास्ते तथाब्रुवन् ॥३५॥

इसके अनन्तर विदर्भ राज, भीम की आज्ञा से सारे ब्राह्मण, दमयन्ती के पास जाकर उससे कहा कि हम जाते हैं ॥३५॥

अथ तानब्रवीद्भैमी सर्वराष्ट्रेष्विदं वचः ।
ब्रूयास्तज्जनसंसत्सु तत्र तत्र पुनःपुन ॥३६ ॥

इन ब्राह्मणों से दमयन्ती ने कहा—सारे राष्ट्रों में घूमकर सभा के मध्य में जहां तहां यह वचन कहना ॥३६॥

क्व नु त्वं कितव च्छित्वा वस्त्रार्द्धं प्रस्थितो मम ।
उत्सृज्य विपिने सुप्तामनुरक्तां प्रियां प्रिय ॥३७॥

हे छली ! तुम आधे वस्त्र को फाड़ कर और अपनी प्रिय, अनुरक्त भार्या को वन में सोती हुई छोड़कर कहाँ चले गए ॥

सा वै यथा त्वया दिष्टा तथास्ते त्वत्प्रतीक्षिणी ।
दह्यमाना भृशं बाला वस्त्रार्द्धेनाभिसंवृता ॥३८॥

तूने जैसा उसको वचन दिया था, वह उनके पूरा करने की प्रतीक्षा कर रही है । यह बाला आधे वस्त्र को पहने हुए अत्यन्त संतापित हो रही है ॥ ३८ ॥

तस्या रुदन्त्याः सततं तेन शोकेन पार्थिव ।
प्रसादं कुरु वै वीर प्रतिवाक्यं वदस्व च ॥३९॥

हे राजन् ! उस शोक से सदा रोती हुई, उस अपनी भार्या पर प्रसन्न हो जाओ और उसको उत्तर देकर अनुगृहीत कर ।३९

एवमन्यच्च वक्तव्यं कृपां कुर्याद्यथा मयि ।
वायुना धूयमानो हि वनं दहति पावकः ॥४०॥

तुम इस प्रकार या अन्य कुछ ऐसी ही बातें करना जिससे वह मुझ पर कृपा कर दें । वायु से प्रेरित किया हुआ अग्नि, सारे

वन को जला डालता है, इसी तरह तुम्हारी प्रेरणा से वह मुझ पर द्रवित होकर अपने को प्रकट कर देगा ॥४०॥

भर्त्तव्या रक्षणीया च पत्नी हि पतिना सदा ।
तन्नष्टमुभयं कस्माद्धर्मज्ञस्य सतस्तव ॥४१॥

पति को सदा पत्नी का भरण पोषण और रक्षा करनी उचित है। तुम धर्मात्मा ने इन अपने दोनों कर्त्तव्यों का क्यों परित्याग कर दिया ॥ ४१ ॥

ख्यातः प्राज्ञः कुलीनश्च सानुक्रोशो भवान् सदा ।
संवृत्तो निरनुक्रोशः शङ्के मद्भाग्यसंक्षयात् ॥४२॥

तुम तो प्रसिद्ध बुद्धिमान, कुलीन और दयालु हो परन्तु मेरे ऊपर तो तुम कठोर होगए हो, यह मेरे भाग्य को ही लीला है ॥

तत् कुरुष्व नरव्याघ्र दयां मयि नरर्षभ ।
आनृशंस्यं परो धर्मस्त्वत्त एव हि मे श्रुतः ॥४३॥

हे नर व्याघ्र ! तुम मेरे ऊपर दया करो । किसी के साथ नीच व्यवहार न करना हो परम धर्म है, यह मैंने तुम से ही सुना है ॥ ४३ ॥

एवं ब्रुवाणान् यदि वः प्रतिब्रूयाद्धि किश्चन ।
स नरः सर्वथा ज्ञेयः कश्चासौ क नु वर्तते ॥४४॥

इस प्रकार तुम्हारे कहने पर यदि कोई मनुष्य कुछ कहे, तो तुम उस मनुष्य का पता लगाओ, कि वह कौन है और कहां का रहने वाला है ॥ ४४ ॥

यश्चैवं वचनं श्रुत्वा ब्रूयात् प्रतिवचो नरः ।
तदादाय वचस्तस्य ममावेद्यं द्विजोत्तमाः ॥४५॥

हे द्विज श्रेष्ठो ! इस वचन को सुनकर जो मनुष्य कुछ उत्तर दे, उसके वचन को याद रख के तुम मुझसे कहना ॥४५॥

यथा च वो न जानीयाद् ब्रुवतो मम शासनात् ।
पुनरागमनञ्चैव तथा कार्य्यमतन्द्रितैः ॥४६॥

मेरे कथन के अनुसार कहते हुए कोई मनुष्य, तुम्हारी ठीक पहचान में न आवे, तो आलस्य छोड़कर तुमको मेरे पास आना चाहिए ॥ ४६ ॥

यदि वासौ समृद्धः स्याद्यदि वाप्यधनो भवेद् ।
यदि वाप्यसमर्थः स्याज्ज्ञेयमस्य चिकीर्षितम् ॥४७॥

यदि तुम, ऐसा मनुष्य देखो, तो चाहे वह धनवान् हो या निर्धन, समर्थ हो या असमर्थ, उसकी सारी चेष्टाओं का तुम पता ले आना ॥४७॥

एवमुक्तास्त्वगच्छंस्ते ब्राह्मणाः सर्वतो दिशः ।
नलं मृगयितुं राजंस्तदा व्यसनिनं तथा ॥४८॥

हे राजन् ! जब दमयन्ती, ब्राह्मणों से इस प्रकार कह चुकी, तो वे ब्राह्मण, विपत्ति में ग्रस्त राजा नल की खोज के लिए सब दिशाओं को चल दिए ॥४८॥

ते पुराणि सराष्ट्राणि ग्रामान् घोषांस्तथाश्रमान् ।
अन्वेषन्तो नलं राजन्नाधिजग्मुर्द्विजातयः ॥४९॥

महाभारत चित्र संख्या ३२



दमयन्ती और हंस

महाभारत वन पर्व अ० ५३/२६ पृष्ठ २८६

पापूलर प्रेस, देहली।

नलस्तं प्रत्युवाचाथ दूरे भ्रष्टः पटस्तव ।
योजनं समतिक्रान्तो नाहर्त्तुं शक्यते पुनः ॥५॥

उस समय में नल ने कहा आपका वस्त्र तो बहुत दूर गिरा है। हमतो एक योजन (चार कोस) निकल आए, अब यह वार्ष्णेय, उसको नहीं ला सकता है ॥ ५ ॥

एवमुक्तो नलेनाथ तदा भाङ्गासुरिर्नृपः ।
आससाद वने राजन् फलवन्तं बिभीतकम् ॥६॥

हे राजन्! जब राजा नल ने ऋतुपर्ण से इतना कहा—तो उस समय राजा ऋतुपर्ण ने एक फलों से भरा हुआ, बहेडे का वृक्ष देखा ॥६॥

तं दृष्ट्वा बाहुकं राजा त्वरमाणोऽभ्यभाषत ।
ममापि सूत पश्य त्वं संख्याने परमं बलम् ॥७॥

इसको देखकर राजा ऋतुपर्ण ने बड़ी शीघ्रता से बाहुक से कहा—हे बाहुक! तुम, गणित में हमारा भी कौशल देखो ॥७॥

सर्वः सर्वं न जानाति सर्वज्ञो नास्ति कश्चन ।
नैकत्र परिनिष्ठास्ति ज्ञानस्य पुरुषे क्वचित् ॥८॥

सब मनुष्य सब कुछ नहीं जान सकते हैं। किसी भी एक पुरुष में ज्ञान की समाप्ति नहीं होती है ॥८॥

वृक्षेऽस्मिन् यानि पर्णानि फलान्यपि च बाहुक ।
पतितान्यपि यान्यत्र तत्रैकमधिकं शतम् ॥९॥

हे बाहुक ! इस वृक्ष में से जितने पत्ते और फल पृथिवी पर गिरे हुए हैं, वे सब एक सौ एक हैं ॥९॥

एकमत्राधिकं पत्रं फलमेकञ्च बाहुक ।
पञ्चकोट्योथ पत्राणां द्वयोरपि च शाखयोः ॥१०॥

इन पत्तों और फलों में सौ से एक अधिक है। इस वृक्ष की इन दोनों शाखाओं में पांच करोड़ पत्ते हैं ॥१०॥

प्रचिनु ह्यस्य शाखे द्वे याश्चाप्यन्याः प्रशाखिकाः ।
आभ्यां फलसहस्रे द्वे पञ्चोनं शतमेव च ॥११॥

इसकी इन दोनों शाखाओं को तथा इसकी छोटी शाखाओं को चुन लो, जिन में दो हजार पिच्चानवे फल हैं ॥११॥

ततो रथमवस्थाप्य राजानं बाहुकोऽब्रवीत् ।
परोक्षमिव मे राजन् कत्थसे शत्रुकर्षण ॥१२॥

अब रथ को ठहराकर बाहुक ने राजा से कहा, हे शत्रु विजयी! राजन् ! तुम तो एक परोक्ष की बात कह रहे हो ॥१२॥

प्रत्यक्षमेतत् कर्त्तास्मि शातयित्वा बिभीतकम् ।
अथात्र गणिते राजन् विद्यते न परोक्षता ॥१३॥

हे राजन् ! मैं तो इस बहेड़े के वृक्ष को काट कर प्रत्यक्ष करूंगा। इसके गिन लेने पर फिर गोलमाल बात न रहेगी ॥१३

प्रत्यक्षं ते महाराज शातयिष्ये बिभीतकम् ।
अहं हि नाभिजानामि भवेदेवं न वेति वा ॥१४॥

हे महाराज ! मैं तो इस वृक्ष का आपके सामने ही काटूँगा। मुझे तो पता नहीं है, कि तुम्हारा कथन सत्य है या मिथ्या है।

संख्यास्यामि फलान्यस्य पश्यतस्ते जनाधिप ।
मुहूर्त्तमपि वार्ष्णेयो रश्मीन् यच्छतु वाजिनाम् ॥१५॥

हे नराधिप ! मैं तुम्हारे देखते २ इसके फलों को भी गिन डालूंगा। थोड़ी देर यह वार्ष्णेय इन घोड़ों को रास थाम ले ॥१५

तमब्रवीन्नृपः सूतं नायं कालो विलम्बितुम् ।
बाहुकस्त्वब्रवीदेनं परं यत्नं समास्थितः ॥१६॥

इस समय बाहुक सारथि से राजा ने कहा—यह समय देर करने का नहीं है। बाहुक ने कहा--मैंने इस के लिये बड़ा प्रयत्न किया है ॥१६॥

प्रतीक्षस्व मुहूर्त्तं त्वमथवा त्वरते भवान् ।
एष याति शिवः पन्थाः याहि वार्ष्णेयसारथिः ॥१७॥

तुम थोड़ी देर ठहर जाओ और जो आपको जल्दी है, तो यह सुन्दर मार्ग पड़ा है, वार्ष्णेय को सारथि बना कर जा सकते हो

अब्रवीदृतुपर्णस्तु सान्त्वयन् कुरुनन्दन ।
त्वमेव यन्ता नान्योऽस्ति पृथिव्यामपि बाहुक ॥१८॥

हे कुरुनन्दन ! इसको शान्त करता हुआ राजा ऋतुपर्ण बोला—हे बाहुक ! इस पृथिवी पर तू ही एक सारथि है। तेरे समान अन्य कोई सारथि नहीं है ॥१८॥

त्वत्कृते यातुमिच्छामि विदर्भान् हयकोविद ।
शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि न विघ्नं कर्तुमर्हसि ॥१९॥

हे अश्व-कोविद ! मैं तो तेरे कारण से ही विदर्भ देश को जाने को तय्यार हुआ हूं । अब तेरे अधीन हूं, तुम्हें 'इस में' विलम्ब नहीं करना चाहिये ॥१६

कामञ्च ते करिष्यामि यन्मां वक्ष्यसि बाहुक ।
विदर्भान् यदि यात्वाद्य सूर्य्यं दर्शयितासि मे ॥२०॥

हे बाहुक ! यदि तू आज विदर्भ देश में पहुंच कर मुझे सूर्य के दर्शन करा देगा, तो मैं जो तू कहेगा, वही पूरा कर दूंगा ॥२०॥

अथाब्रवीद्बाहुकस्तं संख्याय च विभीतकम् ।
ततो विदर्भं यास्यामि कुरुष्वैवं वचो मम ॥२१॥

बाहुक ने राजा से कहा—मैं प्रथम इस बहेड़े के वृक्ष को गिन कर फिर विदर्भ देश को चलूंगा, तुम मेरे वचन को पूरा करो ॥२१॥

अकाम इव तं राजा गणयस्वेत्युवाच ह ।
एकदेशश्च शाखायाः समादिष्टं मयानघ ॥२२॥
गणयस्वाश्वतत्त्वज्ञ ततस्त्वं प्रीतिमावह ।

राजा ने अपनी इच्छा के विरुद्ध उसको गिनने की अनुमति दे दी । हे अनघ ! मैंने तुमको यह एक शाखा के विषय में कहा है, हे अश्व-तत्वज्ञ, तू गिन ले, और प्रसन्न हो जा ॥ २२ ॥

सोऽवतीर्य्य रथात्तूर्णं शातयामास तं द्रुमम् ॥२३॥
ततः स विस्मयाविष्टो राजानमिदमब्रवीत् ।
गणयित्वा यथोक्तानि तावन्त्येव फलानि च ॥२४॥

इस राजा नल ने उतर कर वृक्ष को काट गिराया। तब यह अचम्भे में आकर राजा से बोला। हे राजन्! मैंने गिन लिये तुमने जो कहा था, उतने ही फल हैं॥ २३-२४॥

अत्यद्भुतमिदं राजन् दृष्टवानस्मि ते बलम्।
श्रोतुमिच्छामि ते विद्यां ययैतज्ज्ञायते नृप॥२५॥

हे राजन्। तुमने यह बड़ा अद्भुत कार्य किया। मैंने तुम्हारा विद्या बल जान लिया। हे नृप! मैं तुम्हारी इस विद्या को जानना चाहता हूं, जिससे तुमने यह सब कुछ बना दिया॥ २५॥

तमुवाच ततो राजा त्वरितो गमने नृपः।
विद्ध्यक्षहृदयज्ञं मां सङ्ख्याने च विशारदम्॥२६॥

राजा ऋतुपर्ण, जाने को बड़ा ही उत्सुक हो रहा था, तो भी बोला मैं पासे खेलने और गणित में बड़ा ही कुशल हूं॥२६॥

बाहुकस्तमुवाचाथ देहि विद्यामिमां मम।
मत्तोऽपि चाश्वहृदयं गृहाण पुरुषर्षभ॥२७॥

तब बाहुक ने कहा—हे पुरुषर्षभ तुम मुझे इस विद्या को प्रदान करो और मुझ से अश्वों की विद्या को सीख लो॥ २७।

ऋतुपर्णस्ततो राजा बाहुकं कार्य्यगौरवात्।
हयज्ञानस्य लोभाच्च तं तथेत्यब्रवीद्वचः॥२८॥

इसके बाद राजा ऋतुपर्ण ने अपने स्वार्थ और अश्व विद्या के लोभ से उसको यह विद्या प्रदान करने का वचन दे दिया।२८

यथोक्तं त्वं गृहाणेदमक्षाणां हृदयं परम् ।
निक्षेपो मेऽश्वहृदयं त्वयि तिष्ठति बाहुक ॥२६॥

हे बाहुक ! लो तुम तो मेरे कथनानुसार अक्षों की विद्या ले लो और इसके बदले की अश्व-विद्या तुम्हारे पास धरोहर रहने दो ॥ २६ ॥

एवमुक्त्वा ददौ विद्यामृतुपर्णो नलाय वै ।
तस्याक्षहृदयज्ञस्य शरीरान्निःसृतः कलिः ॥३०॥

यह कह कर ऋतुपर्ण ने बाहुक को अक्ष विद्या प्रदान कर दी। जब यह पांसों के तत्व को जान गया, तो इसके शरीर से कलि-युग निकला ॥ ३० ॥

कर्कोटकविषं तीक्ष्णं मुखात् सततमुद्वमन् ।
कलेस्तस्य तदार्त्तस्य शापाग्निः स विनिःसृतः ॥३१॥

यह कलि, इस समय कर्कोटक सर्प के विष का वमन कर रहा था। इस समय क्लेशित कलि की शाप की आग भी निकली

स तेन कर्षितो राजा दीर्घकालमनात्मवान् ।
ततो विषविमुक्तात्मा स्वं रूपमकरोत् कलिः ॥३२॥

इसी शाप की आग से हृदय-शून्य राजा नल, बहुत काल से पीड़ित हो रहा था; अब विष से छुटकारा पाकर इस कलि ने अपना रूप धारण किया ॥ ३२ ॥

तं शप्तुमैच्छत् कुपितो निषधाधिपतिर्नलः ।
तमुवाच कलिर्भीतो वेपमानः कृताञ्जलिः ॥३३॥

राजा नल ने कुपित होकर इसको शाप देना चाहा। परन्तु इस समय भय भीत कलि ने हाथ जोड़ कर कांपते हुए कहा ॥ ३३॥

कोपं संयच्छ नृपते कीर्तिं दास्यामि ते पराम् ।
इन्द्रसेनस्य जननी कुपिता माशपत् पुरा ॥३४॥

हे राजन् ! तुम कोप को रोक लो। मैं तुमको अत्यन्त कीर्ति प्रदान करूंगा। इन्द्रसेन की माता दमयन्ती ने कोप करके मुझे शाप दिया है ॥ ३४ ॥

यदा त्वया परित्यक्ता ततोऽहं भृशपीड़ितः ।
अवसंस्त्वयि राजेन्द्र सुदुःखमपराजित ॥३५॥

हे विजय-शील ! जब तू ने दमयन्ती को छोड़ा है, तभी से मैं अत्यन्त पीड़ित हूँ। हे राजेन्द्र ! मैंने तुझमें बड़ी कठिनाई से वास किया है ॥ ३५॥

विषेण नागराजस्य दह्यमानो दिवानिशम् ।
शरणं त्वां प्रपन्नोऽस्मि शृणु चेदं वचो मम ॥३६॥

मैं नागराज के बिष से रात दिन जलता रहता हूं। अब मैं तेरी शरण में हूं, तू मेरे वचन सुन ॥ ३६ ॥

ये च त्वां मनुजा लोके कीर्तयिष्यन्त्यतन्द्रिताः ।
मत्प्रसूतं भयं तेषां न कदाचिद्भविष्यति ॥३७॥

जो मनुष्य, संसार में आलस्य छोड़कर तेरा कीर्तन करेंगे उनको मुझसे होने वाला भय कभी न होगा।॥३७॥

भयार्त्तं शरणं यातं यदि मां त्वं न शप्स्यसे ।
एवमुक्तो नलो राजा न्ययच्छत् कोपमात्मनः ॥३८॥

यह तब ही होगा, जब तुम, मुझे शाप नहीं दोगे। मैं भयातुर होकर आपकी शरण में आया हूं, इतना कहने पर राजा नल ने अपना कोप रोक लिया ॥ ३८ ॥

ततो भीतः कलिः क्षिप्रं प्रविवेश विभीतकम् ।
कलिस्त्वन्यैस्तदा दृश्यः कथयन्नैषधेन वै ॥३९॥

तब डर कर कलियुग बहेड़े के पेड़ में छुप गया। अब यह उन्हीं को दिखाई देता है, जो नल की कथा नहीं जानते हैं ॥३९॥

ततो गतज्वरो राजा नैषधः परवीरहा ।
संप्रनष्टे कलौ राजन् संख्यायास्य फलान्युत ॥४०॥
मुदा परमया युक्तस्तेजसाथ परेण वै ।
रथमारुह्य तेजस्वी प्रययौ जवनैर्हयैः ॥४१॥
विभीतकश्चाप्रशस्तः संवृत्तः कलिसंश्रयात् ।

शत्रु-विजयी राजा नल,दुःखों से रहित हो गया। जब कलियुग भाग गया और राजा नल ने इसके फलों को गिन लिया। तब अत्यन्त प्रसन्नता के साथ महान् तेज से युक्त होकर यह तेजस्वी राजा नल, वेगशील अश्वों से चल दिया। यह बहेड़े का वृक्ष, कलि का आश्रय होने से बुरा माना जाता है ॥४०-४१॥

हयोत्तमानुत्पततो द्विजानिव पुनः पुनः ॥४२॥
नलः सञ्चोदयामास प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
विदर्भाभिमुखो राजा प्रययौ स महायशाः ॥४३॥

पक्षियों की तरह उड़ते हुए घोड़ों को राजा नल, प्रसन्नता से और हांकने लगे। यह महायशस्वी राजा नल विदर्भ देश की ओर चल दिया ॥ ४२-४३ ॥

नले तु समतिक्रान्ते कलिरप्यगमद्गृहम् ।
ततो गतज्वरो राजा नलोऽभूत् पृथिवीपतिः ।
विमुक्तः कलिना राजन् रूपमात्रवियोजितः ॥४४ ॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलकलित्यागे
द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥७२॥

हे राजन्! जब इस स्थान से राजा नल चला गया, तो कलि भी अपने घर गया, इससे राजा नल भी इस समय सब शोकों से रहित होगया। अब कलि ने इनको सब तरह से छोड़ दिया, परन्तु अभी तक नल अपने रूप से रहित था ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्व में कलियुग
के नल को छोड़ देने का बहत्तरवां अध्याय
समाप्त हुआ।



तिहत्तरवां अध्याय

बृहदश्व उवाच—

ततो विदर्भान्संप्राप्तं सायान्हेणे सत्यविक्रमम् ।
ऋतुपर्णं जना राज्ञे भीमाय प्रत्यपादयन् ॥१॥

बृहदश्व बोले—हे राजन्! सायंकाल में राजा ऋतुपर्ण विदर्भ नगर में पहुंचे। इन सत्य विक्रमी ऋतुपर्ण के आने का समाचार लोगों ने राजा भीम को सुनाया ॥ १ ॥

स भीमवचनाद्राजा कुण्डिनं प्राविशत् पुरम् ।
नादयन्रथघोषेण सर्वाः सविदिशो दिशः ॥२॥

भीम की आज्ञा से राजा ऋतुपर्ण, कुण्डिनपुर में अपने रथ के नाद से दिशा और विदिशाओं को शब्दायमान करके प्रविष्ट हुआ ॥ २ ॥

ततस्तं रथनिर्घोषं नलाश्वास्तत्र शुश्रुवुः ।
श्रुत्वा तु समहृष्यन्त पुरेव नलसन्निधौ ॥३॥

वहां पर नल के अश्वों ने इस रथ का शब्द सुना। वे सुन कर इतने हर्षित हुए, जितने राजा नल के पास प्रसन्न होते थे ॥ ३ ॥

दमयन्ती तु शुश्राव रथघोषं नलस्य तम् ।
यथा मेघस्य नदतो गम्भीरं जलदागमे ॥४॥

दमयन्ती ने भी वर्षा ऋतु में गर्जते हुए मेघ के गम्भीर घोष के तुल्य नल के रथ का घोष सुना ॥४॥

एवं विस्मयमापन्ना श्रुत्वा नादं महास्वनम् ।
नलेन सगृहीतेषु पुरेव नलवाजिषु ॥५॥

पहिले नल के रथ चलाने के समय नल के अश्वों का जैसा शब्द होता था, वैसा ही उत्तम स्वर वाले इस शब्द को सुनकर दमयन्ती चकित सी हो गई, ॥५॥

सदृशं रथनिर्घोषं मेने भैमी तथा हयाः ।
प्रासादस्थाश्च शिखिनः शालास्थाश्चैव वारणाः ॥६॥
हयाश्च शुश्रुवुस्तस्य रथघोषं महीपतेः ।

दमयन्ती और अश्वों ने तथा महल में बैठे हुए मोरों और हाथी शाला के हाथियों ने राजा नल के रथ के घोष को पहचान लिया । इस राजा के रथ का घोष उन घोड़ों ने भी सुना ॥६॥

ते श्रुत्वा रथनिर्घोषं वारणाः शिखिनस्तथा ।
प्रणेदुरुन्मुखा राजन् मेघनाद इवोत्सुकाः ॥७॥

ये हाथी, और मोर, इस रथ के शब्द को सुनकर उत्कण्ठा से मेघों की गर्जना के तुल्य, मुख उठा कर शब्द करने लगे ॥७॥

दमयन्त्युवाच—

यथासौ रथनिर्घोषः पूरयन्निव मेदिनीम् ।
ममाल्हादयते चेतो नल एष महीपतिः ॥८॥

दमयन्ती बोली, यह रथ की ध्वनि, पृथिवी को भर रही है । इससे मेरे चित्त को यही आल्हाद होता है, कि यह राजा नल है ।

अथ चन्द्राभवक्त्रं तं न पश्यामि नलं यदि ।
असंख्येयगुणं वीरं विनङ्क्ष्यामि न संशयः ॥९॥

यदि आज चन्द्रमा के तुल्य मुख वाले अनेक गुण धारी नल को नहीं देखूंगी, तो मैं अपने को नष्ट कर लूंगी, इसमें सन्देह नहीं है ॥९॥

यदि चैतस्य वीरस्य बाह्वोर्नाद्याहमन्तरम् ।
प्रविशामि सुखस्पर्शं न भविष्याम्यसंशयम् ॥१०॥

यदि आज इस वीर की बाहु के मध्य में प्रवेश करके सुख प्राप्त नहीं किया, तो फिर जीवित नही रहूँगी ॥१०॥

यदि मां मेघनिर्घोषो नोपगच्छति नैषधः ।
अद्य चामीकरप्रख्यं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ॥११॥

जो मेघ के तुल्य स्वर धारी नल, मुझे प्राप्त नहीं हुआ, तो सुवर्ण के समान देदीप्यमान अग्नि में निश्चय प्रवेश कर लूंगी।

यदि मां सिंहविक्रान्तो मत्तवारणविक्रमः ।
नाभिगच्छति राजेन्द्रो विनङ्क्ष्यामि न संशय ॥१२॥

सिंह के तुल्य पराक्रमी, मस्त हाथी के समान वली, राजा नल प्राप्त नहीं हुआ, तो मैं अवश्य मर जाऊँगी ॥१२॥

न स्मराम्यनृतं किञ्चिन्न स्मराम्यपकारताम् ।
न च पर्युषितं वाक्यं स्वैरेष्वपि कदाचन ।
प्रभुः क्षमावान् वीरश्च दाता चाप्यधिको नृपैः ॥१३॥
रहोऽनीचानुवर्त्ती च क्लीबवन्मम नैषधः ।

मैंने न तो कभी मिथ्या व्यवहार किया और न कभी उसका अहित किया था एवं उपहास में भी कभी अनुचित वाक्य का प्रयोग नहीं किया। यह अन्य राजाओं से अधिक क्षमा शील, शक्ति-शाली, वीर, दानी है। यह पर स्त्रियोंके साथ उदार व्यवहार करने वाला और उनमें क्लीब है ॥१३॥

गुणांस्तस्य स्मरन्त्या मे तत्पराया दिवानिशम् ॥१४॥
हृदयं दीर्य्यत इदं शोकात् प्रियविनाकृतम्।
एवं विलपमाना सा नष्टसंज्ञेव भारत ॥१५॥

उसके गुणों का स्मरण और रात दिन उसकी चिन्ता करते हुए, अपने प्रिय से रहित मेरा हृदय, शोक से फटा सा जाता है हे भारत! इस तरह विलाप करती हुई दमयन्ती अचेत सी हो गई ॥१४-१५॥

आरुरोह महद्वेश्म पुण्यश्लोकदिदृक्षया।
ततो मध्यमकक्षायां ददर्श रथमास्थितम् ॥१६॥
ऋतुपर्णं महीपालं सहवार्ष्णेयबाहुकम्।

अब यह राजा नल के देखने की इच्छा से अपने विशाल महल में चढ़ी। इसने बीच की कक्षा (मंजिल) में जाकर खड़े हुए रथ को देखा, जिसमें वार्ष्णेय और बाहुक के साथ राजा-ऋतुपर्ण बैठे थे ॥१६॥

ततोऽवतीर्य्य वार्ष्णेयो बाहुकश्च रथोत्तमात् ॥१७॥
हयांस्तानवमुच्याथ स्थापयामास वै रथम्।

इस रथ से वार्ष्णेय और बाहुक ने उतर कर घोड़ों को खोला और रथ को खड़ा कर दिया ॥१७॥

सोऽवतीर्य्य रथोपस्थादृतुपर्णो नराधिपः ॥१८॥
उपतस्थे महाराजं भीमं भीमपराक्रमम् ।

राजा ऋतुपर्ण भी रथ से उतर कर, पराक्रमी महाराज भीम के पास पहुँचा ॥१८॥

तं भीमः प्रतिजग्राह पूजया परया ततः ॥१९॥
स तेन पूजितो राज्ञा ऋतुपर्णो नराधिपः ।
स तत्र कुण्डिने रम्ये वसमानो महीपतिः ॥२०॥
न च किञ्चित्तदापश्यत् प्रेक्षमाणो मुहुर्मुहुः ।

राजा भीम ने उसकी बड़ी भारी पूजा की। इससे सत्कार पाकर राजा ऋतुपर्ण, उस कुण्डिनपुर में रहने लगा। परन्तु उसने बड़े ध्यान से देखने पर भी स्वयम्बर का कोई ढंग नहीं देखा ॥१९-२०॥

स तु राज्ञा समागम्य विदर्भपतिना तदा ॥२१॥
अकस्मात् सहसा प्राप्तं श्रीमन्तं न स्म विन्दति ।

अब विदर्भ देश के अधिपति राजा भीम आए। इन्होंने अचानक आये हुए राजा ऋतुपर्ण का क्या अभिप्राय है, यह कुछ भी नहीं जाना ॥२१॥

किं कार्य्यं स्वागतं तेऽस्तु राज्ञा पृष्टः स भारत ॥२२॥
नाभिजज्ञे स नृपतिर्दुहित्रर्थे समागतम् ।

हे भारत! राजा भीम ने राजा ऋतुपर्ण से कहा—आपका स्वागत हो, कहिए क्या आज्ञा है। इस राजा ने यह बिल्कुल नहीं जाना, कि यह मेरी पुत्री के ग्रहण करने को आया है ॥२२॥

ऋतुपर्णोऽपि राजा स धीमान् सत्यपराक्रमः ॥२३॥
राजानं राजपुत्रं वा न स्म पश्यति कञ्चन ।
नैव स्वयम्वरकथां न च विप्रसमागमम् ॥२४॥

राजा ऋतुपर्ण भी बड़ा बुद्धिमान् और सत्य पराक्रमी था। इसने भी यहां किसी राजा या राज-पुत्र तथा कहीं पर स्वयम्वर की कथा या ब्राह्मणों का समागम नहीं देखा ॥२३-२४॥

ततो विगणयन्राजा मनसा कोशलाधिपः ।
आगतोऽस्मीत्युवाचैनं भवन्तमभिवादकः ॥२५॥

अब कोशल देश के राजा ऋतुपर्ण ने मन से समझ लिया और इनसे कहा, कि मैं तो आपके दर्शन करने आया हूँ ॥२५॥

राजापि च स्मयन् भीमो मनसा समचिन्तयत् ।
अधिकं योजनशतं तस्यागमनकारणम् ॥२६॥

राजा भीम, हंसने लगा और सौ योजन से अधिक दूर आने का कारण विचारने लगा ॥२६॥

राज्ञश्चान्यानतिक्रम्य प्राप्तोऽयमभिवादकः ।
ग्रामान् बहूनतिक्रम्य नाभ्यगच्छद्यथातथम् ॥२७॥

यह अन्य राजाओं तथा अनेक ग्रामों का अतिक्रमण करके केवल नमस्कार करने कैसे आ सकता है। इससे राजा भीम अब तक कुछ भी ठीक कारण नहीं समझ सका ॥२७॥

अल्पकार्य्यं विनिर्दिष्टं तस्यागमनकारणम् ।
पश्चादुदर्के ज्ञास्यामि कारणं यद्भविष्यति ॥२८॥

इसने तो आने का बहुत ही छोटा कारण बताया है। खैर? सूर्योदय होने पर जो कारण होगा, मालूम हो जावेगा ॥२८॥

नैतदेवं स नृपतिस्तं सत्कृत्य व्यसर्जयत् ।
विश्राम्यतामित्युवाच क्लान्तोऽसीति पुनः पुनः ॥२९॥

इस समय में सत्कार करके राजा भीम ने इनको विदा नहीं किया और कहा कि आप बहुत थक रहे हैं, पहिले विश्राम कर लीजिए ॥ २६ ॥

स सत्कृतः प्रहृष्टात्मा प्रीतः प्रीतेन पार्थिवः ।
राजप्रेष्यैरनुगतो दिष्टं वेश्म समाविशत् ॥३०॥

प्रसन्न हुए राजा भीम ने इस राजा ऋतुपर्ण का बड़ा सत्कार किया। वहराज-सेवकों के साथ चल दिया और बताए हुए भवन में प्रविष्ट हुआ ॥३०॥

ऋतुपर्णे गते राजन् वार्ष्णेयसहिते नृपे ।
बाहुको रथमादाय रथशालामुपागमत् ॥३१॥

हे राजन्! वार्ष्णेय के साथ राजा ऋतुपर्ण के चले जाने पर बाहुक रथ लेकर रथ शाला को चल दिया ॥३१॥

स मोचयित्वा तानश्वान्नुपचर्य्य च शास्त्रतः ।
स्वयञ्चैतान् समाश्वास्य रथोपस्थ उपाविशत् ॥३२॥

इन ब्राह्मणों ने पुर, राष्ट्र, गांव, घोप, आश्रम, सब कुछ छान डाले, परन्तु राजा नल का कहीं भी पता नहीं लगा ॥४६॥

तच्च वाक्यं तथा सर्वे तत्र तत्र विशाम्पते ।
श्रावयाञ्चक्रिरे विप्रा दमयन्त्या यथेरितम् ॥५०॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलान्वेषणे
एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥६६॥

हे विशाम्पते ! वे सारे ब्राह्मण, दमयन्ती के वाक्य को जहां तहां देश विदेशों में सुनाते हुए घूमने लगे ॥५०॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्व में नल के
अन्वेषण का उनसठवां अध्याय पूरा हुआ ।



सत्तरवां अध्याय

बृहदश्व उवाच—

अथ दीर्घस्य कालस्य पर्णादो नाम वै द्विजः ।
प्रत्येत्य नगरं भैमीमिदं वचनमब्रवीत् ॥१॥

बृहदश्व ने कहा—हे राजन् ! बहुत काल चले जाने पर पर्णाद नामक ब्राह्मण, विदर्भ नगर में आकर दमयन्ती से कहने लगा ॥१॥

नैषधं मृगमाणेन दमयन्ति मया नलम् ।
अयोध्यां नगरीं गत्वा भाङ्गासुरिरुपस्थितः ॥२॥

हे दमयन्ती ! निषधराज नल को खोजते हुए, मैं अयोध्या नगरी में भङ्गासुर के पुत्र राजा ऋतुपर्ण के यहां पहुंचा ॥२॥

श्रावितश्च मया वाक्यं त्वदीयं स महाजने ।
ऋतुपर्णो महाभागो यथोक्तं वरवर्णिनि ॥३॥
तच्छ्रुत्वा नाब्रवीत् किञ्चिदृतुपर्णो नराधिपः ।
न च पारिषदः कश्चिद्भाष्यमानो मयासकृत् ॥४॥

हे सुन्दरि ! वहां मैंने जन समूह में तेरे वचन सुनाए। परन्तु महाभाग, राजा ऋतुपर्ण, उन वचनों को सुनकर कुछ नहीं बोला और मेरे बार २ कहने पर भी किसी सभासद् ने नहीं कहा ॥ ३-४ ॥

अनुज्ञातन्तु मां राज्ञा विजने कश्चिदब्रवीत् ।
ऋतुपर्णस्य पुरुषो बाहुको नाम नामतः ॥५॥

जब राजा ने मुझे लौटने की आज्ञा देदी, तो एकान्त में राजा ऋतुपर्ण का पुरुष, बाहुक, मुझसे कहने लगा ॥५॥

सूतस्तस्य नरेन्द्रस्य विरूपो ह्रस्वबाहुकः ।
शीघ्रयानेषु कुशलो मिष्टकर्त्ता च भोजने ॥६॥

यह पुरुष, उस राजा का सारथि है, जो बड़ा कुरूप और छोटे २ हाथ वाला है। यह अश्वों के शीघ्र चलाने और भोजन बनाने में बड़ा कुशल है ॥६॥

स विनिश्वस्य बहुशो रुदित्वा च पुनः पुनः ।
कुशलञ्चैव मां पृष्ट्वा पश्चादिदमभाषत ॥७॥

इसने बार२ सांस लेकर और खूब रो कर तथा तुम्हारी कुशल पूछ कर पीछे यह कहा ॥७॥

वैषम्यमपि सम्प्राप्ता गोपायन्ति कुलस्त्रियः ।
आत्मानमात्मना सत्यो जितः स्वर्गो न संशयः ॥८॥

विपत्ति को पाकर भी कुल स्त्री अपने आप अपनी रक्षा कर लेती हैं। इसने सत्य स्वर्ग को जीत लिया है, इसमें संशय नहीं है ॥८॥

रहिता भर्तृभिश्चैव न कुप्यन्ति कदाचन ।
प्राणांश्चारित्रकवचान् धारयन्ति वरस्त्रियः ॥९॥

इनको यदि पति छोड़ भी दे, तो भी ये उत्तम नारी कभी कोप नहीं करती हैं और सदाचार के कवच सहित अपने प्राणों को बचाये रखती हैं ॥९॥

विषमस्थेन मूढेन परिभ्रष्ट सुखेन तु ।
यत् सा तेन परित्यक्ता तत्र न क्रोद्धुमर्हति ॥१०॥

विपत्ति में ग्रस्त, अचेत हुए, सुख रहित पति ने यदि इसे छोड़ दिया, तो उसका कोप नहीं करना चाहिए ॥ १० ॥

प्राणयात्रां परिप्रेप्सोः शकुनैर्हृतवाससः ।
आधिभिर्दह्यमानस्य श्यामा न क्रोद्धुमर्हति ॥११॥

वह पुरुष, अपनी प्राण यात्रा चलाना चाहता था, जिसके कपड़े भी पक्षी ले उड़े थे। यह अपने मानसिक दुःख से बड़ा क्लेशित था, इस पर उस सुन्दरी को कोप नहीं करना चाहिए।

सत्कृतासत्कृता वापि पतिं दृष्ट्वा यथागतम् ।
भ्रष्टराज्यं श्रिया हीनं क्षुधितं व्यसनाप्लुतम् ॥१२॥

इसने इस भार्या का सत्कार किया, अगर असत्कार किया तो श्री राज्य से भ्रष्ट, श्री से हीन, भूखे, विपत्ति ग्रस्त पतिको देखकर इसको कोप करना उचित नहीं है ॥१२॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा त्वरितोऽहमिहागतः ।
श्रुत्वा प्रमाणं भवती राज्ञश्चैव निवेदय ॥१३॥

मैं उसके ये वचन सुनकर दौड़कर यहां आया हूं। यह सुनकर अब आप जाने या अपने पिता राजा भीम से कह दे ॥१३॥

एतच्छ्रुत्वाश्रुपूर्णाक्षी पर्णादस्य विशाम्पते ।
दमयन्ती रहोऽभ्येत्य मातरं प्रत्यभाषत ॥१४॥

हे विशाम्पते ! पर्णाद ब्राह्मण के ये वचन सुनकर दमयन्ती के आंसू निकल पड़े और यह दमयन्ती, एकान्त में अपनी माता के पास जाकर यह वचन बोली ॥१४॥

अयमर्थो न संवेद्यो भीमे मातः कदाचन ।
त्वत्सन्निधौ नियोक्ष्येऽहं सुदेवं द्विजसत्तमम् ॥१५॥

हे माता ! तुम इस बात को राजा भीम, मेरे पिता, से न कहना। मैं तेरे सामने सुदेव ब्राह्मण को इस काम में लगाती हूँ।

यथा न नृपतिर्भीमः प्रतिपद्येत मे मतम् ।
तथा त्वया प्रकर्त्तव्यं मम चेत् प्रियमिच्छसि ॥१६॥

हे माता ! जो तुम मेरा हित चाहती हो तो राजा भीम, मेरी इस सारी क्रिया को न जान सके, ऐसा उपाय करो ॥१६॥

तथा चाहं समानीता सुदेवेनाशु बान्धवान् ।
तेनैव मङ्गलेनाशु सुदेवो यातु माचिरम् ॥१७॥
समानेतुं नलं मातरयोध्यां नगरीमितः ।

सुदेव ने जिस शीघ्रता से मुझे अपने बन्धुओं से मिला दिया, उन्हीं मङ्गल क्रियाओं के साथ वह शीघ्र यहां से राजा नल के लाने को अयोध्या चला जावे, देर न करे ॥१७॥

विश्रान्तन्तु ततः पश्चात् पर्णादं द्विजसत्तमम् ॥१८॥
अर्चयामास वैदर्भी धनेनातीव भाविनी ।
नले चेहागते विप्र भूयो दास्यामि ते वसु ॥१९॥

जब पर्णाद ब्राह्मण ने विश्राम कर लिया, तो महाभागा दमयन्ती ने बहुत से धन से उसकी पूजा की हे ब्राह्मण ! जब राजा नल यहां आ जावेंगे, तब मैं तुमको और द्रव्य दूंगी ॥१९॥

त्वया हि मे बहु कृतं यदन्यो न करिष्यति ।
यद्भर्त्राहं समेष्यामि शीघ्रमेव द्विजोत्तम ॥२०॥

हे द्विजोत्तम ! तूने मेरे साथ बड़ा उपकार किया है, जो अन्य नहीं कर सकता है। इससे मैं शीघ्र ही अपने पति से मिल जाऊंगी ॥ २० ॥

स एवमुक्तोऽथाश्वास्य आशीर्वादैः सुमङ्गलैः ।
गृहानुपययौ चापि कृतार्थः सुमहामनाः ॥२१॥

दमयन्ती ने जब ब्राह्मण से इतना कहा, तो वह ब्राह्मण भी मङ्गल वस्तुओं के साथ आशीर्वाद से आश्वासन देकर अपने घर गया। यह मनस्वी ब्राह्मण उस समय बड़ा सन्तुष्ट था ॥२१॥

ततः सुदेवमाभाष्य दमयन्ती युधिष्ठिर।
अब्रवीत् सन्निधौ मातुर्दुःखशोकसमन्विता ॥२२॥

हे युधिष्ठिर! ब्राह्मण से इतना कहकर दुःख और शोक सहित दमयन्ती, अपनी माता के सन्मुख सुदेव ब्राह्मण से बोली।

गत्वा सुदेव नगरीमयोध्यावासिनं नृपम्।
ऋतुपर्णं वचो ब्रूहि संपतन्निव कामगः ॥२३॥
आस्थास्यति पुनर्भैमी दमयन्ती स्वयम्वरम्।
तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः ॥२४॥
यथा च गणितः कालः श्वोभूते स भविष्यति।
यदि सम्भावनीयन्ते गच्छ शीघ्रमरिन्दम ॥२५॥

हे सुदेव! तुम अयोध्या नगरी में मन के तुल्य शीघ्र जाकर अयोध्यावासी राजा ऋतुपर्ण से कहना, कि भीम-कन्या, दमयन्ती अपना दूसरा स्वयम्वर करेगी। इस लिये वहां अनेक राजा और राजपुत्र जा रहे हैं। इस स्वयम्वर की नियत की हुई तिथि कल है। हे अरिमर्दन! यदि तुम जा सको—तो शीघ्र पहुंचो।

सूर्य्योदये द्वितीयं सा भर्त्तारं वरयिष्यति।
न हि स ज्ञायते वीरो नलो जीवति वा न वा ॥२६॥

कल सूर्योदय होते ही वह दूसरे पति को वर लेगी। अब इसका कुछ पता नहीं है, कि राजा नल जीता है या नहीं ॥२६॥

एवं तया यथोक्तो वै गत्वा राजानमब्रवीत्।
ऋतुपर्णं महाराज सुदेवो ब्राह्मणस्तदा ॥२७॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि दमयन्तीपुनःस्वयम्वरकथने सप्ततितमोऽध्यायः ॥७०॥

हे महाराज! दमयन्ती ने सुदेव से जिस तरह कहा था, उस सुदेव ब्राह्मण ने भी राजा ऋतुपर्ण के पास जाकर ज्यों का त्यों कह सुनाया ॥२७॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्व में दमयन्ती के पुनः स्वयम्वर का सत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ।



इकहत्तरवाँ अध्याय

बृहदश्व उवाच—

श्रुत्वा वचः सुदेवस्य ऋतुपर्णो नराधिपः।
सान्त्वयन् श्लक्ष्णया वाचा बाहुकं प्रत्यभाषत ॥१॥

बृहदश्व ने कहा—हे राजन्! राजा ऋतुपर्ण, सुदेव के वचन सुन कर, मधुर वाणी से बाहुक को समझाता हुआ बोला।

विदर्भं यातुमिच्छामि दमयन्त्याः स्वयम्वरम्।
एकाह्ना हयतत्त्वज्ञ मन्यसे यदि बाहुक ॥२॥

हे बाहुक! तुम अश्वों के तत्व को जानते हो। मैं दमयन्ती के स्वयम्वर में विदर्भ नगर को कल ही एक दिन में पहुंचना चाहता हूं—कहिये तुम्हारी क्या सम्मति है ॥२॥

एवमुक्तस्य कौन्तेय तेन राज्ञा नलस्य ह ।
व्यदीर्य्यत मनो दुःखात् प्रदध्यौ च महामनाः ॥३॥

हे युधिष्ठिर ! राजा ऋतुपर्ण के इतना कहने पर दुःख से नल का हृदय फटने लगा और वह मनस्वी, कुछ ध्यान मग्न सा हो गया ॥३॥

दमयन्ती भवेदेतत् कुर्य्याद्दुःखेन मोहिता ।
अस्मदर्थे भवेद्वायमुपायश्चिन्तितो महान् ॥४॥

दमयन्ती शायद दुःख से मोहित होकर ऐसा कर रही है या इसने हमारे मिलने का यह महान् उपाय निकाला है ॥४॥

नृशंसं वत वैदर्भी भर्तृकामा तपस्विनी ।
मया क्षुद्रेण निकृता कृपणा पापबुद्धिना ॥५॥

दुःखी दमयन्ती ने यह बहुत क्षुद्र कर्म करना चाहा है। वह भी क्या करे—मुझ क्षुद्र पापी ने उस दीन का बड़ा अपमान किया है ॥५॥

स्त्रीस्वभावश्चलो लोके मम दोषश्च दारुणः ।
स्यादेवमपि कुर्य्यात् सा विवाहाहृतसौहृदा ॥६॥

संसार में स्त्रियों का स्वभाव चञ्चल होता है और मेरा अपराध भी बड़ा ही दारुण है। वह यह सब कुछ कर भी सकती ह, क्योंकि बहुत दिन के वियोग से उसका प्रेम न्यून होगया होगा ॥६॥

मम शोकेन संविग्ना नैराश्याच्चतनुमध्यमा ।
नैवं सा कर्हिचित् कुर्य्यात्सापत्या च विशेषतः ॥७॥

मेरे शोक से व्याकुल होकर निराशा से यह सुन्दरी कभी ऐसा नहीं कर सकती है, जिस पर तो वह सन्तान वाली है ॥७॥

यदत्र सत्यं वासत्यं गत्वा वेत्स्यामि निश्चयम् ।
ऋतुपर्णस्य वै काममात्मार्थञ्च करोम्यहम् ॥८॥

यह सत्य है या असत्य है, चल कर जानना चाहिये। मैं ऋतुपर्ण की इस कामना को अपने स्वार्थ के लिये पूरा करूँगा।

इति निश्चत्य मनसा बाहुको दीनमानसः ।
कृताञ्जलिरुवाचेदमृतुपर्णं नराधिपम् ॥९॥

दीन मन वाले, बाहुक ने इस प्रकार मन में निश्चय करके राजा ऋतुपर्ण से हाथ जोड़ कर कहा ॥९॥

प्रतिजानाति ते वाक्यं गमिष्यामि नराधिप ।
एकाह्ना पुरुषव्याघ्र विदर्भनगरीं नृप ॥१०॥

हे नराधिप ! मैं तुम से प्रतिज्ञा करता हूँ, कि तुमको मैं एक ही दिन में विदर्भ नगरी में पहुंचा दूंगा ॥१०॥

ततः परीक्षामश्वानाञ्चक्रे राजन् स बाहुकः ।
अश्वशालामुपागम्य भाङ्गासुरिनृपाज्ञया ॥११॥

हे राजन् ! अब बाहुक ने राजा ऋतुपर्ण की आज्ञा से अश्वशाला में जाकर अश्वों की परीक्षा की ॥११॥

स त्वर्यमाणो बहुश ऋतुपर्णेन बाहुकः ।
अश्वान् जिज्ञासमानो वै विचार्य्य च पुनः पुनः ॥१२॥
अभ्यागच्छत् कृशानश्वान् समर्थानध्वनि क्षमान् ।

तेजोबलसमायुक्तान् कुलशीलसमन्वितान् ॥१३॥
वर्जितान् लक्षणैर्हीनैः पृथुप्रोथान्महाहनून् ।
शुद्धान् दशभिरावर्त्तैः सिन्धुजान् वातरंहसः ॥१४॥

राजा ऋतुपर्ण ने बाहुक से बहुत शीघ्रता करदी थी। इसने शीघ्र ही अश्वों की जिज्ञासा की और बार २ विचार कर मार्ग में चलने के योग्य, कृश और समर्थ, तेज और बल से युक्त, कुल शील वाले, हीन लक्षणों से रहित, मोटे २ होठां वाले, बड़ी ठोडी के धारक, दश आवर्तों से शुद्ध, वायु के समान वेगवाले, सिन्धु देश में उत्पन्न अश्वों को पसन्द किया ॥१२-१४॥

दृष्ट्वा तानब्रवीद्राजा किञ्चित्कोपसमन्वितः ।
किमिदं प्रार्थितं कर्तुं प्रलब्धव्या न ते वयम् ॥१५॥

इन अश्वों को देख कर कुछ कोप से राजा ऋतुपर्ण बोला। क्या यह मेरी प्रार्थना पूरी करने के : है ? तुम्हें हमको बहकाना नहीं चाहिए ॥१५॥

कथमल्पबलप्राणा वक्ष्यन्तीमे हया मम ।
महदध्वानमपि च गन्तव्यं कथमीदृशैः ॥१६॥

ये निर्बल घोड़े, मुझे वहाँ तक कैसे ले जाएं [illegible] । बड़े लम्बे मार्ग को ये अश्व, कैसे पार कर सकते हैं ॥१६॥

बाहुक उवाच—

एको ललाटे द्वौ मूर्द्ध्नि द्वौ द्वौ पार्श्वोपपार्श्वयोः ।
द्वौ द्वौ वक्षसि विज्ञेयौ प्रयाणे चैक एव तु ॥१७॥

वाहुक ने कहा ! इन अश्वों के एक आवर्त ललाट में, दो मस्तक में दो दो दोनों पार्श्वों में हैं। दो आगे छाती में और दो पीछे तथा एक पीठ पर है ॥१७॥

एते हया गमिष्यन्ति विदर्भान्नात्र संशयः।

यानन्यान्मन्यसे राजन् ब्रूहि तान् योजयामि ते ॥१८॥

हे राजन् ! ये अश्व, विदर्भ देश तक पहुंच जावेंगे, इस में सन्देह नहीं है। यदि तुम अन्य अश्वों को अच्छे समझते हों तो मैं उनको ही जोड़ दूंगा ॥१८॥

ऋतुपर्ण उवाच—

त्वमेव हयतत्वज्ञः कुशलो ह्यसि बाहुक।

यान् मन्यसे समर्थांस्त्वं क्षिप्रं तानेव योजय ॥१९॥

ऋतुपर्ण ने कहा—हे बाहुक ! तू अश्वों के तत्वों का जानने वाला चतुर व्यक्ति है। जिनको तू इस कार्य में समर्थ समझता है, उनको ही शीघ्रता से जोड़ ले ॥१९॥

ततः सदश्वांश्चतुरः कुलशीलसमन्वितान्।

योजयामास कुशलो जवयुक्तान्रथे नलः ॥२०॥

तब बड़े उत्तम, कुलीन, वेगवान् चार अश्वों को अश्व-विद्या में कुशल नल ने, रथ में जोड़ दिया ॥२०॥

ततो युक्तं रथं राजा समारोहत्त्वरान्वितः।

अथ पर्य्यपतन् भूमौ जानुभिस्ते हयोत्तमाः ॥२१॥

जब रथ में घोड़े जोत दिये गये, तो राजा ऋतुपर्ण उसमें शीघ्रता से चढ़ गया। अब वे उत्तम अश्व अपने खुरों से भूमि पर मारने लगे ॥२१॥

ततो नरवरः श्रीमान्नलो राजा विशाम्पते ।
सान्त्वयामास तानश्वांस्तेजोबलसमन्वितान् ॥२२॥

हे राजन्! श्रीमान् राजा नल ने, उन तेज और बलसम्पन्न अश्वों को पुचकार कर सान्त्वना दी ॥२२॥

रश्मिभिश्च समुद्यम्य नलो यातुमियेष सः ।
सूतमारोप्य वार्ष्णेयं जवमास्थाय वै परम् ॥२३॥

इसके बाद रासों को खैंच कर राजा नल, वार्ष्णेय सारथि को साथ बैठा कर बड़े वेग से चल दिया ॥२३॥

ते चोद्यमाना विधिवद्बाहुकेन हयोत्तमाः ।
समुत्पेतुरथाकाशं रथिनं मोहयन्निव ॥२४॥

बाहुक से अच्छी तरह चलाए हुए उत्तम घोड़े, अपने रथी को मोहित करके आकाश की ओर उड़ने लगे ॥२४॥

तथा तु दृष्ट्वा तानश्वान् वहतो वातरंहसः ।
अयोध्याधिपतिः श्रीमान् विस्मयं परमं ययौ ॥२५॥

उन वायु के समान वेग शील अश्वों को इस प्रकार उड़ते देख कर अयोध्या-पति श्रीमान् राजा ऋतुपर्ण बड़ा अचम्भित हुआ ॥२५॥

रथघोषन्तु तं श्रुत्वा हयसंग्रहणञ्च तत् ।
वार्ष्णेयश्चिन्तयामास बाहुकस्य हयज्ञताम् ॥२६॥

इस रथ के शब्द और अश्वों के रोकने के क्रम को देख कर वार्ष्णेय सारथि ने बाहुक की अश्व-सम्बन्धी कुशलता का अनुमान कर लिया ॥२६॥

किं नु स्यान्मातलिरयं देवराजस्य सारथिः ।
तथा तल्लक्षणं वीरे बाहुके दृश्यते महत् ॥२७॥

यह तो देवराज इन्द्र का मातलि सारथि प्रतीत होता है, क्योंकि उसके समान ही लक्षण इस बाहुक में दिखाई पड़ रहे हैं

शालिहोत्रोऽथ किन्नु स्याद्धयानां कुलतत्त्ववित् ।
मानुषं समनुप्राप्तो वपुः परमशोभनम् ॥२८॥

यह तो अश्वों के तत्व का ज्ञाता शालिहोत्र ही मालूम होता है, जिसने यह सुन्दर मनुष्य देह धारण करली है ॥२८॥

उताहोस्विद्भवेद्राजा नलः परपुरञ्जयः ।
सोऽयं नृपतिरायात इत्येवं समचिन्तयत् ॥२९॥

अथवा यह शत्रु-विजयी राजा नल होगा । यह तो वही राजा नल आ गया है—इस प्रकार उसने बार २ सोचा ॥२९॥

अथ चेह नलो विद्यां वेत्ति तामेव बाहुकः ।
तुल्यं हि लक्षये ज्ञानं बाहुकस्य नलस्य च ॥३०॥

जिस विद्या (ढंग) को राजा नल जानता था, उसीको यह बाहुक भी जानता है । मैं तो राजा नल और बाहुक का अश्व हांकने का ज्ञान समान ही पाता हूँ ॥३०॥

अपि चेदं वयस्तुल्यं बाहुकस्य नलस्य च ।
नायं नलो महावीर्य्यस्तद्विद्यश्च भविष्यति ॥३१॥

राजा नल और वाहुक की आयु भी समान ही है। सम्भव है, यह महा-बली राजा नल न हो, परन्तु उसकी और इसकी विद्या एक ही है ॥३१॥

प्रच्छन्ना हि महात्मानश्चरन्ति पृथिवीमिमाम् ।
दैवेन विधिना युक्ताः शास्त्रोक्तैश्च निरूपणैः ॥३२॥

महात्मा लोग, इस पृथिवी पर छुपे २ घूमते रहते हैं। वे दैव-विधि और शास्त्र के निरूपण से युक्त होते हैं ॥३२॥

भवेन्न मतिभेदो मे गात्रवैरूप्यतां प्रति ।
प्रमाणात् परिहीनस्तु भवेदिति मतिर्मम ॥३३॥

इसके शरीर के विरूप होने से यह नल नहीं है, ऐसा मेरा मतिभेद नहीं हो सकता। यदि अन्य चिन्हों से यह नल सिद्ध न हो, तो इसको दूसरा माना जा सकता है ॥३३॥

वयः प्रमाणं तत्तुल्यं रूपेण तु विपर्य्ययः ।
नलं सर्वगुणैर्युक्तं मन्ये वाहुकमन्ततः ॥३४॥

नल और वाहुक की आयु का प्रमाण तुल्य है, परन्तु रूप में भेद है। मैं तो सब गुणों से नलको ही वाहुक मानता हूं ॥३४॥

एवं विचार्य्य बहुशो वार्ष्णेयः पर्य्यचिन्तयत् ।
हृदयेन महाराज पुण्यश्लोकस्य सारथिः ॥३५॥

हे महाराज ! राजा नल का सारथि वार्ष्णेय, इस प्रकार हृदय से बार २ विचार कर सोचने लगा ॥३५॥

ऋतुपर्णश्च राजेन्द्रो बाहुकस्य हयज्ञताम् ।
चिन्तयन्मुमुदे राजा सहवार्ष्णेय सारथिः ॥३६॥

वार्ष्णेय सारथि के साथ २ राजा ऋतुपर्ण भी, बाहुक की अश्व सम्बन्धी चतुराई विचार कर बड़ा ही प्रसन्न हुआ ॥३६॥

एकाग्रयञ्च तथोत्साहं हयसंग्रहणं च तत् ।
परं यत्नञ्च संप्रेक्ष्य परां मुदमवाप ह ॥३७॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि ऋतुपर्णविदर्भ-
गमने एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥७१॥

इसकी एकाग्रता, उत्साह अश्वों का नियमन और बड़ा प्रयत्न देखकर ऋतुपर्ण बड़ा प्रसन्न हुआ ॥३७॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्व में ऋतुपर्ण का विदर्भ नगर गमन का इकत्तरहवां अध्याय पूरा हुआ ।



बहत्तरवां अध्याय

बृहदश्व उवाच—

स नदीः पर्वतांश्चैव वनानि च सरांसि च ।
अचिरेणातिचक्राम खेचरः खे चरन्निव ॥१॥

बृहदश्व ने कहा—हे राजन् ! यह बाहुक नदी, पर्वत, वन और सरोवरों को आकाश-गामी पक्षी की भांति उलांघ कर बड़ी शीघ्रता से चलने लगा ॥१॥

तथा प्रयाते तु रथे तदा भाङ्गसुरिर्नृपः ।
उत्तरीयमथोऽपश्यद्भ्रष्टं परपुरञ्जयः ॥२॥

जब रथ बड़े वेग से चल रहा था, तो उस समय शत्रु-विजयी भङ्गासुर के पुत्र, राजा ऋतुपर्ण ने अपना दुपट्टा रथ से गिरता हुआ देखा ॥२॥

ततः स त्वरमाणस्तु पटे निपतिते तदा ।
ग्रहीष्यामीति तं राजा नलमाह महामनाः ॥३॥

जब वह दुपट्टा गिर रहा था, तो इसने शीघ्रता से उसको पकड़ना चाहा । परन्तु वह पट गिर ही गया । तब इस मनस्वी राजा ने नल से कहा कि मैं इस दुपट्टे को लेना चाहता हूं ॥३॥

निगृह्णीष्व महाबुद्धे हयानेतान् महाजवान् ।
वार्ष्णेयो यावदेतं मे पटमानयतामिह ॥४॥

हे महा-बुद्धे ! तू महा-वेग-शील इन अश्वों को जरा रोक ले, जब तक कि यह वार्ष्णेय मेरे वस्त्र को ले आता है ॥४॥

इस ने अश्वों को खोल दिया और शास्त्रानुसार उनकी सेवा की। स्वयं भी इन अश्वों को पूंछ फटकार कर रथ के पास बैठ गया ॥३२॥

दमयन्ती तु शोकार्त्ता दृष्ट्वा भाङ्गासुरिं नृपम् ।
सूतपुत्रञ्च वार्ष्णेयं बाहुकञ्च तथाविधम् ॥३३॥

दमयन्ती राजा ऋतुपर्ण, वार्ष्णेय सारथि और बाहुकको देख कर बड़ी शोकाकुल हो रही है ॥३३॥

चिन्तयामास वैदर्भी कस्यैष रथनिस्वनः ।
नलस्येव महानासीन्न च पश्यामि नैषधम् ॥३४॥

दमयन्ती, यही सोच रही है,कि यह किसके रथ की ध्वनि थी यह तो ध्वनि नल के रथ की सी थी, परन्तु नल तो दिखाई नहीं देता है ॥३४॥

वार्ष्णेयेन भवेन्नूनं विद्या सैवोपशिक्षिता ।
तेनास्य रथनिर्घोषो नलस्यैव महानभूत् ॥३५॥

वार्ष्णेय ने भी नल के तुल्य अश्वों की विद्या सीख ली मालूम होती है, जिससे रथ की ध्वनि, नल के रथ के चलाने के समान हो गई है ॥३५॥

आहोस्विदृतुपर्णोऽपि यथा राजा नलस्तथा ।
तथायं रथनिर्घोषो नैषधस्येव लक्ष्यते ॥३६॥

अथवा राजाऋतुपर्ण भी राजा नल के समान ही रथ का चलाने वाला होगा, जिससे यह रथ की ध्वनि निषधराज नल की सी मालूम होती है ॥३६॥

एवं सा तर्कयित्वा तु दमयन्ती विशाम्पते ।
दूतीं प्रस्थापयामास नैषधान्वेषणे शुभा ॥३७॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि भीमपुरप्रवेशे त्रिसप्ततोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

हे विशाम्पते ! दमयन्ती ने इस प्रकार विचार करके निषधराज के जानने के लिये अपनी एक चतुर दूती भेजी ॥३७॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्व में ऋतुपर्ण का भीम के पुर में प्रवेश का तेहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ।



चौहत्तरवां अध्याय

दमयन्त्युवाच—

गच्छ केशिनि जानीहि क एष रथवाहकः ।
उपविष्टो रथोपस्थे विकृतो ह्रस्वबाहुकः ॥१॥

दमयन्ती ने कहा—हे केशिनी ! तू जाकर पता लगा, यह सारथी कौन है, जो रथ के पास बैठा है, जिसका रंग बदला हुआ और छोटे २ हाथ हैं ॥१॥

अभ्येत्य कुशलं भद्रे मृदुपूर्वं समाहिता ।
पृच्छेथा पुरुषं ह्येनं यथातत्त्वमनिन्दिते ॥२॥

हे भद्रे ! तू सावधानी से कोमल वाणी द्वारा प्रथम तो इस की कुशल पूछना और फिर इस पुरुष के विषय में ठीक २ पता लाना ॥२॥

अत्र मे महती शङ्का भवेदेष नलो नृपः ।
यथा च मनसस्तुष्टिर्हृदयस्य च निर्वृतिः ॥३॥

मुझे बड़ी ही शङ्का हो रही है, कि शायद यह राजा नल है, क्योंकि मेरे मन में सन्तोष और हृदय को शान्ति प्राप्त हो रही है ॥३॥

ब्रूयाश्चैनं कथान्ते त्वं पर्णादवचनं यथा ।
प्रतिवाक्यश्च सुश्रोणि बुध्येथास्त्वमनिन्दिते ॥४॥

हे अनिन्दिते ! बात चीत के अन्तमें जो वचन पर्णाद ब्राह्मण से कहा था, वही इसको सुनाना। यह जो उत्तर दे, उसको तुम स्मरण रखना ॥४॥

ततः समाहिता गत्वा दूती बाहुकमब्रवीत् ।
दमयन्त्यपि कल्याणी प्रासादस्था ह्युपैक्षत ॥५॥

अब केशिनी दूती, बड़ी सावधानी से बाहुक से बोली—दमयन्ती भी महल पर चढ़ कर इस दृश्य को देखने लगी ॥५॥

केशिन्युवाच—

स्वागतन्ते मनुष्येन्द्र कुशलन्ते ब्रवीम्यहम् ।
दमयन्त्या वचः साधु निबोध पुरुषर्षभ ॥६॥

केशिनी बोली—हे मनुष्येन्द्र ! तुम्हारा स्वागत हो-मैं आपसे कुशल पूछ रही हूँ। हे पुरुषर्षभ ! तुम दमयन्ती के इस वचन को शान्ति से सुनो ॥६॥

कदा वै प्रस्थिता यूयं किमर्थमिह चागताः ।
तत्त्वं ब्रूहि यथान्यायं वैदर्भी श्रोतुमिच्छति ॥७॥

तुम कब तो अपने स्थान से चले थे और यहां कैसे आये हो। इसको सत्य २ कहो—दमयन्ती जानना चाहती है ॥७॥

बाहुक उवाच—

श्रुतः स्वयम्वरो राज्ञा कौशलेन महात्मना ।
द्वितीयो दमयन्त्या वै भविता श्व इति द्विजात् ॥८॥

बाहुक ने कहा—कोशल देश के राजा महात्मा ऋतुपर्ण ने ब्राह्मण के मुख से सुना है, कि कल की तिथि में दमयन्ती का द्वितीय स्वयम्वर होगा ॥८॥

श्रुत्वैतत् प्रस्थितो राजा शतयोजनयायिभिः ।
हयैर्वातजवैर्मुख्यैरहमस्य च सारथिः ॥९॥

यह सुन कर राजा ने वायु के समान वेग शील, सौ योजन तक का गमन करने वाले, मुख्य अश्वों को रथ में जोड़ कर गमन कर दिया। मैं इस राजा का सारथि हूँ ॥९॥

केशिन्युवाच—

अथ योऽसौ तृतीयो वः सकुतः कस्य वा पुनः ।
त्वञ्च कस्य कथञ्चेदं त्वयि कर्म समाहितम् ॥१०॥

केशिनी बोली—जो 'तुम में तीसरा है, यह कहां है और कौन है, तुम कौन हो और तुमने यह काम कहां सीखा है ॥१०॥

बाहुक उवाच—

पुण्यश्लोकस्य वै सूतो वार्ष्णेय इति विश्रुतः ।
स नले विद्रुते भद्रे भाङ्गासुरिमुपस्थितः ॥११॥

बाहुक ने कहा—यह राजा नल का सारथि है और इसका नाम वार्ष्णेय है। हे भद्रे! राजा नल के निकल जाने पर यह ऋतुपर्ण के पास चला आया ॥ ११ ॥

अहमप्यश्वकुशलः सूतत्वे च प्रतिष्ठितः ।
ऋतुपर्णेन सारथ्ये भोजने च वृतः स्वयम् ॥१२॥

मैं भी अश्वों के हांकने में कुशल हूँ, इससे मुझे भी ऋतुपर्ण ने सारथि के पद पर नियुक्त कर लिया और भोजन बनाने पर लगा लिया है ॥ १२ ॥

केशिन्युवाच—

अथ जानाति वार्ष्णेयः क नु राजा नलो गतः ।
कथञ्च त्वयि चैतेन कथितं स्यात्तु बाहुक ॥१३॥

क्या वार्ष्णेय यह जानता है, कि राजा नल कहां गया। हे बाहुक! क्या तुमसे उसने उसका कथन किया है ॥ १३ ॥

बाहुक उवाच—

इहैव पुत्रौ निक्षिप्य नलस्य शुभकर्मणः ।
गतस्ततो यथाकामं नैष जानाति नैषधम् ॥१४॥

यह धर्मात्मा नल के दोनों सन्तान को यहीं छोड़कर अपनी इच्छानुसार चला गया। उसको नल का कुछ पता नहीं है ॥१४॥

न चान्यः पुरुषः कश्चिन्नलं वेत्ति यशस्विनि ।
गूढश्चरति लोकेऽस्मिन्नष्टरूपो महीपतिः ॥१५॥

हे यशस्विनी ! अब कोई ऐसा पुरुष दिखाई नहीं देता है, जो नल को जानता है। वह राजा संसार में अपने को छुपाकर घूमता है और उसका रूप बदल गया है ॥१५॥

आत्मैव हि नलं वेद या चास्य तदनन्तरा ।
न हि वै स्वानि लिङ्गानि नलः शंसति कर्हिचित् ॥१६॥

इस नल को तो उसका आत्मा ही जानता है, क्योंकि इसकी आकृति पीछे और ही हो गई है। यह नल अपने चिन्हों को कभी किसी से नहीं कहता है ॥ १६ ॥

केशिन्युवाच—

योऽसावयोध्यां प्रथमं गतोऽसौ ब्राह्मणस्तदा ।
इमानि नारीवाक्यानि कथयानः पुनः पुनः ॥१७॥

केशिनी ने कहा—जो अयोध्या में सबसे प्रथम ब्राह्मण गया था और जो बार २ नारी के ये वाक्य कह रहा था ॥ १७ ॥

क नु त्वं कितवच्छित्वा वस्त्रार्द्धं प्रस्थितो मम ।
उत्सृज्य विपिने सुप्तामनुरक्तां प्रियां प्रिय ॥१८॥

हे छली ! तू आधा वस्त्र, फाड़ कर और सोती हुई अपनी प्रिय, पतिव्रता स्त्री को छोड़ कर कहां चला गया ॥१८॥

सा वै यथा समादिष्टा तथास्ते त्वत्प्रतीक्षिणी ।
दह्यमाना दिवारात्रो वस्त्रार्द्धेनाभिसंहिता ॥१९॥

तूने जैसे उससे कह दिया, वह उसी तरह तेरी प्रतीक्षा कर रही है। यह आधी धोती पहने हुए रात दिन जलती रहती है ॥

तस्या रुद्रन्त्याः सततं दुःखेन पार्थिव ।
प्रसादं कुरुमे वीर प्रतिवाक्यं वदस्व च ॥२०॥

हे राजन् ! वह इस प्रकार नित्य दुःख से रोती रहती है, कि वीर ! मेरे ऊपर कृपा कर और उत्तर दे ॥२०॥

तस्यास्तत् प्रियमाख्यानं प्रवदस्व महामते ।
तदेव वाक्यं वैदर्भी श्रोतुमिच्छत्यनिन्दिता ॥२१॥

हे महामते ! उसकी जो प्रिय कथा है, तू उसको मुझसे कह । यह सुन्दरी उन्हीं वाक्यों को फिर सुनना चाहती है ॥२१॥

एतच्छ्रुत्वा प्रतिवचस्तस्य दत्तं त्वया किल ।
यत् पुरां तत् पुनस्त्वत्तो वैदर्भी श्रोतुमिच्छति ॥२२॥

जो तूने पर्णाद के वचन सुन कर उसको उत्तर दिया, दमयन्ती, फिर तेरे मुख से उन्हीं अक्षरों को सुनना चाहती है ॥

बृहदश्व उवाच—

एवमुक्तस्य केशिन्या नलस्य कुरुनन्दन ।
हृदयं व्यथितश्चासीदश्रुपूर्णे च लोचने ॥२३॥

बृहदश्व ने कहा—हे कुरुनन्दन ! केशिनी के इतना कहने पर नलका हृदय तिलमिला उठा और आंखें भर आईं ॥२३॥

स निगृह्यात्मनो दुःखं दह्यमानो महीपतिः ।
बाष्पसन्दिग्धया वाचा पुनरेवेदमब्रवीत् ॥२४॥

दुःख से सन्तप्त राजा नल, अपने दुःख को रोक कर आंसुओं से गद्गद, वाणी द्वारा कहने लगा ॥२४॥

बाहुक उवाच—

वैषम्यमपि सम्प्राप्ता गोपायन्ति कुलस्त्रियः ।
आत्मानमात्मना सत्यो जितः स्वर्गो न संशयः ॥२५॥

बाहुक बोला—कुल स्त्री, विपत्ति में भी अपने आपकी रक्षा करती हैं, जिससे सत्य स्वर्ग जीत लिया जाता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ २५ ॥

रहिता भर्तृभिश्चापि न क्रुध्यन्ति कदाचन ।
प्राणांश्चारित्रकवचान् धारयन्ति वरस्त्रियः ॥२६॥

ये उत्तम नारी, भर्ता से वियुक्त होकर भी कोप नहीं किया करती और अपने सदाचार के कवच से अपने प्राणों को धारण किये रहती हैं ॥२६॥

विषमस्थेन मूढेन परिभ्रष्टसुखेन च ।
यत् सा तेन परित्यक्ता तत्र न क्रोद्धुमर्हति ॥२७॥

यदि विपत्ति पड़े हुए, अचेत, सुख रहित नल ने इसे छोड़ भी दिया, तो भी इसको उस पर कोप नहीं करना चाहिए ॥२७॥

प्राणयात्रां परिप्रेप्सोः शकुनैर्हृतवाससः ।
आधिभिर्दह्यमानस्य श्यामा न क्रोद्धुमर्हति ॥२८॥

वह इसके और अपने प्राणों की रक्षा चाहता था। इसके वस्त्र को पक्षी ले भागे थे। इस प्रकार मनके क्लेशों से पीड़ित नल पर इस सुन्दरी को कोप करना उचित नहीं है ॥ २८ ॥

सत्कृतासत्कृता वापि पतिं दृष्ट्वा तथाविधम्।
राज्यभ्रष्टं श्रिया हीनं क्षुधितं व्यसनाप्लुतम् ॥२६॥

राजा नल से यह सत्कृत हो या असत्कृत हो, यह राज्य से भ्रष्ट, श्री हीन, भूखे, विपत्ति ग्रस्त अपने पति नल को देख कर इसे कोप नहीं करना चाहिए ॥ २६ ॥

एवं ब्रुवाणस्तद्वाक्यं नलः परमदुर्मनाः ।
न वाष्पमशकत् सोढुं प्ररुरोद स भारत ॥३०॥

हे भारत ! इतना कह कर नल बड़ा उदास हो गया और यह आंसुओं के वेग को रोक नहीं सका और फूट २ कर रोने लगा

ततः सा केशिनी गत्वा दमयन्त्यै न्यवेदयत् ।
तत्सर्वं कथितञ्चैव विकारन्तस्य चैव तम् ॥३१॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि केशिनीवाक्ये
चतुःसप्ततोऽध्यायः ॥७४॥

केशिनी ने जाकर यह सारा वृतान्त दमयन्ती से कहा और जो बाहुक का विचार हुआ था-वह भी बता दिया ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्व में
केशिनी के वाक्य का चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा
हुआ।

पिचहत्तरवां अध्याय

बृहदश्व उवाच—

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा भृशं शोकपरायणा।
शङ्कमाना नलं तं वै केशिनीमिदमब्रवीत् ॥१॥

बृहदश्व बोले—हे राजन्! दमयन्ती यह सुन कर बड़ी शोकाकुल हुई और इसको नल समझ कर केशिनी से बोली ॥

गच्छ केशिनि भूयस्त्वं परीक्षां कुरु बाहुके।
अब्रुवाणा समीपस्था चरितान्यस्य लक्षय ॥२॥

हे केशिनी! तू फिर जा और बाहुक की परीक्षा कर। इसे कुछ कहना नहीं चुपचाप खड़ी होकर इसकी चेष्टा को देख ॥२॥

यदा च किञ्चित् कुर्य्यात् स कारणान्तत्र भाविनि।
तत्र सञ्चेष्टमानस्य लक्षयन्ती विचेष्टितम् ॥३॥

हे भाविनी! जब वह कुछ कहेगा, तो वह कारण से ही कहेगा। तू उसके किसी चेष्टा के करने पर उस चेष्टा को लक्ष्य कर लेना ॥३॥

न चास्य प्रतिबन्धेन देयोग्निरपि केशिनि।
याचते न जलं देयं सर्वथा त्वरमाणया ॥४॥

इसको किसी भी प्रतिबन्ध से अग्नि नहीं देना और जल मांगने पर शीघ्रता से जल नहीं सौंपना ॥४॥

एतत् सर्वं समीक्ष्य त्वं चरितं मे निवेदय।
निमित्तं यत्त्वया दृष्टं बाहुके दैवमानुषम् ॥५॥

इन सब चरित्रों को तू देखकर मुझसे कहना। तूने बाहुक में दैव और मनुष्य इन दोनों के निमित्त देखे हैं ॥५॥

यच्चान्यदपि पश्येथास्तच्चाख्येयं त्वया मम ।
दमयन्त्यैवमुक्ता सा जगामाथ च केशिनि ॥६॥

इसके अतिरिक्त जो कुछ अन्य भी चेष्टा देखे, वे भी मुझसे कह देना। दमयन्ती के इतना कहने पर केशिनी चल दी ॥६॥

निशम्याथ हयज्ञस्य लिङ्गानि पुनरागतम् ।
सा तत्सर्वं यथावृत्तं दमयन्त्यै न्यवेदयत् ।
निमित्तं यत्तया दृष्टं बाहुके दैवमानुषम् ॥७॥

अश्वों के तत्व के जानने वाले बाहुक की चेष्टाओं को देख कर केशिनी फिर आई, उसने जो बाहुक में देव और मनुष्यों की चेष्टा देखी, वे सब दमयन्ती को आकर सुना दी ॥७॥

केशिन्युवाच—

दृढं शुच्युपचारोऽसौ न मया मानुषः क्वचित् ।
दृष्टपूर्वः श्रुतो वापि दमयन्ति तथाविधः ।
ह्रस्वमासाद्य सञ्चारं नासौ विनमते क्वचित् ॥८॥
तन्तु दृष्ट्वा यथासङ्गमुत्सर्पति यथासुखम् ।
सङ्कटेऽप्यस्य सुमहान् विवरो जायतेऽधिकः ॥९॥

केशिनी ने कहा—हे दमयन्ती! यह बड़े पवित्र आचार वाला है। मैंने तो ऐसा मनुष्य न तो पूर्व देखा है और न कहीं सुना है। यह छोटा सा द्वार पाकर भी कहीं झुकता नहीं है।

इसको देखकर वह क्षुद्र द्वार आवश्यकता के अनुसार फैल जाता है। छोटा सा छिद्र भी इसके लिए महान् बिल बन जाता है ॥८-९

ऋतुपर्णस्य चार्थाय भोजनीयन्त्वनेकशः।
प्रेषितं तत्र राज्ञा तु मांसं बहु च पाशवम् ॥१०॥
तस्य प्रक्षालनार्थाय कुम्भास्तत्रोपकल्पिताः।
ते तेनावेक्षिताः कुम्भाः पूर्णा एवाभवंस्ततः ॥११॥

राजा ऋतुपर्ण के भोजन के लिए राजा भीम ने अनेक भांति के पदार्थ और अनेक भांति के पशुओं का मांस भेजा था। उस मांस के धोने के लिए वहां घड़े रखे गए हैं। वे इसके देखने मात्र से ही जल से भर गए ॥११॥

ततः प्रक्षालनं कृत्वा समाधिश्रित्य बाहुकः।
तृणमुष्टिं समादाय सवितुस्तं समादधत् ॥१२॥

बाहुक ने मांसको इस जल से धोकर और अच्छी तरह रख कर घास लेकर सूर्य के आगे किया ॥१२॥

अथ प्रज्वलितस्तत्र सहसा हव्यवाहनः।
तदद्भुततमं दृष्ट्वा विस्मिताहमिहागता ॥१३॥

वहां अचानक अग्नि प्रज्वलित हो गया। यह अद्भुत खेल देखकर मैं अचम्भे से तुम्हारे पास आई हूं ॥१३॥

अन्यच्च तस्मिन् सुमहदाश्चर्यं लक्षितं मया।
यदग्निमपि संस्पृश्य नैवासौ दह्यते शुभे ॥१४॥

हे शुभे ! मैंने वहां एक अन्य आश्चर्य भी देखा है, जो यह अग्नि को छू लेता है, परन्तु वह आग इसको जलाती नहीं है १४

छन्देन चोदकं तस्य वहत्यावर्जितं द्रुतम्।
अतीव चान्यत् सुमहदाश्चर्य्यं दृष्टवत्यहम् ॥१५॥

इसकी इच्छा के अनुसार जल बह निकलता है और इच्छाके अनुसार ही रुक जाता है ॥१५॥

यत् स पुष्पाण्युपादाय हस्ताभ्यां ममृदे शनैः।
मृद्यमानानि पाणिभ्यां तेन पुष्पाणि नान्यथा ॥१६॥
भूय एव सुगन्धीनि हृषितानि भवन्ति हि।
एतान्यद्भुतलिङ्गानि दृष्ट्वाहं द्रुतमागता ॥१७॥

इसके सिवा मैंने एक अन्य महान् आश्चर्य भी देखा है। जब यह पुष्पों को लेकर हाथ से धीरे २ मल डालता है, तो मसले हुए फूल भी वायु से वैसे ही रहते हैं, कुम्हलाते नहीं, फिर भी उनकी सुगन्ध ज्यों की त्यों उड़ती रहती है। ये अद्भुत तमाशे देखकर मैं यहां शीघ्रता से आई हूँ ॥१६-१७

बृहदश्व उवाच—

दमयन्ती तु तच्छ्रुत्वा पुण्यश्लोकस्य चेष्टितम्।
अमन्यत नलं प्राप्तं कर्मचेष्टाभिसूचितम् ॥१८॥

बृहदश्व ने कहा—जब दमयन्ती ने नल की चेष्टाएँ सुनी, तो उसके काम और चेष्टाओं से जान लिया, कि नल मिल गया ॥।

सा शङ्कमाना भर्त्तारं बाहुकं पुनरिङ्गितैः।
केशिनीं श्लक्ष्णया वाचा रुदती पुनरब्रवीत् ॥१९॥

दमयन्ती चेष्टाओं से बाहुक को नल समझ कर रोती हुई केशिनी से साफ २ बोली ॥१६॥

पुनर्गच्छ प्रमत्तस्य बाहुकस्योपसंस्कृतम् ।
महानसाच्छृतं मांसमानयस्वेह भाविनि ॥२०॥

हे केशिनी ! तू फिर जा और प्रमत्त बाहुक के बनाए हुए पक्के मांस को यहां ला ॥२०॥

सा गत्वा बाहुकस्याग्रे तन्मांसमपकृष्य च ।
अत्युष्णमेव त्वरिता तत्क्षणात् प्रियकारिणी ॥२१॥
दमयन्त्यै ततः प्रादात् केशिनि कुरुनन्दन ।

हे कुरुनन्दन ! वह केशिनी बाहुक के पास पहुंची और इस हितकारिणी ने बाहुक के आगे से पका मांस खेंच कर गर्म २ दमयन्ती को ला दिया ॥२१॥

सोचिता नलसिद्धस्य मांसस्य बहुशः पुरा ॥२२॥
प्राश्य मत्वा नलं सूतं प्राक्रोशद्दुःखिता ।

यह नल के बनाए मांस को कई बार खा चुकी थी। अब भी यह उस मांस को खाकर अत्यन्त दुःखी होकर इस सूत को नल बताने लगी ॥२२॥

वैक्लव्यं परमं गत्वा प्रक्षाल्य च मुखं ततः ॥२३॥
मिथुनं प्रेषयामास केशिन्या सह भारत ।

हे भारत ! वह बड़ी व्याकुल हुई और अपने मुंह को धोकर इसने केशिनी के साथ दोनों बालक भेजे ॥२३॥

इन्दसेनां सह भ्रात्रा समभिज्ञाय बाहुकः ॥२४॥

अभिद्रुत्य ततो राजा परिष्वज्याङ्कमानयत् ।

बाहुक ने इन्द्रसेना को अपने भाई के साथ पहचान लिया और दौड़कर आलिङ्गन के साथ गोद में उठा लिया ॥२४॥

बाहुकस्तु समासाद्य सुतौ सुरसुतोपमौ ॥२५॥

भृशं दुःखपरीतात्मा सुस्वरं प्ररुरोद ह ।

बाहुक भी देवों के बालकों के समान इन बच्चों को पाकर अत्यन्त दुःखी हुआ और जोर से रोने लगा ॥२५॥

नैषधो दर्शयित्वा तु विकारमसकृत्तदा ॥२६॥

उत्सृज्य सहसा पुत्रौ केशिनीमिदमब्रवीत् ।

निषधराज, इस प्रकार बार २ अपना विकार दिखा कर सम्हल गया और दोनों बच्चों को छोड़कर केशिनी से कहने लगा।

इदञ्च सदृशं भद्रे मिथुनं मम पुत्रयोः ॥२७॥

ततो दृष्ट्वैव सहसा वाष्पमुत्सृष्टवानहम् ।

हे भद्रे ! ये दोनों बच्चे मेरे बच्चों के समान हैं। इससे इनको देखते ही मेरे आंसू आ गए ॥२७॥

बहुशः सम्पतन्तीं त्वां जनः शङ्केत दोषतः ।

वयञ्च देशातिथयो गच्छ भद्रे नमोऽस्तु ते ॥२८॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलकन्यापुत्र दर्शने पञ्चसप्ततोऽध्यायः ॥७५॥

अब तुझे बार २ आती देखकर, लोग बुरी शङ्का करेंगे । हम बाहर के अतिथि हैं । हे भद्रे ! जाइये, तुमको नमस्कार है ॥२८

इति श्री महाभरत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यान पर्व में
नल के कन्या और पुत्र के दर्शन की
पिचहत्तरवां अध्याय पूरा हुआ ।



छियत्तरवां अध्याय

बृहदश्व उवाच—

सर्वं विकारं दृष्ट्वा तु पुण्यश्लोकस्य धीमतः ।
आगत्य केशिनी सर्वं दमयन्त्यै न्यवेदयत् ॥१॥

बृहदश्व कहने लगे—हे राजन् ! बुद्धिमान, पुण्यकीर्ति राजा नल के ये विकार देख कर केशिनी आई और इसने यह सब कुछ दमयन्ती को सुना दिया ॥१॥

दमयन्ती ततो भूयः प्रेषयामास केशिनीम् ।
मातुः सकाशं दुःखार्त्ता नलदर्शन कांक्षया ॥२॥

अब दुःखी दयमन्ती ने राजा नल के दर्शनों की इच्छा से केशिनी को अपनी माता के पास भेजा ॥२॥

परीक्षितो मे बहुशो बाहुको नलशङ्कया ।
रूपे मे संशयस्त्वेकः स्वयमिच्छामि वेदितुम् ॥३॥

मैंने नल की शङ्का से बाहुक की बार २ परीक्षा कर ली है। अब तो केवल रूप में ही संशय है, जिसको मैं स्वयं जाकर जानना चाहती हूँ ॥३॥

स वा प्रवेश्यतां मातर्मां वानुज्ञातुमर्हसि ।
विदितं वाथ वाज्ञातं पितुर्मे संविधीयताम् ॥४॥

तुम या तो उसको यहां बुलाओ या मुझे वहां जाने की आज्ञा दो। यह तुम्हारी इच्छा है, कि पिताजी से अब इस घटना को कहो या न कहो ॥४॥

एवमुक्ता तु वैदर्भ्या सादेवी भीममब्रवीत् ।
दुहितुस्तमभिप्रायमन्वजानात् स पार्थिवः ॥५॥

जब दमयन्ती ने इतना कहा—तो रानी ने राजा भीम से कहा—अब राजा ने अपनी पुत्री के अभिप्राय को जाना ॥५॥

सा वै पित्राभ्यनुज्ञाता मात्रा च भरतर्षभ ।
नलं प्रवेशयामास यत्र तस्याः प्रमतिश्रयः ॥६॥

हे भरतर्षभ ! इस दमयन्ती को माता और पिता ने आज्ञा दे दी। अब दमयन्ती के भवन में राजा नल को लाया गया ॥६॥

तां स्म दृष्ट्वैव सहसा दमयन्तीं नलो नृपः ।
आविष्टः शोकदुःखाभ्यां बभूवाश्रुपरिप्लुतः ॥७॥

राजा नल, अचानक दमयन्ती को देखकर शोक और दुःख से भर गया और बुरी तरह रोने लगा ॥७॥

तन्तु दृष्ट्वा तथायुक्तं दमयन्ती नलं तदा ।

तीव्रशोकसमाविष्टा बभूव वरवर्णिनी ॥८॥

जब दमयन्ती ने राजा नल की यह दशा देखी, तो यह सुन्दर श्री तीव्र शोक से व्याकुल हो उठी ॥८॥

ततः काषायवसना जटिला मलपङ्किनी ।

दमयन्ती महाराजा बाहुकं वाक्यमब्रवीत् ॥९॥

हे महाराज ! काषाय वस्त्र धारण किये हुए, उलझे बालों वाली, मैल से मलिन, दमयन्ती ने बाहुक से कहा ॥९॥

पूर्वं दृष्टस्त्वया कश्चिद्धर्मज्ञो नाम बाहुक ।

सुप्तामुत्सृज्य विपिने गतो यः पुरुषः स्त्रियम् ॥१०॥

हे बाहुक ! क्या तू ने कोई ऐसा धर्मात्मा पुरुष देखा है, जो वन में अपनी सोती हुई स्त्री को छोड़ कर चल दिया हो १०

अनागसं प्रियां भार्यां विजने श्रममोहिताम् ।

अपहाय तु को गच्छेत् पुण्यश्लोकमृते नलम् ॥११॥

निरपराधी, परिश्रम से मोहित, अपनी प्रिय भार्या को निर्जन वन में राजा नल के सिवा अन्य कौन छोड़ सकता है ॥११॥

किन्तु तस्य मया बाल्यादपराद्धं महीपतेः ।

यो मामुत्सृज्य विपिने गतवान्निद्रयार्दिताम् ॥१२॥

मैंने बचपन से लेकर आज तक उसका क्या अपराध किया था, जो मुझे गाढ़ निद्रा में वन में सोती हुई छोड़कर चल दिया

साक्षाद्देवानपाहाय वृतो यः स पुरा मया ।
अनुव्रतां साभिकामां पुत्रिणीं त्यक्तवान् कथम्॥१३॥

मैंने देवों को छोड़ कर भी उसको स्वीकार किया था। उसने मुझे फिर क्यों, अनुकूल, प्रेम करने वाली, पुत्रवती भार्या को भी छोड़ दिया ॥१३॥

अग्नौ पाणिं गृहीत्वा तु देवानामग्रतस्तथा ।
भविष्यामीति सत्यन्तु प्रतिश्रुत्य क्व तद्गतम् ॥१४॥

उसने अग्नि को साक्षी करके देवों के सम्मुख ही मेरा पाणि-ग्रहण किया था। उसने सदा साथ रहने की प्रतिज्ञा करके भी न मालूम वह कहां गया ॥१४॥

दमयन्त्या ब्रुवन्त्यास्तु सर्वमेतदरिन्दम ।
शोकजं वारि नेत्राभ्यामसुखं प्रास्रवद्बहु ॥१५॥

हे अरिन्दम ! जब दमयन्ती इस तरह कह रही थी, उस समय उसकी आंखों से शोक के साथ आंसुओं की झड़ी लग गई ॥१५॥

अतीव कृष्णसाराभ्यां रक्तान्ताभ्यां जलन्तु तत् ।
परिस्रवन्नला दृष्ट्वा शोकार्त्तामिदमब्रवीत् ॥१६॥

अत्यन्त काले और अन्त में लाल नेत्रों से जल टपकता देखकर राजा नल शोकातुर दमयन्ती से कहने लगा ॥१६॥

मम राज्यं प्रनष्टं यन्नाहं तत् कृतवान् स्वयम् ।
कलिना तत् कृतं भीरु यच्च त्वामहमत्यजम् ॥१७॥

हे भीरु ! मेरा राज्य नष्ट हो चुका था, मैंने यह सब कुछ स्वयं नहीं किया, यह तो सब कलि की लीला थी, जो मैंने तुमको छोड़ा ॥१७॥

यत्त्वया धर्मकृच्छ्रे तु शापेनाभिहतः पुरा ।
वनस्थया दुःखितया शोचन्त्या मां दिवानिशम् ॥१८॥
स मच्छरीरे त्वच्छापाद्दह्यमानोऽवसत्कलिः ।
त्वच्छापदग्धः सततं सोऽग्नावग्निरिवाहितः ॥१९॥

जब मेरी चिन्ता करते हुए, व्याकुल तुम वन-वासिनी ने अपनी विपत्ति के समय उसको शाप दिया; उसी शाप से वह कलि, मेरे शरीर में जलता हुआ रहता था। तेरे शाप से ही सदा अग्नि में अग्नि की भांति यह रह रहा था ॥१८-१९॥

मम च व्यवसायेन तपसा चैव निर्जितः ।
दुःखस्यान्तेन चानेन भवितव्यं हि नौ शुभे ॥२०॥

मैंने भी बड़े तप और श्रम से इसको जीत लिया है। अब हम दोनों के दुःख का अन्त हो जावेगा ॥२०॥

विमुच्य मां गतः पापस्ततोऽहमिह चागतः ।
त्वदर्थं विपुलश्रोणि न हि मेऽन्यत् प्रयोजनम् ॥२१॥

वह पापी मुझे छोड़ कर चला गया, इसीसे मैं यहां चला आया हूं। हे सुन्दरी! मैं तेरे लिये ही यहां आया हूं, मेरा अन्य कोई प्रयोजन नहीं है ॥२१॥

कथं नु नारी भर्तारमनुरक्तमनुव्रतम् ।
उत्सृज्य वरयेदन्यं यथा त्वं भीरु कर्हिचित् ॥२२॥

हे भीरु ! कौन ऐसी नारी होगी, जैसी तुम हो—जो अपने अनुरक्त और अनुकूल पति को छोड़ कर अन्य पति बनावे।२२।

दूताश्चरन्ति पृथिवीं कृत्स्नां नृपतिशासनात् ।
भैमी किल स्म भर्त्तारं द्वितीयं वरयिष्यति ॥२३॥
स्वैरवृत्ता यथाकाममनुरूपमिवात्मनः ।
श्रुत्वैव चैवं त्वरितो भाङ्गासुरिरुपस्थितः ॥२४॥

आज सारी पृथिवी पर राजा भीम की आज्ञा से दूत घूम रहे हैं, कि अपनी इच्छा के अधीन, स्वतन्त्र दमयन्ती, अपने अनुकूल दूसरे पति को स्वीकार करेगी। जिसको सुन कर राजा ऋतुपर्ण भागा आया है ॥२३-२४॥

दमयन्ती तु तच्छुत्वा नलस्य परिदेवितम् ।
प्राञ्जलिर्वेपमाना च भीता वचनमब्रवीत् ॥२५॥

दमयन्ती ने जब नल का यह शोक-पूर्ण भाषण सुना, तो बड़ी डरी और कांपती हुई, हाथ जोड़ कर बोली ॥२५॥

दमयन्त्युवाच—

न मामर्हसि कल्याण दोषेण परिशङ्कितुम् ।
मया हि देवानुत्सृज्य वृतस्त्वं निषधाधिप ॥२६॥

हे कल्याण ! निषध राज ! मुझे तुम कलङ्कित खयाल मत करो। मैंने तो तुम्हें देवों को छोड़कर वरा है ॥२६॥

तत्राभिगमनार्थन्तु सर्वतो ब्राह्मणा गताः।
वाक्यानि मम गाथाभिर्गायमाना दिशो दश ॥२७॥

हे राजन् ! आपके लाने के लिये ही दशों दिशाओं में मेरे वाक्यों की गाथा बना कर लोग गाते फिरे हैं ॥२७॥

ततस्त्वां ब्राह्मणो विद्वान् पर्णादो नाम पार्थिव ।
अभ्यगच्छत् कोशलायामृतुपर्णनिवेशने ॥ २८ ॥

हे नृप ! आपको विद्वान् पर्णाद नाम ब्राह्मण ने अयोध्या में राजा ऋतुपर्ण के यहां देखा था ॥ २८ ॥

तेन वाक्ये कृते सम्यक् प्रतिवाक्ये तथाहृते ।
उपायोऽयं मया दृष्टो नैषधानयने तव ॥२६॥

हे निषधराज ! उस ब्राह्मण ने जब अपने वाक्य कहे और तुमने उत्तर दिया, तो मैंने तुम्हारे बुलाने का यह उपाय किया था

त्वामृते न हि लोकेऽन्य एकाह्ना पृथिवीपते ।
समर्थो योजनशतं गन्तुमश्वैर्नराधिप ॥३०॥

हे राजन् ! तुम्हारे सिवा संसारमें एक दिन में ही सौ योजन अश्वों से कोई नहीं आ सकता है ॥ ३० ॥

स्पृशेयन्तेन सत्येन पादावेतौ महीपते ।
तथा नासत् कृतं किञ्चिन्मनसापि चराम्यहम् ॥३१

हे महीपते ! मैं सत्य की शपथ खाकर तुम्हारे चरण छूती हूं, कि मैंने दोष युक्त किसी बात का मन से भी आचरण नहीं किया है ॥ ३१ ॥

अयञ्चरति लोकेऽस्मिन् भूतसाक्षी सदागतिः ।
एष मे मुञ्चतु प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ॥३२॥

इस लोक में सब प्राणियों का साक्षी यह वायु सर्वत्र घूमता है। यह मेरे प्राणोंका अपहरण कर ले, जो मैंने कुछ पाप विचारा हो ॥३२॥

तथा चरति तिग्मांशुः परेण भुवनं सदा ।
स मुञ्चतु मम प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ॥३३॥

इसी तरह यह सबसे ऊंचाई में लोकों में सूर्य घूमता है। यह मेरे प्राणों का अपहरण करले, जो मैंने कुछ पाप विचारा हो

चन्द्रमाः सर्वभूतानामन्तश्चरति साक्षिवत् ।
स मुञ्चतु मम प्राणान् यदि पापं चराम्यहम् ॥३४॥

यह चन्द्रमा भी सब के मन में साक्षी रूप से रहता है। यह भी मेरे प्राणों को छीन ले, जो मैंने पाप का मन से भी संकल्प किया हो ॥ ३४॥

एते देवास्त्रयः कृत्स्नं त्रैलोक्यं धारयन्ति वै ।
ते ब्रुवन्तु यथासत्यमेतद्देवास्त्यजन्तु माम् ॥३५॥

ये तीनों देवता ही जगत् को धारण किए हुए हैं । ये देव ही सत्य कह दें या मेरा त्याग करदें ॥ ३५ ॥

एवमुक्तस्ततो वायुरन्तरीक्षादभाषत ।
नैषा कृतवती पापं नल सत्यं ब्रवीमि ते ॥३६॥

इतना कहते ही वायु अन्तरिक्ष से कहने लगा—हे नल! इसने कोई पाप नहीं किया है, मैं सत्य कहता हूं ॥ ३६ ॥

राजन् शीलनिधिः स्फीतो दमयन्त्या सुरक्षितः ।
साक्षिणो रक्षिणश्चास्या वयं त्रीन् परिवत्सरान् ॥३७॥

हे राजन्! दमयन्ती का शील का कोष बड़ा स्वच्छ है। हम तीन वर्ष से इसके साथी और रक्षक हैं॥ ३७॥

उपायो विहितश्चायं त्वदर्थमतुलोऽनया ।
न ह्येकाह्ना शतं गन्ता त्वामृतेऽन्यः पुमानिह ॥३८॥

इसने तुमसे मिलने का यह बड़ा अद्भुत उपाय निकाला था, क्योंकि एक दिन में सौ योजन तेरे सिवा अन्य कौन जा सकता है॥ ३८॥

उपपन्ना त्वया भैमी त्वञ्च भैम्या महीपते ।
नात्र शङ्का त्वया कार्य्या सङ्गच्छ सह भार्य्यया ॥३९॥

हे महीपते! यह दमयन्ती तुम्हारे और तुम दमयन्ती के योग्य हो। अब तुमे शंका नहीं करनी चाहिए, तुम अपनी भार्या को प्राप्त करो॥ ३९॥

ततो ब्रुवति वायौ तु पुष्पवृष्टिः पपात ह ।
देवदुन्दुभयो नेदुर्ववौ च पवनः शिवः ॥४०॥

जब वायु ने इतना कहा—तो आकाश से पुष्प-वृष्टि हुई, देवों ने दुन्दुभि बजाई और सुख—कारी वायु चलने लगी॥४०॥

तदद्भुतमयं दृष्ट्वा नलो राजाथ भारत ।
दमयन्त्यांविशङ्कां तामुपाकर्षदरिन्दमः ॥४१॥

हे भारत ! अरि-विजयी राजा नल ने इस चमत्कार पूर्ण घटना को देखकर दमयन्ती विषयक शंका का परित्याग कर दिया ॥ ४१ ॥

ततस्तद्वस्त्रमरजः प्रावृणोद्वसुधाधिपः ।
संस्मृत्य नागराजं तं ततो लेभे स्वकं वपुः ॥४२॥

राजा नल ने नागराज का स्मरण करके इस स्वच्छ वस्त्र को धारण किया, तो वह अब अपने रूप को प्राप्त हो गया ॥४२॥

स्वरूपिणन्तु भर्त्तारं दृष्ट्वा भीमसुता तदा ।
प्राक्रोशदुच्चैरालिङ्ग्य पुण्यश्लोकमनिन्दिता ॥४३॥

जब भीम सुता दमयन्ती ने राजा नल को अपने रूप में देखा, तो यह सुन्दरी, राजा नल से लिपट गई और जोर २ से रोने लगी ॥ ४३ ॥

भैमीमपि नलो राजा भ्राजमानो यथा पुरा ।
सस्वजे स्वसुतौ चापि यथावत् प्रत्यनन्दत ॥४४॥

राजा नल ने पूर्व की भांति ही प्रकाशमान होकर दमयन्ती और अपने बच्चों से आलिङ्गन किया ॥ ४४ ॥

ततः स्वोरसि विन्यस्य वक्त्रं तस्य शुभानना ।
परीता तेन दुःखेन निशश्वासायतेक्षणा ॥४५॥

इस विशाल नेत्र वाली सुन्दरी दमयन्ती ने अपना मुख उस की छाती पर रख दिया और उस दुःख से व्याकुल होकर लम्बे २ सांस लेने लगी ॥ ४५ ॥

तथैव मलदिग्धाङ्गीं परिष्वज्य शुचिस्मिताम् ।
सुचिरं पुरुषव्याघ्रस्तस्थौ शोकपरिप्लुतः ॥४६॥

इस सुन्दर मुस्कुराने वाली, मल में लिपटी हुई दमयन्ती को इस दशा में आलिङ्गन करके पुरुष-श्रेष्ठ राजा नल, बहुत देर तक शोक में निमग्न रहा ॥ ४६ ॥

ततः सर्वं यथावृत्तं दमयन्त्या नलस्य च ।
भीमायाकथयत् प्रीत्या वैदर्भीजननी नृप ॥४७॥

हे नृप ! दमयन्ती और नल के मध्य में जो कुछ हुआ रानी ने राजा भीम को सब कुछ सुनाया ॥४७॥

ततोऽब्रवीन्महाराजः कृतशौचमहं नलम् ।
दमयन्त्या सहोपेतं कल्ये द्रष्टा सुखोषितम् ॥४८॥

अब राजा भीम ने शौच क्रिया से निवृत होकर दमयन्ती के साथ, प्रातःकाल सुख से बैठे हुए राजा नल से कहा ॥ ४८ ॥

ततस्तौ सहितौ रात्रिं कथयन्तौ पुरातनम् ।
वने विचरितं सर्वमूषतुर्मुदितौ नृप ॥४९॥

हे राजन् ! अब इन दोनों ने वन की सारी कथा कहकर शेष रात को सुख से बिताया ॥४९॥

गृहे भीमस्य नृपतेः परस्परसुखैषिणौ ।
वसेतां हृष्टसङ्कल्पौ वैदर्भी च नलश्च ह ॥५०॥

दमयन्ती और नल, राजा भीम के भवन में परस्पर, एक दूसरे को सुखी करते हुए मन से प्रसन्न हो रहे थे ॥५०॥

स चतुर्थे ततो वर्षे सङ्गम्य स भार्य्यया ।
सर्वकामैः सुसिद्धार्थो लब्धवान् परमां मुदम् ॥५१॥

आज यह नल चौथे वर्ष अपनी भार्या से मिला। अब इसकी सारी इच्छा पूरी हुई और इसको बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ।

दमयन्त्यपि भर्त्तारमासाद्याप्यायिता भृशम् ।
अर्द्धसञ्जातशस्येव तोयं प्राप्य वसुन्धरा ॥५२॥

दमयन्ती भी अपने पति को पाकर आधे बड़े हुए हरित अन्न युक्त भूमि की तरह लहलहाने लगी ॥ ५२ ॥

सैवं समेत्य व्यपनीय तन्द्रां शान्तज्वरा हर्षविवृद्धसत्त्वा ।
रराज भैमी समवाप्तकामा शीतांशुना रात्रिरिवोदितेन ॥५३॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि नलदमयन्ती-
मेलने षट्सप्ततितमोऽध्याय ॥७६॥

इस भांति मिलकर और अपने दुःख का नाश करके सारे क्लेशों से रहित, हर्ष से विकसित, सब कामनाओं से युक्त दमयन्ती उदित चन्द्रमा से युक्त रात के समान चमकने लगी ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्व में
नल दमयन्ती के मिलने का छियत्तरवां
अध्याय पूरा हुआ।



सतहत्तरवां अध्याय

बृहदश्व उवाच

अथ तां व्युषितो रात्रिं नलो राजा स्वलंकृतः ।
वैदर्भ्या सहितः कल्यं ददर्श वसुधाधिपम् ॥१॥

बृहदश्व बोले—हे राजन् ! स्नान अलङ्कारोंसे सज्जित होकर राजानल ने इस रात को व्यतीत किया और प्रातःकाल होने पर दमयन्ती के साथ २ राजा भीम के दर्शन किए ॥ १ ॥

ततोऽभिवादयामास प्रयतः श्वशुरं नलः ।
ततोऽनु दमयन्ती च ववन्दे पितरं शुभा ॥२॥

इसने बड़े ध्यान से अपने श्वसुर राजा भीम को प्रणाम किया इसके अनन्तर सुन्दरी दमयन्ती ने अपने पिता की वन्दना की २

तं भीमः प्रतिजग्राह पुत्रवत परया मुदा ।
यथार्हं पूजयित्वा च समाश्वासयत प्रभुः ॥ ३ ॥
नलेन सहितान्तत्र दमयन्तीं पतिव्रताम् ।

राजा भीम ने नल को बड़े आनन्द से पुत्र के तुल्य गले लगाया । राजा ने यथा योग्य सत्कार करके पतिव्रता दमयन्ती के साथ साथ राजा नल को सब तरह से आश्वासन दिया ॥ ३ ॥

तामर्हणां नलो राजा प्रतिगृह्य तथाविधि ॥४॥
परिचर्यां स्वकां तस्मै यथावत् प्रत्यवेदयत् ।

राजा नलने इस सत्कार को बड़े आदर से ग्रहण किया और उसने भी अपनी सेवा भक्ति राजा भीम को प्रदर्शित की ॥ ४

ततो बभूव नगरे सुमहान् हर्षजः स्वनः ॥ ५ ॥
जनस्य सम्प्रहृष्टस्य नलं दृष्ट्वा तथागतम् ।

राजा नल को आया हुआ सुनकर नगर में अत्यन्त प्रसन्न जन समूह की आनन्द ध्वनि होने लगी ॥ ५ ॥

अशोभयच्च नगरं पताकाध्वजमालिनम् ॥ ६ ॥
सिक्ताः सुमृष्टपुष्पाढ्या राजमार्गाः स्वलंकृताः ।
द्वारि द्वारि च पौराणां पुष्पभङ्गोपकल्पिताः ॥ ७ ॥
अर्चितानि च सर्वाणि देवतायतनानि च ।

इतनी ही देर में जनता ने सारे नगर को ध्वजा और पताकाओंसे सुसज्जित कर दिया, पानी से छिड़क कर पुष्पों से सड़कें सजा दी गई । द्वार २ पर पुर—वासियों ने फूल मालाएँ लटका दी और नगर के सारे देवताओं की पूजा की ॥ ६-७ ॥

ऋतुपर्णोऽपि शुश्राव बाहुकच्छद्मनं नलम् ॥ ८ ॥
दमयन्त्या समायुक्तं जहृषे च नराधिपः ।

अब ऋतुपर्ण ने भी सुना, कि बाहुक के वेष में तो राजा नल था, जिसकी आज दमयन्ती से भेंट हुई । इसको सुनकर यह राजा बड़ा हर्षित हुआ ॥ ८ ॥

तमानाय्य नलं राजा क्षमयामास पार्थिवम् ॥ ९ ॥
स च तं क्षमयामास हेतुभिर्बुद्धिसम्मतः ।

राजा ऋतुपर्ण ने राजा नल को बुलाया और क्षमा मांगी । इस बुद्धिमान् ने अनेक हेतु देकर राजा ऋतुपर्ण के संकोच को निवृत्त किया ॥९॥

स सत्कृतो महीपालो नैषधं विस्मिताननः ॥ १० ॥
उवाच वाक्यं तत्त्वज्ञो नैषधं वदताम्वरः ।
दिष्ट्या समेतो दारैः स्वैर्भवानित्यभ्यनन्दत ॥११॥

सत्कार से युक्त राजा ऋतुपर्ण निषधराज नल को देखकर चकित होगया। यह तत्वदर्शी, बोलने वालों में श्रेष्ठ, ऋतुपर्ण राजा नल से कहने लगा। हे राजन्! आप अपनी भार्या और बच्चों से मिल गए—इसकी बड़ी प्रसन्नता है ॥१०-११॥

कच्चित्तु नापराधन्ते कृतवानस्मि नैषध ।
अज्ञातवासं वसतो मद्गृहे वसुधाधिप ॥१२॥

हे निषधराज! अज्ञात वास से मेरे घरपर रहते हुए, आपका मैंने कोई अपराध तो नहीं किया ॥ १२ ॥

यदि वा बुद्धिपूर्वाणि यद्यबुद्ध्यापि कानिचित् ।
मया कृतान्यकार्य्याणि तानि त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥१३॥

हे राजन्! इस समय ज्ञान से अज्ञान से मैंने आपका कुछ अनुचित किया हो, तो उसका आप क्षमा करें ॥ १३ ॥

नल उवाच—

न मेऽपराधं कृतवांस्त्वं स्वल्पमपि पार्थिव ।
कृतेऽपि च न मे कोपः क्षन्तव्यं हि मया तव ॥१४॥

नल ने कहा-हे राजन्! आपने मेरा स्वल्प भी अपराध नहीं किया। यदि आप कुछ कर लेते तो भी मैं अप्रसन्न नहीं होता, क्योंकि आप तो बड़े होने से सदा क्षमा के पात्र हैं ॥ १४ ॥

पूर्वं ह्यपि सखा मेऽसि सम्बन्धी च जनाधिप ।
अत ऊर्ध्वन्तु भूयस्त्वं प्रीतिमाहर्त्तुमर्हसि ॥१५॥

हे प्रजापते! आप मेरे पूर्व से ही मित्र और सम्बन्धी हैं। इसके आगे भी आप मुझ पर कृपा बनाए रखना ॥ १५ ॥

सर्वकामैः सुविहितैः सुखमस्म्युषितस्त्वयि ।
न तथा स्वगृहे राजन् यथा तव गृहे सदा ॥१६॥

हे राजन्! आपने मेरी कामनाओं को भली प्रकार पूरा किया है। मैं तो कभी अपने घर भी ऐसा सुखी नहीं रहा-जैसा आपके घर पर सुखी रहा ॥१६॥

इदञ्चैव हयज्ञानं त्वदीयं मयि तिष्ठति ।
तदुपाकर्त्तुमिच्छामि मन्यसे यदि पार्थिव ॥१७॥

हे राजन्! अश्व विद्या का प्रदान करना मेरे ऊपर ऋण के तुल्य शेष है। यदि आपको आज्ञा हो तो मैं उस ऋण को चुका दूं ॥ १७ ॥

एवमुक्त्वा ददौ विद्यामृतुपर्णाय नैषधः ।
स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ॥१८॥

हे राजन्! इतना कहकर राजा नल ने अश्व-विद्या ऋतुपर्ण को प्रदान करदी। ऋतुपर्ण ने भी शास्त्रानुसार विधि से उसका ग्रहण किया ॥१८॥

गृहीत्वा चाश्वहृदय राजन् भाङ्गासुरिर्नृपः ।
निषधाधिपतेश्चापि दत्त्वाक्षहृदयं नृपः ॥१९॥
सूतमन्यमुपादाय ययौ स्वपुरमेव ह ।

हे राजन्! राजा ऋतुपर्ण ने अश्वों की विद्या के तत्व को ग्रहण करके निषधराज नल को अक्षों (पासों) की विद्या प्रदान करदी और अन्य सारथि को लेकर आप अपने पुर को विदा हुआ १६॥॥

ऋतुपर्ण गते राजन् नलो राजा विशाम्पते।
नगरे कुण्डिने कालं नातिदीर्घमिवाभवत् ॥२०॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि ऋतुपर्णस्वदेश
गमने सप्तसप्ततोऽध्यायः ॥७७॥

हे विशाम्पते! राजा ऋतुपर्ण के चले जाने पर राजा नल भी बहुत काल कुण्डिन पुर में नहीं ठहरा ॥२०॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्व में
ऋतुपर्ण का अपने देश को लौटने का
सतहत्तरवां अध्याय पूरा हुआ।



अठहत्तरवां अध्याय

बृहदश्व उवाच—

स मासमुष्य कौन्तेय भीममामन्त्र्य नैषधः।
पुरादल्पपरीवारो जगाम निषधान् प्रति ॥१॥

बृहदश्व ने कहा—हे कौन्तेय! राजा नल ने एक महीने तक विदर्भ नगर में ठहर कर राजा भीम से आज्ञा मांगी। अब वह थोड़ी सी सेना लेकर अपने निषध देश को चल दिया ॥१॥

रथेनैकेन शुभ्रेण दन्तिभिः परिषोडशैः।
पञ्चाशद्भिर्हयैश्चैव षट्शतैश्च पदातिभिः ॥२॥

इसके साथ एक रथ, सोलह हाथी, पांच सौ घोड़े, और छः सौ पैदल सिपाही थे ॥२॥

स कम्पयन्निव महीं त्वरमाणो महीपतिः।
प्रविवेश सुसंरब्धस्तरसैव महामनाः ॥३॥

भूमि को कम्पायमान करते हुए से इस मनस्वी राजा नल ने बड़े वेग से चतुरता के साथ अपने पुर में प्रवेश किया ॥३॥

ततः पुष्करमासाद्य वीरसेनसुतो नलः।
उवाच दिव्याव पुनर्बहु वित्तं मयार्जितम् ॥४॥

वीरसेन के पुत्र राजा नल ने पुष्कर के पास पहुंच कर कहा—कि अब मैंने बहुत धन इकट्ठा कर लिया है, आओ—फिर जुआ खेलें ॥४॥

दमयन्ती च यच्चान्यन्मम किञ्चन विद्यते ।
एष वै मम सन्न्यासस्तव राज्यन्तु पुष्कर ॥५॥

हे पुष्कर ! रानी दमयन्ती और जो कुछ मेरे पास धन है, वह सब तेरा होगा । बस ! मैं तो हारने पर संन्यास ले लूंगा और सारा राज्य तेरा हो जावेगा ॥५॥

पुनः प्रवर्त्ततां द्यूतमिति मे निश्चिता मतिः ।
पणेनैकेन भद्रन्ते प्राणयोश्च पणावहे ॥६॥

अब तुम फिर जुआ खेलो--मेरी यही सम्मति है । हम तो एक ही दांव में प्राणों की बाजी लगा रहे हैं ॥६॥

जित्वा परस्वमाहृत्य राज्यं वा यदि वा वसु ।
प्रतिपाणः प्रदातव्यः परमो धर्म उच्यते ॥७॥

तुमने जीत कर दूसरे का धन, राज्य और सारा सामान छीन लिया है, अब उसके लिए दुबारा दांव लगाना ही धर्म माना गया है ॥७॥

न चेद्वाञ्छसि द्यूतं त्वं युद्धद्यूतं प्रवर्त्तताम् ।
द्वैरथेनास्तु वै शान्तिस्तव वा मम वा नृप ॥८॥

हे नृप ! यदि तुम जुआ खेलना नहीं चाहते हो, तो फिर युद्ध का जुआ मचेगा । अब तो इन दो मार्गों से ही तुम्हारा मेरा निपटारा होगा ॥८॥

वंशभोज्यमिदं राज्यमर्थितव्यं यथा तथा ।
येन केनाप्युपायेन वृद्धानामिति शासनम् ॥९॥

यह राज्य कुल क्रमागत है, इसलिये इसकी इच्छा मुझे ही होनी चाहिये। अपने पिता पितामहों के राज्य को जिस किसी उपाय से ले लेना ही वृद्धों का उपदेश है ॥९॥

द्वयोरेकतरे बुद्धिः क्रियतामद्य पुष्कर ।

कैतवेनाक्षवत्यान्तु युद्धे वा नाम्यतां धनुः ॥१०॥

हे पुष्कर! इन दोनों में तुमको एक ओर निश्चय करना होगा, या तो पासों से जुआ खेलो या फिर युद्ध में धनुष उठाओ

नैषधेनैवमुक्तस्तु पुष्करः प्रहसन्निव ।

ध्रुवमात्मजयं मत्वा प्रत्याह पृथिवीपतिम् ॥११॥

जब राजा नल ने इतना कहा--तो हंसता हुआ पुष्कर अपनी जय निश्चित समझ कर राजा नल से बोला ॥११॥

दिष्टया त्वयार्जितं वित्तं प्रतिपाणाय नैषध ।

दिष्ट्या च दुष्कृतं कर्म दमयन्त्याः क्षयं गतम् ॥१२॥

दिष्ट्या च ध्रियसे राजन् सदारोऽद्य महाभुज ।

हे नैषध! यह बड़े हर्ष की बात है, कि तुमने धन बहुत सा कमा लिया है और दमयन्ती के कष्ट का काल भी व्यतीत हो गया है। हे महाभुज! आज तुम उससे मिल गये यह भी हर्ष की सी बात है ॥१२॥

धनेनानेन वै भैमी जितेन समलंकृता ॥१३॥

मामुपस्थास्यति व्यक्तं दिवि शक्रमिवाप्सराः ।

अब इसी धन से अलङ्कृत हुई दमयन्ती के जीत लेने पर इन्द्र को अप्सरा के समान मुझे प्राप्त हो जावेगी, यह स्पष्ट बात है ॥१३॥

नित्यशो हि स्मरामि त्वां प्रतीक्षेऽपि च नैषध ॥१४॥
देवनेन मम प्रीतिर्न भवत्यसुहृद्गणैः ।

हे नैषध ! मैं तो नित्य तुमको याद करता हुआ तुम्हारी प्रतीक्षा करता रहता हूँ, अमित्रों के साथ खेलने में मुझे तो कोई आनन्द ही नहीं आता है ॥१४॥

जित्वा त्वद्य वरारोहां दमयन्तीमनिन्दिताम् ॥१५॥
कृतकृत्यो भविष्यामि सा हि मे नित्यशो हृदि ।

आज सब भांति से सुन्दर, मनोरमा दमयन्ती को जीत कर कृतार्थ हो जाऊंगा, क्योंकि यह तो मेरे हृदय में गडी हुई है १५

श्रुत्वा तस्य तु ता वाचो बह्वबद्धप्रलापिनः ॥१६॥
इयेष स शिरश्छेत्तुं खड्गेन कुपितो नलः ।

जब पुष्कर ने इस तरह की अनेक अनुचित बकवाद की, तो राजा नल ने कोप कर के उसका तलवार से शिर काट लेना चाहा ॥१६॥

स्मयंस्तु रोषताम्राक्षस्तमुवाच नलो नृपः ॥१७॥
पणावः किं व्याहरसे जितो न व्याहरिष्यसि ।

यद्यपि इसकी आंखें क्रोध से लाल हो गई, तो भी यह हंसता हुआ बोला—आओ—खेलो हार जाने पर इस तरह की बकवाद नहीं करोगे ॥१७॥

ततः प्रावर्त्तत द्यूतं पुष्करस्य नलस्य च ॥१८॥
एकपाणेन वीरेणस नलेन पराजितः
सरत्नकोषनिचयैः प्राणेन पणितोऽपि च ॥१९॥

अब राजा नल और पुष्कर का जुआ हुआ, राजा नल ने एक ही दांव में पुष्कर को हरा दिया। यह रत्न, कोष और प्राणों को भी हार गया ॥१८-१९॥

जित्वा च पुष्करं राजा प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
मम सर्वदिदं राज्यमव्यग्रं हतकण्टकम् ॥२०॥

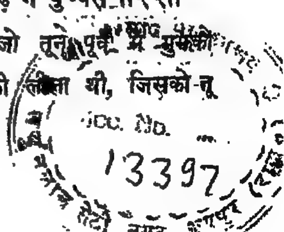
राजा नल पुष्कर को जीत कर हंसता हुआ यह बोला--अब यह सारा राज्य मेरा हो गया है, जिसमें कोई भी शत्रु नहीं रह गया ॥२०॥

वैदर्भी न त्वया शक्या राजापसद वीक्षितुम् ।
तस्यास्त्वं सपरीवारो मूढ दासत्वमागतः ॥२१॥

अरे नीच राजन्! तू दमयन्ती को देख भी नहीं सका और अब तू अपने परिवार के साथ इसका दास हो गया है २१

न त्वया तत् कृतं कर्म येनाहं विजितः पुरा ।
कलिना तत् कृतं कर्म त्वञ्च मूढ न बुध्यसे ॥२२॥

हे मूढ़! वह तेरा कार्य नहीं था, जो तूने पूर्व में मुझको जीत लिया था। यह तो सारी कलि की लीला थी, जिसको तू नहीं जानता है ॥२२॥



नाहं परकृतं दोषं त्वय्याध्यास्ये कथञ्चन ।
यथा सुखं वै जीव त्वं प्राणानवसृज्यामि ते ॥२३॥

अन्य के किये हुए अपराध को मै तुझ पर नहीं डालता हूँ । अब तुम जहाँ उचित समझो रहो, मै तुम्हारे प्राणों को छोड़ता हूँ.

तथैव सर्वसम्भारं स्वमंशं वितरामि ते ।
तथैव च मम प्रीतिस्त्वयि वीर न संशयः ॥२४॥

जो तेरा सारा सामान है या जो तेरा भाग है, वह मैं देता हूं । इसके आगे भी मेरी तुझ में वही भाई की सी प्रीति होगी, इसमें संशय नहीं है ॥२४॥

सौहार्दञ्चापि मे त्वत्तो न कदाचित् प्रहास्यति ।
पुष्कर त्वं हि मे भ्राता सञ्जीव शरदः शतम् ॥२५॥

मेरा प्रेम तुझसे कभी कम नहीं होगा । हे पुष्कर ! तू तो मेरा भाई है । ईश्वर करे, कि तू सौ वर्ष जीता रहे ॥२५॥

एवं नलः सान्त्वयित्वा भ्रातरं सत्यविक्रमः ।
स्वपुरं प्रेषयामास परिष्वज्य पुनः पुनः ॥२६॥

सत्य विक्रमी, राजा नल ने इस तरह अपने भाई पुष्कर को समझा कर और आलिङ्गन करके अपने पुर को भेज दिया ॥२६॥

सान्त्वितो नैषधेनैवं पुष्करः प्रत्युवाच तम् ।
पुण्यश्लोकं तदा राजन्नभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥२७॥

हे राजन् ! राजा नल के संतुष्ट करने पर पुष्कर, हाथ जोड़ कर पुण्यकीर्ति नल से बोला ॥ २७ ॥

कीर्तिरस्तु तवाक्षय्या जीव वर्षायुतं सुखी ।
यो मे वितरसि प्राणानधिष्ठानञ्च पार्थिव ॥२८॥

हे राजन ! आपकी कीर्ति अक्षय होवे और आप सौ वर्ष तक सुख से जीते रहें। आपने मेरे प्राणों और अपने भाग का दान करके मुझे ऋणी बना दिया है ॥ २८ ॥

तथा सत्कृतो राज्ञा मासमुष्य तदा नृपः ।
प्रययौ स्वपुरं हृष्टः पुष्करः स्वजनावृतः ॥२९॥

राजा नल से इस प्रकार सत्कार पाकर और एक महीने वहां रह कर पुष्कर अनेक मनुष्यों के साथ अपने पुर को गया ॥

महत्या सेनया सार्द्धं विनीतैः परिचारकैः ।
भ्राजमानः इवादित्यो वपुषा पुरुषर्षभ ॥३०॥

हे पुरुषर्षभ ! इस समय इस पुष्कर के साथ बड़ी भारी सेना थी और नम्र सेवक थे। यह अपने शरीर के तेज से सूर्य के तुल्य चमक रहा था ॥ ३० ॥

प्रस्थाप्य पुष्करं राजा वित्तमन्तमनामयम् ।
प्रविवेश पुरीं श्रीमानत्यर्थमुपशोभिताम् ॥३१॥

राजा नल, धन के सहित, सुख पूर्वक पुष्कर को बिदा करके अत्यन्त सुशोभित अपनी पुरी में प्रविष्ट हुआ ॥ ३१ ॥

प्रविश्य सान्त्वयामास पौरांश्च निषधाधिपः ।
पौरजानपदाश्चापि सम्प्रहृष्टतनूरुहाः ॥ ३२ ॥

हे निषधराज ! नल ने पुरी में प्रवेश करके पुरवासियों को आश्वासन दिया। इस समय पुर और देश के लोगों के आनन्द से रोमाञ्च खड़े हो रहे थे ॥ ३२ ॥

ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे सामात्यप्रमुखाजनाः ।
अद्य स्म निर्वृता राजन् पुरे जनपदेऽपि च ।
उपासितुं पुनः प्राप्ता देवा इव शतक्रतुम् ॥३३॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि पुष्कराश्वासने अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥७८॥

सारे मन्त्री और महाजन, हाथ जोड़कर बोले—हे राजन् ! आज राजधानी और सारे राष्ट्र में सन्तोष हुआ है। आज हम लोग इन्द्र की उपासना में देवों के तुल्य आपकी सेवा में उपस्थित हैं ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्व में पुष्कर के आश्वासन का अठहत्तरवां अध्याय समाप्त हुआ ।



उनासीवां अध्याय

बृहदश्व उवाच—

प्रशान्ते तु पुरे हृष्टे सम्प्रवृत्ते महोत्सवे ।
महत्या सेनया राजा दमयन्तीमुपानयत् ॥१॥

बृहदश्व कहने लगे—हे राजन् ! राजधानी के शान्त और प्रसन्न होने पर एक महोत्सव मनाया गया । इस समय बड़ी भारी सेना के साथ दमयन्ती लाई गई ॥ १ ॥

दमयन्तीमपि पिता सत्कृत्य परवीरहा ।
प्रास्थापयदमेयात्मा भीमो भीमपराक्रमः ॥२॥

शत्रु-विजयी, भयानक-पराक्रमी, महात्मा पिता भीम ने बड़े सत्कार के साथ दमयन्ती को विदा किया ॥ २ ॥

आगतायान्तु वैदर्भ्यां सपुत्रायां नलो नृपः ।
वर्त्तयामास मुदितो देवराडिव नन्दने ॥३॥

अपने बच्चों के साथ दमयन्ती के आ जाने पर राजा नल, नन्दन वन में इन्द्र के तुल्य उस नगर में प्रसन्नता से विहार करने लगा ॥ ३ ॥

ततः प्रकाशतां यातो जम्बूद्वीपे रराज सः ।
पुनः शशास तद्राज्यं प्रत्याहृत्य महायशाः ॥४॥

अब इसका प्रकाश फैला और यह जम्बूद्वीप में प्रतिष्ठित हो गया । इस महा-यशस्वी ने राज्य को लेकर फिर धर्म के साथ शासन किया ॥ ४ ॥

ईजे च विविधैर्यज्ञैर्विधिवच्चाप्तदक्षिणैः ।
यथा त्वमपि राजेन्द्र ससुहृद्वक्ष्यसेऽचिरात् ॥५॥

हे राजन्! इसने बड़ी २ दक्षिणा के यज्ञों से यजन किया। युधिष्ठिर ! इसी नल की तरह तू भी थोड़े ही काल में फिर पृथिवी का शासन करेगा ॥५॥

दुःखमेतादृशं प्राप्तो नलः परपुरञ्जयः ।
देवनेन नरश्रेष्ठ सभार्य्यो भरतर्षभ ॥६॥

हे भरतर्षभ ! शत्रु-विजयी राजा नल, जुआ खेलने से इसी तरह अपनी भार्या के साथ कष्ट में फंस गया था ॥ ६ ॥

एकाकिनैव सुमहन्नलेन पृथिवीपते ।
दुःखमासादितं घोरं प्राप्तश्चाभ्युदयः पुनः ॥७॥

हे पृथिवी पते ! अकेले राजा नल ने इतना घोर दुःख उठाया और अन्त में फिर अभ्युदय प्राप्त किया ॥ ७ ॥

त्वं पुनर्भ्रातृसहितः कृष्णया चैव पाण्डव ।
रमसेऽस्मिन्महारण्ये धर्ममेवानुचिन्तयन् ॥८॥

हे पाण्डव ! तू भी अपने भाई और द्रौपदी के साथ इस वन में धर्म के विचार से ही रह रहा है ॥ ८ ॥

ब्राह्मणैश्च महाभागैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ।
नित्यमन्वास्यसे राजंस्तत्र का परिदेवना ॥९॥

हे राजन्! आपके साथ तो वेद वेदाङ्ग के जानने वाले ब्राह्मण रहते हैं, फिर तुमको क्या चिन्ता है ॥ ९ ॥

कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च ।
ऋतुपर्णस्य राजर्षे कीर्त्तनं कलिनाशनम् ॥१०॥

नाग राज कर्कोटक, दमयन्ती और नल, राजा ऋतुपर्ण इनका कीर्तन, कलिका नाश करने वाला है ॥ १० ॥

इतिहासमिमं चापि कलिनाशनमच्युत ।
शक्यमाश्वसितुं श्रुत्वा त्वद्विधेन विशाम्पते ॥११॥

हे राजन्! इस इतिहास का पढना भी कलि के पापों का नाशक है। हे राजन्! इसको सुनकर तुम जैसे राजा को शान्ति मिल सकती है ॥ ११ ॥

अस्थिरत्वञ्च सञ्चिन्त्य पुरुषार्थस्य नित्यदा ।
तस्योदये व्यये चापि न चिन्तयितुमर्हसि ॥१२॥

पुरुषार्थ को सदा अस्थिर समझना चाहिए। इसलिए उन्नति और अवनति के विषय में चिन्ता नहीं करनी चाहिए ॥१२॥

श्रुत्वेतिहासं नृपते स माश्वसिहि मा शुचः ।
व्यसने त्वं महाराज न विषीदितुमर्हसि ॥१३॥

हे नृपते! तुम इस इतिहास को सुनकर शान्ति धारण करो, सोच मत करो। हे महाराज! विपत्ति के समय में तुमको चिन्ता नहीं करनी चाहिए ॥ १३ ॥

विषमावस्थिते दैवे पौरुषेऽफलताङ्गते ।
विषादयन्ति नात्मानं सत्त्वोपाश्रयिणो नराः ॥१४॥

भाग्य के पलटा खा जाने पर और उद्योग के निष्फल होने पर धैर्य को धारण करने वाले वीर, विषाद से आत्मा को नष्ट नहीं करते हैं ॥ १४ ॥

ये चेदं कथयिष्यन्ति नलस्य चरितं महत् ।
श्रोष्यन्ति चाप्यभीक्ष्णं वै नालक्ष्मीस्तान् भजिष्यति ।१५।

जो मनुष्य, नल के इस इतिहास को सुनेंगे और कहेंगे—उनको दरिद्र कभी नहीं घेरेगा ॥ १५ ॥

अर्थास्तस्योपपत्स्यन्ते धन्यताञ्च गमिष्यति ।
इतिहासमिमं श्रुत्वा पुराणं शश्वदुत्तमम् ॥१६॥

उस पुरुष के सारे प्रयोजन सफल होंगे और वह जगत में यश प्राप्त करेगा । जो इस पुराने इतिहास को सुनेगा ॥ १६ ॥

पुत्रान् पौत्रान् पशूंश्चापि लभते नृषु चाग्र्यताम् ।
सारोग्यः प्रीतिमांश्चैव भविष्यति न संशयः ॥१७॥

इस कथा के कहने सुनने वाले मनुष्य को पुत्र, पौत्र और पशुओं की प्राप्ति होगी और वह मनुष्यों में प्रशंसित होकर प्रीति तथा आरोग्यता पावेगा, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १७ ॥

भ [illegible] पश्यसि यच्च त्वमाह्वयिष्यसि मां पुनः ।
अक्षज्ञ इति तत्तेऽहं नाशयिष्यामि पार्थिव ॥ १८ ॥

जहां तुझे भय मालूम होगा, वहां मुझे याद कर लेना । हे राजन् ! मैं अक्ष विद्या जानता हूं, इससे मैं तेरे भय का नाश कर दूंगा ॥ १८ ॥

वेदाक्षहृदयं कृत्स्नमहं सत्यपराक्रम ।
उपपद्यस्व कौन्तेय प्रसन्नोऽहं ब्रवीमि ते ॥ १९ ॥

हे सत्य पराक्रम ! मैं अक्षों के तत्व का जानने वाला हूं । हे कौन्तेय ! तुम उसको सीख सकते हो । मैं प्रसन्नता से बता दूंगा ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो हृष्टमना राजा बृहदश्वमुवाच ह ।
भगवन्नक्षहृदयं ज्ञातुमिच्छामि तत्वतः ॥२०॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! राजा युधिष्ठिर प्रसन्न होकर बृहदश्व से बोले—हे भगवन् ! मैं अक्ष-विद्या का तत्व जानना चाहता हूँ ॥२०॥

ततोऽक्षहृदयं प्रादात् पाण्डवाय महात्मने ।
दत्त्वा चाश्वशिरोऽगच्छदुपस्प्रष्टुं महातपाः ॥२१॥

अब इसने महात्मा युधिष्ठिर के लिए अक्षों का तत्व बता दिया । इस विद्या को प्रदान करके महा-तपस्वी बृहदश्व आचमन को चले गए ॥२१॥

बृहदश्वे गते पार्थमश्रौषीत् सव्यसाचिनम् ।
वर्त्तमानं तपस्युग्रे वायुभक्षं मनीषिणम् ॥२२॥

बृहदश्व के चले जाने पर राजा युधिष्ठिर ने सुना, कि अर्जुन, वायु का भक्षण करके उग्र तप कर रहा है ॥२२॥

ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यः सम्पतद्भ्यस्ततस्ततः ।
तीर्थशैलवनेभ्यश्च समेतेभ्यो दृढव्रतः ॥२३॥

इस दृढ़ प्रतिज्ञा धारी युधिष्ठिर ने यह समाचार तीर्थ, पर्वत और वनों से आने वाले तपस्वी ब्राह्मणों से सुना ॥२३॥

इति पार्थो महाबाहुर्दुरापं तप आस्थितः ।
न तथा दृष्टपूर्वोऽन्यः कश्चिदुग्रतपा इति ॥२४॥

महाबाहु अर्जुन, बड़ा कठिन तप कर रहा है। ऐसा उग्र तपस्वी तो पूर्व काल में देखा या सुना तक नहीं गया ॥२४॥

यथा धनञ्जयः पार्थस्तपस्वी नियतव्रतः ।
मुनिरेकचरः श्रीमान् धर्मो विग्रहवानिव ॥२५॥

व्रतशील तपस्वी, अकेला घूमने वाला, मुनि, श्रीमान् अर्जुन, साक्षात् मूर्तिमान धर्म सा प्रतीत होता है ॥२५॥

तं श्रुत्वा पाण्डवो राजंस्तप्यमानं महावने ।
अन्वशोचत कौन्तेयं प्रियं वै भ्रातरं जयम् ॥२६॥

हे राजन्! तप करते हुये अर्जुन को सुनकर महावन में राजा युधिष्ठिर कुन्ती पुत्र अपने प्रिय भाई अर्जुन की चिन्ता करने लगे।

दह्यमानेन हृदा शरणार्थी महावने ।
ब्राह्मणान् विविधज्ञानान् पर्य्यपृच्छद्युधिष्ठिरः ॥२७॥

इति आरण्यपर्वणि नलोपाख्यानपर्वणि बृहदश्वगमने एकोनाशीतितमोऽध्यायः समाप्तश्च नलोपाख्यानपर्व ॥७६॥

अपने जलते हुए हृदय की शान्ति चाहने वाला राजा युधिष्ठिर, इस महावन में अनेक ज्ञानधारी ब्राह्मणों से अर्जुन के विषय में पूछने लगा ॥७२॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत नलोपाख्यानपर्व में बृहदश्व के गमन का उनासीवां अध्याय समाप्त हुआ और यहां पर नलोपाख्यानपर्व भी समाप्त हुआ ॥७६॥

तीर्थ यात्रा पर्व

अस्सीवां अध्याय

जनमेजय उवाच—

भगवन् काम्यकात् पार्थे गते मे प्रपितामहे ।
पाण्डवाः किमकुर्वंस्ते तमृते सव्यसाचिनम् ॥१॥

जनमेजय बोले—हे भगवन् काम्यक वन से मेरे प्रपितामह अर्जुन के चले जाने पर इनके बिना पाण्डवों ने कैसे निर्वाह किया ॥ १ ॥

स हि तेषां महेष्वासो गतिरासीदनीकजित् ।
आदित्यानां यथा विष्णुस्तथैव प्रतिभाति मे ॥२॥

शत्रु की सेनाओं का विजेता, धनुषधारी अर्जुन ही इनका सहारा था। यह वीर आदित्यों में विष्णु के समान पाण्डवों में तेजस्वी था ॥२॥

तेनेन्द्रसमवीर्येण संग्रामेष्वनिवर्त्तिना ।
विनाभूता वने वीराः कथमासन् पितामहाः ॥३॥

संग्राम से पीठ नहीं मोड़ने वाले इन्द्र के सदृश पराक्रमी अर्जुन के बिना इन मेरे प्रपितामह पाण्डवों ने क्या किया ॥३॥

वैशम्पायन उवाच—

गते तु पाण्डवे तात काम्यकात् सत्यविक्रमे ।
बभूवुः पाण्डवेयास्ते दुःखशोकपरायणाः ॥४॥

वैशम्पायन बोले—हे तात ! अद्भुत पराक्रमी, अर्जुन के काम्यक वन से चले जाने पर पाण्डु पुत्र युधिष्ठिरादि दुःख और शोक से विह्वल हो गए ॥४॥

आक्षिप्तसूत्रा मणयश्छिन्नपक्षा इव द्विजाः ।
अप्रीतमनसः सर्वे बभूवुरथ पाण्डवाः ॥५॥

सूत्र रहित, मणियों और पक्ष बिना पक्षियों के समान सारे पाण्डव, छिन्न भिन्न और उदास हो रहे थे ॥५॥

वनन्तु तद्भूत्तेन हीनमक्लिष्टकर्मणा ।
कुबेरेण यथा हीनं वनञ्चैत्ररथं तथा ॥६॥

उस उत्तम कर्म-कारी अर्जुन से हीन वन भी कुबेर से हीन चैत्ररथ के समान शून्य प्रतीत होता था ॥६॥

तमृते ते नरव्याघ्राः पाण्डवा जनमेजय ।
मुदमप्राप्तुवन्तो वै काम्यके न्यवसंस्तदा ॥७॥

हे जनमेजय ! अर्जुन से वियुक्त, ये सारे पाण्ड, आनन्द हीन होकर काम्यक वन में निवास करते थे ॥७॥

ब्राह्मणार्थे पराक्रान्ताः शुद्धैर्बाणैर्महारथाः ।
निघ्नन्तो भरतश्रेष्ठ मेध्यान् बहुविधान् मृगान् ॥८॥

हे भरत श्रेष्ठ ! ये पराक्रमी, महारथी पाण्डव, ब्राह्मणों के लिए शुद्ध बाणों से अनेक भांति के शुद्ध मृगों का वध करते थे ।

नित्यं हि पुरुषव्याघ्रा वन्याहारमरिन्दमाः ।
उपाकृत्य समाहृत्य ब्राह्मणेभ्यो न्यवेदयन् ॥९॥

ये पुरुष रत्न, अरि-विजयी पाण्डव, नित्य वन के अन्न का आहार ला २ कर ब्राह्मणों को अर्पण करते थे ॥९॥

सर्वे संन्यवसंस्तत्र सोत्कण्ठाः पुरुषर्षभाः ।
अहृष्टमनसः सर्वे गते राजन् धनञ्जये ॥१०॥

हे राजन्! अर्जुन के चले जाने पर ये पुरुष श्रेष्ठ, बड़ी उत्कण्ठा और उदासीनता से वहां निवास करते थे ॥१०॥

विशेषतस्तु पाञ्चाली स्मरन्ती मध्यमं पतिम् ।
उद्विग्नं पाण्डवश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ॥११॥

द्रौपदी विशेष रूप से अपने मध्यम पति, (रक्षक) को याद किया करती। एक दिन यह अत्यन्त उदासीन राजा युधिष्ठिर से बोली ॥११॥

योऽर्जुनेनार्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना ।
तमृते पाण्डवश्रेष्ठ वनं न प्रतिभाति मे ॥१२॥

हे पाण्डव श्रेष्ठ! जो दो बाहु धारी अर्जुन, सहस्र-बाहु-वाले कार्त-वीर्य-अर्जुन के तुल्य था, उसके बिना मेरा इस वन में मन नहीं लगता है ॥१२॥

शून्यामिव प्रपश्यामि तत्र तत्र महीमिमाम् ।
बह्वाश्चर्यमिदञ्चापि वनं कुसुमितद्रुमम् ॥१३॥
न तथा रमणीयं वै तमृते सव्यसाचिनम् ।

मुझे तो सारी पृथिवी भी शून्य सी प्रतीत होती है और अनेक आश्चर्य वाली वस्तुओं से युक्त, पुष्पों से लदे वृक्षों वाला, यह वन भी अर्जुन के बिना सुन्दर नहीं जचता है ॥१३॥

नीलाम्बुदसमप्रख्यं मत्तमातङ्गगामिनम् ॥१४॥
तमृते पुण्डरीकाक्षं काम्यकं नातिभाति मे ।

नीले मेघ के समान सुन्दर, मस्त हाथी के समान गति-धारी कमल के नेत्रों वाले अर्जुन के विना काम्यक वन मुझे नहीं सुहाता है ॥१४॥

तस्य स्म धनुषो घोषः श्रूयतेऽशनिनिस्वनः ॥१५॥
न लभे शर्म वै राजन् स्मरन्ती सव्यसाचिनम् ।

हे राजन्! अर्जुन के धनुष की टंकार, बिजली की कड़क से कम नहीं थी। आज मैं उसी अर्जुन का स्मरण करके शान्ति नहीं पा रही हूं ॥१५॥

तथा लालप्यमानानां निशम्य परवीरहा ॥१६॥
भीमसेनो महाराज द्रौपदीमिदमब्रवीत् ।

हे महाराज! इस प्रकार बार २ कहती हुई द्रौपदी को सुनकर शत्रु-विजयी भीमसेन, द्रौपदी से कहने लगा॥१६॥

भीमसेन उवाच—

मनःप्रीतिकरं भद्रे यद्ब्रवीषि सुमध्यमे ।
तन्मे प्रीणाति हृदयममृतप्राशनोपमम् ।
यस्य दीर्घौ समौ पीनौ भुजौ परिघसन्निभौ ॥१७॥
मौर्वीकृतकिणौ वृत्तौ खड्गायुधधनुर्द्धरौ ।
निष्काङ्गदकृतापीडौ पञ्चशीर्षाविवोरगौ ॥१८॥
तमृते पुरुषव्याघ्रं नष्टसूर्यमिवाम्बरम् ।

भीमसेन ने कहा—हे भद्रे ! हे सुमध्यमे ! तूने जो कहा है, वह मन को बड़ा आल्हाद कारी है। यह मेरे मन को अमृत के भोजन के तुल्य प्रसन्न करता है। जिस अर्जुन की दीर्घ, पुष्ट, अर्गला के समान सुन्दर धनुष की डोरी के चिन्ह से चिन्हित, गोल, खड्ग और धनुष के धारण करने वाली, सुवर्ण के अङ्गद धारण किये हुए पांच फन वाले सर्प के सदृश भुजाएँ थी, उस पुरुष श्रेष्ठ अर्जुन के विना आज आकाश सूर्य से शून्य सा दिखाई देता है ॥१७-१८॥

यमाश्रित्य महाबाहुं पाञ्चालाः कुरवस्तथा ॥१६॥
सुराणामपि यत्तानां पृतनासु न बिभ्यति ।

जिस महाबली अर्जुन का आश्रय लेकर पाञ्चाल और कौरव, इकट्ठे देवों की सेना में भी नहीं डरते थे ॥१६॥

यस्य बाहू समाश्रित्य वयं सर्वे महात्मनः ॥२०॥
मन्यामहे जितानाजौ परान् प्राप्तांश्च मेदिनीम् ।
तमृते फाल्गुनं वीरं न लभे काम्यके धृतिम् ॥२१॥

जिसकी भुजा के आश्रय में हम लोग, युद्ध में शत्रुओं को जीता हुआ और पृथिवी को प्राप्त की हुई समझते थे। उसी अर्जुन के बिना आज इस काम्यक वन में हमको धैर्य नहीं बंधता है ॥२०-२१॥

पश्यामि च दिशः सर्वास्तिमिरेणावृता इव ।
ततोऽब्रवीत् साश्रुकण्ठो नकुलः पाण्डुनन्दनः ॥२२॥

आज मैं सारी दिशाओं को अंधेरे से भरी हुई देखता हूं। यह सुन कर पाण्डु-नन्दन नकुल, रोता २ कहने लगा ॥२३॥

नकुल उवाच—

यस्मिन् दिव्यानि कर्माणि कथयन्ती रणाजिरे।
देवा अपि युधां श्रेष्ठं तमृते का रतिर्वने ॥ २४ ॥

नकुल ने कहा—जिसके दिव्य कर्मों का युद्ध में देवता भी वर्णन करते थे, उस वीर श्रेष्ठ अर्जुन के बिना हम वन में कैसे प्रसन्न रह सकते हैं ॥२४॥

उदीचीं यो दिशं गत्वा जित्वा युधि महाबलान्।
गन्धर्वमुख्याञ्छतशो हयान् लेभे महाद्युतिः ॥ २५ ॥
राज्ञे तित्तिरिकल्माषान् श्रीमतोऽनिलरंहसः।
प्रादाद्भ्रात्रे प्रियः प्रेम्णा राजसूये महाक्रतौ ॥ २६ ॥
तमृते भीमधन्वानं भीमादवरजं वने।
कामये काम्यके वासं नेदानीममरोपमम् ॥ २७ ॥

जिस महाकान्ति धारी अर्जुन ने उत्तर दिशा में जाकर और युद्ध में महाबली गन्धर्वों को जीत कर अपने भाई राजा युधिष्ठिर के लिये तित्तिर और कल्माष रंग के वायु के समान वेग शील सैकड़ों अश्व राजसूय महा यज्ञ में प्रदान किए, उसी भीषण धनुर्धारी, भीम के लघु भ्राता, देव तुल्य अर्जुन के बिना इस काम्यक वन में निवास करना अच्छा नहीं जचता है ॥२५-२७॥

सहदेव उवाच—

यो धनानि च कन्याश्च युधि जित्वा महारथः।
आजहार पुरा राज्ञो राजसूये महाक्रतौ ॥ २८ ॥

यः समेतान् मृधे जित्वा यादवानमितद्युतिः ।
सुभद्रामाजहारैको वासुदेवस्य सम्मते ॥ २९ ॥
तस्य जिष्णोर्वृषीं दृष्ट्वा शून्यां मम निवेशने ।
हृदयं मे महाराज न शाम्यति कदाचन ॥ ३० ॥

सहदेव ने कहा—हे महाराज ! जो महारथी, अर्जुन, युद्ध में जीत कर अनेक कन्या और बहुत सा धन राजा युधिष्ठिर के महा यज्ञ राजसूय में लाया। जिस अत्यन्त तेजस्वी, अकेले अर्जुन ने युद्ध में इकट्ठे सारे कौरवों को जीत लिया और श्रीकृष्ण की सम्मति से सुभद्रा का अपहरण किया,उसी अर्जुन का घर में आसन शून्य देख कर मेरा मन शान्त नहीं होता है ॥३०॥

वनादस्माद्विवासन्तु रोचयेऽहमरिन्दम ।
न हि नस्तमृते वीरं रमणीयमिदं वनम् ॥ ३१ ॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि अर्जुनानुशोचने
अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

हे अरिन्दम ! मैं तो अब यही चाहता हूं कि इस वन से चल देना चाहिए। आज इस वीर अर्जुन के विना यह वन रमणीक प्रतीत नहीं होता है ॥३१॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में
अर्जुन के स्मरण का अस्सीवां अध्याय पूरा हुआ।



इक्यासीवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

धनञ्जयोत्सुकानान्तु भ्रातृणां कृष्णया सह ।
श्रुत्वा वाक्यानि विमना धर्मराजोऽप्यजायत ॥ १ ॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन ! द्रौपदी के सहित, अर्जुन की उत्कण्ठा से व्यग्र अपने भाइयों के ये वचन सुन कर धर्मराज युधिष्ठिर भी उदास हो गए ॥१॥

अथापश्यन्महात्मानं देवर्षिन्तत्र नारदम् ।
दीप्यमानं श्रिया ब्राह्मया हुतार्चिषमिवानलम् ॥ २ ॥

इसके अनन्तर ब्रह्मसम्बन्धी तेज से व्याप्त, हवन की हुई आग के समान तेजस्वी, महात्मा, देवर्षि, नारदको देखा ॥२॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य भ्रातृभिः सह धर्मराट् ।
प्रत्युत्थाय यथान्यायं पूजाञ्चक्रे महात्मने ॥ ३ ॥

इसको आया हुआ देख कर अपने भाइयों के साथ धर्मराजने उठ कर इस महात्मा की विधि-पूर्वक पूजा की ॥३॥

स तैः परिवृतः श्रीमान् भ्रातृभिः कुरुसत्तमः ।
विबभावतिदीप्तौजा देवैरिव शतक्रतुः ॥ ४ ॥

यह कुरुसत्तम श्रीमान युधिष्ठिर अपने भाइयों से युक्त, ऐसा देदीप्यमान हो रहा था–जैसा देवों से इन्द्र होता है ॥४॥

यथा च वेदान् सावित्री याज्ञसेनी तथा पतीन् ।
न जहौ धर्मतः पार्थान् मेरुमर्कप्रभा यथा ॥ ५ ॥

जैसे--वेदों को सावित्री और सूर्य की कान्ति, मेरुपर्वत को नहीं छोड़ती है, वैसे ही धर्मानुसार द्रौपदी भी कुन्ती पुत्र अपने पति पाण्डवों को नहीं छोड़ती थी ॥५॥

प्रतिगृह्य च तां पूजां नारदो भगवानृषिः।
आश्वासयद्धर्मसुतं युक्तरूपमिवानघ ॥ ६ ॥

हे अनघ ! भगवान्, महर्षि नारद, इस पूजा को ग्रहण करके साक्षात् धर्म के सामान धर्मराज को समझाने लगे ॥६॥

उवाच च महात्मानं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
ब्रूहि धर्मभृतां श्रेष्ठ केनार्थः किं ददानि ते ॥ ७ ॥

इन्होंने धर्मराज महात्मा युधिष्ठिर से कहा--हे धर्म धारियों श्रेष्ठ ! राजन् ! कहो-तुम्हारा क्या प्रयोजन है और तुमको मैं क्या प्रदान करूं ॥७॥

अथ धर्मसुतो राजा प्रणम्य भ्रातृभिः सह।
उवाच प्राञ्जलिभूत्वा नारदं देवसम्मतम् ॥ ८ ॥

अब धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने भाइयों के साथ प्रणाम करके और हाथ जोड़कर देवर्षि नारद से कहा॥८॥

त्वयि तुष्टे महाभाग सर्वलोकाभिपूजिते ।
कृतमित्येव मन्येऽहं प्रसादात्तव सुव्रत ॥ ९ ॥

हे महाभाग ! सब संसार के पूज्य आपके सन्तुष्ट हो जाने पर मैं आपकी कृपा से कृतार्थ हो गया हूं ॥९॥

यदि त्वहमनुग्राह्यो भ्रातृभिः सहितोऽनघ ।
संन्देहं मे मुनिश्रेष्ठ तत्त्वतश्छेत्तुमर्हसि ॥ १० ॥

हे मुनि श्रेष्ठ ! यदि भाइयों के साथ आप मेरे ऊपर अनुग्रह करते हैं, तो मेरे सन्देह को निवृत्त कर दीजिए ॥१०॥

प्रदक्षिणां यः कुरुते पृथिवीं तीर्थतत्परः ।
किं फलं तस्य कार्त्स्नेन तद्भवान् वक्तुमर्हति ॥११॥

हे महर्षे ! जो तीर्थयात्रा के प्रसङ्ग से पृथिवी की परिक्रमा करताहै, उसको क्या फल प्राप्त होता है, यह आप मुझे बताइये ॥

नारद उवाच—

शृणु राजन्नवहितो यथा भीष्मेण धीमता ।
पुलस्त्यस्य सकाशाद्वै सर्वमेतदुपश्रुतम् ॥ १२ ॥

नारद जी ने कहा—हे राजन् ! तुम सावधान होकर सुनो— जो बुद्धिमान् भीष्म ने पुलस्त्य के पास ये सब कुछ सुना है ।१२।

पुरा भागीरथी तीरे भीष्मो धर्मभृताम्वरः ।
पित्र्यं व्रतं समास्थाय न्यवसन् मुनिभिः सह ॥ १३ ॥

पूर्वकाल में गङ्गा के तट पर धर्मात्मा भीष्म ने पितरों के निमित्त व्रत धारण करके मुनियों के साथ निवास किया ।१३

शुभे देशे तथा राजन् पुण्ये देवर्षिसेविते ।
गङ्गाद्वारे महाभाग देवगन्धर्वसेविते ॥ १४ ॥

स पितृंस्तर्पयामास देवांश्च परमद्युतिः ।
ऋषींश्च तर्पयामास विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १५ ॥

हे राजन् ! इस अत्यन्त तेजस्वी भीष्म ने-देवर्षियों से सेवित, पवित्र प्रदेश, देव-गन्धर्वों से युक्त, गङ्गा द्वार पर पितर ऋषि और देवों का विधि-पूर्वक तर्पण किया ॥१४-१५॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य जपन्नेव महायशाः ।
ददर्शाद्भुतसङ्काशं पुलस्त्यमृषिसत्तमम् ॥ १६ ॥

कुछ काल तक जप करने पर महा यशस्वी भीष्म ने अद्भुत-रूप-धारी, पुलस्त्य ऋषि को देखा ॥१६॥

स तं दृष्ट्वोग्रतपसं दीप्यमानमिव श्रिया ।
प्रहर्षमतुलं लेभे विस्मयं परमं ययौ ॥ १७ ॥

यह ब्रह्मतेज से देदीप्यमान अत्यन्त तेजस्वी, इस ऋषि को देख कर अतीव प्रसन्न हुआ और बड़ा अचम्भा करने लगा ।१७

उपस्थितं महाभागं पूजयामास भारत ।
भीष्मो धर्मभृतां श्रेष्ठो विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १८ ॥

हे भारत ! इन आये हुए महाभाग, महर्षि की धर्मात्माओं में श्रेष्ठ, भीष्म ने विधि पूर्वक पूजा की ॥१८॥

शिरसा चार्घ्यमादाय शुचिः प्रयतमानसः ।
नाम सङ्कीर्त्तयामास तस्मिन् ब्रह्मर्षिसत्तमे ॥ १६ ॥

यह पवित्र होकर और प्रसन्न मन से मस्तक पर अर्घ्य ग्रहण कर ब्रह्मर्षि पुलस्त्य के पास पहुंचा और अपने नाम का कथन किया ॥१६॥

भीष्मोऽहमिति भद्रन्ते दासोऽस्मि तव सुव्रत ।
तव सन्दर्शनादेव मुक्तोऽहं सर्वकिल्विषैः ॥ २० ॥

हे सुव्रत ! मेरा नाम भीष्म है । मैं आपका दास हूं । आज मैं आपके दर्शनों से सब पापों से छूट गया हूं ॥२०॥

एवमुक्त्वा महाराज भीष्मो धर्मभृताम्वरः ।

वाग्यतः प्राञ्जलिर्भूत्वा तूष्णीमासीद्युधिष्ठिर ॥ २१ ॥

हे महाराज ! धर्मधारियों में श्रेष्ठ, भीष्म इतना कह कर वाणी को रोक कर और हाथ जोड़कर चुप खड़ा हो गया ।२१।

तं दृष्ट्वा नियमेनाथ स्वाध्यायाम्नायकर्षितम् ।

भीष्मं कुरुकुल श्रेष्ठं मुनिः प्रीतमनाभवत् ॥ २२ ॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पार्थनारदसंवादे

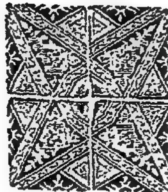
एकाशीतोऽध्यायः ॥८१॥

स्वाध्याय की रीति से कृश कुरुवंश श्रेष्ठ, इस भीष्म को देख कर मुनिराज पुलस्त्य बड़ा प्रसन्न हुआ ।

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तिर्गत तीर्थयात्रा पर्व में

युधिष्ठिर और नारद के सम्वाद का

इक्यासीवां अध्याय पूरा हुआ ।



त्रयासीवाँ अध्याय

पुलस्त्य उवाच—

अनेन तव धर्मज्ञ प्रश्रयेण दमेन च ।
सत्येन च महाभाग तुष्टोऽस्मि तव सुव्रत ॥१॥

पुलस्त्य कहने लगा—हे महाभाग! मैं तेरे इस विनय, जितेन्द्रियता और सत्य से सन्तुष्ट हो गया हूं ॥१॥

यस्येदृशस्ते धर्मोऽयं पितृभक्त्याश्रितोऽनघ ।
तेन पश्यसि मां पुत्र प्रीतिश्च परमा त्वयि ॥२॥

हे धर्मज्ञ! पिता की भक्ति के वश होकर तूने इस ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया है, इससे तू मेरी अत्यन्त प्रीति का पात्र हो गया है ॥२॥

अमोघदर्शी भीष्माहं ब्रूहि किं करवाणि ते ।
यद्वक्ष्यसि कुरुश्रेष्ठ तस्य दातास्मि तेऽनघ ॥३॥

हे भीष्म! मेरा दर्शन निष्फल नहीं जाता है, कहो—मैं तुम्हारा क्या कार्य सम्पादन करूं। हे कुरुश्रेष्ठ! जो तू मांगेगा, मैं वही प्रदान करूंगा ॥३॥

भीष्म उवाच—

प्रीते त्वयि महाभाग सर्वलोकाभिपूजिते ।
कृतमेतावता मन्ये यदहं दृष्टवान् प्रभुम् ॥४॥

भीष्म बोले—हे महाभाग! सब लोक के पूज्य आपके प्रसन्न होजाने पर मैं कृतार्थ हो गया हूं। यह मेरा अहोभाग्य है, जो मुझे आपके दर्शन हो गये ॥४॥

यदि त्वहमनुग्राह्यस्तव धर्मभृताम्वरम् ।
सन्देहन्ते प्रवक्ष्यामि तन्मे त्वं छेत्तुमर्हसि ॥५॥

हे धर्म के धारण करने वालों में श्रेष्ठ ! महर्षे ! यदि तुमने मेरे ऊपर कृपा ही की है, तो मुझे एक सन्देह है, आप उसको निवृत्त कर दीजिये ॥५॥

अस्ति मे हृदये कश्चित्तीर्थेभ्यो धर्मसंशयः ।
तमहं श्रोतुमिच्छामि तद्भवान् वक्तुमर्हसि ॥६॥

मेरे चित्त में तीर्थों के विषय में कुछ संशय है, आप इसका निवारण करें, मैं सुनना चाहता हूं ॥६॥

प्रदक्षिणां यः पृथिवीं करोत्यमरसन्निभ ।
किं फलं तस्य विप्रर्षे तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितं ॥७॥

हे ब्रह्मर्षे ! जो सारी पृथिवी की परिक्रमा करता है, उसको क्या फल मिलता है, आप मुझे निश्चय रूप से बताइये ॥७॥

पुलस्त्य उवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि यदृषीणां परायणम् ।
तदेकाग्रमनाः पुत्र शृणु तीर्थेषु यत् फलम् ॥८॥

पुलस्त्य ने कहा—हे पुत्र ! तू एकाग्र मन से सुन। मैं तुझे ऋषियों को प्रिय तीर्थों का फल सुनाता हूं ॥८॥

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्त्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥९॥

जिसका कुत्सित दान से हाथ, बुरे स्थानों में जाने से पाद और बुरे विचारों से मन रुक रहा है तथा जो विद्या, तप और धर्माचरण से कीर्ति पा चुका है, वही तीर्थ का फल पाता है।।९।

प्रतिग्रहादपावृत्तः सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अहङ्कारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥१०॥

दान से पराङ्मुख रहकर जो कुछ मिल जाता है, उसी से जो सन्तुष्ट रहता है, एवं जो अहङ्कार का त्यागी होता है, वही तीर्थ का फल पाता है ॥१०॥

अकल्कको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः स तीर्थफलमश्नुते ॥११॥

जो पाखण्ड से रहित, आडम्बर शून्य थोड़ा आहार करने वाला जितेन्द्रिय है वही सब पापों से मुक्त होकर तीर्थ का फल पाता है ॥ ११ ॥

अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रतः ।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ॥१२॥

राजेन्द्र ! जो क्रोध रहित, सत्य व्यवहार करने वाला दृढ़-प्रतिज्ञ, तथा प्राणियों पर दया करने वालाहै, वही तीर्थ के फलों को पाता है ॥ १२ ॥

ऋषिभिः क्रतवः प्रोक्ता वेदेष्विह यथाक्रमम् ।
फलञ्चैव यथातथ्यं प्रेत्य चेह च सर्वशः ॥१३॥

ऋषियों ने वेद में कहे हुए यज्ञों का वर्णन किया है और इस लोक तथा परलोक में होने वाले इनके फलों का भी ठीक २ विवेचन किया है ॥ १३ ॥

न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञाः प्राप्तुं महीपते ।
बहूपकरणा यज्ञा नानासम्भारविस्तराः ॥१४॥

हे महीपते ! इन यज्ञों को दरिद्री मनुष्य नहीं कर सकता है, क्योंकि इन यज्ञों में बहुत सी सामग्री और नाना प्रकार के साधनों की आवश्यकता है ॥ १४ ॥

प्राप्यन्ते पार्थिवैरेतैः समृद्धैर्वा नरैः क्वचित् ।
नार्थन्यूनैर्नावगणैरेकात्मभिरसाधनैः ॥१५॥

इन यज्ञों को या तो राजा कर सकते हैं या कोई समृद्धि-शाली पुरुष कर सकता है । इन यज्ञों को धनहीन, क्षुद्र-पुरुष, या अकेले असहाय पुरुष नहीं कर सकते हैं ॥ १५ ॥

यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर ।
तुल्यो यज्ञफलैः पुण्यैस्तन्निबोध युधाम्वर ॥१६॥

हे नरेश्वर ! जो पुण्यकार्य दरिद्री भी कर सकता है और जिनका फल यज्ञों के बराबर होता है, मैं तुमको बताता हूँ, तुम सुनो

ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम ।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते ॥१७॥

हे भरत-सत्तम ! इनका परम तत्व ऋषियों को भी दुर्लभ है । तीर्थों की यात्रा का पुण्य यज्ञों से भी अधिक है ॥१७॥

अनुपोष्य त्रिरात्राणि तीर्थान्यनभिगम्य च ।
अदत्त्वा काञ्चनं गाश्च दरिद्रो नाम जायते ॥१८॥

जिसने कभी तीन रात का व्रत नहीं किया, तीर्थों में गमन नहीं किया, और सुवर्ण तथा गोदान नहीं किया, वही अन्य जन्म में दरिद्री बनता है ॥१८॥

अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः ।
न तत् फलमवाप्नोति तीर्थाभिगमनेन तत् ॥१९॥

अग्निष्टोम आदि बड़ी २ दक्षिणा वाले यज्ञों के यजन करने से जो फल नहीं मिलता है, वही तीर्थ यात्रा से मिल जाता है ॥

नृलोके देवदेवस्य तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
पुष्करं नाम विख्यातं महाभागः समाविशेत् ॥२०॥

त्रिलोकी में विख्यात, परमात्मा का प्राप्त कराने वाला, इस मनुष्य लोक में पुष्कर नामक तीर्थ है, जहां कोई पुण्यात्मा ही प्रविष्ट होता है ॥२०॥

दशकोटिसहस्राणि तीर्थानां वै महामते ।
सान्निध्यं पुष्करे येषां त्रिसन्ध्यं कुरुनन्दन ॥२१॥

हे कुरुनन्दन ! तीनों संध्याकाल में अरबों तीर्थों का पुष्कर तीर्थ में समावेश रहता है ॥२१॥

आदित्या वसवो रुद्राः साध्याश्च समरुद्गणाः ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव नित्यं सन्निहिता विभो ॥२१॥

हे विभो ! आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, मरुद्गण, गन्धर्व, अप्सराएँ-सब कुछ, इस तीर्थ में वर्तमान रहते हैं ॥२२॥

यत्र देवास्तपस्तप्वं दैत्या ब्रह्मर्षयस्तथा ।
दिव्ययोगा महाराज पुण्येन महतान्विताः ॥२३॥

हे महाराज! जहां पर देव, दैत्य, ब्रह्मर्षि, दिव्य कर्मयोगी, महा पुण्य से युक्त होकर अनेक वर्ष तप करते हैं ॥२३॥

मनसाप्यभिकाम्यस्य पुष्कराणि मनस्विनः ।
दूयन्ते सर्वपापानि नाकपृष्ठे च पूज्यते ॥२४॥

जो मनस्वी, पुष्कर क्षेत्र का मन से भी ध्यान करता है, उस के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और वह स्वर्ग में पूजित होता है ।

अस्मिंस्तीर्थे महाराज नित्यमेव पितामहः ।
उवास परमप्रीतो भगवान् कमलासनः ॥२५॥

हे महाराज ! इस तीर्थ में कमलासन, भगवान् ब्रह्मा, नित्य प्रसन्नता से वास करते रहते हैं ॥२५॥

पुष्करेषु महाभाग देवाः सर्षिगणाः पुरा ।
सिद्धिं परमिकां प्राप्ताः पुण्येन महतान्विताः ॥२६॥

हे महाभाग ! इसी पुष्कर क्षेत्र में ऋषियों के साथ देवों ने बड़ी भारी सिद्धि प्राप्त की है और वे महान् पुण्य से युक्त होते रहे हैं ॥२६॥

तत्राभिषेकं यः कुर्यात् पितृदेवार्चने रतः ।
अश्वमेधाद्दशगुणं फलं प्राहुर्मनीषिणः ॥२६॥

जो यहां स्नान करके पितर और देवों का पूजन करता है, उसको दश अश्वमेध यज्ञों का फल प्राप्त होता है, ऐसा महर्षियों ने कहा है ॥२७॥

अप्येकं भोजयेद्विप्रं पुष्करारण्यमाश्रितः ।
तेनासौ कर्मणा भीष्म प्रेत्य चेह च मोदते ॥२८॥

हे भीष्म ! जो मनुष्य, पुष्कर क्षेत्र में आकर एक ब्राह्मण को भी भोजन करा देता है, वह उस कर्म से इस लोक और परलोक में आनन्द पाता है ॥२८॥

शाकैर्मूलैः फलैर्वापि येन वर्त्तयते स्वयम् ।
तद्वै दद्याद् ब्राह्मणाय श्रद्धावाननसूयकः ॥२९॥
तेनैव प्राप्नुयात् प्राज्ञो हयमेधफलं नरः ।

जो श्रद्धालु, अनिन्दक, शाक, मूल, फल या जिस किसी आहार से आप निर्वाह करे उसको ही ब्राह्मण को प्रदान कर दे, तो इस से इस बुद्धिमान् को अश्वमेध का फल मिलता है ॥२९॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या शूद्रा वा राजसत्तम ॥३० ॥
न वै योनौ प्रजायन्ते स्नातास्तीर्थे महात्मनः ।

हे राजन् ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इनमें से कोई भी पुष्कर क्षेत्र में स्नान कर ले-वह फिर नीच योनि में जन्म नहीं लेता है ॥३०॥

कार्त्तिकीन्तु विशेषेण योऽभिगच्छति पुष्करम् ॥३१॥
प्राप्नुयात् स नरो लोकान् ब्रह्मणः सदनेऽक्षयान् ।

जो कार्तिक की पूर्णिमा को पुष्कर में स्नान करता है, वह मनुष्य, अक्षय ब्रह्म लोक को पाता है ॥३१॥

सायं प्रातः स्मरेद्यस्तु पुष्कराणि कृताञ्जलिः ॥३२॥
उपस्पृष्टं भवेत्तेन सर्वतीर्थेषु भारत ।

हे भारत ! जो मनुष्य, हाथ जोड़ कर सुबह शाम पुष्कर क्षेत्र का स्मरण कर लेता है, उसको सारे तीर्थों के आचमन का फल लगता है ॥३२॥

जन्मप्रभृति यत्पापं स्त्रिया वा पुरुषस्य वा ॥३३॥
पुष्करे स्नातमात्रस्य सर्वमेव प्रणश्यति ।

हे भीष्म ! जिस स्त्री या पुरुष ने जन्म भर में जो पाप किया है, वह पुष्कर के स्नान मात्र से नष्ट हो जाता है ॥३३॥

यथा सुराणां सर्वेषामादिस्तु मधुसूदनः ॥३४॥
तथैव पुष्करं राजंस्तीर्थानामादिरुच्यते ।

जैसे सारे देवों में मधुसूदन श्रेष्ठ है, उसी तरह सारे तीर्थों में पुष्कर राज है ॥३४॥

उष्ट्वा द्वादशवर्षाणि पुष्करे नियतः शुचिः ॥ ३५ ॥
क्रतून् सर्वानवाप्नोति ब्रह्मलोकं स गच्छति ।

जो जितेन्द्रिय, पवित्रता से बारह वर्ष पुष्कर में निवास कर लेता है, वह सारे यज्ञों का फल पा लेता है और अन्त में ब्रह्म लोक को जाता है ॥३५॥

यस्तु वर्षशतं पूर्णमग्निहोत्रमुपासते ॥३६॥
कार्त्तिकीं वा वसेदेकां पुष्करे सममेव तत् ।

जो सौ वर्ष तक अग्निहोत्र करता है और जो कार्तिक की पूर्णिमा को पुष्कर में रहता है, इन दोनों का पुण्य फल बराबर है ॥३६॥

त्रीणि शृङ्गाणि शुभ्राणि त्रीणि प्रस्रवणानि च ॥३७॥
पुष्कराण्यादिसिद्धानि न विद्मस्तत्र कारणम् ।

पापों के नाशक, देदीप्यमान तीन पुष्कर क्षेत्र हैं। इनमें सरस्वती झरती है। ये आदि काल से सिद्ध तीर्थ हैं, इसके तीर्थ होने का कोई लौकिक कारण हम नहीं जानते हैं ॥३७॥

दुष्करं पुष्करे गन्तुं दुष्करं पुष्करे तपः ॥ ३८ ॥
दुष्करं पुष्करे दानं वस्तुञ्चैव सुदुष्करम् ।

पुष्कर में जाना, पुष्कर क्षेत्र में तप करना पुष्कर में दान और पुष्कर में वास करना बड़ा ही कठिन है ॥३८॥

उष्टवा द्वादशरात्रन्तु नियतो नियताशनः ॥ ३९ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य जम्बुमार्गं समाविशत् ।

नियम पूर्वक आहार करके जितेन्द्रिय के साथ बारह दिन तक जो पुष्कर में वास करे और इसके बाद पुष्कर की प्रदक्षिणा करके जम्बु मार्ग में प्रवेश करे ॥३९॥

जम्बुमार्गं समाविश्य देवर्षिपितृसेवितम् ॥ ४० ॥
अश्वमेधमवाप्नोति सर्वकामसमन्वितः ।

पितर देव; और ऋषियों से युक्त, जम्बुमार्ग में प्रवेश करके मनुष्य, सब कामनाओं को पा लेता है और इसको अश्वमेध का फल मिलता है ॥ ४० ॥

तत्रोष्य रजनीः पञ्च पूतात्मा जायते नरः ॥ ४१ ॥
न दुर्गतिमवाप्नोति सिद्धिं प्राप्नोति चोत्तमाम् ।

इस जम्बु-मार्ग नामक तीर्थ स्थान में पांच रात निवास करने पर मनुष्य पवित्र हो जाता है। इसकी कभी दुर्गति नहीं होती है और उत्तम सिद्धि पाता है ॥ ४१ ॥

जम्बुमार्गादुपावृत्य गच्छेत्तण्डुलिकाश्रमम् ॥ ४२ ॥
न दुर्गतिमवाप्नोति ब्रह्मलोकञ्च गच्छति ।

जम्बु-मार्ग से लौटकर तण्डुलिकाश्रमको गमन करे। इसमें जाने वाले पुरुष की कभी दुर्गति नहीं होती है और वह ब्रह्मलोक को जाता है ॥ ४२ ॥

आगस्त्यं सर आसाद्य पितृदेवार्चने रतः ॥ ४३ ॥
त्रिरात्रोपषितो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ।
शाकवृत्तिः फलैर्वापि कौमारं विन्दते पदम् ॥ ४४ ॥

हे राजन्! अगस्त्य के सरोवर पर जाकर जो पितर और देवों का अर्चन करता है तथा तीन दिन तक का व्रत करता है, वह अग्निष्टोम यज्ञ का फल पाता है। जो वहाँ शाक या फलों का आहार करता है, वह कौमार (स्कन्द) पद को पा जाता है ॥

कण्वाश्रमं ततो गच्छेत् श्रीजुष्टं लोकपूजितम् ।
धर्मारण्यं हि तत् पुण्यमाद्यञ्च भरतर्षभ ॥ ४५ ॥
यत्र प्रविष्टमात्रो वै सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

इसके आगे श्रीयुक्त लोक पूजित कण्व मुनि के आश्रम में जावे। हे भरतर्षभ ! यह आश्रम आदि से ही पवित्र और धर्म का स्थान है। इसमें प्रवेश करने से ही सब पापों से छूट जाता है॥ ४५ ॥

अर्च्चयित्वा पितृन् देवान् नियतो नियताशनः ॥ ४६ ॥
सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य फलमश्नुते ।

यहां नियम शील और नियमित आहार करके तथा देव और पितरों का पूजन करके मनुष्य, सब कामना पा लेता है। और यज्ञ का फल पाता है॥ ४६ ॥

प्रदक्षिणं ततः कृत्वा ययातिपतनं व्रजेत् ॥ ४७ ॥
हयमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति तत्र वै ।

यहां परिक्रमा करके ययाति के पतन के स्थान पर गमन करे। जिससे मनुष्य अश्वमेध के फल को पा लेता है॥ ४७ ॥

महाकालं ततो गच्छेन्नियतो नियताशनः ॥ ४८ ॥
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत् ।

नियम शील और नियत आहार के साथ महाकाल तीर्थ पर गमन करे। इस पर गमन करने से करोड़ों तीर्थों के स्नान और अश्वमेध का फल मिलता है॥ ४८ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञः स्थाणोस्तीर्थमुमापतेः ॥ ४६ ॥
नाम्ना रुद्रवटं नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्राभिगम्य चेशानं गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ५० ॥

इसके आगे धर्मात्मा मनुष्य, स्थाणु के तीर्थ को जावे, इसका नाम रुद्रवट नाम है, जो तीनों लोकों में विख्यात है। इस शिवजी के स्थान पर गमन करने से सहस्त्र गौओं के दान का फल मिलता है ॥४६-५०॥

महादेवप्रसादाच्च गाणपत्यञ्च विन्दति ।
समृद्धमसपत्नञ्च श्रिया युक्तं नरोत्तमः ॥ ५१ ॥

शिवजी की कृपा से धर्मात्मा मनुष्य, ऐश्वर्य शाली, शोभा-युक्त, अद्वितीय गणपति के तीर्थ स्थान पर पहुंचता है ॥ ५१॥

नर्मदां स समासाद्य नदीं त्रैलोक्यविश्रुताम् ।
तर्पयित्वा पितॄन् देवानग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ५२ ॥

इसके आगे त्रिलोकी में प्रसिद्ध नर्मदा नदी है। इससे पितरों के तर्पण और देवों की पूजा करके मनुष्य, अग्निष्टोम यज्ञ का फल पाता है। ॥५२॥

दक्षिणंसिन्धुमासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
अग्निष्टोममवाप्नोति विमानञ्चाधिरोहति ॥ ५३ ॥

जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी रह कर दक्षिण के समुद्र पर पहुंचे इससे अग्निष्टोम का फल मिलता है और अन्त में विमान पर चढ़कर स्वर्ग जाता है ॥ ५३ ॥

चर्मण्वतीं समासाद्य नियतो नियताशनः ।
रन्तिदेवाभ्यनुज्ञातो अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥ ५४ ॥

जितेन्द्रिय और स्वल्पाहारी रहकर जो चर्मण्वती नदी पर पहुंचता है और वहां राजा रन्तिदेव से स्नान की मानसिक आज्ञा लेकर स्नान करता है, वह अग्निष्टोम का फल पाता है ॥५४॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ हिमवत्सुतमर्बुदम् ।
पृथिव्यां यत्र वै छिद्रं पूर्वमासीद्युधिष्ठिर ॥ ५५ ॥

हे धर्मज्ञ ! इसके बाद हिमालय के पुत्र अर्बुद पर्वत पर जावे ।,जहां पहिले पृथिवी में एक छिद्र था ॥ ५५ ॥

तत्राश्रमो वशिष्ठस्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ५६ ॥

यहां पर वशिष्ठ ऋषि का आश्रम है । इसमें एक रात निवास करने से एक सहस्त्र गौओं के दान का फल मिलता है ॥५६॥

पिङ्गतीर्थमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
कपिलानां नरश्रेष्ठ शतस्य फलमश्नुते ॥ ५७ ॥

हे नर श्रेष्ठ ! ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय मनुष्य, पिङ्ग तीर्थ में स्नान करके एक हजार कपिला गौओं के दानका फल पाता है

ततो गच्छेत राजेन्द्र प्रभासं तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र सन्निहितो नित्यं स्वयमेव हुताशनः ॥ ५८ ॥
देवतानां मुखं वीर ज्वलनोऽनिलसारथिः ।

तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः ॥ ५६ ॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं प्राप्नोति मानवः ।

हे राजेन्द्र। इसके आगे उत्तम प्रभास क्षेत्र में गमन करे। यहां पर नित्य ही अग्निदेव विराजमान रहते हैं। जो अग्नि,देवों का मुख और जिसका सारथि वायु है। इस तीर्थ में जो मनुष्य पवित्रता से स्नान करता है और मन को वश में रखता है, वही मनुष्य, अग्निष्टोम और अति रात्र यज्ञों का फल पाता है।

ततो गत्वा सरस्वत्याः सागरस्य च सङ्गमे ॥ ६० ॥
गोसहस्रफलं तस्य स्वर्गलोकञ्च विन्दति ।
प्रभया दीप्यते नित्यमग्निवद्भरतर्षभ ॥ ६१ ॥

हे भरतर्षभ ! इसके आगे जो सागर के सङ्गम पर सरस्वती नदी पर जावे वह हजार गौओ का फल और स्वर्ग लोक पाता है एवं इसका तेज अग्नि के समान बढ़ता है ॥ ६०-६१ ॥

तीर्थे सलिलराजस्य स्नात्वा प्रयतमानसः ।
त्रिरात्रमुषितः स्नातस्तर्पयेत् पितृदेवताः ॥ ६२ ॥
प्रभासते यथा सोमः सोश्वमेधञ्च विन्दति ।

मन को वस में रखने वाला मनुष्य, इस समुद्र में स्नान करके तीन दिन उपवास करे और पितर तथा देवों की अर्चना करे, तो वह चन्द्रमा के समान तेजस्वी होकर अश्वमेध का फल पा लेता है।

वरदानं ततो गच्छेत्तीर्थं भरतसत्तम ॥ ६३ ॥
विष्णोर्दुर्वाससा यत्र वरो दत्तो युधिष्ठिर ।
वरदाने नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥ ६४ ।

हे भरतसत्तम ! इसके आगे वरदान तीर्थ पर जावे । यहां पर दुर्वासा ने विष्णुको वरदान दिया है। इस वरदान नामक क्षेत्र में स्नान करके मनुष्य सहस्त्रों गौओं के दान का फल पाता है

ततो द्वारवतीं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
पिण्डारके नरः स्नात्वा लभेद्बहुसुवर्णकम् ॥ ६५ ॥

जितेन्द्रिय और नियमित आहार करके द्वारका जावे । यहां पिण्डारक तीर्थ में स्नान करने से बहुत से सुवर्ण की प्राप्ति होती है ॥ ६५ ॥

तस्मिंस्तीर्थे महाभाग पद्मलक्षणलक्षिताः ।
अद्यापि मुद्रा दृश्यन्ते तदद्भुतमरिन्दम ॥ ६६ ॥

हे महाराज ! इस तीर्थ में पद्म के आकार की मुद्रा [मुहरें] अब भी दिखाई दे जाती है, यह बड़ा ही अद्भुत है ॥ ६६ ॥

त्रिशूलाङ्कानि पद्मानि दृश्यन्ते कुरुनन्दन ।
महादेवस्य सान्निध्यं तत्र वै पुरुषर्षभ ॥ ६७ ॥

हे कुरुनन्दन ! ये पद्म, त्रिशूल के चिन्हों से युक्त दिखाई देते हैं। इस तीर्थ में महादेव की सदा स्थिति रहती हैं ॥६७॥

सागरस्य च सिन्धोश्च सङ्गमं प्राप्य भारत ।
तीर्थे सलिलराजस्य स्नात्वा प्रयतमानसः ॥ ६८ ॥
तर्पयित्वा पितृदेवानृषींश्च भरतर्षभ ।
प्राप्नोति वारुणं लोकं दीप्यमानं स्वतेजसा ॥६९॥

हे भारत ! सागर और नदी के सङ्गम को पाकर और इस समुद्र में स्नान करके तथा पितृदेव और ऋषियों को तृप्त करके जितेन्द्रिय मनुष्य, अपने तेज से देदीप्यमान होकर अपने कारण ब्रह्म को पा लेता है ॥६८-६९॥

अश्वमेधाद्दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥७०॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य गच्छते भरतर्षभ ।

हे युधिष्ठिर ! शंकुकर्णेश्वर देव को पूज कर मनुष्य, दश अश्वमेध का फल पाता है--ऐसा ऋषि लोग कहते हैं ॥७०॥

तीर्थं कुरुवरश्रेष्ठ त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥७१॥
द्रिमीति नाम्ना विख्यातं सर्वपापप्रणाशनम् ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा उपासन्ते महेश्वरम् ॥७२॥

हे भरतर्षभ ! इसकी प्रदक्षिणा करके तीनों लोकों में प्रसिद्ध द्रिमी नामक तीर्थ है, जो सब पापों का नाशक है । यहां पर ब्रह्मादि देवता, महेश्वर की पुजा करते रहते हैं ॥७१-७२॥

तत्र स्नात्वार्चयित्वा च रुद्रं देवगणैर्वृतम् ।
जन्मप्रभृति यत् पापं तत् स्नातस्य प्रणश्यति ॥७३॥

यहां स्नान करके जो देवों के गणों से युक्त रुद्र की उपासना करता है, उसके सारे जन्म के पाप नष्ट हो जाते हैं ॥७३

द्रिमी चात्र नरश्रेष्ठ सर्वदेवैरभिष्टुतः ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र हयमेधमवाप्नुयात् ॥७४॥

गत्वा यत्र महाप्राज्ञ विष्णुना प्रभविष्णुना।

पुरा शौचं कृतं राजन् हत्वा दैतेयदानवान् ॥७५॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ वसोर्धारमभिष्टुताम्।

गमनादेव तस्यां हि हयमेधफलं लभेत् ॥७६॥

हे नर श्रेष्ठ ! इस क्रिमी तीर्थ की सब देवता, स्तुति करते रहते हैं। हे नरव्याघ्र ! इस पर जाकर स्नान करके मनुष्य अश्वमेध का फल पा लेता है। हे महाप्राज्ञ ! यहां पर शक्तिशाली विष्णु ने दैत्य और दानवों को मार कर अपना शौच किया था। हे धर्मज्ञ ! इसके बाद, प्रशंसित वसोधारा नामक तीर्थ पर गमन करे। इस पर पहुंचते ही अश्वमेध का फल मिल जाता है।

स्नात्वा कुरुवरश्रेष्ठ प्रयतात्मा समाहितः।

तर्प्य देवान् पितॄंश्चैव विष्णुलोके महीयते ॥७७॥

हे कुरुवंश श्रेष्ठ ! यहां जो नर अपने मन को सावधानी से वश में करके स्नान करता है और देव तथा पितरों की अर्चना करता है, वह विष्णु लोक को प्राप्त कर लेता है॥७७॥

तीर्थं चात्र सरः पुण्यं वसूनां भरतर्षभ।

तत्र स्नात्वा च पीत्वा च वसूनां सम्मतो भवेत् ॥७८॥

हे भरतर्षभ ! इस तीर्थ में वसुओं का एक पवित्र सरोवर है। इस में स्नान और आचमन करने से वसुओं का प्रिय हो जाता है ॥७८॥

सिन्धूत्तममिति ख्यातं सर्वपापप्रणाशनम् ।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ लभेद्बहुसुवर्णकम् ॥७९॥

हे नर श्रेष्ठ ! सिन्धूत्तम नामक सर्वपापों का नाशक यह एक तीर्थ है। इस में स्नान करने से मनुष्य, बहुतसा सुवर्ण पाता है।

भद्रतुङ्गं समासाद्य शुचिः शीलसमन्वितः ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति गतिञ्च परमां व्रजेत् ॥८०॥

जो पवित्र और सुशील मनुष्य भद्रतुङ्ग तीर्थ पर पहुँच जाता है, वह ब्रह्मलोक को पा कर अन्तमें मोक्ष पा लेता है ॥८०॥

कुमारिकाणां शक्रस्य तीर्थं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं स्वर्गलोकमवाप्नुयात् ॥८१॥

यहां कुमारिका और इन्द्र का एक तीर्थ है, जिस पर अनेक सिद्ध रहते हैं। इसमें स्नान करके मनुष्य शीघ्र स्वर्ग लोक में पहुंच जाता है ॥८१॥

रेणुकायाश्च तत्रैव तीर्थं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा भवेद्विप्रो निर्मलश्चन्द्रमा यथा ॥८२॥

यही पर रेणुका का तीर्थ है। इस पर सिद्धों का निवास है इसमें स्नान करके ब्राह्मण चन्द्रमा के समान उज्ज्वल हो जाता है।

अथ पञ्चनदं गत्वा नियतो नियताशनः ।
पञ्चयज्ञानवाप्नोति क्रमशो येऽनुकीर्त्तिताः ॥८३॥

नियमानुसार आहार करता हुआ, जितेंद्रिय, मनुष्य, पञ्च नदों पर जाके पञ्च यज्ञों का फल पा लेता है। जिनका वर्णन अभी किया है ॥८३॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र भीमायाः स्थानमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा तु योन्यां वै नरो भरतसत्तम ॥८४॥

हे राजेन्द्र ! इसके बाद भीम नदी के उत्तम प्रदेशों में जावे, इसमें स्नान करने से पुनर्जन्म नहीं होता है ॥८४॥

देव्याः पुत्रो भवेद्राजंस्तप्तकुण्डलविग्रहः ।
गवां शतसहस्रस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥८५॥

हे राजन् ! यहां स्नान करने वाला पुरुष, देवी के पुत्र के समान हो जाता है और चमकते हुए सुवर्ण के कुण्डल धारण करता है और यह हजारों गौओं के दान का फल पाता है ॥८५॥

श्रीकुण्डन्तु समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
पितामहं नमस्कृत्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥८६॥

तीनों लोकों में प्रसिद्ध, श्री कुण्ड को पाकर और ब्रह्मा को प्रणाम करके सहस्र गौओं के दान का फल पाता है ॥ ८६ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ विमलं तीर्थसत्तमम् ।
अद्यापि यत्र दृश्यन्ते मत्स्याः सौवर्णराजताः ॥८७॥

हे धर्मज्ञ ! इससे आगे एक विमल नामक उत्तम तीर्थ पर जावे । वहां आज भी चांदी सुवर्ण के समान चमकदार मछली दिखाई दे जाती है ॥ ८७ ॥

तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं वासवं लोकमाप्नुयात् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छते परमां गतिम् ॥८८॥

यहां स्नान करके मनुष्य, शीघ्र इन्द्रलोक को चला जाता है और सब पापों से रहित होकर परम गति पा लेता है ॥ ८८ ॥

वितस्ताञ्च समासाद्य सन्तर्प्य पितृदेवताः ।
नरः फलमवाप्नोति वाजपेयस्य भारत ॥८९॥

हे भारत! वितस्ता नदी पर जाकर पितर तथा देवों का तर्पण करके मनुष्य, वाजपेय का फल पाता है ॥८९ ॥

काश्मीरेष्वेव नागस्य भवनं तक्षकस्य च ।
वितस्ताख्यमिति ख्यातं सर्वपापप्रमोचनम् ॥९०॥

कश्मीर में नागराज तक्षक का भवन है, जो वितस्ता कहाता है, यह सब पापों का नाश करने वाला है ॥ ९० ॥

तत्र स्नात्वा नरो नूनं वाजपेयमवाप्नुयात् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेच्च परमां गतिम् ॥९१॥

इस पर स्नान करके पुरुष, वाजपेय का फल पाता है और सब पापो से विशुद्ध होकर परम गति पा जाता है ॥ ९१ ॥

ततो गच्छेत वडवां त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ।
पश्चिमायान्तु सन्ध्यायामुपस्पृस्य यथाविधि ॥९२॥
चरुं सप्तार्चिषे राजन् यथाशक्ति निवेदयेत् ।
पितृणामक्षयं दानं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥९३॥

हे राजन्! इसके अनन्तर तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध वडवा नामक तीर्थ है। यहा सायंकाल की विधि पूर्वक संध्याँ करके सूर्य के

निमित्त चरुका हवन करें । उस जगह पितरों के निमित्त किया हुआ, दान अक्षय हो जाता है ॥ ९२-९३ ॥

ऋषयः पितरो देवा गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
गुह्यकाः किन्नरा यक्षाः सिद्धा विद्याधरा नराः ॥९४॥
राक्षसा दितिजा रुद्रा ब्रह्मा च मनुजाधिप ।
नियताः परमां दीक्षामास्थायाब्दसहस्रकीम् ॥९५॥

हे मनुजाधिप ! यहां प्रत्येक ऋषि, पितर, देव, गन्धर्व, अप्सराओं के गण, गुह्यक, किन्नर, यक्ष, सिद्ध, विद्याधर, नर, राक्षस, दैत्य, रुद्र, ब्रह्मादि देव, एक २ हजार वर्ष की दीक्षा ले कर पूर्व काल में नियम पूर्वक रहे हैं ॥९४-९५ ॥

विष्णोः प्रसादनं कुर्वश्चरूंश्च श्रपयंस्तथा ।
सप्तभिः सप्तभिश्चैव ऋग्भिस्तुष्टाव केशवम् ॥९६॥
ददावष्टगुणैश्वर्य्यं तेषां तुष्टस्तु केशवः ।

इन्होंने भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए चरु (तिल आदि सामिग्री) का हवन किया और सात २ ऋत्विगों द्वारा भगवान् विष्णु को प्रसन्न किया। उन पर प्रसन्न हुए भगवान् ने उनको अष्ट गुणों (अष्ट सिद्धियों) का ऐश्वर्य प्रदान किया है

यथाभिलषितानयान् कामान् दत्त्वा महीपते ॥९७॥
तत्रैवान्तर्द्धधे देवो विद्युदभ्रेषु वै यथा ।
नाम्ना सप्तचरुं तेन ख्यातं लोकेषु भारत ॥९८॥

हे महीपते ! इसके अतिरिक्त उनकी प्रिय अन्य कामनाओं को प्रदान करके बादलों मे बिजली के समान भगवान् अन्तर्ध्यान होगए हैं। इसीसे इस स्थान का नाम सप्तचरु पड़ गया है।

गवां शतसहस्रेण राजसूयशतेन च।
अश्वमेधसहस्रेण श्रेयान् सप्तार्चिपश्चरुः ॥९९॥

एक लाख गो दान सैंकड़ों राजसूय और सहस्रों अश्वमेधों से इस स्थान पर सूर्य को हविः प्रदान करना उत्तम है ॥ ९९ ॥

ततो निवृत्तो राजेन्द्र रौद्रं पदमथाविशेत्।
अर्च्चयित्वा महादेवमश्वमेधफलं लभेत् ॥१००॥

हे राजेन्द्र ! यहां से निवृत्त होकर रुद्रके पद की ओर यात्रा करे। यहां महादेव का पूजन करके अश्वमेध का फल पालेता है

मणिमन्तं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः।
एकरात्रोषितो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ॥१०१॥

हे राजन ! उस के आगे मणिमान् तीर्थ पर जावे। यहां सावधानी से ब्रह्मचर्य धारण करके एक रात्रिका व्रत करे, तो अग्निष्टोमयज्ञ का फल पाता है ॥१०१॥

अथ गच्छेत राजेन्द्र देविकां लोकविश्रुताम्।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ ॥१०२॥

हे राजेन्द्र ! लोकों में विख्यात, देविका नामक स्थान पर जावे, जहां पर विप्रों की उत्पत्ति कही जाती है ॥१०२॥

त्रिशूलपाणेः स्थानञ्च त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
देविकायां नरः स्नात्वा समभ्यर्च्य महेश्वरम् ॥१०३॥

यथाशक्ति चरुं तत्र निवेद्य भरतर्षभ ।
सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य लभते फलम् ॥१०४॥

यह स्थान त्रिशूलपाणि शंकर का तीनों लोकों में विख्यात है। इस देवी के तीर्थ में स्नान और महेश्वर की पूजा करके यथा शक्ति चरु का हवन करे, तो मनुष्य, सब भांति से सम्पन्न यज्ञ का फल पा सकता है ॥१०४॥

कामाख्यं तत्र रुद्रस्य तीर्थं देवनिषेवितम् ।
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं सिद्धिं प्राप्नोति मानवः ॥१०५॥
यजनं याजनञ्चैव तथैव ब्रह्मवालुकम् ।
पुष्पाम्भश्च उपस्पृश्य न शोचेन्मरणं गतः ॥१०६॥

यहां पर कामाख्य एक रुद्र का तीर्थ है, जिस में नित्य देवों का निवास है। यहां मनुष्य स्नान करे तो शीघ्र सिद्धि पा लेता है यहां यजनयाजन कर के और ब्रह्मबालुक तथा पुष्पाम्भ सरोवर में स्नान करके मनुष्य, मृत्यु के अनन्तर शोक से रहित हो जाता है ॥१०५-१०६॥

अर्द्धयोजनविस्तारा पञ्चयोजनमायता ।
एतावती देविका तु पुण्या देवर्षिसेविता ॥१०७॥

दो कोस चौड़ी और दश कोस लम्बी यह देविका है, जो बड़ी पवित्र और देवर्षियों से युक्त है ॥१०७॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ दीर्घसत्रं यथाक्रमम् ।
तत्र ब्रह्मादयो देवाः सिद्धाश्च परमर्षयः ॥१०८॥

दीर्घसत्रमुपासन्ते दीक्षिता नियतव्रताः ।
गमनादेव राजेन्द्र दीर्घसत्रमरिन्दम ॥१०६॥
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं प्राप्नोति भारतः ।

हे धर्मज्ञ ! यहां से आगे दीर्घ—सत्र, नामक स्थान को जावे, जहां ब्रह्मादि देवता, सिद्ध और महर्षि रहते हैं। ये व्रत में लगे हुए, दीक्षा लेकर दीर्घ सत्र की उपासना करते रहते हैं। हे भारत ! यहा पहुंच कर मनुष्य, राजसूय और अश्वमेध का फल पाता है ॥१०८-१०९॥

ततो विनशनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ॥११०॥
गच्छत्यन्तर्हिता यत्र मेरुपृष्ठे सरस्वती ।

नियमशील और नियत आहार वाला होकर विनशन क्षेत्र को जावे। यहां मेरुपृष्ठ पर सरस्वती भीतर २ बहती हैं।

चमसे च शिवोद्भेदे नागोद्भेदे च दृश्यते ॥१११॥
स्नात्वा तु चमसोद्भेदे अग्निष्टोमफलं लभेत् ।
शिवोद्भेदे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥११२॥
नागोद्भेदे नरः स्नात्वा नागलोकमवाप्नुयात् ।

इस के आगे चमसा ('यज्ञ से पवित्र) शिवोद्भेद और नागोद्भेद नदी है । इस में नहाने से अग्निष्टोम का फल मिलता है। शिवोद्भेद में नहाने से सहस्रों गौओं के दान का फल मनुष्य पा लेता है और नागोद्भेद में नहाने से नागलोक मिल जाता है ॥११३॥

शशयानञ्च राजेन्द्र तीर्थमासाद्य दुर्लभम् ॥११३॥
शशरूपप्रतिच्छन्नाः पुष्करा यत्र भारत ।
सरस्वत्यां महाराज अनुसम्वत्सरञ्च ते ॥११४॥
दृश्यन्ते भरतश्रेष्ठ वृत्ता वै कार्त्तिकीं सदा ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र द्योतते शशिवत् सदा ॥११५॥
गोसहस्रफलश्चैव प्राप्नुयाद्भरतर्षभ ।

हे राजेन्द्र ! इससे आगे शशयान नामक दुर्लभ तीर्थ है। यहां शश (खरगोश) के रूप से युक्त कमल खिले रहते हैं। हे भारत-श्रेष्ठ ! वे सरस्वती, नदी में प्रति वर्ष कार्तिकी पर गोलाकार दिखाई देते हैं। हे नर व्याघ्र ! इस स्थान में स्नान करके मनुष्य, चन्द्रमा के समान प्रकाशमान हो जाता है और सहस्र गोदान का फल पाता है ॥११३-११५॥

कुमारकोटीमासाद्य नियतः कुरुनन्दन ॥११६॥
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।
गवामयुतमाप्नोति कुलञ्चैव समुद्धरेत् ॥११७॥

हे कुरुनन्दन ! नियम शील रह कर जो मनुष्य, कुमार कोटी पर जाकर स्नान करता है और पितर तथा देवों का अर्चन करता है वह दश हजार गोदान का फल पाता है और अपने कुल का उद्धार कर लेता है ॥११६-११७॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ रुद्रकोटिं समाहितः ।
पुरा यत्र महाराज मुनिकोटिः समागता ॥११८॥

हे धर्मज्ञ ! इसके आगे रुद्रकोटि नामक स्थान पर सावधानी से गमन करे। यहां पर पूर्वकाल में एक कोटि मुनियों का आगमन हुआ था ॥११८॥

हर्षेण महताविष्टा रुद्रदर्शनकांक्षया ।
अहं पूर्वमहं पूर्वं द्रक्ष्यामि वृषभध्वजम् ॥११९॥

ये सारे मुनि प्रसन्नता पूर्वक रुद्रके दर्शनों की इच्छा से आए थे और पहिले हम और पहिले हम शंकर के दर्शन करेंगे इस प्रकार झगड़ रहे थे ॥११९॥

एवं संप्रस्थिता राजन्नृषयः किल भारत ।
ततो योगीश्वरेणापि योगमास्थाय भूपते ॥१२०॥
तेषां मन्युप्रणाशार्थमृषीणां भावितात्मनाम् ।
सृष्टा कोटीति रुद्राणामृषीणामग्रतः स्थिता ॥१२१॥

हे भारत ! इस प्रकार झगड़ते हुए ऋषि लोग, वहां ठहरे रहे। हे भूपते ! अब योगीश्वर शंकर ने योग माया का आश्रय लेकर उन महात्मा ऋषियों के कोप शान्त करने के लिये एक कोटि रुद्रों के रूप धारण किए और ऋषियों के बीच स्थित हो गये ।

मयापूर्वतरं दृष्ट इति ते मेनिरे पृथक् ।
तेषां तुष्टो महादेवो मुनीनां भावितात्मनाम् ॥१२२॥
भक्त्या परमया राजन् वरं तेषां प्रदिष्टवान् ।
अद्यप्रभृति युष्माकं धर्मवृद्धिर्भविष्यति ॥१२३॥

हे राजन्! अब प्रत्येक ऋषि, यह मानने लगा, कि मैंने दर्शन प्रथम किये हैं। इन महात्मा मुनियों पर भक्ति के कारण महादेव प्रसन्न हो गये--तब इनको वर प्रदान किया, कि आज से तुम्हारी धर्म की वृद्धि होगी॥१२२-१२३॥

तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र रुद्रकोट्यां नरः शुचिः।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलञ्चैव समुद्धरेत्॥१२४॥

हे नर-व्याघ्र! जो पवित्र, मनुष्य, रुद्र कोटि में स्नान करता है, वह अश्वमेध का फल पाता है और अपने कुल का उद्धार कर लेता है॥१२४॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र सङ्गमं लोकविश्रुतम्।
सरस्वत्या महापुण्यं केशवं समुपासते॥१२५॥

यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः।
अभिगच्छन्ति राजेन्द्र चैत्रशुक्लचतुर्दशीम्॥१२६॥

तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र विन्देद्बहुसुवर्णकम्।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकञ्च गच्छति॥१२७॥

हे राजेन्द्र। अब आगे, लोक में विश्रुत, सरस्वती के सङ्गम पर जावे। वहां महा पवित्र, भगवान् केशव की आराधना करे। यहां पर चैत्र शुक्ला चतुर्दशी के दिन, ब्रह्मादिदेव, और तपोधन ऋषि आते हैं। हे नर-व्याघ्र! मनुष्य, यहां स्नान करने से बहुत सा सुवर्ण पा लेता है और सब पापों से मुक्त होकर ब्रह्मलोक को जाता है॥१२५-१२७॥

ऋषीणां यत्र सत्राणि समाप्तानि नराधिप ।
सत्रावसानमासाद्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥१२८॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि नानातीर्थकथने
द्व्यशीतितमोऽध्यायः॥८२॥

हे नराधिप । जहां पर ऋषियों ने अनेक सत्र (यज्ञ) किये थे, उस सत्रावसान तीर्थ पर जाकर मनुष्य, एक सहस्र गौ के दान का फल पाता है ॥१२८॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत,तीर्थयात्रा पर्व में
नाना तीर्थों के कथन का बयासीवां अध्याय
समाप्त हुआ ।

तिरासीवां अध्याय

पुलस्त्य उवाच—

ततो गच्छेत राजेन्द्र कुरुक्षेत्रमभिष्टुतम् ।
पापेभ्यो यत्र मुच्यन्ते दर्शनात् सर्वजन्तवः ॥१॥

पुलस्त्य बोले—हे राजेन्द्र ! इस के अनन्तर सर्व प्रशंसित कुरुक्षेत्र को जावे, जिसके दर्शन से सारे प्राणी, पापों से छुट जाते हैं ॥१॥

कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम् ।
य एवं सततं ब्रूयात् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२॥

जो यह कहता है, कि मैं कुरुक्षेत्र जाऊंगा और वहां कुछ दिन निवास करूंगा, वह. सब पापों से बचता है ॥२॥

पांशवोऽपि कुरुक्षेत्रे वायुना समुदीरिताः ।
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ॥३॥

वायु से उड़ाए हुए कुरुक्षेत्र के रज कण, महापापी को भी परमगति प्राप्त करा देते हैं ॥३॥

दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च ।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ॥४॥

सरस्वती नदी के दक्षिण और दृषवती के उत्तर कुरुक्षेत्र में जो वास करते हैं, वे स्वर्ग में निवास करते हैं ॥४॥

तत्र मासं वसेद्वीर सरस्वत्यां युधिष्ठिर ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयः सिद्धचारणाः ॥५॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षाः पन्नगाश्च महीपते ।
ब्रह्मक्षेत्रं महापुण्यमभिगच्छन्ति भारत ॥६॥

हे युधिष्ठिर ! सरस्वती नदी के तट पर एक महीने तक ब्रह्मादिदेव, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, सर्प जो कोई भी निवास करता है, वह महा-पवित्र, ब्रह्मक्षेत्र को पा लेता है

मनसाप्यभिकामस्य कुरुक्षेत्रं युधिष्ठिर ।
पापानि विप्रणश्यन्ति ब्रह्मलोकञ्च गच्छति ॥७॥

हे युधिष्ठिर ! जो कुरुक्षेत्रकी मन से भी अभिलाषा करता है। उसके पाप नष्ट हो जाते हैं और वह ब्रह्म-लोक को जाता है ।

गत्वा हि श्रद्धया युक्तः कुरुक्षेत्रं कुरूद्वह ।
फलं प्राप्नोति च तदा राजसूयाश्वमेधयोः ॥८॥

हे कुरुवंश श्रेष्ठ ! जो कुरुक्षेत्र में जाकर श्रद्धा से युक्त रहता है, वह राजसूय और अश्वमेध का फल पाता है ॥८॥

ततो मचक्रुकं नाम द्वारपालं महाबलम् ।
यक्षं समभिवाद्यैव गोहस्रफलं लभेत् ॥९॥

यहां मचक्रुक नामक महा बली, यक्ष द्वारपाल को नमस्कार करे, तो सहस्र गोदान का फल मिलता है ॥९॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ विष्णोः स्थानमनुत्तमम् ।
सततं नाम राजेन्द्र यत्र सन्निहितो हरिः ॥१०॥

हे धर्मज्ञ ! इस के आगे विष्णु के सतत नाम सर्वोत्तम स्थान पर गमन करे । यहां पर हरि नित्य विद्यमान रहते हैं॥१०॥

तत्र स्नात्वा च नत्वा च त्रिलोकप्रभवं हरिम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकञ्च गच्छति ॥११॥

यहां स्नान और त्रिलोकी के उत्पादक हरि को नमस्कार करके मनुष्य, विष्णु लोक को जाता है और अश्वमेध का फल पाता है ॥

ततः पारिप्लवं गच्छेत्तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं प्राप्नोति भारत ॥१२॥
पृथिवीतीर्थमासाद्य गोसहस्रफलं लभेत् ।

हे भारत ! त्रैलोक्य में प्रसिद्ध पारिप्लव नाम के तीर्थ की यात्रा करे । इससे अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञ के करने का

फल मिलता है। इसके आगे पृथिवी तीर्थ है। यहां जाने से सहस्र गौ के दान का फल मिलता है ॥१२॥

ततः शालूकिनीं गत्वा तीर्थसेवी नराधिपः ॥१३॥
दशाश्वमेधे स्नात्वा च तदेव फलमाप्नुयात् ।

हे नराधिप ! जो तीर्थ सेवी जन, शालूकिनी नदी पर जाकर दशाश्वमेध घाट पर स्नान करता है, वह दश अश्वमेध का फल पाता है ॥१३॥

सर्पदेवीं समासाद्य नागानां तीर्थमुत्तमम् ॥१४॥
अग्निष्टोममवाप्नोति नागलोकञ्च विन्दति ।

अब नागों का उत्तम तीर्थ सर्प देवी नामक स्थान की यात्रा करे। यह मनुष्य, अग्निष्टोम का फल पाता है और नागलोक को प्राप्त करता है ॥१४॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ द्वारपालं तरन्तुकम् ॥१५॥
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ।

हे धर्मात्मन् ! अब तरन्तुक नामक द्वारपाल के स्थान पर जावे। यहां एक रात निवास करने से सहस्र गौ के दान का फल मिलता है ॥१५॥

ततः पञ्चनदं गत्वा नियतो नियताशनः ॥१६॥
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत् ।
अश्विनोस्तीर्थमासाद्य रूपवानभिजायते ॥१७॥

यहां से आगे नियम शील और नियत आहारी होकर पञ्चनद को गमन करे। यहां भक्तजन, कोटि तीर्थ में आचमन करके अश्वमेध का फल पाता है। इसके अनन्तर अश्विनीकुमार के तीर्थ में जाने से मनुष्य, रूपवान् हो जाता है ॥१६-१७॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ वाराहं तीर्थमुत्तमम् ।
विष्णुर्वराहरूपेण पूर्वं यत्र स्थितोऽभवत् ॥१८॥

हे धर्मज्ञ ! इसके आगे वराह संज्ञक उत्तम तीर्थ की यात्रा करे। यहां पर भगवान् विष्णु ने पूर्वकाल में वाराह रूप धारण किया था ॥१८॥

तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ अग्निष्टोमफलं लभेत् ।
ततो जयन्त्यां राजेन्द्र सोमतीर्थं समाविशेत् ॥१९॥
स्नात्वा फलमवाप्नोति राजसूयस्य मानवः ।
एकहंसे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥२०॥

हे नर-श्रेष्ठ ! यहां स्नान करके मनुष्य अग्निष्टोम का फल पाता है। हे राजेन्द्र ! इस वाराह की जयन्ती के दिन सोम-तीर्थ में स्नान करे। इसमें स्नान करने से मनुष्य को राजसूय का फल मिलता है एकहंस नामक तीर्थ में स्नान करने से सहस्र गो दान का फल पाता है ॥१९-२०॥

कृतशौचं समासाद्य तीर्थसेवी नराधिप ।
पुण्डरीकमवाप्नोति कृतशौचो भवेच्च सः ॥२१॥

हे नराधिप ! तीर्थ-सेवी जन, कृतशौच तीर्थ पर गमन करे। जो इस पर जाता है वह भगवान् विष्णु को प्राप्त करता है और सर्वथा पवित्र हो जाता है ॥२१॥

ततो मुञ्जवटं नाम स्थाणोः स्थानं महात्मनः ।
उपोष्य रजनीमेकां गाणपत्यमवाप्नुयात् ॥२२॥

फिर मुञ्जवट नामक महात्मा शिवजी के स्थान पर गमन करे। यहां एक रात व्रत करके शिव के गणों का पति बन जाता है ॥२२॥

तत्रैव च महाराज यक्षिणीं लोकविश्रुताम् ।
स्नात्वाभिगम्य राजेन्द्र सर्वान् कामानवाप्नुयात् ॥२३॥

हे महाराज ! जो मनुष्य स्नान करके लोक विश्रुत यक्षिणी के दर्शन करता है, वह सब कामनाओं को पा लेता है ॥२३॥

कुरुक्षेत्रस्य तद्द्वारं विश्रुतं भरतर्षभ ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य तीर्थसेवी समाहितः ॥२४॥
सम्मितं पुष्कराणाञ्च स्नात्वार्च्य पितृदेवताः ।

हे भरतर्षभ ! यह कुरुक्षेत्र का द्वार प्रसिद्ध है। इसका भी पुष्कर तीर्थ की बराबर ही माहात्म्य है। यहां स्नान करके पितर और देवों का पूजन करे ॥२४॥

जामदग्न्येन रामेण कृतन्तत् सुमहात्मना ॥२५॥
कृतकृत्यो भवेद्राजन्नश्वमेधञ्च विन्दति ।

जमदग्नि पुत्र महात्मा परशुराम ने इसको बनाया है। हे राजन् ! यहां जाने से मनुष्य कृतार्थ हो जाता है और अश्वमेध का फल पाता है ॥२५॥

ततो रामह्रदान् गच्छेत्तीर्थसेवी समाहितः ॥२६॥
तत्र रामेण राजेन्द्र तरसा दीप्ततेजसा ।
क्षात्रमुत्साद्य वीरेण ह्रदाः पञ्च निवेशिताः ॥२७॥
पूरयित्वा नरव्याघ्र रुधिरेणेति विश्रुतम् ।
पितरस्तर्पिताः सर्वे तथैव प्रपितामहाः ।
ततस्ते पितरः प्रीता राममूचुर्नराधिप ॥२८॥

इसके बाद तीर्थ सेवी जन, सावधानी से रामह्रद पर जावे। हे राजेन्द्र ! अत्यन्त तेजस्वी, देदीप्यमान, महावीर परशुराम ने क्षत्रियों का नाश करके पञ्च तालाब बनवाये थे। हे नर-व्याघ्र ! उनको रक्त से भर कर उससे अपने पिता पितामहों को तर्पण किया जिससे इसके पितर तृप्त हो गये और यह बोले ॥२६-२८॥

पितर ऊचुः ।

राम राम महाभाग प्रीता स्म तव भार्गव ।
अनया पितृभक्त्या च विक्रमेण च ते विभो ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते किमिच्छसि महाद्युते ॥२९॥

पितर बोले—हे भृगुवंशी ! राम ! हम तुम पर इस पराक्रम और पितृ भक्ति से प्रसन्न हैं। हे महाद्य ते ! तू जो चाहता हो, वह वर मांग ले ॥२९॥

एवमुक्तः स राजेन्द्र रामः प्रहरताम्वरः ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं पितॄन् स गगने स्थितान् ॥३०॥

हे राजेन्द्र ! प्रहार करने वालों में श्रेष्ठ, परशुराम, आकाश में स्थित अपने पितरों से हाथ जोड़ कर कहने लगा ॥३०॥

भवन्तो यदि मे प्रीता यद्यनुग्राह्यता मयि ।
पितृप्रसादमिच्छेयं तप आप्यायनं पुनः ॥३१॥

हे पितरो ! यदि आप लोग, मुझ पर प्रसन्न हो गये हो और मुझ पर अनुग्रह करना चाहते हो—तो मैं तप की वृद्धि चाहता हूँ ॥३१॥

यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं मया ।
ततश्च पापान्मुच्येयं युष्माकं तेजसाप्यहम् ॥३२॥
ह्रदाश्च तीर्थभूता मे भवेयुर्भुवि विश्रुताः ।

जो क्रोध में मग्न होकर मैंने क्षत्रियों का विध्वंस कर दिया है, उस पाप से मैं आपके अनुग्रह से छुटकारा पा जाऊं और मेरे ये तालाब आगे चल कर पृथिवी पर तीर्थ बन जाय ॥३२॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं रामस्य पितरस्तदा ॥३३॥
प्रत्यूचुः परमप्रीता रामं हर्षसमन्विताः ।

पितर, परशुराम का यह शुभ वचन सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और हर्ष के साथ बोले ॥ ३३ ॥

तपस्ते वर्द्धतां भूयः पितृभक्त्या विशेषतः ॥३४॥
यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं त्वया ।

तताश्च पापान्मुक्तस्त्वं पतितास्ते स्वकर्मभिः ॥३५॥
ह्रदाश्च तव तीर्थत्वं गमिष्यन्ति न संशयः ।

हे राम ! तेरी पितरों में भक्ति है, इससे तेरा तप फिर वृद्धि को प्राप्त हो जावे और जो तूने रोष में आकर क्षत्रियों का नाश कर दिया, तू उस पाप से भी मुक्त हो । क्योंकि वे क्षत्रिय तो अपने कर्मों से पतित हुए हैं । हे राम ! तेरे ये ह्रद भी पृथिवी पर तीर्थ हो जावेंगे—इसमें संशय नहीं है ॥ ३४-३५ ॥

ह्रदेषु तेषु यः स्नात्वा पितॄन् सन्तर्पयिष्यति ॥३६॥
पितरस्तस्य वै प्रीता दास्यन्ति भुवि दुर्लभम् ।
ईप्सितञ्च मनःकामं स्वर्गलोकञ्च शाश्वतम् ॥३७॥

इन ह्रदों में जो स्नान करके पितरों का तर्पण करेगा, उसके भी पितर तृप्त हो जावेंगे और भूमि पर दुर्लभ पदार्थों को प्रदान करेंगे एवं अपना मनोरथ तथा सदा के लिए स्वर्ग लोक की प्राप्ति करेंगे ॥ ३७ ॥

एवं दत्त्वा वरान्राजन्रामस्य पितरस्तदा ।
आमन्त्र्य भार्गवं प्रीत्या तत्रैवान्तर्हितास्ततः ॥३८॥

हे राजन् ! पितर इस प्रकार वरदान देकर और प्रेम के साथ परशुराम से अनुमति लेकर अलक्षित हो गए॥ ३८ ॥

एवं रामह्रदाः पुण्या भार्गवस्य महात्मनः ।
स्नात्वा ह्रदेषु रामस्य ब्रह्मचारी शुभव्रतः ॥३९॥
राममभ्यर्च्य राजेन्द्र लभेद्बहुसुवर्णकम् ।

हे राजेन्द्र ! इस प्रकार महात्मा परशुराम के ये कुण्ड बड़े पवित्र माने गये हैं। इन परशुराम के कुण्ड में स्नान करके व्रतशील ब्रह्मचारी, परशुराम की पूजा करे, तो बहुतसा सुवर्ण प्राप्त कर सकता है ॥ ३९ ॥

वंशमूलकमासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ॥४०॥
स्ववंशमुद्धरेद्राजन् स्नात्वा वै वंशमूलके ।

हे कुरुसत्तम ! इसके अनन्तर तीर्थ सेवीजन, वंश-मूलक स्थान को पाकर और इसमें स्नान करके अपने वंश का उद्धार कर लेता है ॥ ४० ॥

कायशोधनमासाद्य तीर्थं भरतसत्तम ॥४१॥
शरीरशुद्धिः स्नातस्य तस्मिंस्तीर्थे न संशयः ।
शुद्धदेहश्च संयाति शुभांल्लोकाननुत्तमान् ॥४२॥

हे भरतसत्तम ! कायशोधन तीर्थ पर जाकर जो स्नान करता है, उसके शरीर की सब तरह शुद्धि हो जाती है और वह शुद्ध देह वाला होकर शुभ लोकों को प्राप्त कर लेता है ॥ ४१-४२ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
लोका यत्रोद्धृताः पूर्वं विष्णुना प्रभविष्णुना ॥४३॥
लोकोद्धारं समासाद्य तीर्थं त्रैलोक्यपूजितम् ।
स्नात्वा तीर्थवरे राजन् लोकानुद्धरते स्वकान् ॥४४॥

हे धर्मज्ञ ! अब फिर त्रिलोकी में प्रसिद्ध, लोकोद्धार नामक तीर्थ पर जावे। यहां शक्तिशाली विष्णु ने पूर्वकाल में

लोकों का उद्धार किया था। हे राजन्! मनुष्य इस तीर्थ में स्नान करने से अपने उत्तम लोकों को पा लेता है॥ ४४॥

श्रीतीर्थञ्च समासाद्य स्नात्वा नियतमानसः।
अर्च्चयित्वा पितॄन् देवान् विन्दते श्रियमुत्तमाम्॥४५॥

मनको वस में करने वाला मनुष्य, श्रीतीर्थ पर जाकर और स्नान करके देव और पितरों के पूजन से उत्तम लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है॥ ४५॥

कपिलातीर्थमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः।
तत्र स्नात्वार्च्चयित्वा च पितॄन् स्वान् दैवतान्यपि॥४६॥
कपिलानां सहस्रस्य फलं विन्दति मानवः।

ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय जन, कपिला तीर्थ पर जाकर स्नान करे और वहां पितर देवों की अर्चना करे तो सहस्रों कपिला गौ के दान का फल मिलता है॥ ४६॥

सूर्य्यतीर्थं समासाद्य स्नात्वा नियतमानसः॥४७॥
अर्च्चयित्वा पितॄन् देवानुपवासपरायणः।
अग्निष्टोममवाप्नोति सूर्य्यलोकञ्च गच्छति॥४८॥

सूर्य तीर्थ पर जाकर और शुद्ध मनसे स्नान करके देव और पितरों का अर्चन करे और व्रत रक्खे तो पुरुष अग्निष्टोम यज्ञ का फल पाता है और अन्त में सूर्य्य लोक को जाता है॥ ४८॥

गवां भवनमासाद्य तीर्थसेवी यथाक्रमम्।
तत्राभिषेकं कुर्वाणो गोसहस्रफलं लभेत्॥४९॥

महाभारत चित्र संख्या ३३



दमयन्ती और व्याध
महाभारत वन पर्व अ० ६३/३९ पृ० ३५७

पापूलर प्रेस, देहली।

इसी क्रम से तीर्थ सेवी मनुष्य, गो भवन स्थान पर गमन करे और वहां स्नान करे, तो एक सहस्र गौ के दान का फल मिलता है ॥ ४६ ॥

शङ्खिनीं तत्र आसाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह ।
देव्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा लभते रूपमुत्तमम् ॥५०॥

हे कुरूद्वह ! तीर्थ सेवी जन, शंखिनी स्थान पर जाकर देवी के तीर्थ पर स्नान करे तो उत्तम रूप की प्राप्ति कर सकता है ॥ ५० ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र द्वारपालं तरण्डकम् ।
तच्च तीर्थं सरस्वत्यां यक्षेन्द्रस्य महात्मनः ॥५१॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत् ।

हे राजेन्द्र ! इसके बाद तरण्डक द्वारपाल पर जावे। यह तीर्थ सरस्वती नदी पर महात्मा यक्षेन्द्र का माना गया है। हे राजन् ! इस तीर्थ पर स्नान करने से अग्निष्टोम का फल मिलता है ॥ ५१ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मावर्त्तं नरोत्तमः ॥५२॥
ब्रह्मावर्त्ते नरः स्नात्वा ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ।

इसके पीछे उत्तम मनुष्य, ब्रह्मावर्त में जावे। इस ब्रह्मावर्त में स्नान करने से ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है ॥ ५२ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र सुतीर्थकमनुत्तमम् ॥५३॥
तत्र सन्निहिता नित्यं पितरो दैवतैः सह ।

तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ॥५४॥
अश्वमेधमवाप्नोति पितृलोकञ्च गच्छति ।
ततोऽम्बुमत्यां धर्मज्ञ सुतीर्थकमनुत्तमम् ॥५५॥

हे राजेन्द्र। इसके अनन्तर उत्तम सुतीर्थक पर जावे, जहां देवों के साथ पितरों का निवास रहता है। यहां स्नान करके पितर और देवों का अर्चन करे, तो मनुष्य, अश्वमेध का फल और पितरों की प्राप्ति करता है। हे धर्मज्ञ ! अम्बुमती में, यह उत्तम सुतीर्थक है ॥ ५३-५५ ॥

काशीश्वरस्य तीर्थे च स्नात्वा भरतसत्तम ।
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो ब्रह्मलोके महीयते ॥५६॥

हे भरतसत्तम ! काशीश्वर के तीर्थ में स्नान करके मनुष्य सारी व्याधियों से छूट जाता है और ब्रह्मलोक जाता है ॥ ५६ ॥

मातृतीर्थञ्च तत्रैव यत्र स्नातस्य भारत ।
प्रजा विवर्द्धते राजन्ननन्तां श्रियमश्नुते ॥५७॥

हे भारत ! वहीं मातृ-तीर्थ है, जिसमें स्नान करने से मनुष्य के सन्तान बढ़ती है और वह बहुत अधिक लक्ष्मी को पा लेता है

ततः सीतवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
तीर्थं तत्र महाराज महदन्यत्र दुर्लभम् ॥५८॥

हे महाराज ! इसके बाद सीतवन में गमन करे। वहां नियमशील और नियताहारी रहे। वह तीर्थ बड़ा ही दुर्लभ है।

पुनाति गमनादेव दृष्टमेकं नराधिप ।
केशानभ्युक्ष्य वै तस्मिन् पूतो भवति भारत ॥५६॥

हे नराधिप ! गमन करने और एक बार दर्शन करने से ही मनुष्य को यह तीर्थ पवित्र कर देता है । हे भारत ! यहां बालों के धो लेने से मनुष्य, बड़ा ही पवित्र हो जाता है ॥ ५६ ॥

तीर्थं तत्र महाराज श्वाविल्लोमापहं स्मृतम् ।
यत्र विप्रा नरव्याघ्र विद्वांसस्तीर्थतत्पराः ॥६०॥
प्रीतिर्गच्छन्ति परमां स्नात्वा भरतसत्तम ।
श्वाविल्लोमापनयने तीर्थे भरतसत्तम ॥६१॥
प्राणायामैर्निर्हरन्ति स्वलोमानि द्विजोत्तमाः ।
पूतात्मानश्च राजेन्द्र प्रयान्ति परमाङ्गतिम् ॥६२॥

हे महाराज, यहां श्वावित् लोमापनयन तीर्थ है । जहां बड़े २ विद्वान् ब्राह्मण तीर्थ यात्रा के उद्देश्य से आते हैं । हे भरत-सत्तम! यहां स्नान करने से मनुष्य का हृदय बड़ा स्वच्छ हो जाता है । इस श्वावित लोमापनयन तीर्थ पर ब्राह्मण, प्राणयाम में तत्पर रह कर अपने लोमों का अपनयन करते हैं और पवित्र होकर अन्त में परम गति पाते हैं ॥ ६०-६२ ॥

दशाश्वमेधिकञ्चैव तस्मिंस्तीर्थे महीपते ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र गच्छेत परमाङ्गतिम् ॥६३॥

हे महीपते ! इसके आगे दशाश्वमेधिक तीर्थ है । इसमें स्नान करने से परम गति मिलती है ॥ ६३ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र मानुषं लोकविश्रुतम् ।
यत्र कृष्णमृगा राजन् व्याधेन शरपीडिताः ॥६४॥
विगाह्य तस्मिन् सरसि मानुषत्वमुपागताः ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी समाहितः ॥६५॥
सर्वपापविशुद्धात्मा स्वर्गलोके महीयते ।

इसके आगे मानुष नामक लोक प्रसिद्ध तीर्थ पर जावे। यहां पर कृष्ण मृगों को व्याध ने अपने शर से पीड़ित किया था। इन्होंने इस सर में गोता लगाया, जिससे वे मनुष्य बन गए। इस तीर्थ में मनुष्य, ब्रह्मचर्य और सदाचार से स्नान करे, तो सब पापों, से छुटकारा पाकर ब्रह्मलोक को चला जाता है ॥ ६४-६५ ॥

मानुषस्य तु पूर्वेण क्रोशमात्रे महीपते ॥६६॥
आपगा नाम विख्याता नदी सिद्धनिषेविता ।
श्यामाकं भोजनं तत्र यः प्रयच्छति मानवः ॥६७॥
देवान् पितॄन् समुद्दिश्य तस्य धर्मफलं महत् ।
एकस्मिन् भोजिते विप्रे कोटिर्भवति भोजिता ॥६८॥
तत्र स्नात्वार्च्चयित्वा च पितॄन् वै दैवतानि च ।
उषित्वा रजनीमेकामग्निष्टोमफलं लभेत् ॥६९॥

हे महीपते ! इस मानुष तीर्थसे एक कोश आगे आपगा नामकी विख्यात नदी है। जिस पर सिद्धजनों का निवास है। जो मनुष्य, यहाँ श्यामाक अन्न का भोजन देव और पितरों के उद्देश्य से प्रदान करता है, उसको धर्म का फल मिलता है। यदि इस में

एक ब्राह्मण को भोजन करा दे, तो कोटि ब्राह्मणों के भोजनों का फल मिलता है यहां स्नान और देव तथा पितरों का पूजन और एक रात निवास करके मनुष्य, अग्निष्टोम यज्ञ का फल पाता है॥ ६६-६९ ॥

ततो गच्छेत्तु राजेन्द्र ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम् ।
ब्रह्मोदुम्बरमित्येवं प्रकाशं भुवि भारत ॥७०॥

हे भारत ! अब ब्रह्मा के प्रसिद्ध स्नान' ब्रह्मोदुम्बर पर गमन करे । यह स्थान बड़ा ही प्रसिद्ध है ॥ ७० ॥

तत्र सप्तर्षिकुण्डेषु स्नातस्य नरपुङ्गव ।
केदारे चैव राजेन्द्र कपिलस्य महात्मनः ॥७१॥
ब्रह्माणमधिगत्वा च शुचिः प्रयतमानसः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥७२॥

हे नर पुङ्गव ! यहां सप्तर्षियों के कुण्ड और महात्मा कपिल के केदार में स्नान करने वाला, पवित्र, मन का विजयी, मनुष्य सब पापों से मुक्त होकर ब्रह्मलोक को जाता है ॥ ७१-७२॥

कपिलस्य च केदारं समासाद्य सुदुर्ल्लभम् ।
अन्तर्द्धानमवाप्नोति तपसा दग्धकिल्बिषः ॥७३॥

अत्यन्त दुर्लभ कपिल के केदार पर जाकर तप करने से सारे पाप दग्ध हो जाते हैं और मोक्ष पा लेता है ॥ ७३ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र सरकं लोकविश्रुतम् ।
कृष्णपक्षे चतुर्दश्यामधिगम्य वृषध्वजम् ॥७४॥

लभेत सर्वकामान् हि स्वर्गलोकञ्च गच्छति ।
तिस्रः कोटयस्तु तीर्थानां सरके कुरुनन्दन ॥७५॥
रुद्रकोटयां तथा कूपे ह्रदेषु च महीपते ।

हे राजेन्द्र! इसके आगे लोक प्रसिद्ध सरक नामक तीर्थ पर जावे। यहां मास के कृष्णपक्ष की चतुर्दशीमें वृषध्वज शिवजी के दर्शन करने से सब कामना प्राप्त होजाती हैं और प्राणी स्वर्गलोक को चला जाता है। हे कुरुनन्दन! इस सरक तीर्थ पर तीन करोड़ तीर्थ हैं, इसी तरह रुद्रकोटि तथा कूप और ह्रदों (तालाबों) में भी तीर्थ माने गए हैं ॥७४-७५॥

इलास्पदञ्च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ॥७६॥
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च दैवतानि पितॄनथ ।
न दुर्गतिमवाप्नोति वाजपेयञ्च विन्दति ॥७७॥

हे भरतसत्तम! यहां इलास्पद तीर्थ है, जिसमें स्नान और देवों तथा पितरों की पूजा करने से मनुष्य, दुर्गति नहीं पाता है और वाजपेय यज्ञ का फल प्राप्त करता है ॥ ७६-७७ ॥

किन्दाने च नरः स्नात्वा किंजप्ये च महीपते ।
अप्रमेयमवाप्नोति दानं जप्यञ्च भारत ॥७८॥

हे महीपते! किदान और किंजप्य तीर्थ पर जाकर मनुष्य, दान और जप का बहुत अधिक फल पाता है ॥ ७८ ॥

कलश्यां वार्युपस्पृश्य श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥७९॥

श्रद्धालु और जितेन्द्रिय पुरुष, कलशी नामक तीर्थ में आचमन करके अग्निष्टोम का फल पाता है ॥ ७९ ॥

सरकस्य तु पूर्वेण नारदस्य महात्मनः ।
तीर्थं कुरुकुलश्रेष्ठ अम्बाजन्मेति विश्रुतम् ॥८०॥
तत्र तीर्थे नरः स्नात्वा प्राणानुत्सृज्य भारत ।
नारदेनाभ्यनुज्ञातो लोकान् प्राप्नोत्यनुत्तमान् ॥८१॥

हे कुरु-कुल-श्रेष्ठ ! सरक तीर्थ के पूर्व में महात्मा नारद का अम्बा-जन्म तीर्थ है। हे भारत ! इस तीर्थ में जो पुरुष, स्नान करता है या प्राणों को छोड़ता हैं, वह नारद की कृपा से उत्तम लोकों को प्राप्त करता है ॥ ८०-८१ ॥

शुक्लपक्षे दशम्यां च पुण्डरीकं समाविशेत् ।
यत्र स्नात्वा नरो राजन् पुण्डरीकफलं लभेत् ॥८२॥

मास के शुक्ल पक्ष की दशमी में पुण्डरीक तीर्थ पर जावे और स्नान करे तो पुण्डरीक यज्ञ का फल पाता है ॥ ८२ ॥

ततस्त्रिविष्टपं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्र वैतरणी पुण्या नदी पापप्रणाशिनी ॥८३॥
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च शूलपाणिं वृषध्वजम् ।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम् ॥८४॥

इसके अनन्तर तीन लोको में विश्रुत, त्रिविष्टप तीर्थ पर जावे । वहां पापों की नाशक, पवित्र वैतरणी नदी है। यहां स्नान

और शूलपाणि शिवका अर्चन करके मनुष्य, सब पापों से छुट-जाता है और परमगति पाता है ॥ ८३-८४ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र फलकीवनमुत्तमम् ।
तत्र देवाः सदा राजन् फलकीवनमाश्रिता ॥८५॥
तपश्चरन्ति विपुलं बहुवर्षसहस्रकम् ।

हे राजेन्द्र ! इसके आगे फलकी वन में जावे । इस फलकी वन में देवता सदा निवास करते रहते हैं और सहस्रों वर्ष तक विपुल तप करते हैं ॥ ८५ ॥

दृषद्वत्यां नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः ॥८६॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति भारत ।
तीर्थे च सर्व देवानां स्नात्वा भरतसत्तम ॥८७॥
गोसहस्रस्य राजेन्द्र फलं विन्दति मानवः ।
पाणिखाते नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः ॥८८॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति भारत ।
राजसूयमवाप्नोति ऋषिलोकञ्च विन्दति ॥८९॥

हे भारत ! मनुष्य, दृषद्वती में स्नान कर और देवों का तर्पण करके अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञ का फल पाता है । हे भरत-सत्तम ! जो मनुष्य, इन सब देवों के तीर्थ में स्नान करता है, वह सहस्र गौओं के दान का फल पाता है और राजसूय का फल पाकर ऋषियों के लोकों को चला जाता है ॥ ८६-८९ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र मिश्रकं तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र तीर्थानि राजेन्द्र मिश्रितानि महात्मना ॥९०॥
व्यासेन नृपशार्दूल द्विजार्थमिति नः श्रुतम् ।
सर्वतीर्थेषु स स्नाति मिश्रके स्नाति यो नरः ॥९१॥

हे राजेन्द्र! इससे आगे मिश्रक तीर्थ पर जावे । यहां महात्मा व्यास ने सारे तीर्थों का मिलान कर दिया है । जो मिश्रक तीर्थ में नहा लेता है; उसको सब तीर्थों का फल मिलता है ॥९०-९१॥

ततो व्यासवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
मनोजवे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥९२॥

जितेन्द्रिय और जिताहारी होकर व्यास-वन तीर्थ को जावे । यहां मनोजव तीर्थ में स्नान करके मनुष्य, सहस्र गौओं के दान का फल पाता है ॥९२॥

गत्वा मधुवटीञ्चैव देव्यास्तीर्थे नरः शुचिः ।
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च पितॄन् देवांश्च पूरुषः ॥९३॥

इसके अनन्तर पवित्र, पुरुष, देवी के मधुवटी तीर्थ पर जावे । वहां पितरों का तर्पण और देवों का अर्चन करके मनुष्य सहस्र गौओं के दान का फल पाता है ॥९३॥

स देव्या समनुज्ञातो गोसहस्रफलं लभेत् ।
कौशिक्याः सङ्गमे यस्तु दृषद्वत्याश्च भारत ॥९४॥

हे भारत ! कौशिकी और दृषद्वती के सङ्गम पर स्वल्प भोजन करके जो स्नान करता है, वह सब पापों से छुट जाता है

स्नाति वै नियताहारः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
ततो व्यासस्थली नाम यत्र व्यासेन धीमता ॥९५॥
पुत्रशोकाभितप्तेन देहत्यागे कृता मतिः ।
ततो देवैस्तु राजेन्द्र पुनरुत्थापितस्तदा ॥९६॥

इसके आगे व्यासस्थली नामक तीर्थ है, जहां पुत्र के शोक से व्याकुल बुद्धिमान्, व्यास ने देह त्यागने का विचार किया था। यहां देवों ने फिर व्यासजी को उठाया था। इस व्यासस्थल परजाने से मनुष्य, सहस्र गौओं के दान का फल पाता है ॥९६॥

अभिगम्य स्थलीं तस्य गोसहस्रफलं लभेत् ।
किन्दत्तं कूपमासाद्य तिलप्रस्थं प्रदाय च ॥९७॥
गच्छेत परमां सिद्धिमृणैर्मुक्तः कुरूद्वह।

हे कुरु-श्रेष्ठ! फिर किन्दत्त कूप पर जाकर एक सेर तिल प्रदान करने से मनुष्य परम सिद्धि पाता है और ऋण से छूट जाता है ॥९७॥

वेदीतीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥९८॥
अहश्च सुदिनश्चैव द्वे तीर्थे लोकविश्रुते ।
तयोः स्नात्वा नरव्याघ्र सूर्य्यलोकमवाप्नुयात् ॥९९॥

तीर्थ सेवी पुरुष, लोक विश्रुत वेदी तीर्थ में स्नान करके सहस्र गौओं के दान का फल पाता है। अह और सुदिन भी दो लोक प्रसिद्ध तीर्थ हैं। हे नर व्याघ्र! इस में स्नान करके मनुष्य, सूर्य लोक को पा लेता है ॥९८-९९॥

मृगधूमं ततो गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत गङ्गायां नृपसत्तम ॥१००॥
अर्चयित्वा महादेवमश्वमेधफलं लभेत् ।
देव्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥१०१

तीनों लोक में प्रसिद्ध मृगधूम तीर्थ पर जाकर गङ्गा में स्नान और महादेव का पूजन करे, तो अश्वमेध का फल पाता है और देवी के तीर्थ में नहाने से सहस्र गौ दान का फल पाता है ॥

ततो वामनकं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्र विष्णुपदे स्नात्वा अर्चयित्वा च वामनम् ॥१०२॥
सर्वपापविशुद्धात्मा विष्णुलोकं स गच्छति ।
कुलम्पुने नरः स्नात्वा पुनाति स्वकुलं ततः ॥१०३॥

तीनों लोक में प्रसिद्ध वामनक तीर्थ पर जावे। यहां विष्णु पद (गङ्गा) में स्नान और वामन का पूजन करके मनुष्य सब पापों से शुद्ध हो जाता है और विष्णु लोक को जाता है। तीर्थों पर जाने वाला पुरुष, कुलम्पुन तीर्थ में स्नान करके अपने कुल को पवित्र कर लेता है ॥१०२-१०३॥

पवनस्य ह्रदे स्नात्वा मरुतां तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र वायुलोके महीयते ॥१०४॥

इसके बाद पवन के ह्रद में स्नान करे जो देवों का उत्तम तीर्थ है। यहां स्नान करने से वायु लोक की प्राप्ति होती है ॥१०४

अमराणां ह्रदे स्नात्वा समभ्यर्च्यामराधिपम् ।
अमराणां प्रभावेण स्वर्गलोके महीयते ॥१०५॥

देवों के ह्रद में स्नान और इन्द्र का पूजन करके देवों के प्रभाव से मनुष्य, स्वर्ग लोक को जाता है ॥१०५॥

शालिहोत्रस्य तीर्थञ्च शालिसूर्ये यथाविधि ।
स्नात्वा नरवरश्रेष्ठ गोसहस्रफलं लभेत् ॥१०६॥

इसके आगे शालिहोत्र का तीर्थ शालिसूर्य है, इसमें यथाविधि स्नान करने से एक सहस्र गौओं के दान का फल मिलता है

श्रीकुञ्जञ्च सरस्वत्यां तीर्थं भरतसत्तम ।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥१०७॥

हे भरत सत्तम ! सरस्वती नदी पर श्रीकुञ्ज नामक तीर्थ है। इस में नहा कर मनुष्य, अग्निष्टोम यज्ञ का फल पाता है ॥

ततो नैमिषकुञ्जञ्च समासाद्य कुरूद्वह ।
ऋषयः किल राजेन्द्र नैमिषेयास्तपस्विनः ॥१०८॥
तीर्थयात्रां पुरस्कृत्य कुरुक्षेत्रं गताः पुरा ।
ततः कुञ्जः सरस्वत्याः कृतो भरतसत्तम ॥१०९॥
ऋषीणामवकाशः स्याद्यथा तुष्टिकरो महान् ।
तस्मिन् कुञ्जे नरः स्नात्वा अग्निष्टोम फलं लभेत् ॥११०

हे कुरु-वंश -श्रेष्ठ ! इसके अनन्तर नैमिष कुञ्ज तीर्थ पर पहुंचे। हे राजेन्द्र ! नैमिषेय तपस्वी, ऋषि, तीर्थयात्रा करने के लिये पूर्वकाल में एक बार कुरुक्षेत्र पर गए, तब उन्होंने सरस्वती

के तट पर यह कुञ्ज बनाया था। यह ऋषियों का संघ जैसे आनन्द-दायी होता है, वैसा ही यह महा-तुष्टि-कर है। इस कुञ्ज में नहा कर मनुष्य, अग्निष्टोम का फल भोगता है ॥१०८-११०॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ कन्यातीर्थमनुत्तमम् ।
कन्यातीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥१११॥

हे धर्मज्ञ! यहां से आगे उत्तम कन्या तीर्थ पर जावे। इस कन्या तीर्थ पर स्नान करके मनुष्य, सहस्र गौ के दान का फल पाता है ॥१११॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मणस्तीर्थमुत्तमम् ।
तत्र वर्णावरः स्नात्वा ब्राह्मण्यं लभते नरः ॥११२॥
ब्राह्मणश्च विशुद्धात्मा गच्छेत परमाङ्गतिम् ।

हे राजेन्द्र! इसके आगे ब्रह्मा के उत्तम तीर्थ पर जावे। वहां छोटे वर्ण का पुरुष स्नान कर ब्रह्म तेज प्राप्त कर लेता है और ब्राह्मण तो विशुद्ध आत्मा होकर परम गति को पाता है ॥११२॥

ततो गच्छेन्नरश्रेष्ठ सोमतीर्थमनुत्तमम् ॥११३॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन् सोमलोकमवाप्नुयात् ।

हे नर श्रेष्ठ! फिर सर्वोत्तम सोम तीर्थ पर जावे। यहां स्नान करके मनुष्य सोम-लोक पा जाता है ॥११३॥

सप्तसारस्वतं तीर्थं ततो गच्छेन्नराधिप ॥११४॥
यत्र मङ्कणकः सिद्धो महर्षिर्लोकविश्रुतः ।
पुरा मङ्कणको राजन् कुशाग्रेणेति नः श्रुतम् ॥११५॥

ततः किल करे राजंस्ततः शाकरसोऽस्रवत् ।
स वै शाकरसं दृष्ट्वा हर्षाविष्टः प्रनृत्यवान् ॥११६॥
ततस्तस्मिन् प्रनृत्ये ते स्थावरं जङ्गमञ्च यत् ।
प्रनृत्यमुभयं वीर तेजसा तस्य मोहितम् ॥११७॥

हे नराधिप ! इसके अनन्तर सप्त-सारस्वत-तीर्थ पर जावे। वहां मङ्कणक, लोक प्रसिद्ध महर्षि है। हे राजन्! पूर्वकाल में मङ्कणक महर्षि कुशा के अग्रभाग से घायल हो गया। इससे शाकरस टपका। वह शाकरस को देख कर बड़ा प्रसन्न हुआ और नाचने लगा। इसके नाचने पर स्थावर और जङ्गम, इसके तेज से मोहित होकर नाचने लगे ॥११६-११७॥

ब्रह्मादिभिः सुरै राजन्नृषिभिश्च तपोधनैः ।
विज्ञप्तो वै महादेव ऋषेरर्थे नराधिप ॥११८॥
नायं नृत्येद्यथा देव तथा त्वं कर्त्तुमर्हसि ।
तं प्रनृत्तं समासाद्य हर्षाविष्टेन चेतसा ॥११९॥
सुराणां हितकामार्थमृषिं देवोऽभ्यभाषत ।
भो भो महर्षे धर्मज्ञ किमर्थं नृत्यते भवान् ।
हर्षस्थानं किमर्थं वा तवाद्य मुनिपुङ्गव ॥१२०

हे राजन्! ब्रह्मादि देव,और तपोधन ऋषियों ने ऋषियों की रक्षा के लिये महादेव से कहा। हे देव ! जैसे यह न नाचे ऐसा तुम करो। इसको हर्ष से भरे हुए चित्त से नाचते देख कर देवों के हित करने के लिये ऋषियों से महादेव बोले—हे महर्षे

तुम क्यों नाच रहे हो—हे धर्मज्ञ ! आपको आज क्या हर्ष हो रहा है, मुझे भी सुनाओ ॥११८-१२०॥

ऋषिरुवाच—

तपस्विनो धर्मपथे स्थितस्य द्विजसत्तम ।
किन्न पश्यसि मे ब्रह्मन् कराच्छाकरसं स्नुतम् ।
यं दृष्ट्वा संप्रनृत्तोऽहं हर्षेण महतान्वितः ॥१२१॥

ऋषि बोले—हे द्विज सत्तम ! मैं धर्म में स्थित एक तपस्वी हूँ। क्या तुम मेरे हाथ से टपकते हुए इस शाकरस को नहीं देख रहे हो। इसको देख कर ही मैं हर्ष से युक्त होकर नाच उठा हूँ ॥१२१॥

तं प्रहस्याब्रवीद्देव ऋषिं रागेण मोहितम् ।
अहन्तु विस्मयं विप्र न गच्छामीति पश्य माम् ॥१२२॥

राग से मोहित ऋषिवर से हंसकर महादेव बोले—हे विप्र ! मुझे तो इसका कुछ भी आश्चर्य नहीं है, तू मुझे देख ॥१२२॥

एवमुक्त्वा नरश्रेष्ठ महादेवेन धीमता ।
अङ्गुल्यग्रेण राजेन्द्र स्वाङ्गुष्ठस्ताडितोऽनघ ॥१२३॥
ततो भस्म क्षताद्राजन्निर्गतं हिमसन्निभम् ।
तद् दृष्ट्वा व्रीडितो राजन् स मुनिः पादयोर्गतः ॥१२४॥

हे नर श्रेष्ठ ! इतना कह कर बुद्धिमान् महादेव ने अपनी अङ्गुली के अग्रभाग से अपने अङ्गूठे पर मारा, तो उस घाव से हिम के तुल्य श्वेत भस्म (खांड) निकली, जिसको देखकर मुनि लज्जित हो गया और महादेव के पैरों पर गिर गया ॥१२३-१२४॥

नान्यद्देवात् परं मेने रुद्रात् परतरं महत् ।
सुरासुरस्य जगतो गतिस्त्वमसि शूलधृक् ॥१२५॥

इसने रुद्र से अधिक किसी भी देव को नहीं माना। हे शूल-धारी! शङ्कर! तुम ही सुर और असुर तथा सारे जगत् की गति हो ॥१२५॥

त्वया सर्वमिदं सृष्टं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
त्वमेव सर्वान् ग्रससि पुनरेव युगक्षये ॥१२६॥

तूने ही इस चराचर त्रिलोकी को रचा है और तुम ही प्रलय के अवसर पर सारे जगत् को ग्रस लेते हो ॥१२६॥

देवैरपि न शक्यस्त्वं परिज्ञातुं कुतो मया ।
त्वयि सर्वे प्रदृश्यन्ते सुरा ब्रह्मादयोऽनघ॥१२७॥

तुमको देवता भी नहीं जान सकते हैं, फिर मैं कैसे जान सकता हूँ। हे अनघ! तुम में ही सारे ब्रह्मादि देव दिखाई देते हैं ॥१२७॥

सर्वस्त्वमसि लोकानां कर्त्ता कारयिता च ह ।
त्वत्प्रसादात् सुराः सर्वे मोदन्तीहाकुतोभयाः ॥१२८॥

सारे लोकों का कल्याणकारी और कर्ता धर्ता तू ही है। तेरी कृपा से ही सारे देव, निर्भय होकर आनन्द मनाते हैं ॥१२८॥

एवं स्तुत्वा महादेवमृषिर्वचनमब्रवीत् ।
त्वत्प्रसादान्महादेव तपो मे न क्षरेत वै ॥१२९॥

इस प्रकार महादेव की स्तुति करके ऋषि बोले—हे
तुम्हारी कृपा से मेरा तप क्षीण न होवे ॥१२९॥

ततो देवः प्रहृष्टात्मा ब्रह्मर्षिमिदमब्रवीत्।
तपस्ते वर्द्धतां विप्र मत्प्रसादात् सहस्रधा ॥१३०॥

तब महादेव ने प्रसन्न होकर ब्रह्मर्षि से यह कहा—हे विप्र ! मेरी कृपा से तेरा तप सहस्र भांति से विस्तृत होवे ॥१३०॥

आश्रमे चेह वत्स्यामि त्वया सह महामुने ।
सप्तसारस्वते स्नात्वा अर्चयिष्यन्ति ये तु माम् ॥१३१॥
न तेषां दुर्लभं किञ्चिदिह लोके परत्र च ।
सारस्वतश्च ते लोकं गमिष्यन्ति न संशयः ॥१३२॥
एवमुक्त्वा महादेवस्तत्रैवान्तरधीयत ।

हे महामुने ! मैं भी तेरे साथ इसी आश्रम में निवास करूंगा । जो मनुष्य, इस सप्त सारस्वत तीर्थ में स्नान करके मेरी पूजा करेंगे, उनको इस लोक और परलोक में कुछ दुर्लभ नहीं होगा और वे सारस्वत लोक को प्राप्त करेंगे, इस में सन्देह नहीं है । यह कह कर महादेवजी वहीं अलक्षित हो गए ।१३१।

ततस्त्वौशनसं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥१३३॥
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
कार्त्तिकेयश्च भगवान् त्रिसन्ध्यं किल भारत ॥१३४॥
सान्निध्यमकरोन्नित्यं भार्गवप्रियकाम्यया ।

इसके आगे शुक्र का तीर्थ है, जो तीनों लोकों में प्रसिद्ध है। यहां पर ब्रह्मादि देव, तपोधन ऋषि, भगवान् कार्तिकेय, शुक्र के प्रिय करने की इच्छा से तीनों सन्ध्याओं में रहते हैं ।१३३-१३४

कपालमोचनं तीर्थं सर्वपापप्रमोचनम् ॥१३५॥
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

हे नर व्याघ्र ! इसके आगे कपाल-मोचन तीर्थ है । जो सब पापों से छुड़ाने वाला है । इसमें स्नान करने से मनुष्य सब पापों से छुटजाता है ॥१३५॥

अग्नितीर्थं ततो गच्छेत्तत्र स्नात्वा नरर्षभ ॥१३६॥
अग्निलोकमवाप्नोति कुलञ्चैव समुद्धरेत् ।

हे नरर्षभ ! इसके आगे अग्नि तीर्थ पर जावे । वहाँ स्नान करने से मनुष्य, अग्नि लोक पाता है तथा अपने कुल का उद्धार करता है ॥१३६॥

विश्वामित्रस्य तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ॥१३७॥
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ ब्राह्मण्यमधिगच्छति ।

हे भरत सत्तम ! इसके अनन्तर विश्वामित्र का तीर्थ है । यहां स्नान करने से मनुष्य को ब्रह्मतेज की प्राप्ति होती है ।१३७।

ब्रह्मयोनिं समासाद्य शुचिः प्रयतमानसः ॥१३८॥
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ।
पुनात्यासप्तमञ्चैव कुलं नास्त्यत्र संशयः ॥१३९॥

जो पवित्र, मन को वश में करने वाला, तीर्थ सेवी जन, ब्रह्म-योनि तीर्थ पर जाता है । वह इस में स्नान करके ब्रह्मलोक पा लेता है और अपने कुल की सात पीढ़ियों का उद्धार कर लेता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥१३९॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
पृथूदकमिति ख्यातं कार्त्तिकेयस्य वै नृप ॥१४०॥
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।
अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि स्त्रिया वा पुरुषेण वा ॥१४१॥
यत्किञ्चिदशुभं कर्म कृतं मानुषबुद्धिना ।
तत्सर्वं नश्यते तत्र स्नातमात्रस्य भारत ॥१४२॥
अश्वमेधफलञ्चास्य स्वर्गलोकञ्च गच्छति ।

हे नृप ! इसके अनन्तर त्रिलोकी में विख्यात कार्तिकेय के पृथूदक नामक प्रसिद्ध तीर्थ पर जावें। वहां पितर और देवों का अर्चन करे। जिस किसी मनुष्य ने अल्पज्ञ होने के कारण ज्ञान या अज्ञान से जो कुछ भी अशुभ कर्म कर लिया है, वह इसमें स्नान करने से ही नष्ट हो जाता है और इसको अश्वमेध का फल मिलता है एवं यह अन्त में स्वर्गलोक को चला जाता है ॥१४०-१४२॥

पुण्यमाहुः कुरुक्षेत्रं कुरुक्षेत्रात् सरस्वती ॥१४३॥
सरस्वत्याश्च तीर्थानि तीर्थेभ्यश्च पृथूदकम् ।
उत्तमं सर्वतीर्थानां यस्त्यजेदात्मानस्तनुम् १४४॥
पृथूदके जप्यपरो न तस्य मरणं भवेत् ।
गीतं सनत्कुमारेण व्यासेन च महात्मना ॥१४५॥

कुरुक्षेत्र पवित्र तीर्थ है। कुरुक्षेत्र से अधिक सरस्वती पवित्र है। सरस्वती से आगे अन्य तीर्थ और तीर्थों से पवित्र

पृथूदक तीर्थ है। यह सब तीर्थों से उत्तम तीर्थ है। जो इस तीर्थ पर जप करता हुआ अपना शरीर छोड़ देता है, उसका फिर कभी मरण नहीं होता है—यह महात्मा व्यास और सनत्कुमार ने कहा है ॥१४३-१४५॥

एवं स नियतं राजन्नभिगच्छेत् पृथूदकम् ।
पृथूदकात्तीर्थतमं नान्यत्तीर्थं कुरूद्वह॥१४६॥
तन्मेध्यं तत्पवित्रञ्च पावनञ्च न संशयः ।
तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति येऽपि पापकृतो नराः ॥१४७॥

हे राजन! इस प्रकार नियम के साथ पृथूदक तीर्थ पर जावे। इस पृथूदक तीर्थ से उत्तम अन्य कोई तीर्थ नहीं है। यह बड़ा पवित्र, पवित्र करने वाला है। इस में स्नान करने से पापी मनुष्य भी पवित्र हो जाता है—इसमें सन्देह नहीं है ॥१४६-१४७॥

पृथूदके नरश्रेष्ठ एवमाहुर्मनीषिणः ।
मधुस्रवञ्च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ॥१४८॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन् गोसहस्रफलं लभेत् ।

हे नर-श्रेष्ठ! पृथूदक तीर्थ का तो यह माहात्म्य महात्माओं ने कहा है। इसके आगे मधुस्रव नाम का तीर्थ है। इसमें स्नान करने से मनुष्य एक सहस्र गो दान का फल पाता है ॥१४८॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं मेध्यं यथाक्रमम् ॥१४९॥
सरस्वत्या अरुणायाश्च सङ्गमं लोकविश्रुतम् ।
त्रिरात्रोपोषितः स्नात्वा मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥१५०॥

अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति मानवः ।
आसप्तमं कुलञ्चैव पुनाति भरतर्षभ ॥१५१॥

हे राजेन्द्र! इसके आगे क्रम से एक पवित्र तीर्थ पर जावे। जो सरस्वती और रुणा नामक नदियों का लोक प्रसिद्ध सङ्गम है। इस पर तीन रात तक व्रत करके स्नान करे, तो ब्रह्म-हत्या के पाप से भी छुट जाता है। इससे मनुष्य, अतिरात्र और अग्निष्टोम का फल पाता है और अपने कुल की सात पीढ़ियों को पवित्र कर लेता है ॥१४६-१५१॥

अर्द्धकीलञ्च तत्रैव तीर्थं कुरुकुलोद्वह ।
विप्राणामनुकम्पार्थं दर्भिणा निर्मितं पुरा ॥१५२॥

हे कुरु-वंश-श्रेष्ठ! यहां से आगे अधकील तीर्थ है। ब्राह्मणों पर दया करके दर्भी ऋषि ने इसको बनाया है ॥१५२॥

व्रतोपनयनाभ्याश्चाप्युपवासेन चाप्युत ।
क्रियामन्त्रैश्च संयुक्तो ब्राह्मणः स्यान्न संशयः ॥१५३॥

इस तीर्थ पर व्रत, उपनयन उपवास, और क्रियामन्त्रों से संयुक्त मनुष्य, निश्चय ब्राह्मण हो जाता है ॥१५३॥

क्रियामन्त्रविहीनोऽपि तत्र स्नात्वा नरर्षभ ।
चीर्णव्रतो भवेद्विद्वान् दृष्टमेतत् पुरातनैः ॥१५४॥

हे नरर्षभ! जो मनुष्य, क्रिया और मन्त्रों से हीन भी होकर इस में स्नान करता है वह विद्वान्, अपने व्रत के फल को पा जाता है, ऐसा प्राचीन लोग देखते आये हैं ॥१५४॥

समुद्राश्चापि चत्वारः समानीताश्च दर्भिणा ।
तेषु स्नातो नरश्रेष्ठ न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥१५५॥
फलानि गोसहस्राणां चतुर्णां विन्दते तु सः ।

हे नर—श्रेष्ठ ! दर्भी ऋषी ने यहां चारों समुद्रों का आह्वान कर रखा है । इसमें स्नान करने से मनुष्य की कभी दुर्गति नहीं होती है और चार हजार गौओं के दान का फल पाता है १५५

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं शतसहस्रकम् ॥१५६॥
साहस्रकञ्च तत्रैव द्वे तीर्थे लोकविश्रुते ।
उभयोर्हि नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥१५७॥
दानञ्चाप्युपवासो वा सहस्रगुणितो भवेत् ।

हे धर्मज्ञ ! इसके आगे शतसहस्र नामक तीर्थ पर जावे । साहस्रक दो तीर्थ हैं, जो जगत् में प्रसिद्ध हैं । इन दोनों में स्नान करने से मनुष्य, एक सहस्र गोदान का फल पाता है, इस पर किया हुआ दान सहस्र गुना होकर प्राप्त होता है ॥ १५७ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र रेणुकातीर्थमुत्तमम् ॥१५८॥
तीर्थाभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा अग्निष्टोमफलं लभेत् ॥१५९॥

हे राजन ! इसके आगे उत्तम रेणुका तीर्थ पर जावे । इसमें स्नान और पितर तथा देवों का अर्चन करे । वह मनुष्य, सब पापों से छुटकारा पाकर अग्निष्टोम का फल पाता है ॥ १५८-१५९ ॥

विमोचनमुपस्पृश्य जितमन्युर्जितेन्द्रियः ।
प्रतिग्रहकृतैर्दोषैः सर्वैः स परिमुच्यते ॥१६०॥

क्रोधका विजेता, जितेन्द्रिय, जो पुरुष, विमोचन तीर्थ पर स्नान करे, वह मनुष्य, दान लेने के दोषों से मुक्त हो जाता है ॥

ततः पञ्चवटीं गत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
पुण्येन महता युक्तः सतां लोके महीयते ॥१६१॥

जो ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय, पञ्चवटी पर जावे। वह बड़े भारी पुण्यों से युक्त होकर स्वर्ग लोक को जाता है ॥ १६१ ॥

यत्र योगेश्वरः स्थाणुः स्वयमेव वृषध्वजः ।
तमर्चयित्वा देवेशं गमनादेव सिध्यति ॥१६२॥

यहां योगेश्वर, वृषवाहन, शंकर का निवास है। उनकी पूजा करने या दर्शन करने से ही पुरुष सिद्ध हो जाता है ॥१६२॥

तैजसं वारुणं तीर्थं दीप्यमानं स्वतेजसा ।
यत्र ब्रह्मादिभिर्देवैर्ऋषिभिश्च तपोधनैः ॥१६३॥
सैनापत्येन देवानामभिषिक्तो गुहस्तदा ।

इसके आगे तैजस तीर्थ है। जो अपने तेज से देदीप्यमान है। यहां ब्रह्मादि देव और तपोधन ऋषियों ने देवों के सेनापति पद पर कार्तिकेय को नियुक्त किया था ॥ १६३

तैजसस्य तु पूर्वेण कुरुतीर्थं कुरूद्वह ॥१६४॥
कुरुतीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥१६५॥

हे कुरूद्वह ! तैजस तीर्थ के पूर्व में कुरु-तीर्थ है। इस कुरु तीर्थ में ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय, मनुष्य स्नान करे, तो सब पापों से शुद्ध होकर ब्रह्मलोक चला जाता है ॥ १६४-१६५ ॥

स्वर्गद्वारं ततो गच्छेन्नियतो नियताशनः ।
स्वर्गलोकमवाप्नोति ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥१६६॥

नियम शील और नियताहारी मनुष्य, स्वर्ग द्वार तीर्थ पर जावे। इसकी यात्रा करने से मनुष्य स्वर्गलोक तथा ब्रह्मलोक पा लेता है ॥ १६६ ॥

ततो गच्छेत नरकं तीर्थसेवी नराधिप ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥१६७॥

हे राजन्! इसके आगे नरक तीर्थ है। तीर्थ सेवी जन, इस पर गमन करे। इसमें स्नान करने से मनुष्य दुर्गति नहीं पाता है ॥ १६७ ॥

तत्र ब्रह्मा स्वयं नित्यं देवैः सह महीपते ।
अन्वास्ते पुरुषव्याघ्र नारायणपुरोगमैः ॥१७८॥
सान्निध्यं तत्र राजेन्द्र रुद्रपत्न्याः कुरूद्वह ।
अभिगम्य च तां देवीं न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥१७६॥

हे महीपते ! वहां नारायण आदि देवों के साथ सदा ब्रह्मा उस तीर्थ पर निवास करता है। हे राजेन्द्र ! वही रुद्र की पत्नी देवी का स्थान है। इस देवी के दर्शनों से पुरुष की दुर्गति नहीं होती है ॥ १७८-१७६ ॥

तत्रैव च महाराज विश्वेश्वरमुमापतिम् ।
अभिगम्य महादेवं मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥१७०॥

हे महाराज ! यहीं विश्वेश्वर उमापति, महादेव का मन्दिर है। इनके दर्शन करने से मनुष्य सब पापों से छुट जाता है ॥

नारायणञ्चाभिगम्य पद्मनाभमरिन्दम ।
रोचमानो महाराज विष्णुलोकं गच्छति ॥१७१॥

हे अरिन्दम ! कमल के तुल्य नाभि वाले, भगवान् विष्णु के दर्शन करे। इनके दर्शन से शुद्ध हुआ मनुष्य, विष्णु लोक को पा लेता है ॥ १७१ ॥

तीर्थेषु सर्वदेवानां स्नातः स पुरुषर्षभ ।
सर्वदुःखैः परित्यक्तो द्योतते शशिवन्नरः ॥१७२॥

हे पुरुषर्षभ ! इन सब देवों के तीर्थों में स्नान करने वाला पुरुष सब दुःखों से छुट जाता है और चन्द्रमा की भांति प्रकाशित हो जाता है ॥ १७२ ॥

ततः स्वस्तिपुरं गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य गोसहस्रफलं लभेत् ॥१७३॥

हे नराधिप ! इसके आगे तीर्थसेवी पुरुष स्वस्तिपुर को जावे। इसकी प्रदक्षिणा करने से सहस्र गौओं के दान का फल मिलता है ॥ १७३ ॥

पावनं तीर्थमासाद्य तर्पयेत् पितृदेवताः ।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति भारत ॥१७४॥

इस पवित्र तीर्थ को पाकर पितर और देवों की पूजा करे। जिससे मनुष्य अग्निष्टोम का फल प्राप्त करता है ॥१७४॥

गङ्गाह्रदश्च तत्रैव कूपश्च भरतर्षभ ।
तिस्रः कोटयस्तु तीर्थानां तस्मिन् कूपे महीपते ॥१७५

हे भरतर्षभ ! वहां पर गङ्गा ह्रद और एक कूप है। हे महीपते ! उस कूप में तीन करोड़ तीर्थों का निवास है ॥१७५॥

तत्र स्नात्वा नरो राजन् स्वर्गलोकं प्रपद्यते ।
आपगानां नरः स्नात्वा अर्चयित्वा महेश्वरम् ॥१७६
गाणपत्यमवाप्नोति कुलञ्चैव समुद्धरेत् ।

इसमें स्नान करके मनुष्य, स्वर्ग लोक पाता है। इन नदियों में नहा कर और शंकर की पूजा करने से गणपति पद मिलता है और वह मनुष्य अपने कुल का उद्धार करलेता है ॥

ततः स्थाणुवटं गच्छेत्त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥१७७॥
तत्र स्नात्वा स्थितो रात्रिं रुद्रलोकमवाप्नुयात् ।

इसके आगे स्थाणु वट पर जावे, जो त्रिलोकी में विख्यात है। इसमें नहा कर और एक रात निवास करने से मनुष्य, रुद्र लोक पा लेता है ॥ १७७ ॥

बदरीपाचनं गच्छेद्वशिष्ठस्याश्रमं गतः ॥१७८॥
बदरीं भक्षयेत्तत्र त्रिरात्रोपपितो नरः ।
त्रिरात्रोपपितस्तेन भवेत्तुल्यो नराधिप ।
सम्यग्द्वादशवर्षाणि बदरीं भक्षयेत्तु यः ॥१७९॥

इसके आगे वसिष्ठके आश्रम पर बदरीपाचन तीर्थ पर जावे। मनुष्य, तीन रात का व्रत करके वहां बदरी फलों का भक्षण करे। जो बारह वर्ष तक बदरी फल खाने का व्रत ले और जो यहां तीन दिन व्रत करले, उनका समान ही फल है॥१७८-१७९

इन्द्रमार्गं समासाद्य तीर्थसेवी नराधिप ॥१८०॥
अहोरात्रोपवासेन शक्रलोके महीयते।
एकरात्रं समासाद्य एकरात्रोषितः नरः।
नियतः सत्यवादी च ब्रह्मलोके महीयते ॥१८१॥

हे नराधिप! तीर्थसेवी पुरुष, इन्द्रमार्ग पर पहुंचकर एक दिन रात का व्रत करे, तो इन्द्र लोक को चला जाता है। जो यहां एक रात आहार ले और एक रात व्रत करे तथा नियमशील रह कर सत्य भाषण करे, तो ब्रह्मलोक पा लेता है॥ १८०-१८१॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
आदित्यस्याश्रमो यत्र तेजोराशेर्महात्मनः ॥१८२॥
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा पूजयित्वा विभावसुम्।
आदित्यलोकं व्रजति कुलञ्चैव समुद्धरेत् ॥१८३॥

हे राजेन्द्र! अब त्रिलोकी में विख्यात तीर्थ पर जावे। जहां तेजोराशि भगवान् सूर्य का आश्रम है। इस तीर्थ में नहाकर और सूर्य की पूजा करके मनुष्य, सूर्य लोक को पार कर जाता है और अपने कुल का भी उद्धार कर लेता है॥ १८२-१८३ ॥

सोमतीर्थे नरः स्नात्वा तीर्थसेवी नराधिप।
सोमलोकमवाप्नोति नरो नास्त्यत्र संशयः ॥१८४॥

हे नराधिप ! तीर्थसेवी जन, सोम तीर्थ में नहा कर अवश्य सोम लोक को पाता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १८४ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ दधीचस्य महात्मनः ।
तीर्थं पुण्यतमं राजन् पावनं लोकविश्रुतम् ॥१८५॥

हे धर्मज्ञ ! इसके पीछे महात्मा दधीच के तीर्थ पर जावे। यह तीर्थ बड़ा ही पवित्र और लोक प्रसिद्ध है ॥१८५॥

यत्र सारस्वतो जातः सोऽङ्गिरास्तपसो निधिः ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ॥१८६॥
सारस्वतीं गतिश्चैव लभते नात्र संशयः ।

जिस पर सरस्वती पुत्र, तपोनिधि, अङ्गिरा मुनि उत्पन्न हुए। उस तीर्थ में स्नान करके मनुष्य, अश्वमेध को फल पाता है और सरस्वती के लोक की गति प्राप्त करता है ॥१८६ ॥

ततः कन्याश्रमं गच्छेन्नियतो ब्रह्मचर्यवान् ॥१८७॥
त्रिरात्रोपषितो राजन्नियतो नियताशनः ।
लभेत् कन्याशतं दिव्यं सर्वलोकश्च गच्छति ॥१८८॥

फिर नियम शील, ब्रह्मचारी, कन्याश्रम पर जावे। यहां आहार न करके तीन दिन व्रत करे, तो सौ कन्या और अन्त में दिव्य स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है ॥१८७-१८८ ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं सन्निहतीमपि ।
तत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥१८९॥

मासि मासि समायान्ति पुण्येन महतान्विताः ।
सन्निहत्यामुपस्पृश्य राहुग्रस्ते दिवाकरे ॥१६०॥
अश्वमेधशतं तेन तत्रेष्टं शाश्वतं भवेत् ।
पृथिव्यां यानि तीर्थानि अन्तरीक्षचराणि च ॥१६१॥
नद्यो ह्रदास्तडागश्च सर्वप्रस्रवणानि च ।
उदपानानि वाप्यश्च तीर्थान्यायतनानि च ॥१६२॥
निःसंशयममावस्यां समेष्यन्ति नराधिप ।
मासि मासि नरव्याघ्र सन्निहत्यां न संशयः ॥१६३॥

हे धर्मज्ञ! इसके आगे सन्निहती तीर्थ पर जावे। जहां ब्रह्मादि देव, तपोधन, ऋषि, महा पुण्य की प्रेरणा से महीने महीने में आते हैं। सूर्य ग्रहण के समय इस सन्निहती तीर्थ पर स्नान करे, तो सौ अश्वमेध के करने का फल मिलता है। पृथिवी और अन्तरिक्ष में जितने, नदी, ह्रद, तड़ाग, झरने, कूप, बावड़ी, तीर्थ आयतन आदि तीर्थ हैं, वे अमावस्या के दिन महीने में सन्निहती तीर्थ में आ जाते हैं इसमें सन्देह की बात नहीं है ॥१६०-१६३॥

तीर्थसन्निहनादेव सन्निहत्येति विश्रुता ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च स्वर्गलोके महीयते ॥१६४॥

इसमें तीर्थों का संग्रह है, इसीसे इसको सन्निहती तीर्थ कहा है। इसमें स्नान और आचमन करके मनुष्य, दुर्लभ स्वर्गलोक-को पा लेता है ॥ १६४ ॥

अमावस्यान्तु तत्रैव राहुग्रस्ते दिवाकरे ।
यः श्राद्धं कुरुते मर्त्यस्तस्य पुण्यफलं शृणु ॥१९५॥

हे राजन्! सूर्य ग्रहण के समय अमावस्या के दिन जो मनुष्य वहां श्राद्ध करता है, उसका फल सुनो ॥ १९५ ॥

अश्वमेधसहस्रस्य सम्यगिष्टस्य यत् फलम् ।
स्नात एव समाप्नोति कृत्वा श्राद्धञ्च मानवः ॥१९६॥

भली भांति एक सहस्र अश्वमेध का जो फल होता है, वही इसमें स्नान और श्राद्ध करने से मनुष्य पा लेता है १९६ ॥

यत्किञ्चिद् दुष्कृतं कर्म स्त्रिया पुरुषस्य वा ।
स्नातमात्रस्य तत्सर्वं नश्यते नात्र संशयः ॥१९७॥
पद्मवर्णेन यानेन ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ।

स्त्री या पुरुष का जो पाप कर्म हो, वह भी इसमें स्नान करते ही नष्ट हो जाता है और वह मनुष्य, पद्म के आकार के विमान पर बैठ कर ब्रह्म लोक को प्राप्त करता है ॥ १९७ ॥

अभिवाद्य ततो यक्षं द्वारपालं मचक्रुकम् ॥१९८॥
कोटितीर्थे ह्युपस्पृश्य लभेद्बहुसुवर्णकम् ।

इसके अनन्तर मचक्रुक द्वारपाल यक्ष को नमस्कार करके और कोटि तीर्थ में स्नान करके मनुष्य, बहुत सा सुवर्ण पा लेता है ॥

गङ्गाह्रदश्च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम ॥१९९॥
तत्र स्नायीत धर्मज्ञ ब्रह्मचारी समाहितः ।
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं विन्दति मानवः ॥२००॥

हे भरत सत्तम ! यहीं पर गंगाह्रद नामक तीर्थ है। वहां जो ब्रह्मचारी सावधानी से स्नान करता है, वह राजसूय और अश्वमेध का फल पाता है ॥ १९९-२०० ॥

पृथिव्यां नैमिषं तीर्थमन्तरीक्षे च पुष्करम् ।
त्रयानामपि लोकानां कुरुक्षेत्रं विशिष्यते ॥२०१॥

पृथिवी पर नैमिष, अन्तरीक्ष में पुष्कर तीर्थ सर्वोत्तम है, परन्तु तीनों लोकों में कुरुक्षेत्र तीर्थ सर्व श्रेष्ठ माना गया है ॥ २०१ ॥

पांशवोऽपि कुरुक्षेत्राद्वायुना समुदीरिताः ।
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमाङ्गतिम् ॥२०२॥

वायु से उड़ाये हुए कुरुक्षेत्र के रजःकण भी पापी मनुष्य को परम गति प्रदान करते हैं ॥२०२॥

उत्तरेण दृषद्वत्या दक्षिणेन सरस्वतीम् ।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ॥२०३॥

दृषद्वती के उत्तर और सरस्वती के दक्षिण में जो निवास करते हैं, वे मानों स्वर्ग में ही बसते हैं ॥ २०३ ॥

कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम् ।
अप्येकां वाचमुत्सृज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२०४॥

मैं कुरुक्षेत्र जाऊंगा और वहीं कुछ दिन निवास करूंगा इस वाणी को एक वार भी कह कर मनुष्य, सब पापों से छुट जाता है ॥२०४॥

ब्रह्मवेदी कुरुक्षेत्रं पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम् ।

तस्मिन् वसन्ति ये मर्त्या न ते शोच्याः कथञ्चन ॥२०५॥

कुरुक्षेत्र ब्रह्मा की वेदी को पवित्र और सब ब्रह्मर्षियों से युक्त है। इसमें निवास करने वाले मनुष्य, कभी चिन्ता के वश में नहीं हो सकते हैं ॥२०५॥

तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं रामह्रदानाञ्च मचक्रुकस्य च ।

एतत् कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं पितामहस्योत्तरवेदिरुच्यते ।२०६

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि नानातीर्थकथने त्र्यशीतितमोऽध्यायः॥८३॥

तरन्तु और कारन्तुक तीर्थ के मध्य में तथा रामह्रद और मचक्रुच के समीप यह कुरुक्षेत्र समन्त-पञ्चक तीर्थ है। यह ब्रह्माकी उत्तर वेदी कहाता है ॥२०६॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रा पर्व में अनेक तीर्थों के कथन का तिरासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥



चौरासीवां अध्याय

पुलस्त्य उवाच—

ततो गच्छेन्महाराज धर्मतीर्थमनुत्तमम् ।
यत्र धर्मो महाभागस्तप्तवानुत्तमं तपः ॥१॥

पुलस्त्य बोले—हे महाराज ! इसके अनन्तर सर्वोत्तम धर्म तीर्थ पर जावे, जहां पर महाभाग धर्म ने उत्तम तप किया है।

तेन तीर्थं कृतं पुण्यं स्वेन नाम्ना च विश्रुतम् ।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् धर्मशीलः समाहितः ॥२॥
आसप्तमं कुलश्चैव पुनीते नात्र संशयः ।

इस धर्म के तप करने के कारण यह स्थान पवित्र तीर्थ बना है और धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। हे राजन् ! धर्म शील, सावधान पुरुष इसमें स्नान करे, इससे सात पीढ़ी पवित्र, हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ २ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र ज्ञानपावनमुत्तमम् ॥३॥
अग्निष्टोममवाप्नोति मुनिलोकञ्च गच्छति ।

हे राजेन्द्र ! इसके आगे पवित्र ज्ञानपावन स्थान को जावे इस पर अग्निष्टोम का फल और मुनिलोक की प्राप्ति होती है ।३।

सौगन्धिकवनं राजंस्ततो गच्छेत मानवः ॥४॥
तत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ।
सिद्धचारणगन्धर्वाः किन्नराश्च महोरगाः ॥५॥

तद्वनं प्रविशन्नेव सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

हे राजन्! मनुष्य, आगे सौगन्धिक वन में जावे। वहां ब्रह्मादि देवता, तपोधन ऋषि, चारण, गन्धर्व, किन्नर, महोरग, आदि देव जातिओं का निवास है। इस वन में प्रवेश करते ही मनुष्य सब पापों से छुट जाता है ॥ ४-५ ॥

ततश्चापि सरिच्छ्रेष्ठा नदीनामुत्तमा नदी ॥६॥
प्लक्षा देवी स्मृता राजन् पुण्या देवी सरस्वती ।
तत्राभिषेकं कुर्वीत वल्मीकान्निःसृते जले ॥७॥
अर्चयित्वा पितॄन् देवानश्वमेधफलं लभेत् ।

इसके पीछे नदियों में उत्तम नदी है, जहां प्लक्ष देवी और सरस्वती देवी है। यहां वाल्मीक से निकले हुए झरने में स्नान करे और पितर तथा देवों की अर्चना करे, तो अश्वमेध का फल मिल जाता है ॥ ६-७ ॥

ईशानाध्युषितं नाम तत्र तीर्थं सुदुर्लभम् ॥८॥
षट्सु शम्यानिपातेषु वल्मीकादिति निश्चयः ।
कपिलानां सहस्रन्तु वाजिमेधञ्च विन्दति ॥९॥

इसके आगे ईशानाध्युषित, नामक दुर्लभ तीर्थ है। यह इस वल्मीक से छः शम्या (यज्ञ मुद्गर जिसको फैंक कर यज्ञ भूमि नापते हैं) दूरी पर है। इस समय जाने से सहस्र कपिल और अश्वमेध का फल प्राप्त होता है ॥ ८-९ ॥

तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र दृष्टमेतत् पुरातनैः ।
सुगन्धां शतकुम्भाञ्च पञ्चयज्ञाञ्च भारत ॥१०॥
अभिगम्य नरश्रेष्ठ स्वर्गलोके महीयते ।

हे भारत ! सुगन्ध, शतकुम्भा, पञ्चयज्ञ, नामक नदी है। यहां जाकर स्नान करे तो मनुष्य, स्वर्गलोक प्राप्ति का पुण्य प्राप्त कर लेता है, यह प्राचीन लोगों ने खूब देखा है ॥ १० ॥

त्रिशूलखातं तत्रैव तीर्थमासाद्य भारत ॥११॥
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः ।
गाणपत्यञ्च लभते देहं त्यक्त्वा न संशयः ॥१२॥

हे भारत ! वहीं पर त्रिशूलखात तीर्थ है। वहां जाकर स्नान करने और देव तथा पितरों के अर्चन से देह छोड़ने के अनन्तर निश्चय गणपति पद मिलता है ॥११-१२॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र देव्याः स्थानं सुदुर्लभम् ।
शाकम्भरीति विख्याता त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥१३॥

इसके आगे देवी का दुर्लभ स्थान है, जिसका नाम शाकम्भरी देवी है। यह तीनों लोकों में विख्यात है ॥१३॥

दिव्यं वर्षसहस्रं हि शाकेन किल सुव्रता ।
आहारं सा कृतवती मासि मासि नराधिप ॥१४॥

हे नराधिप ! इस देवी ने एक सहस्र दिव्य वर्ष तक मास २ में शाक का आहार किया था ॥१४॥

ऋषयोऽभ्यागतास्तत्र देव्या भक्त्या तपोधनाः ।
आतिथ्यञ्च कृतं तेषां शाकेन किल भारत ॥१५॥

ततः शाकम्भरीत्येव नाम तस्याः प्रतिष्ठितम् ।
शाकम्भरीं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥१६॥
त्रिरात्रमुषितः शाकं भक्षयित्वा नरः शुचिः ।
शाकाहारस्य यत्किञ्चिद्वर्षैर्द्वादशभिः कृतम् ॥१७॥
तत् फलं तस्य भवति देव्याश्छन्देन भारत ।

हे भारत! वहां देवी की भक्ति से तपस्वी ऋषि, आए, जिनका देवी ने शाक से ही स्वागत किया । इसी से इसका नाम शाकम्भरी ही प्रसिद्ध हो गया । जो सावधान, ब्रह्मचारी मनुष्य, शाकम्भरी देवी पर जाकर पवित्रता से तीन रात व्रत करे और अन्त में शाक का आहार ले तो बारह वर्ष तक शाकाहार का फल पा लेता है । यह फल इसको देवी के अनुग्रह से मिलता है ॥

ततो गच्छेत् सुवर्णाख्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥१८॥
तत्र विष्णुः प्रसादार्थं रुद्रमाराधयत् पुरा ।
वरांश्च सुबहून् लेभे दैवतेषु सुदुर्लभान् ॥१९॥

इसके अनन्तर सुवर्णाख्य स्थान पर जावे, जो तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है । यहां रुद्र के प्रसन्न करने के लिए भगवान् विष्णु ने तप किया है । इन्होंने देवों को दुर्लभ, अनेक वरदान भगवान् शंकर से प्राप्त किए ॥१९॥

उक्तश्च त्रिपुरघ्नेन परितुष्टेन भारत ।
अपि च त्वं प्रियतरो लोके कृष्ण भविष्यसि ॥२०॥
त्वन्मुखञ्च जगत् सर्वं भविष्यति न संशयः ।

तत्राभिगम्य राजेन्द्र पूजयित्वा वृषध्वजम् ॥२१॥
अश्वमेधमवाप्नोति गाणपत्यञ्च विन्दति ।

हे भारत ! प्रसन्न हुए, त्रिपुरारि शंकर ने भगवान् विष्णु से कहा--हे विष्णो ! तुम मेरे सबसे प्रिय होगे और इस सारे जगत् की रक्षा तुम ही कर सकोगे । इस तीर्थ पर जाकर और शंकर की पूजा करके अश्वमेध का फल और अन्त में गणपति पद प्राप्त होता है ॥२०-२१॥

धूमवतीं ततो गच्छेत् त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥२२॥
मनसा प्रार्थितान् कामाल्लभते नात्र संशयः ।

इसके आगे मनुष्य, धूमवती देवी पर जावे और तीन रात तक उपवास करे, तो मनुष्य अपने मनोरथ को पा लेता है ॥

देव्यास्तु दक्षिणार्द्धेन रथावर्त्तो नराधिप ॥२३॥
तत्रारोहेत धर्मज्ञ श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
महादेवप्रसादाद्धि गच्छेत परमाङ्गतिम् ॥२४॥

हे नराधिप ! इस देवी के दक्षिण की ओर रथावर्त तीर्थ है। उस पर श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, जन, आरोहण करे, तो वह महादेव की कृपा से परमगति पा सकता है ॥२३-२४॥

प्रदक्षिणमुपावृत्य गच्छेत भरतर्षभ ।
धारां नाम महाप्राज्ञ सर्वपापप्रमोचनीम् ॥२५॥
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र न शोचति नराधिप ।

हे भरतर्षभ ! इसकी प्रदक्षिणा करके सर्व पापों से मुक्त कराने वाली धारा नदी पर जावे। इसमें स्नान करने से मनुष्य, को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रह जाती है ॥२५॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ नमस्कृत्य महागिरिम् ॥२६॥
स्वर्गद्वारेण यत्तुल्यं गङ्गाद्वारं न संशयः।
तत्राभिषेकं कुर्वीत कोटितीर्थे समाहितः ॥२७॥
पुण्डरीकमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत्।
उष्यैकां रजनीं तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ॥२८॥

हे धर्मज्ञ ! फिर वहां महागिरि को नमस्कार करके गङ्गा द्वार को चले, जो स्वर्गद्वार के समान सुखदायी है। इस कोटि तीर्थ में सावधानी से स्नान करे, तो मनुष्य, भगवान् विष्णु के पद को पाता है और अपने कुल का उद्धार कर लेता है। इस तीर्थ पर एक रात निवास करले, तो सहस्र गोदान का फल प्राप्त करलेता है ॥२६-२८॥

सप्तगङ्गे त्रिगङ्गे च शक्रावर्त्ते च तर्पयन्।
देवान् पितॄंश्च विधिवत् पुण्यलोके महीयते ॥२९॥

सप्तगङ्ग, त्रिगङ्ग, और शक्रावर्त में विधि-पूर्वक देव और पितरों की तृप्ति करे तो, पुण्यलोक प्राप्त होता है ॥२९॥

ततः कनखले स्नात्वा त्रिरात्रोपोषितो नरः।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकञ्च विन्दति ॥३०॥

इसके अनन्तर कनखल में तीन रात का व्रती मनुष्य, स्नान करे, तो अश्वमेध का फल और अन्त में स्वर्गलोक पाता है ॥३०॥

कपिलावटं ततो गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप।
उपोष्य रजनीं तत्र गोसहस्रफलं लभेत्॥ ३१ ॥

हे नराधिप! फिर तीर्थ सेवीजन, कपिलावट पर जावे। यहां एक रात व्रत रखने से सहस्र गोदान का फल मिलता है ॥३१॥

नागराजस्य राजेन्द्र कपिलस्य महात्मनः।
तीर्थं कुरुवरश्रेष्ठ सर्वलोकेषु विश्रुतम् ॥३२ ॥
तत्राभिषेकं कुर्वीत नागतीर्थे नराधिप।
कपिलानां सहस्रस्य फलं विन्दति मानवः॥ ३३ ॥
ततो ललितकं गच्छेत् शान्तनोस्तीर्थमुत्तमम्।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्न दुर्गतिमवाप्नुयात्॥ ३४ ॥

हे कुरुवंश श्रेष्ठ! आगे महात्मा, नागराज कपिल का तीर्थ है, जो सब लोकों में प्रसिद्ध है। हे राजेन्द्र! इस नाग तीर्थ में स्नान करने से एक सहस्र कपिला गौओं के दान का फल मिलता है। हे राजन्! शान्तनु के उत्तम ललितक तीर्थ पर जावे। इस में स्नान करने से कभी दुर्गति नहीं होती है ॥३२-३४॥

गङ्गायमुनयोर्मध्ये स्नाति यः सङ्गमे नरः।
दशाश्वमेधानाप्नोति कुलञ्चैव समुद्धरेत्॥ ३५ ॥

जो मनुष्य! गङ्गा यमुना के सङ्गम पर स्नान करता है। वह दश अश्वमेधों का फल पाता है और अपने कुल का उद्धार कर लेता है ॥३५॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र सुगन्धं लोकविश्रुतम्।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोके महीयते॥ ३६ ॥

हे राजेन्द्र ! इसके पीछे लोक-विश्रुत, सुगन्ध तीर्थ पर जावे। इसमें नहाने से मनुष्य, सब पापों से शुद्ध होकर स्वर्ग लोक को जाता है ॥३६॥

रुद्रावर्त्तं ततो गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् स्वर्गलोके च गच्छति ॥३७॥

हे नराधिप ! तीर्थ सेवीजन, फिर रुद्रावर्त पर जावें, इसमें स्नान करने से मनुष्य, स्वर्गलोक को पा लेता है ॥३७॥

गङ्गायाञ्च नरश्रेष्ठ सरस्वत्याञ्च सङ्गमे।
स्नात्वाश्वमेधं प्राप्नोति स्वर्गलोकञ्च गच्छति ॥ ३८ ॥

हे नर-श्रेष्ठ ! गङ्गा और सरस्वती के सङ्गम पर नहाने से मनुष्य, अश्वमेध का फल पाता है और स्वर्गलोक को चल जाता है ॥३८॥

भद्रकर्णेश्वरं गत्वा देवमर्च्य यथाविधि।
न दुर्गतिमवाप्नोति नाकपृष्ठे च पूज्यते ॥ ३९ ॥

इसके आगे भद्रकर्णेश्वर में जाकर और विधि-पूर्वक भगवान् की पूजा करने से मनुष्य कभी दुर्गति नहीं पाता है और इस की स्वर्ग मे पूजा होती है ॥३९॥

ततः कुब्जाम्रके गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप।
गोसहस्रमवाप्नोति स्वर्गलोकञ्च गच्छति ॥४०॥

हे राजन् ! फिर तीर्थ सेवीजन कुब्जाम्रक तीर्थ पर जावें। यहाँ इसको सहस्र गोदान का फल मिलता है और यह स्वर्गलोक को प्राप्त करता है ॥४०॥

अरुन्धतीवटं गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप ।
सामुद्रकमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥ ४१ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति त्रिरात्रोपषितो नरः ।
गोसहस्रफलं विन्देत् कुलञ्चैव समुद्धरेत् ॥ ४२ ॥

हे राजन् ! तीर्थ सेवी मनुष्य, अरुन्धती वट पर जावे। वहां ब्रह्मचारी, ध्यान तत्पर होकर सामुद्रक'तीर्थ में स्नान करे और तीन दिन का व्रत रखे तो अश्वमेध और सहस्र गोदान का फल पाता है तथा अपने कुल का उद्धार कर लेता है ॥४२॥

ब्रह्मावर्त्तं ततो गच्छेद् ब्रह्मचारी समाहितः ।
अश्वमेधमवाप्नोति सोमलोकञ्च गच्छति ॥४३॥

फिर सावधान मन से ब्रह्मचारी, ब्रह्मावर्त की यात्रा करे, जिस से इसको अश्वमेध का फल और सोमलोक प्राप्त होता है ॥४३॥

यमुनाप्रभवं गत्वा समुपस्पृश्य यामुनम् ।
अश्वमेधफलं लब्ध्वा स्वर्गलोकं महीयते॥४४॥

आगे यमुना के उत्पत्ति स्थान पर पहुंचे और यमुना के जल में स्नान करे। इससे अश्वमेध का फल और स्वर्गलोक प्राप्त होता है ॥४४॥

दर्वीसंक्रमणं प्राप्य तीर्थं त्रैलोक्यपूजितम्।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकञ्च गच्छति ॥४५॥

त्रिलोकी में पूजित, दर्वी-संक्रमण तीर्थ पर गमन करे। इस से यात्री अश्वमेध का फल और अन्त में स्वर्गलोक की प्राप्ति करता है ॥४५॥

सिन्धोश्च प्रभवं गत्वा सिद्धगन्धर्वसेवितम् ।

तत्रोष्य रजनीः पञ्च विन्देद्बहुसुवर्णकम् ॥४६॥

इसके आगे सिन्धु नदी के उत्पत्ति स्थान पर जावे । जिसमें सिद्ध और गन्धर्वों का निवास है। इसमें पांच रात निवास करे-तो उसको बहुत से सुवर्ण की प्राप्ति होती है ॥४६॥

अथ वेदीं समासाद्य नरः परमदुर्गमाम् ।

अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकञ्च गच्छति ॥४७॥

इसके आगे, मनुष्य, परम दुर्गम वेदी स्थान की यात्रा करे । इस से अश्वमेध का फल और स्वर्गलोक की प्राप्ति होती ॥है४७

ऋषिकुल्यां समासाद्य वाशिष्ठीञ्चैव भारत ।

वाशिष्ठीं समतिक्रम्य सर्वे वर्णा द्विजातयः ॥४८॥

हे भारत ! ऋषियों की छोटी नदी वासिष्ठी पर जावे । इसकी यात्रा कर लेने पर सारे वर्ण संस्कार के योग्य हो जाते हैं ॥४८॥

ऋषिकुल्यां समासाद्य नरः स्नात्वा विकल्मषः ।

देवान् पितृंश्चार्चयित्वा ऋषिलोकं प्रपद्यते ॥४९॥

ऋषि कुल्या पर पहुंच कर और स्नान करके मनुष्य, पाप रहित होता है, यहां देव और पितरों की अर्चना करने से ऋषि लोक मिलता है ॥४९॥

यदि तत्र वसेन्मासं शाकाहारो नराधिप ।

भृगुतुङ्गं समासाद्य वाजिमेधफलं लभेत् ॥५०॥

हे नराधिप ! यदि यहां शाकाहार करके एक महीने तक जो निवास करले, वह भृगुतुङ्ग पर जाने से अश्वमेध का फल पाता है ॥५०॥

गत्वा वीरप्रमोक्षञ्च सर्वपापैः प्रमुच्यते।
कृत्तिकामघयोश्चैव तीर्थमासाद्य भारत ॥५१॥
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलमाप्नोति मानवः।

इसके अनन्तर प्राणी, वीर प्रमोक्ष स्थान पर जाकर सब पापों से छुट जाता है। फिर कृत्तिका मघा नक्षत्र के तीर्थों पर जाने से मनुष्य को अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञ का फल मिलता है।

तत्र सन्ध्यां समासाद्य विद्यातीर्थमनुत्तमम् ॥५२॥
उपस्पृश्य च वै विद्यां यत्र तत्रोपपद्यते।

फिर सर्वोत्तम विद्या तीर्थ पर स्नान सन्ध्या करे, तो किसी भी स्थान पर विद्या प्राप्त कर लेता है ॥५२॥

महाश्रमे वसेद्रात्रिं सर्वपापप्रमोचने ॥५३॥
एककालं निराहारो लोकानावसते शुभान्।
षष्ठकालोपवासेन मासमुष्य महालये ॥५४॥
सर्वपापविशुद्धात्मा विन्देद्बहुसुवर्णकम्।
दशापरान् दशपूर्वान् नरानुद्धरते कुलम् ॥५५॥

सब पापों से छुटकारा देने वाले, महाश्रम तीर्थ में रात्रि को निवास करे और एक काल का निराहार व्रत करे-तो शुभलोकों की प्राप्ति होवे। यदि यहां छः काल तक उपवास कर ले और

एक महीने निवास करे, तो मनुष्य, सब पापों से शुद्ध होकर बहुत सा सुवर्ण प्राप्त करता है और दश पूर्व के तथा दश आगे के अपने वंशजों का उद्धार करता है ॥५३-५५॥

अथ वेतसिकां गत्वा पितामहनिषेविताम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति गच्छेदौशनसीं गतिम् ॥५६॥

इसके पीछे ब्रह्मा से सुसेवित, वेतसिका तीर्थ पर जावे। इससे मनुष्य अश्वमेध का फल और शुक्र सम्बधी गति को प्राप्त करता है ॥५६॥

अथ सुन्दरिकातीर्थं प्राप्य सिद्धनिषेवितम् ।
रूपस्य भागी भवति दृष्टमेतत् पुरातनैः ॥५७॥

इसके आगे सिद्धोंसे युक्त, सुन्दरिका तीर्थ पर जावे। वहां जाने से मनुष्य को सौन्दर्य की प्राप्ति होती है, यह प्रचीन लोगों ने देख रखा है ॥५७॥

ततो वै ब्राह्मणीं गत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ।
पद्मवर्णेन यानेन ब्रह्मलोकं प्रपद्यते ॥५८॥

इसके पीछे जितेन्द्रिय, ब्रह्मचारी, ब्राह्मणी तीर्थ पर जावे, तो अन्त में वह पद्म आकार के विमान में बैठ कर स्वर्ग लोक जाता है ॥५८॥

ततस्तु नैमिषं गच्छेत् पुण्यं सिद्धनिषेवितम् ।
तत्र नित्यं निवसति ब्रह्मा देवगणैः सह ॥५९॥

इसके पीछे सिद्धों से युक्त, नैमिष क्षेत्र को जावे, यहां देवों के साथ ब्रह्माजी, नित्य निवास करते हैं ॥५६॥

नैमिषं मृगयानस्य पापास्यार्द्धं प्रणश्यति ।
प्रविष्टमात्रस्तु नरः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥६०॥

जब मनुष्य, नैमिष तीर्थ के जाने का विचार करता है, त्योंही उसका आधा पाप नष्ट हो जाता है और जब उस क्षेत्र में घुस जाता है, तो सब पापों से मुक्त हो जाता है ॥६०॥

तत्र मासं वसेद्धीर नैमिषे तीर्थतत्परः ।
पृथिव्यां यानि तीर्थानि तानि तीर्थानि नैमिषे ॥६१॥

हे वीर ! इस नैमिष तीर्थ में एक मास तक तीर्थ वास की भांति निवास करे, क्योंकि पृथिवी पर जितने तीर्थ हैं, वे सब इस नैमिष क्षेत्र में निवास करते हैं ॥६१॥

कृताभिषेकस्तत्रैव नियतो नियताशनः ।
गवां मेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति भारत ॥६२॥

हे भारत ! नियमों में तत्पर और स्वल्पाहार करके जो पुरुष इसमें स्नान करता है, वह गो मेध यज्ञ का फल पाता है ॥६२॥

पुनात्यासप्तमश्चैव कुलं भरतसत्तम ।
यस्त्यजेन्नैमिषे प्राणानुपवासपरायणः ॥६३॥
स मोदेत् सर्वलोकेषु एवमाहुर्मनीषिणः ।
नित्यं मेध्यश्च पुण्यश्च नैमिषं नृपसत्तम ॥६४॥

हे भरत सत्तम ! जो उपवास करके नैमिष क्षेत्र में प्राण छोड़ देता है, वह अपने सात कुलों का उद्धार और सब लोकों में

आनन्द प्राप्त करता है, ऐसा मनीषियों ने कहा है। यह नैमिष तीर्थ, नित्य ही पवित्र और पुण्य जनक है ॥६३-६४॥

गङ्गोद्भेदं समासाद्य त्रिरात्रोपषितो नरः।
वाजपेयमवाप्नोति ब्रह्मभूतो भवेत् सदा ॥६५॥

तीन रात का व्रत करने वाला, मनुष्य, गङ्गोद्भेद तीर्थ पर जाकर अश्वमेध का फल पाता है और ब्रह्म रूप हो जाता है।६५

सरस्वतीं समासाद्य तर्पयेत् पितृदेवताः।
सारस्वतेषु लोकेषु मोदते नात्र संशयः ॥६६॥

फिर कभी सरस्वती पर जावे और वहां पितर तथा देवों की तृप्ति करे, तो मनुष्य, सारस्वत लोकों में आनन्द करता है ॥६६॥

ततश्च बाहुदां गच्छेद् ब्रह्मचारी समाहितः।
तत्रोष्य रजनीमेकां स्वर्गलोके महीयते ॥६७॥
देवसत्रस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति कौरव।

इसके बाद, सावधान ब्रह्मचारी बाहुदा स्थान पर जावे। इस स्थान पर एक रात निवास करने से स्वर्गलोक में जाता है और देव सत्र (यज्ञ) का फल पा लेता है ॥६७॥

ततः चीरवतीं गच्छेत् पुण्यां पुण्यतरैर्वृताम् ॥६८॥
पितृदेवार्चनपरो वाजपेयमवाप्नुयात्।

इसके पीछे पुण्यात्माओं से युक्त, पवित्र चीरवती नदी पर जावे। यहां पितर और देवों का अर्चन करने से वाजपेय यज्ञ की सिद्धि होती है ॥६८॥

विमलाशोकमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ॥६९॥
तत्रोष्य रजनीमेकां स्वर्गलोके महीयते ।

ध्यान में परायण ब्रह्मचारी, विमलाशोक स्थान पर जावे। इसमें एक रात निवास करे, तो स्वर्ग लोक की प्राप्ति होती है।

गोप्रतारं ततो गच्छेत् सरय्वास्तीर्थमुत्तमम् ॥७०॥
यत्र रामो गतः स्वर्गं सभृत्यबलवाहनः ।
देहं त्यक्त्वा महाराज तस्य तीर्थस्य तेजसा ॥७१॥
रामस्य च प्रसादेन व्यवसायाच्च भारत ।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा गोप्रतारे नराधिप ॥७२॥
सर्वपापविशुद्धात्मा स्वर्गलोके महीयते ।

इसके आगे गो प्रतार तीर्थ पर जावे,जो सरयू नदी का उत्तम तीर्थ है। यहीं पर रामचन्द्र जी अपने भृत्य, सेना और वाहनों के साथ स्वर्ग गए थे। हे महाराज ! वहां देह छोड कर प्राणी, उस तीर्थ के तेज से और श्रीराम की कृपा तथा अपने परिश्रम से उस गो प्रतार तीर्थ में स्नान करके सब पापों से शुद्ध हो जाता है और स्वर्ग लोक को चला जाता है॥ ७०-७२॥

रामतीर्थे नरः स्नात्वा गोमत्यां कुरुनन्दन ॥७३॥
अश्वमेधमवाप्नोति पुनाति च कुलं नरः ।
शतसाहस्रकं तीर्थं तत्रैव भरतर्षभ ॥७४॥
तत्रोपस्पर्शनं कृत्वा नियतो नियताशनः ।
गोसहस्रफलं पुण्यं प्राप्नोति भरतर्षभ ॥७५॥

हे कुरुनन्दन ! राम के तीर्थ गोमती में स्नान करके मनुष्य, अश्वमेध का फल पाता है और अपने कुल को पवित्र कर लेता । वहीं पर शतसाहस्रक तीर्थ है, वहां नियमशील,. स्वल्पाहारी पुरुष स्नान करे तो एक सहस्र गो दान का फल पाता है ७३-७५॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र भर्तृस्थानमनुत्तमम् ।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥७६॥

हे भरतर्षभ ! इसके अनन्तर तीर्थ सेवी, सर्वोत्तम भर्तृ स्थान पर गमन करे, यहां उसको अश्वमेध का फल मिलता है ।

कोटितीर्थे नरः स्नात्वा अर्चयित्वा गुहं नृप ।
गोसहस्रफलं विन्द्यात्तेजस्वी च भवेन्नरः ॥७७॥

हे नृप ! मनुष्य, कोटि तीर्थ में स्नान और गुह का पूजन करके सहस्र गौओं के दान का फल पाता है और तेजस्वी बन जाता है ॥ ७७ ॥

ततो वाराणसीं गत्वा अर्चयित्वा वृषध्वजम् ।
कपिलाहूदे नरः स्नात्वा राजसूयमवाप्नुयात् ॥७८॥

इसके आगे काशी क्षेत्र में जावे और वहां विश्वनाथ का पूजन करे, तथा कपिला-हृद में स्नान करे, तो मनुष्य, राजसूय का फल पा लेता है ॥७८॥

अविमुक्तं समासाद्य तीर्थसेवी कुरुद्वह ।
दर्शनाद्देवदेवस्य मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥७९॥
प्राणानुत्सृज्य तत्रैव मोक्षं प्राप्नोति मानवः ।

हे कुरु-वंश-श्रेष्ठ ! इसके पीछे अविमुक्त तीर्थ पर जावे। यहां पर देवों के देव शंकर के दर्शनों से मनुष्य ब्रह्महत्या से भी छुट जाता है। जो यहां अपने प्राणों का त्याग करता है, वह मानव मोक्ष पाता है ॥७९॥

मार्कण्डेयस्य राजेन्द्र तीर्थमासाद्य दुर्लभम् ॥८०॥
गोमतीगङ्गयोश्चैव सङ्गमे लोकविश्रुते ।
अग्निष्टोममवाप्नोति कुलञ्चैव समुद्धरेत् ॥८१॥

हे राजेन्द्र ! मार्कण्डेय के दुर्लभ तीर्थ को पाकर तथा लोक-विश्रुत गोमती और गङ्गा के सङ्गम पर जाके मनुष्य, अग्निष्टोम का फल पाता है और अपने कुल का उद्धार कर लेता है ॥८०-८१

ततो गयां समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
अश्वमेधमवाप्नोति गमनादेव भारत ॥८२॥

इसके अनन्तर ध्यान परायण, ब्रह्मचारी, गया पर जावे। यहां जाने से ही मनुष्य को अश्वमेध का फल मिलता है ॥८७॥

तत्राक्षयवटो नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
तत्र दत्तं पितृभ्यस्तु भवत्यक्षयमुच्यते ॥८३॥

इसके पास ही अक्षय वट है, यह भी तीन लोकों में प्रसिद्ध है। यहां भी पितरों को दिया हुआ पिण्ड अक्षय तृप्ति देता है ८३

महानद्यामुपस्पृश्य तर्पयेत् पितृदेवताः ।
अक्षयान् प्राप्नुयात् लोकान् कुलञ्चैव समुद्धरेत् ॥८४॥

यहां महानदी में स्नान करके पितर और देवों का तर्पण अर्चन करे। इससे मनुष्य, अक्षय लोकों की प्राप्ति और कुल का उद्धार कर लेता है ॥८४॥

ततो ब्रह्मसरो गत्वा धर्मारण्योपशोभितम् ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति प्रभातामेव शर्वरीम् ॥८५॥

इसके आगे धर्मारण्य से सुशोभित, ब्रह्म :सर पर जावे। यहां एक रात प्रातः काल तक निवास करे, तो ब्रह्म लोक की प्राप्ति होती है ॥ ८५ ॥

ब्रह्मणा तत्र सरसि यूपः श्रेष्ठः समुच्छ्रितः ।
यूपं प्रदक्षिणं कृत्वा वाजपेयफलं लभेत् ॥८६॥

इस सरोवर में ब्रह्मा ने एक यूप की स्थापना की है जो इस यूप की प्रदक्षिणा करता है उसको वाजपेय यज्ञ का फल मिलता है ॥ ८६ ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र धेनुकं लोकविश्रुतम् ।
एकरात्रोषितो राजन् प्रयच्छेत्तिलधेनुकाम् ॥८७॥
सर्वपापविशुद्धात्मा सोमलोकं व्रजेद्ध्रुवम् ।
तत्र चिन्हं महद्राजन्नद्यापि सुमहद्भृशम् ॥८८॥
कपिलायाः सवत्सायाश्चरन्त्याः पर्वते कृतम् ।
सवत्सायाः पदानि स्म दृश्यन्तेऽद्यापि भारत ॥८९॥
तेषूपस्पृश्य राजेन्द्र पदेषु नृपसत्तम ।
यत्किञ्चिदशुभं कर्म तत् प्रणश्यति भारत ॥९०॥

हे राजेन्द्र ! इसके आगे लोक प्रसिद्ध धेनुक तीर्थ पर जावें वहां एक रात निवास करके तिल सहित गौ का दान करे, तो सब पापों से मुक्त होकर सोम लोक को जाता है । हे राजन् ! वहां आज तक एक बड़ा भारी बछड़े सहित पर्वत में चरती हुई कपिला गो का पद है । इस बछडे सहित गाय का पद आज भी दिखाई देता है । इन पद चिन्हों में स्नान करने से पुरुष के सारे अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ८७-६० ॥

ततो गृध्रवटं गच्छेत स्थानं देवस्य धीमतः ।
स्नायीत भस्मना तत्र अभिगम्य वृषध्वजम् ॥६१॥
ब्राह्मणेन भवेच्चीर्णं व्रतं द्वादशवार्षिकम् ।
इतरेषान्तु वर्णानां सर्वपापं प्रणश्यति ॥६२॥

इसके आगे गृद्ध वट नामक शंकरके स्थान पर जावे । वहां महादेव के दर्शन और भस्म लगा कर स्नान करे, तो ब्राह्मण को बारह वर्ष का चीर्ण व्रत का फल मिले और अन्य वर्णों के सब पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ६१-६२ ॥

उद्यन्तश्च ततो गच्छेत् पर्वतं गीतनादितम् ।
सावित्र्यास्तु पदं तत्र दृश्यते भरतर्षभ ॥६३॥

हे भरतर्षभ ! गीतों से सुन्दर, उदय पर्वत पर जावे । वहां पर सावित्री का पद दिखाई देता है ॥ ६३ ॥

तत्र सन्ध्यामुपासीत ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
तेन ह्युपास्ता भवति सन्ध्या द्वादशवार्षिकी ॥६४॥

वहां व्रतशील ब्राह्मण सन्ध्या करे। इसके बारह वर्ष तक सन्ध्या करने का फल मिलता है॥ ६४ ॥

योनिद्वारञ्च तत्रैव विश्रुतं भरतर्षभ ।
तत्राभिगम्य मुच्येत पुरुषो योनिसङ्कटात् ॥६५॥

हे भरतर्षभ ! आगे चलकर योनिद्वार है। इसके दर्शन से पुरुष जन्म मरण के चक्कर से छुट जाता है ॥ ६५ ॥

कृष्णशुक्लावुभौ पक्षौ गयाया यो वसेन्नरः ।
पुनात्यासप्तमं राजन् कुलं नास्त्यत्र संशयः ॥६६॥

हे राजन् ! जो मनुष्य गया में एक मास तक दोनों पक्षों में निवास करता है, वह अपनी सात पीढ़ी पवित्र कर लेता है ॥

एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्यप्येको गयां व्रजेत् ।
यजेत् वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥६७॥

मनुष्य बहुत पुत्र इसीलिये चाहते हैं, कि शायद कोई एक गया तीर्थ पर पहुच जावे या अश्वमेध यज्ञ करे अथवा नीला वृषभ छोड़ दे ॥ ६७ ॥

ततः फल्गुं व्रजेद्राजंस्तीर्थसेवी नराधिप ।
अश्वमेधमवाप्नोति सिद्धिञ्च महतीं व्रजेत् ॥६८॥

हे राजन् ! इसके अनन्तर तीर्थ सेवी जन, फल्गु तीर्थ पर जावे, तो अश्वमेध का फल और परम सिद्धि प्राप्त करे ॥ ६८॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र धर्मप्रस्थं समाहितः ।
तत्र धर्मो महाराज नित्यमास्ते युधिष्ठिरः ॥६९॥

हे राजेन्द्र ! फिर श्रद्धा सहित धर्मप्रस्थ पर जावे । हे युधिष्ठिर ! वहां पर धर्म नित्य निवास करता है ॥ ९९ ॥

तत्र कूपोदकं पीत्वा ततः स्नातः शुचिस्तथा ।
पितृन्देवांस्तु सन्तर्प्य मुक्तपापो दिवं व्रजेत् ॥१००॥

वहां मनुष्य, कूप का जल पीवे और स्नान करके पवित्र होवे तथा पितर और देवों का तर्पण करके अपने पापों से छूट कर स्वर्ग को जावे ॥ १०० ॥

मतङ्गस्याश्रमस्तत्र महर्षेर्भावितात्मनः ।
तं प्रविश्याश्रमं श्रीमच्छ्रमशोकविनाशनम् ॥१०१॥
गवामयनयज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ।
धर्मन्तत्राभिसंस्पृश्य वाजिमेधमवाप्नुयात् ॥१०२॥

वहीं पर महात्मा, महर्षि मतङ्ग का आश्रम है। इस सुन्दर आश्रम में जाकर मनुष्य संसार के श्रम और शोकों से मुक्त होता है तथा गोमेध का फल प्राप्त करता है। यहां धर्म तीर्थ में स्नान करे, तो अश्वमेध का फल मिलता है ॥१०१-१०२॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मस्थानमनुत्तमम् ।
तत्राभिगम्य राजेन्द्र ब्रह्माणं पुरुषर्षभम् ॥१०३॥
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं विन्दति मानव ।

इसके आगे ब्रह्मा के उत्तम स्थान पर जावे, वहां सर्वोत्तम ब्रह्मा के दर्शन करके मनुष्य राजसूय और अश्वमेध का फल पाता है ॥ १०३ ॥

ततो राजगृहं गच्छेत्तीर्थसेवी नराधिप ॥१०४॥
उपस्पृश्य ततस्तत्र काक्षीवानिव मोदते ।

इसके पीछे तीर्थ सेवी मनुष्य राजगृह को जावे। वहां स्नान करके वह काक्षीवान् राजा की भांति सुखी होता है ॥१०४॥

यक्षिण्या नैत्यकं तत्र प्राश्नीत पुरुषः शुचिः ॥१०५॥
यक्षिण्यास्तु प्रसादेन मुच्यते ब्रह्महत्यया ।

पवित्र मनुष्य, वहां यक्षिणी का नित्य प्रसाद ले तो यक्षिणी की कृपा से वह ब्रह्म हत्या से भी मुक्त हो जाता है ॥१०५॥

मणिनागं ततो गत्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥१०६॥
तैर्थिकं भुञ्जते यस्तु मणिनागस्य भारत ।
दष्टस्याशीविषेणापि न तस्य क्रमते विषम् ॥१०७॥
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ।

इसके आगे मणिनाग तीर्थ पर जावे, तो सहस्र गौओं के दान का फल मिलता है। जो मणिनाग तीर्थ का प्रसाद खाता है उसको काटे हुए सर्प के विष की बाधा नहीं होती है। यहां एक रात निवास करे तो सहस्र गो दान का फल मिलता है १०६-१०७

ततो गच्छेत ब्रह्मर्षेर्गौतमस्य वनं प्रियम् ॥१०८॥
अहल्याया ह्रदे स्नात्वा व्रजेत् परमाङ्गतिम् ।
अभिगत्वाश्रमं राजन् विन्दते श्रियमात्मनः ॥१०९॥

इसके आगे ब्रह्मर्षि, गौतम के वन में जावे। यहां अहल्या के ह्रद में स्नान करे, तो परमगति मिलती है और गौतम के आश्रम जावे, तो खोई हुई अपनी लक्ष्मी पाता है ॥१०८-१०९॥

तत्रोदपानं धर्मज्ञ त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
तत्राभिषेकं कृत्वा तु वाजिमेधमवाप्नुयात् ॥११०॥

यहां एक कूप है, जो तीनों में प्रसिद्ध है। इसमें स्नान करके अश्वमेध का फल पाता है ॥११०॥

जनकस्य तु राजर्षेः कूपस्त्रिदशपूजितः ।
तत्राभिषेकं कृत्वा तु विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥१११

फिर देवों से पूजित, राजर्षि जनक का कूप है। इसमें स्नान करने से विष्णुलोक की प्राप्ति होती है ॥१११॥

ततो विनशनं गच्छेत् सर्वपापप्रमोचनम् ।
वाजपेयमवाप्नोति सोमलोकञ्च गच्छति ॥११२॥

इसके पीछे विनशन स्थान को जावे, जो सब पापों से छुड़ाने वाला है। इस पर अश्वमेध के फल और सोमलोक की प्राप्ति होती है ॥११२॥

गण्डकीन्तु समासाद्य सर्वतीर्थजलोद्भवाम् ।
वाजपेयमवाप्नोति सूर्य्यलोकञ्च गच्छति ॥११३॥

सारे तीर्थों के जल से उत्पन्न गण्डकी नदी पर जावे। इससे अश्वमेध यज्ञ का फल और सूर्यलोक प्राप्त होता है ॥११३

ततो निशल्यामासाद्य नदीं त्रैलोक्यविश्रुताम् ।
अग्निष्टोममवाप्नोति स्वर्गलोकञ्च गच्छति ॥११४॥

इसके अनन्तर त्रैलोक्य-विश्रुत निशल्या नदी पर जावे, तो अग्निष्टोम यज्ञ का फल और स्वर्गलोक मिलता है ॥११४॥

ततोऽधिवङ्गं धर्मज्ञ समाविश्य तपोवनम् ।
गुह्यकेषु महाराज मोदते नात्र संशयः ॥११५॥

हे धर्मज्ञ ! फिर वङ्ग देश में तपोवन पर गमन करे, तो प्राणी निश्चय गुह्यकों में आनन्द लाभ करता है ॥११५॥

कम्पनान्तु समासाद्य नदीं सिद्धनिषेवितम् ।
पुण्डरीकमवाप्नोति स्वर्गलोकञ्च गच्छति ॥११६॥

सिद्धों से निषेवित कम्पना नदी पर जावे, तो भगवान् विष्णु और स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है ॥११६॥

अथ माहेश्वरीं धारां समासाद्य नराधिप ।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलञ्चैव समुद्धरेत् ॥११७॥

हे नराधिप ! इसके पीछे माहेश्वरी धारा पर गमन करे, तो अश्वमेध फल प्राप्त और कुल का उद्धार होता है ॥११७॥

दिवौकसां पुष्करिणीं समासाद्य नराधिप ।
न दुर्गतिमवाप्नोति वाजिमेधञ्च विन्दति ॥११८॥

हे राजन् देवों की नदी पर जाकर मनुष्य, दुर्गति नहीं पाता है और अश्वमेध यज्ञ के फल को प्राप्त कर लेता है ॥११८॥

अथ सोमपदं गच्छेत् ब्रह्मचारी समाहितः।
महेश्वरपदे स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ॥११९॥

धर्मनिष्ठ, ब्रह्मचारी, सोमपद स्थान पर जावे । यहां महेश्वर पद पर स्नान करने से अश्वमेध का फल पाता है ॥११९॥

तत्र कोटी तु तीर्थानां विश्रुता भरतर्षभ।
कूर्मरूपेण राजेन्द्र ह्यसुरेण दुरात्मना ॥१२०॥

ह्रियमाणा कृता राजन् विष्णुना प्रभविष्णुना।
तत्राभिषेकं कुर्वीत तीर्थकोट्यां नराधिप ॥१२१॥
पुण्डरीकमवाप्नोति विष्णुलोकञ्च गच्छति।

हे भरतर्षभ ! यहां तीर्थों की एक कोटी प्रसिद्ध है। इसको कूर्म रूप से कोई दुरात्मा असुर अपहरण कर ले गया, तो सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णु ने इसका उद्धार किया। जो नर, इस तीर्थकोटि में स्नान करता है, वह भगवान् विष्णु को पाकर विष्णुलोक चला जाता है ॥१२०-१२१॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र स्थानं नारायणस्य च ॥१२२॥
सदा सन्निहितो यत्र विष्णुर्वसति भारत ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥१२३॥
आदित्या वसवो रुद्रा जनार्दनमुपासते।
शालग्राम इति ख्यातो विष्णुरद्भुतकर्मकः ॥१२४॥

हे राजेन्द्र ! इसके आगे नारायण के स्थान को जावे । वहां सदा भगवान् विष्णु निवास करते हैं। यहीं पर ब्रह्मादि देव,

तपस्वी ऋषि, आदित्य, वसु, रुद्र, सब विष्णु की उपासना करते हैं। यह विष्णु अत्यन्त अद्भुत कर्मों का कर्ता है। इसका शालग्राम संज्ञा भी है ॥१२२-१२४॥

अभिगम्य त्रिलोकेशं वरदं विष्णुमव्ययम् ।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकञ्च गच्छति ॥१२५॥
तत्रोदपानं धर्मज्ञ सर्वपापप्रमोचनम् ।

जो इस त्रिलोकी के पति, वरदायी, अव्यय, विष्णु की सेवा करते हैं, वे अश्वमेध का फल और विष्णुलोक पाते हैं ॥१२५॥

समुद्रास्तत्र चत्वारः कूपे सन्निहिताः सदा ॥१२६॥
तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र न दुर्गतिमवाप्नुयात् ।

हे धर्मज्ञ ! वहां एक कूप है, जो सब पापों का छुड़ाने वाला है। इस कूप में चारों समुद्र इकट्ठे ही रहते हैं। इस पर स्नान करने से कभी दुर्गति प्राप्त नहीं होती है ॥१२६॥

अभिगम्य महादेव वरदं रुद्रमव्ययम् ॥१२७॥
विराजति यथा सोमो मेघैर्मुक्तो नराधिप ।

हे नराधिप ! वरदायी, रुद्र, एकरस, महादेव के दर्शन करके मेघों से मुक्त चन्द्रमा की भांति मनुष्य, प्रकाशमान हो जाता है ॥१२७॥

जातिस्मरमुपस्पृश्य शुचिः प्रयतमानसः ॥१२८॥
जातिस्मरत्वमाप्नोति स्नात्वा तत्र न संशयः ।

मनका विजयी, पवित्र, मनुष्य, जातिस्मर तीर्थ पर स्नान करके जाति में प्रतिष्ठा पाता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥१२८॥

माहेश्वरपुरं गत्वा अर्चयित्वा वृषध्वजम् ॥१२९॥
ईप्सितांल्लभते कामानुपवासान्न संशयः ।

इसके पीछे महेश्वरपुर में जाकर और भगवान् शंकर की उपासना और व्रत करके पुरुप अपनी अभीष्ट कामनाओं को पा लेता है ॥१२६॥

ततस्तु वामनं गत्वा सर्वपापप्रमोचनम् ॥१३०॥
अभिगम्य हरिं देवं न दुर्गतिमवाप्नुयात् ।

इसके आगे वामन तीर्थ पर जावे, जो सब पापों से छुड़ाने वाला है। यहां भगवान् विष्णु की पूजा करे, तो कोई दुर्गति नहीं होती हैं ॥ १३० ॥

कुशिकस्याश्रमं गच्छेत् सर्वपापप्रमोचनम् ॥१३१॥
कौशिकीं तत्र गच्छेत महापापप्रणाशिनीम् ।
राजसूयस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः ॥१३२॥

फिर कुशिक के आश्रम में जावे, जो सब पापों का नाशक है। वहीं कौशिकी नदी है, जो भी सब पापों की नाश करने वाली है, इस पर गमन करने से राजसूय यज्ञ का फल मिलता है ॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र चम्पकारण्यमुत्तमम् ।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ॥१३३॥

हे राजेन्द्र। अब चम्पकारण्य में जावे। यहां एक रात निवास करे, तो एक सहस्र गौओं के दान का फल मिलता है ॥

अथजेष्ठिलमासाद्य तीर्थं परमदुर्लभम् ।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत् ॥१३४॥

इसके पीछे परम दुर्लभ ज्येष्ठिल तीर्थ पर जावे। इस तीर्थ पर एक रात निवास करने से मनुष्य को सहस्र गोदान का फल प्राप्त होता है ॥ १३४ ॥

तत्र विश्वेश्वरं दृष्ट्वा देव्या सह महाद्युतिम् ।
मित्रावरुणयोर्लोकानाप्नोति पुरुषर्षभ ॥१३५॥
त्रिरात्रोपषितस्तत्र अग्निष्टोमफलं लभेत् ।

हे पुरुषरत्न ! वहां पार्वती के साथ महा-कान्ति-धारी शंकर के दर्शन करके मनुष्य, मित्रावरुण के लोकों को पाता है। तीन रात के व्रत करने से अग्निष्टोम यज्ञ का फल मिलता है ॥१३५॥

कन्यासम्वेद्यमासाद्य नियतो नियताशनः ॥१३६॥
मनोः प्रजापतेर्लोकानाप्नोति पुरुषर्षभ ।
कन्यायां ये प्रच्छन्ति दानमण्वपि भारत ॥१३७॥
तदक्षयमिति प्राहुर्ऋषयः संशितव्रताः ।

हे पुरुषर्षभ ! नियम शील, स्वल्पाहारी पुरुष कन्यासम्वेद्य तीर्थ पर जावे। इससे वह प्रजापति मनु के लोकों को पाता है। इस स्थान पर जो कन्या को थोड़ा भी दान करता है वह अक्षय हो जाता है, ऐसा महात्मा ऋषि कहते हैं ॥ १३६-१३७ ॥

ततो निर्वीरमासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥१३८॥
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकञ्च गच्छति ।

ये तु दानं प्रयच्छन्ति निर्वीरासङ्गमे नराः ॥१३६॥
ते यान्ति नरशार्दूल शक्रलोकमनामयम् ।

हे राजन्! इसके आगे निर्वीरा सङ्गम स्थान पर जावे। जो त्रिलोकी में प्रसिद्ध है। इसकी यात्रा करने से अश्वमेध का फल और विष्णुलोक मिलता है। जो मनुष्य, इस तीर्थ पर दान करते हैं वे सुखकारी इन्द्रलोक को पाते हैं॥ १३८-१३६॥

तत्राश्रमो वशिष्ठस्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतः॥१४०॥
तत्राभिषेकं कुर्वाणो वाजपेयमवाप्नुयात् ।

यहीं पर तीनों लोकों में प्रसिद्ध, वसिष्ठ का आश्रम है, वहां स्नान करने से अश्वमेध की प्राप्ति होती है॥१४०॥

देवकूटं समासाद्य देवर्षिगणसेवितम् ॥१४१॥
अश्वमेधमवाप्नोति कुलञ्चैव समुद्धरेत् ।

इसके अनन्तर देवर्षियों से युक्त देवकूट स्थान पर जावे, तो अश्वमेध की प्राप्ति और कुल का उद्धार होता है॥ १४१॥

ततो गच्छेत राजेन्द्र कौशिकस्य मुनेर्ह्रदम् ॥१४२॥
तत्र सिद्धिं परां प्राप्तो विश्वामित्रोथ कौशिकः ।
तत्र मासं वसेद्वीरे कौशिक्यां भरतर्षभ ॥१४३॥

हे राजेन्द्र! फिर कौशिक मुनि के ह्रद (तालाब) पर जावे। यहीं पर कुशिक पुत्र विश्वामित्र ने परम सिद्धि पाई है। हे भरतर्षभ! इस कौशिकी तीर्थ पर जो एक मास निवास करता है तो इस एक मास में अश्वमेध का फल मिल जाता है। सब

तीर्थों से श्रेष्ठ जो इस महा ह्रद में निवास करता है, उसकी कभी दुर्गति नहीं होती और उसको बहुत सा सुवर्ण प्राप्त होता है ॥ १४२-१४३॥

अश्वमेधस्य यत् पुण्यं तन्मासेनाधिगच्छति ।
सर्वतीर्थवरे चैव यो वसेत महाह्रदे ॥१४४॥
न दुर्गतिमवाप्नोति विन्दयाद्बहुसुवर्णकम् ।
कुमारमधिगम्याथ वीराश्रमनिवासिनम् ।१४५॥
अश्वमेधमवाप्नोति नरो नास्त्यत्र संशयः ।

वहां वीराश्रम के निवासी कुमार (स्कन्द) के दर्शन करके मनुष्य, निश्चय अश्वमेध का फल पाता है ॥ १४४-१४५ ॥

अग्निधारां समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ॥१४६॥
तत्राभिषेकं कुर्वाणो अग्निष्टोममवाप्नुयात् ।
अभिगम्य महादेवं वरदं विष्णुमव्ययम् ॥१४७॥

हे राजन् ! तीनों लोकों में प्रसिद्ध अग्निधारा को प्राप्त करके वहां स्नान करे तो उसे अग्निष्टोम का फल मिलता है । यहां वर दायी महादेव और सर्वदा एक रस रहने वाले भगवान विष्णु की पूजा करे ॥ १४६-१४७ ॥

पितामहसरो गत्वा शैलराजसमीपतः ।
तत्राभिषेकं कुर्वाणो अग्निष्टोममवाप्नुयात् ॥१४८॥
पितामहस्य सरसः प्रस्रुता लोकपावनी ।
कुमारधारा तत्रैव त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥१४९॥

यत्र स्नात्वा कृतार्थोऽस्मीत्यात्मानमवगच्छति ।
षष्ठकालोपवासेन मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥१५०॥

शैलराज के समीप ब्रह्माजी के सरोवर की यात्रा करे। यहां स्नान करने से अग्निष्टोम का फल मिलता है । इस ब्रह्माजी के सरोवर से जगत् को पवित्र करने वाली कुमार धारा निकली है, जो सब लोकों में विख्यात है। इस धारा में स्नान करने से मनुष्य, अपने को कृतार्थ समझता है। यदि यहां छः दिन का व्रत करे तो ब्रह्म हत्या से छुट जाता है ॥ १४६-१५० ॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थसेवनतत्परः ।
शिखरं वै महादेव्या गौर्यास्त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥१५१॥
समारुह्य नरश्रेष्ठ स्तनकुण्डेषु संविशेत् ।
स्तनकुण्डमुपस्पृश्य वाजपेयफलं लभेत् ॥१५२॥
तत्राभिषेकं कुर्वाणः पितृदेवार्चने रतः ।
हयमेधमवाप्नोति शक्रलोकञ्च गच्छति ॥१५३॥

हे धर्मज्ञ ! इसके अनन्तर तीर्थ यात्रा का अभिलाषी पुरुष, त्रिलोकी में विख्यात महादेव पार्वती के शिखर पर जावे हे नर श्रेष्ठ ! इस शिखर पर चढ़कर स्तन कुण्डों में स्नान करे। इनमें स्नान करने से वाजपेय यज्ञ का फल मिलता है। यहां अभिषेक करके पितर और देवों का तर्पण अर्चन करे। इससे अश्वमेध का फल और स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है ॥१५१-१५३॥

ताम्रारुणं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
अश्वमेधमवाप्नोति ब्रह्मलोकञ्च गच्छति ॥१५४॥

जितेन्द्रिय, ब्रह्मचारी, मनुष्य, ताम्रारुण तीर्थ पर गमन करे । यहां अश्वमेध यज्ञ का फल और ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है ॥ १५४ ॥

नन्दिन्याञ्च समासाद्य कूपं देवनिषेवितम् ।
नरमेधस्य यत् पुण्यं तदाप्नोति नराधिप ॥१५५॥

हे राजन् ! इसके पीछे नन्दिनी नामक स्थान पर देवों से सेवित कूप पर जावे । इस पर जाने से नरमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है ॥ १५५ ॥

कालिकासङ्गमे स्नात्वा कौशिकारुणयोर्गतः ।
त्रिरात्रोपोषितो राजन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१५६॥

हे राजन् ! कालिका सङ्गम पर स्नान करके कौशिक और अरुण तीर्थों पर जावे । इन पर तीन रात का व्रत करे, तो मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जावे ॥ १५६ ॥

उर्वशीतीर्थमासाद्य ततः सोमाश्रमं बुधः ।
कुम्भकर्णाश्रमं गत्वा पूज्यते भुवि मानवः ॥१५७॥

फिर बुद्धिमान् पुरुष उर्वशी तीर्थ और सोमाश्रम तथा कुम्भकर्णाश्रम की यात्रा करे । इनकी यात्रा से मनुष्य जगत् में पूज्य बन जाता है ॥ १५७ ॥

कोकामुखमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी यतव्रतः ।
जातिस्मरत्वमाप्नोति दृष्टमेतत् पुरातनैः ॥१५८॥

व्रतशील, ब्रह्मचारी कोका-मुख पर स्नान आचमन करे, तो जाति में श्रेष्ठ गिना जावे-यह पूर्वज कहते आये हैं ॥१५८॥

सकृन्नन्दां समासाद्य कृतात्मा भवति द्विजः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा शक्रलोकञ्च गच्छति ॥१५९॥

जो कृतार्थ द्विज सकृन्नन्दा तीर्थ पर जाता है, वह सब पापों से मुक्त होकर इन्द्रलोक पा लेता है ॥ १५९॥

ऋषभद्वीपमासाद्य सेव्यं क्रौञ्चनिसूदकम् ।
सरस्वत्यामुपस्पृश्य विमानस्थो विराजते॥१६०॥

तीर्थ सेवीजन, ऋषभद्वीप और क्रोचनिसूदक तीर्थ पर जाकर सरस्वती में स्नान आचमन करे, तो विमान में बैठकर दिव्य लोक पाता है ॥ १६० ॥

औद्दालकं महाराज तीर्थं मुनिनिषेवितम् ।
तत्राभिषेकं कृत्वा वै सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१६१॥

हे महाराज ! औद्दालक तीर्थ, मुनि वृन्द से सुसेवित है। इसमें स्नान करने से सब पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ १६१॥

धर्म तीर्थं समासाद्य पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम् ।
वाजपेयमवाप्नोति विमानस्थश्च पूज्यते ॥१६२॥

ब्रह्मर्षियों से युक्त, धर्म तीर्थ पर जाकर मनुष्य, वाजपेय यज्ञ का फल पाता है और अन्त में विमान में बैठकर दिव्य-लोकों में चमकता है ॥१६२ ॥

अथ चम्पां समासाद्य भागीरथ्यां कृतोदकः।
दण्डार्त्तमभिगत्वा तु गोसहस्रफलं लभेत् ॥१६३॥

अत्र चम्पावन में जाकर भागीरथी (गङ्गा) में स्नान तर्पण और दण्डार्त तीर्थ की यात्रा करे, तो एक सहस्र गोओं के दान का फल मिलता है ॥ १६३ ॥

ललीतिकां ततो गच्छेत् पुण्यां पुण्योपशोभिताम् ।
राजसूयमवाप्नोति विमानस्थश्च पूज्यते ॥१६४॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि नानातीर्थकथने
चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥८४॥

पवित्र महात्माओं से सुशोभित, पवित्र, ललीतिका तीर्थ पर गमन करे। यहां पुरुष को राजसूय का फल प्राप्त होता है और वह विमान में बैठक दिव्य लोक में जाता है ॥ १६४ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में नानातीर्थ
के कथन का चौरासीवां अध्याय समाप्त हुआ।



पिचासीवां अध्याय

पुलस्त्य उवाच—

अथ सन्ध्यां समासाद्य सम्वेद्यं तीर्थमुत्तमम् ।
उपस्पृश्य नरो विद्यां लभते नात्र संशयः ॥१॥

पुलस्त्य बोले ! इसके अनन्तर सम्वेद्य नामक उत्तम तीर्थ पर जावे । इस में स्नान और आचमन करने से निश्चय विद्या प्राप्त हो जाती है ॥ १॥

रामस्य च प्रभावेण तीर्थं राजन् कृतं पुरा ।
तल्लौहित्यं समासाद्य विन्दयाद्बहुसुवर्णकम् ॥२॥

हे राजन् ! परशुराम के प्रभाव से बने हुए लौहित्य तीर्थ पर जावे, तो बहुत से सुवर्ण की प्राप्ति होती है ॥ २ ॥

करतोयां समासाद्य त्रिरात्रोपषितो नरः ।
अश्वमेधमवाप्नोति प्रजापतिकृतो विधिः ॥३॥

करतोया तीर्थ पर जाकर जो मनुष्य, तीन रात तक व्रत करता है, वह अश्वमेध का फल पाता है-यह ब्रह्मा का विधान है ।

गङ्गायास्तत्र राजेन्द्र सागरस्य च सङ्गमे ।
अश्वमेधं दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥४॥

हे राजेन्द्र ! गङ्गा और समुद्र के सङ्गम पर स्नान करने से अश्वमेध से दश गुणा फल मिलता है—यह मुनियों ने कहा है॥

गङ्गायास्त्वपरं पारं प्राप्य यः स्नाति मानवः ।
त्रिरात्रमुषितो राजन् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥५॥

हे राजन्! जो गङ्गा के पार को उतर कर दूसरे तट पर नहाता है और तीन दिन का व्रत करता है, वह सब पापों से छूट जाता है ॥५॥

ततो वैतरणीं गच्छेत् सर्वपापप्रमोचनीम् ।
विरजं तीर्थमासाद्य विराजति यथा शशी ॥६॥
प्रतरेच्च कुलं पुण्यं सर्वपापं व्यपोहति ।
गोसहस्रफलं लब्ध्वा पुनाति स्वकुलं नरः ॥७॥

इसके बाद सब पापों का नाश करने वाली वैतरणी नदी पर जावे। वहां विरज तीर्थ को पाकर मनुष्य चन्द्रमा की भांति उज्ज्वल हो जाता है। इसका पवित्र कुल तर जाता है और सब पाप नष्ट हो जाते हैं, इसको सहस्र गो दान का फल होता है और वह अपने कुल को और भी पवित्र कर लेता है ॥ ६-७ ॥

शोणस्य ज्योतिरथ्यायाः सङ्गमे नियतः शुचिः ।
तर्पयित्वा पितॄन् देवानग्निष्टोमफलं लभेत् ॥८॥

शोणनद और ज्योतिरथ्या के सङ्गम पर नियमशील और शुद्ध मन से देव और पितरों का तर्पण करे, तो अग्निष्टोम का फल मिल जाता है ॥८॥

शोणस्य नर्मदायाश्च प्रभवे कुरुनन्दन ।
वंशगुल्म उपस्पृश्य वाजिमेधफलं लभेत् ॥९॥

हे कुरुनन्दन! शोणनद और नर्मदा के उत्पत्ति स्थान, वंशगुल्म में स्नान करके मनुष्य अश्वमेध का फल पाता है ॥९॥

ऋषभं तीर्थमासाद्य कोशलायां नराधिप ।
वाजपेयमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥१०॥
गोसहस्रफलं विन्द्यात् कुलं चैव समुद्धरेत् ।
कोशलान्तु समासाद्य कालतीर्थमुपस्पृशेत् ॥११॥
वृषभैकादशफलं लभते नात्र संशयः ।

हे नराधिप ! ऋषभ तीर्थ पर कोशला नगरी में जाकर तीन दिन व्रत करे, तो वाजपेय का फल मिलता है और सहस्र गो दान का फल तथा कुल का उद्धार प्राप्त हो जाता है। कोशला-नगरी में काल तीर्थ पर स्नान करे, तो एकादश वृषभों के छोड़ने का फल मिलता है ॥१०-११॥

पुष्पवत्यामुपस्पृश्य त्रिरात्रोपषितो नरः ॥१२॥
गोसहस्रफलं लब्ध्वा पुनाति स्वकुलं नृप ।

पुष्पवती में स्नान आचमन करके तीन रात का व्रत करे तो मनुष्य, एक सहस्र गोदान का का फल पाता है और अपने कुल को पवित्र कर लेता है ॥१२॥

ततो बदरिकातीर्थे स्नात्वा भरतसत्तम ॥१३॥
दीर्घमायुरवाप्नोति स्वर्गलोकञ्च गच्छति ।

हे भरत सत्तम ! फिर बदरिका तीर्थ पर जावे। वहाँ स्नान करके मन्दजन, दीर्घ आयु और स्वर्ग लोक प्राप्त करता है ॥१३॥

तथा चम्पां समासाद्य भागीरथ्यां कृतोदकः ॥१४॥
दण्डाख्यमभिगम्यैव गोसहस्रफलं लभेत् ।

इसी तरह चम्पा नगरी में गङ्गा स्नान करके उदक दान करे और दण्डाख्य स्थान पर जावे, तो एक सहस्र गोदान का फल पावे ॥१४॥

लपेटिकां ततो गच्छेत् पुण्यां पुण्योपशोभिताम् ॥१५॥
वाजपेयमवाप्नोति देवैः सर्वैश्च पूज्यते ।

पुण्यात्माओं से सुशोभित, पवित्र, लपेटिका तीर्थ पर जावे। वहां वाजपेय का फल पाकर सब देवों से पूजा जाता है ॥१५॥

ततो महेन्द्र मासाद्य जामदग्न्यनिषेवितम् ॥१६॥
रामतीर्थे नरः स्नात्वा अश्वमेधफलं लभेत् ।

फिर परशुराम के आश्रम से युक्त, महेन्द्र पर्वत पर जाकर और राम-तीर्थ में स्नान करके मनुष्य अश्वमेध का फल पा लेता है ॥१६॥

मतङ्गस्य तु केदारस्तत्रैव कुरुनन्दन ॥१७॥
तत्र स्नात्वा कुरुश्रेष्ठ गोसहस्रफलं लभेत् ।

हे कुरुनन्दन ! वहीं पर मतङ्ग का क्षेत्र है। यहां स्नान करने से एक सहस्र गोदान का फल मिलता है ॥१७॥

श्रीपर्वतं समासाद्य नदीतीरमुपस्पृशेत् ॥१८॥
अश्वमेधमवाप्नोति पूजयित्वा वृषध्वजम् ।
श्रीपर्वते महादेवो देव्या सह महाद्युतिः ॥१९॥
न्यवसत् परमप्रीतो ब्रह्मा च त्रिदशैः सह ।
तत्र देवह्रदे स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः ॥२०॥

यहां से आगे श्री. पर्वत पर जावे और नदी में स्नान तथा भगवान् शंकर की पूजा करे, तो अश्वमेध का फल मिलता है। इस श्री पर्वत पर महा-द्युति-धारी, भगवान् शंकर पार्वती के साथ तथा ब्रह्मा जी देवों के साथ निवास करते हैं। यहां देव ह्रद में मन को जीत कर पवित्रता से स्नान करे, तो अश्वमेध का फल और परम सिद्धि प्राप्ति होती है ॥१८-२०॥

अश्वमेधमवाप्नोति परां सिद्धिश्च गच्छति ।
ऋषभं पर्वतं गत्वा पाण्डेयषु देवपूजितम् ॥२१॥
वाजपेयमवाप्नोति नाकपृष्ठे च मोदते ।

अब पाण्ड्य देश में ऋषभ पर्वत की यात्रा करे, तो वाजपेय यज्ञ का फल मिलता है और स्वर्ग में आनन्द प्राप्ति होती है।

ततो गच्छेत कावेरीं वृतामप्सरसां गणैः ॥२२॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन् गोसहस्रफलं लभेत् ।
ततस्तीरे समुद्रस्य कन्या तीर्थमुपस्पृशेत् ॥२३॥
तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
अथ गोकर्णमासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥२४॥

हे राजन्! अप्सराओं के गणों से अलङ्कृत कावेरी नदी पर जावे। यहां स्नान करने से एक सहस्र गोदान का फल मिलता है। फिर समुद्र के तट पर कन्या तीर्थ पर जावे। यहां स्नान करने से सब पापों से मुक्त हो जाता है ॥२२-२४॥

समुद्रमध्ये राजेन्द्र सर्वलोकनमस्कृतम् ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥२५॥
भूतयक्षपिशाचाश्च किन्नराः समहोरगाः ।
सिद्धचारणगन्धर्वमानुषाः पन्नगास्तथा ॥ २६ ॥
सरितः सागराः शैला उपासन्त उमापतिम् ।
तत्रेशानं समभ्यर्च्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ॥ २७ ॥
अश्वमेधमवाप्नोति गाणपत्यञ्च विन्दति ।
उष्य द्वादशरात्रन्तु पूतात्मा च भवेन्नरः ॥ २८ ॥

हे राजेन्द्र! इसके आगे सब तीर्थों में प्रसिद्ध गोकर्ण तीर्थ पर गमन करे। यह तीर्थ समुद्र के मध्य में है, जिसको सब लोग पूज्य मानते हैं। यहां पर ब्रह्मादि देव, तपोधन ऋषि, भूत, यक्ष, पिशाच, किन्नर, उरग, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, मानुष, पन्नग, सरित, सागर, शैल आदि महाभाग शंकर की उपासना करते हैं। यहां शिव की पूजा करके तीन रात तक व्रत करे, इससे वह अश्वमेध का फल और गणपति की पदवी पाता है। यहां बारह रात तक निवास कर ले, तो मनुष्य पवित्र हो जाता है ॥२५-२८॥

तत एव च गायत्र्याः स्थानं त्रैलोक्यपूजितम् ।
त्रिरात्रमुषितस्तत्र गोसहस्रफलं लभेत् ॥२९॥

इसके आगे गायत्री का स्थान है, जो त्रिलोकी में पूजित है। यहां तीन रात तक निवास करे, तो सहस्र गोदान का फल मिलता है ॥ २९ ॥

निदर्शनश्च प्रत्यक्षं ब्राह्मणानां नराधिप ।
गायत्रीं पठते यस्तु योनिसङ्करजस्तथा ॥३०॥
गाथा च गीतिका चापि तस्य सम्पद्यते नृप ।
अब्राह्मणस्य सावित्रीं पठतस्तु प्रणश्यति ॥३१॥

हे नराधिप ! वहां ब्राह्मणों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। जो वर्ण संकर यहां गायत्री पढ़ता है, उसका उच्चारण गाथा और गीतिका जैसा हो जाता है। अब्राह्मण गायत्री का पाठ करे, तो उसका नाश हो जाता है ॥३०-३१॥

सम्वर्त्तस्य तु विप्रर्षेर्वापीमासाद्य दुर्लभाम् ।
रूपस्य भागी भवति सुभगश्च प्रजायते ॥३२॥

इसके आगे ब्रह्मर्षि सम्वर्त की दुर्लभ बावड़ी पर जावे, तो नर, रूपवान् और भाग्यवान् हो जाता है ॥३२॥

ततो वेणां समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः ।
मयूरहंससंयुक्तं विमानं लभते नरः ॥३३॥

फिर वेणा (नदी) तीर्थ पर जाकर तीन रात का व्रत करे, तो मनुष्य, मयूर हंसों से युक्त विमान प्राप्त करता है ॥३३॥

ततो गोदावरीं प्राप्य नित्यं सिद्धनिषेविताम् ।
गवामयमवाप्नोति वासुकेर्लोकमुत्तमम् ॥३४॥

इसके आगे सिद्धों से युक्त गोदावरी की यात्रा करे, तो यह सहस्रों गोदान का फल और वासुकि लोक की प्राप्ति करता है।

वेणायाः सङ्गमे स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत् ।
वरदासङ्गमे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ॥३५॥

वेणा नदी के सङ्गम पर स्नान करके अश्वमेध का फल पाता है और वरदा के सङ्गम पर जाने से मनुष्य को सहस्र गौओं के दान का फल मिलता है ॥३५॥

ब्रह्मस्थूणां समासाद्य त्रिरात्रोपषितो नरः ।
गोसहस्रफलं विन्द्यात् स्वर्गलोकञ्च गच्छति ॥३६॥

ब्रह्मस्थूणा स्थान जाकर जो नर, तीन रात का व्रत करे, तो उसको एक सहस्र गोदान का फल और स्वर्ग लोक मिलता है ।

कुशलवनमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः ।
त्रिरात्रोमुषितः स्नात्वा अश्वमेधफलं लभेत् ॥३७॥

ध्यानी ब्रह्मचारी कुशलवन पर जाकर तीन रात का व्रत करे, तो अश्वमेध का फल पाता है ॥३७॥

ततो देवहृदे रम्ये कृष्णावेणाजलोद्भवे ।
जातिस्मरह्रदे स्नात्वा भवेज्जातिस्मरो नरः ॥३८॥

इसके बाद तीर्थ सेवी जन, सुन्दर देवहृद, कृष्ण वेणा के उद्भवस्थान और जातिस्मर ह्रद में स्नान करे, तो जाति में पूज्य हो जाता है ॥३८॥

यत्र क्रतुशतैरिष्ट्वा देवराजो दिवं गतः ।
अग्निष्टोमफलं विन्द्याद्गमनादेव भारत ॥३९॥

हे भारत ! यहीं पर इन्द्र ने सौ यज्ञ किए, जिससे उसको स्वर्ग लोक की प्राप्ति हुई। यहां पर गमन करते ही मनुष्य को अग्निष्टोम यज्ञ का फल मिल जाता है ॥३९॥

ततः सर्वह्रदे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।
ततो वापीं महापुण्यां पयोष्णीं सरिताम्वराम् ॥४०॥
पितृदेवार्चनरतो गोसहस्रफलं लभेत् ।

इसके बाद मनुष्य, सर्व ह्रद, महा पवित्र, बावड़ी और पयोष्णी नदी में स्नान करके पितर और देवों का तर्पण अर्चन करे, तो एक सहस्र गोदान का फल पाता है ॥४०॥

दण्डकारण्यमासाद्य पुण्यं राजन्नुपस्पृशेत् ॥४१॥
गोसहस्रफलं तस्य स्नातमात्रस्य भारत ।
शरभङ्गाश्रमं गत्वा शुक्रस्य च महात्मनः ॥४२॥
न दुर्गतिमवाप्नोति पुनाति च कुलं नरः ।

हे राजन् ! पवित्र दण्डकारण्य में स्नान करे, तो सहस्र गौ के दान का फल पाता है। हे भारत। जो नर, शर-भङ्ग और महात्मा शुक्र के आश्रम पर जावे, तो उसकी कभी दुर्गति नहीं होती है और वह अपने कुल को पवित्र कर लेता है ॥४१-४२॥

ततः शूर्पारकं गच्छेज्जामदग्न्यनिषेवितम् ॥४३॥
रामतीर्थे नरः स्नात्वा विन्द्याद्बहुसुवर्णकम् ।
सप्तगोदावरे स्नात्वा नियतो नियताशनः ॥४४॥
महत्पुण्यमवाप्नोति देवलोकञ्च गच्छति ।

इसके आगे परशुराम से सुसेवित शूर्पारक तीर्थ पर जावे। इस रामतीर्थ में स्नान करने से बहुत सा सुवर्ण पाता है। जो नियमशील और नियताहारी, सप्त गोदावर तीर्थ में स्नान करता है, वह बड़ा पुण्य पाता है और देवलोक चला जाता है ॥४४॥

ततो देवपथं गत्वा नियतो नियताशनः ॥४५॥
देवसत्रस्य यत्पुण्यं तदेवाप्नोति मानवः ।

जितेन्द्रिय, स्वल्पाहारी पुरुष, देव पथ तीर्थ पर जाकर देवसत्र (यज्ञ) का फल पाता है ॥४५॥

तुङ्गकारण्यमासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥४६॥
वेदानध्यापयत्तत्र ऋषिः सारस्वतः पुरा ।
तत्र वेदेषु नष्टेषु मुनेरङ्गिरसः सुतः ॥४७॥
ऋषीणामुत्तरीयेषु सूपविष्टो यथासुखम् ।
ओंकारेण यथान्यायं सम्यगुच्चारितेन ह ॥४८॥
येन यत् पूर्वमभ्यस्तं तत्सर्वं समुपस्थितम् ।

जो जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी, तुङ्गकारण्य पर जावे। जहां पूर्वकाल में सारस्वत ऋषि ने वेदों को पढ़ाया था। जब मुनि लोग वेद भूल गए, तो अङ्गिरा का पुत्र, ऋषियों के वस्त्रों में छुप गया और सुख से बैठ गया, सब ने ओंकार के साथ अच्छी तरह वेद का उच्चारण किया। जिसने जो वेद पूर्व में पढ़ रखा था, उसको उसका फौरन स्मरण आ गया ॥४६-४८॥

ऋषयस्तत्र देवाश्च वरुणोऽग्निः प्रजापतिः ॥४६॥
हरिर्नारायणस्तत्र महादेवस्तथैव च ।
पितामहश्च भगवान् देवैः सह महाद्युतिः ॥५०॥
भृगुं नियोजयामास याजनार्थं महाद्युतिम् ।
ततः सचक्रे भगवानृषीणां विधिवत्तदा ॥५१॥
सर्वेषां पुनराधानं विधिदृष्टेन कर्मणा ।
आज्यभागेन तत्राग्निं तर्पयित्वा यथाविधि ॥५२॥
देवाः स्वभवनं याता ऋषयश्च यथाक्रमम् ।
तदरण्यं प्रविष्टस्य तुङ्गकं राजसत्तम ॥५३॥
पापं प्रणश्यत्यखिलं स्त्रिया वा पुरुषस्य वा ।
तत्र मासं वसेद्धीरो नियतो नियताशनः ॥५४॥
ब्रह्मलोकं व्रजेद्राजन् कुलञ्चैव समुद्धरेत् ।

वहां, ऋषि, देव, वरुण, अग्नि, प्रजापति, हरि नारायण, महादेव, भगवान् ब्रह्मा ने यज्ञ करने के लिए महा-कान्ति-धारी भृगु को नियुक्त किया। वहां भगवान् भृगु ने सब ऋषियों को विधि पूर्वक कर्म से दीक्षित किया और घृत से विधि-पूर्वक अग्नि की तृप्ति की। फिर देवता और ऋषि तो क्रम से अपने २ घर चले गए। हे राज-सत्तम ! उस तुङ्गक वन में प्रविष्ट हुए पुरुष या स्त्री के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। वहां नियम-परायण और स्वल्पाहार के साथ जो पुरुष रहता है, वह ब्रह्मलोक को जाता है और अपने कुल का उद्धार कर लेता है ॥४६-५४॥

मेधाविकं समासाद्य पितृन् देवांश्च तर्पयेत् ॥५५॥
अग्निष्टोममवाप्नोति स्मृतिं मेधाञ्च विन्दति ।

जो नर मेधाविक तीर्थ पर जाकर यथा विधि पितर और देवों की पूजा करता है, वह अग्निष्टोम का फल और स्मृति तथा मेधा को पाता है ॥५५॥

अत्र कालञ्जरं नाम पर्वतं लोकविश्रुतम् ॥५६॥
तत्र देवहृदे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।
यः स्नातस्तापयेत्तत्र गिरौ कालञ्जरे नृप ॥५७॥
स्वर्गलोके महीयेत नरो नास्त्यत्र संशय ।

यहां कालञ्जर नाम लोक प्रसिद्ध पर्वत है। वहां देवह्रद में स्नान करने से एक सहस्र गोदान का फल मिलता है। हे नृप ! जो यहां स्नान करके कालञ्जर पर्वत पर तप करता है, वह मनुष्य, निश्चय स्वर्गलोक को जाता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥

ततो गिरिवरश्रेष्ठे चित्रकूटे विशाम्पते ॥५८॥
मन्दाकिनीं समासाद्य सर्वपापप्रणाशिनीम् ।
तत्राभिषेकं कुर्वाणः पितृदेवार्चने रतः ॥५९॥
अश्वमेधमवाप्नोति गतिञ्च परमां व्रजेत् ।

हे विशाम्पते ! इसके आगे पर्वत श्रेष्ठ, चित्रकूट पर्वत की यात्रा करे। वहां सब पाप-नाशिनी मन्दाकिनी नदी पर जावे। इसमें स्नान करके और पितर तथा देवों का तर्पण अर्चन करे, वो अश्वमेध का फल और परमगति को प्राप्त करता है ॥५८-५९॥

ततो गच्छेत धर्मज्ञ भर्तृस्थानमनुत्तमम् ॥६०॥
यत्र नित्यं महासेनो गुहः सन्निहितो नृप ।
तत्र गत्वा नृपश्रेष्ठ गमनादेव सिध्यति ॥६१॥

हे धर्मज्ञ ! इसके आगे सर्वोत्तम भर्तृ स्थान की यात्रा करे, जहां नित्य ही महासेन गुह का निवास है। यहां गमन करने से ही सिद्धि हो जाती है ॥६०-६१॥

कोटितीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत् ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य ज्येष्ठस्थानं व्रजेन्नरः ॥६२॥
अभिगम्य महादेवं विराजति यथा शशी ।

तीर्थ सेवोजन, कोटि तीर्थ में स्नान करके सहस्र गोदान का फल पाता है। यहां प्रदक्षिण करके ज्येष्ठ स्थान को जावे। यहां महादेव के दर्शन करनेसे चन्द्रमाके तुल्य प्रकाशित होता है

तत्र कूपो महाराज विश्रुतो भरतर्षभ ॥६३॥
समुद्रास्तत्र चत्वारो निवसन्ति युधिष्ठिर ।
तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र पितृदेवार्चने रतः ॥६४॥
नियतात्मा नरः पूतो गच्छेत परमां गतिम् ।

हे भरतर्षभ ! वहां एक कूप प्रसिद्ध है, जिसमें चारों समुद्र निवास करते हैं। वहां स्नान करके जो पितर और देवों का तर्पण अर्चन करता है, वह जितेन्द्रिय नर, पवित्र होकर परम गति पाता है ॥६३-६४॥

ततो गच्छेत्र राजेन्द्र शृङ्गवेरपुरं महत् ॥६५॥
यत्र तीर्णो महाराज रामो दाशरथिः पुरा ।
तस्मिंस्तीर्थे महाबाहो स्नात्वा पापैः प्रमुच्यते ॥६६॥

हे राजेन्द्र ! यहां से आगे शृङ्गवेर पुर को जावे, जहां दशरथ पुत्र राम ने अपने लोक को गमन प्राप्त किया। हे महाबाहो ! इस तीर्थ में स्नान करके मनुष्य, सब पापों से छुट जाता है ॥

गङ्गायान्तु नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी समाहितः ।
विधूतपाप्मा भवति वाजपेयञ्च विन्दति ॥६७॥

जो ब्रह्मचारी-जितेन्द्रिय, मनुष्य, गङ्गा में स्नान करता है, वह पापों से शुद्ध होकर वाजपेय यज्ञ का फल पाता है ॥६७॥

ततो मुञ्जवटं गच्छेत्स्थानं देवस्य धीमतः ।
अभिगम्य महादेवमभिवाद्य च भारत ॥६८॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य गाणपत्यमवाप्नुयात् ।
तस्मिंस्तीर्थे तु जाह्नव्यां स्नात्वा पापैः प्रमुच्यते ॥६९॥

इसके पीछे महादेव के मुञ्जवट स्थान की यात्रा करे। हे भारत ! वहां जाकर और महादेव को प्रणाम करके प्रदक्षिणा करे, तो नर गणपति पद पाता है और इस गङ्गा तीर्थ में स्नान करने से सब पापों से छुट जाता है । ।६८-६९॥

ततो गच्छेत्र राजेन्द्र प्रयागमृषिसंस्तुतम् ।
यत्र ब्रह्मादयो देवा दिशश्च सदिगीश्वराः ॥७०॥
लोकपालाश्च साध्याश्च पितरो लोकसंमताः ।

सनत्कुमारप्रमुखास्तथैव परमर्षयः ॥७१॥
अङ्गिराप्रमुखाश्चैव तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ।
तथा नागाः सुपर्णाश्च सिद्धाश्चक्रधरास्तथा ॥७२॥
सरितः सागराश्चैव गन्धर्वाप्सरसोऽपि च ।
हरिश्च भगवानास्ते प्रजापतिपुरस्कृतः ॥७३॥

हे राजेन्द्र ! इसके आगे ऋषियों से प्रशंसित, प्रयाग तीर्थ पर जावें । यहां ब्रह्मादि देव और दिशाओं के पतियों के साथ दिशाएँ लोकपाल, साध्य, लोक संमत पितर, सनत्कुमार महर्षि अङ्गिरा आदि निर्मल, ब्रह्मर्षि तथा नाग, सुपर्ण, सिद्ध, चक्रधर (सूर्य) सरित, सागर, गन्धर्व, अप्सरा, प्रजापति के साथ भगवान् विष्णु रहते हैं ॥७०-७३

तत्र त्रीण्यग्निकुण्डानि येषां मध्येन जान्हवी ।
वेगेन समतिक्रान्ता सर्वतीर्थपुरस्कृता ॥७४॥

वहां पर तीन अग्निकुण्ड हैं, अग्नि के बीच से बड़े वेग से गङ्गा जाती है, जिसमें सारे तीर्थों का समावेश है ॥७४॥

तपनस्य सुता देवी त्रिषु लोकेषु विश्रुता ।
यमुना गङ्गया सार्द्धं सङ्गता लोकपावनी ॥७५॥

तीन लोक में विख्यात सूर्य की पुत्री यमुना, गङ्गा के साथ मिल कर संसार को पवित्र करती है ॥ ७५ ॥

गङ्गायमुनयोर्मध्ये पृथिव्या जघनं स्मृतम् ।
प्रयागं जघनस्थानमुपस्थमृषयो विदुः ॥७६॥

गङ्गा और यमुना के मध्य में पृथिवी, जघन स्थान है। जघन स्थान की समाप्ति उपस्थ रूप प्रयाग है-ऐसा ऋषियों ने माना है॥

प्रयागं संप्रतिष्ठानं कम्बलाश्वतरौ तथा।
तीर्थं भोगवती चैव वेदिरेषा प्रजापतेः ॥७७॥
तत्र वेदाश्च यज्ञाश्च मूर्त्तिमन्तो युधिष्ठिर।
प्रजापतिमुपासन्ते ऋषयश्च तपोधनाः ॥७८॥

प्रयाग, सम्प्रतिष्ठान, कम्बल, अश्वतर और भोगवती तीर्थ प्रजापति की वेदी है। हे युधिष्ठिर ! वहां वेद, यज्ञ, मूर्ति धारण करके तथा तपोधन ऋषि, प्रजापति की उपासना करते हैं

यजन्ते क्रतुभिर्देवास्तथा चक्रधरा नृपाः।
ततः पुण्यतमं नाम त्रिषु लोकेषु भारत ॥७९॥

हे भारत यहां देवता और चक्रवर्ती राजा, अनेक यज्ञ करके परमात्मा का यजन करते हैं। इस तीर्थ से पवित्र, अन्य कोई तीर्थ नहीं है ॥७९॥

प्रयागं सर्वतीर्थेभ्यः प्रवदन्त्याधिकं विभो।
श्रवणात्तस्य तीर्थस्य नामसङ्कीर्तनादपि ॥८०॥
मृत्तिकालभनाच्चापि नरः पापात् प्रमुच्यते।
तत्राभिषेकं यः कुर्य्यात् सङ्गमे लोकविश्रुते ॥८१॥
पुण्यं सकलमाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः।

हे राजन् ! प्रयाग, सारे तीर्थों में अधिक है। इस तीर्थ के नाम श्रवण या संकीर्तन तथा इसकी मृत्तिका भी प्राप्त हो जावे, तो

मनुष्य पाप से बच जाता है। इस जगत् विख्यात सङ्गम पर जो अभिषेक करता है, वह राजसूय और अश्वमेध का सम्पूर्ण फल पाता है ॥७९-८१॥

एषा यजनभूमिर्हि देवानामपि सत्कृता ॥८२॥
तत्र दत्तं सूक्ष्ममपि महद्भवति भारत ।

हे भारत! इस यज्ञ भूमि का देवता भी सत्कार करते हैं। यहां थोड़ा सा दान भी बड़ा भारी फल लाता है ॥८२॥

न वेदवचनात्तात न लोकवचनादपि ॥८३॥
मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरणं प्रति ।

यदि कोई, दुराग्रही वेद वचन या लोक वचन का प्रमाण देकर तुमको इस तीर्थ से निवृत्त करे, तो भी तुमको अपनी बुद्धि विचलित नहीं करनी चाहिए और अपने शरीर को प्रयाग में ही छोड़ने का विचार रखना चाहिए ॥८३॥

दशतीर्थसहस्राणि षष्टिकोट्यस्तथा पराः ॥८४॥
येषां सान्निध्यमत्रैव कीर्त्तितं कुरुनन्दन ।

हे कुरुनन्दन! साठ करोड़ दस हजार तीर्थ इस एक ही प्रयाग में सम्मिलित हैं ॥८४॥

चातुर्विद्ये च यत् पुण्यं सत्यवादिषु चैव यत् ॥८५॥
स्नात एव तदाप्नोति गङ्गायमुनसङ्गमे ।

जो चारों वेदों के पढ़ने तथा सत्य बोलने में पुण्य है, उस पुण्य को गङ्गा यमुना के सङ्गम पर स्नान करने वाला, पुरुष फौरन पा लेता है ॥८५॥

तत्र भोगवती नाम वासुकेस्तीर्थमुत्तमम् ॥८६॥
तत्राभिषेकं यः कुर्य्यात् सोऽश्वमेधफलं लभेत् ।

वहां भोगवती नामक वासुकि-सर्पका तीर्थ है । यहां जो स्नान करता है, वह अश्वमेध का फल पाता है ॥८६॥

तत्र हंसप्रपतनं तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम् ॥८७॥
दशाश्वमेधिकश्चैव गङ्गायां कुरुनन्दन ।
कुरुक्षेत्रसमा गङ्गा यत्र तत्रावगाहिता ॥८८॥
विशेषो वै कनखले प्रयागे परमं महत् ।
यद्यकार्य्यशतं कृत्वा कृतं गङ्गावसेचनम् ॥८६॥
सर्वं तत्तस्य गङ्गापो दहत्यग्निरिवेन्धनम् ।

हे कुरुनन्दन ! यहां गङ्गा पर हंस प्रपतन नाम लोक प्रसिद्ध और दशाश्वमेध तीर्थ हैं । गङ्गा में जहां कहीं भी स्नान कर लो, सर्वत्र कुरुक्षेत्र के समान फल है । परन्तु कनखल और प्रयाग में तो कुरुक्षेत्र से अधिक पुण्य है । यदि मनुष्य ने सैकड़ों पाप किये हैं और गङ्गा में स्नान कर लिया तो गङ्गा का जल इन्धन को अग्नि के तुल्य, इस सारे पाप को जला डालता है ॥८७-८६॥

सर्वं कृतयुगे पुण्यं त्रेतायां पुष्करं स्मृतम् ॥६०॥
द्वापरेऽपि कुरुक्षेत्रं गङ्गा कलियुगे स्मृता ।

सत्युग में तो सर्व-तीर्थ पवित्र माना गया है और त्रेता में पुष्कर का महत्व है । द्वापर में कुरुक्षेत्र और कलियुग में गङ्गा का ही माहात्म्य है ॥॥६०॥

पुष्करे तु तपस्तप्येद्दानं दद्यान्महालये ॥९१॥
मलये त्वग्निमारोहेद्भृगुतुङ्गे त्वनाशनम् ।

पुष्कर तीर्थ में तप करे; महालय में दान दे, मलय में अग्नि का तप और भृगुतुङ्ग तीर्थ पर व्रत करे ॥९१॥

पुष्करे तु कुरुक्षेत्रे गङ्गायां मगधेषु च ॥९२॥
स्नात्वा तारयते जन्तुः सप्त सप्तावरांस्तथा ।

पुष्कर, कुरुक्षेत्र, गङ्गा, मगध इनमें स्नान करने से प्राणी, ऊपर नीचे की सात पीढ़ियों का उद्धार कर लेता है ॥९२॥

पुनाति कीर्त्तिता पापं दृष्ट्वा भद्रं प्रयच्छति ॥९३॥
अवगाढा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम् ।

जो गंगा का स्मरण करता है या उसके जल का पान करता है, गंगा उसके सात कुलों को पवित्र बना देती हैं ॥९३॥

यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गायाः स्पृशते जलम् ॥९४॥
तावत् स पुरुषो राजन् स्वर्गलोके महीयते ।

मनुष्य की जितनी हड्डी, गंगा के जल का स्पर्श करती हैं: उतने ही वर्ष वह मनुष्य, स्वर्गलोक में निवास करता है ॥९४॥

यथा पुण्यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ॥९५॥
उपास्य पुण्यं लब्ध्वा च भवत्यमरलोकभाक् ।

जितने पवित्र तीर्थ हैं, या जितने पवित्र स्थान हैं, इन सब की यात्रा करके मनुष्य, पुण्य का फल प्राप्त करता है और स्वर्गलोक का अधिकारी हो जाता है ॥९५॥

न गङ्गासदृशं तीर्थं न देवः केशवात् परः ॥९६॥
ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति एवमाह पितामहः ।

गङ्गा के समान तीर्थ, केशव के समान देव, ब्राह्मण से अधिक श्रेष्ठ कोई नहीं है-यह ब्रह्मा जी ने कहा है ॥९६॥

यत्र गङ्गा महाराज स देशस्तत्तपोवनम् ॥९७॥
सिद्धक्षेत्रञ्च तज्ज्ञेयं गङ्गातीरसमाश्रितम् ।

हे महाराज ! जहां गंगा की धारा है, वह सारा देश तपोवन है। जो २ स्थान गंगा के तीर पर हैं, वे सब सिद्ध क्षेत्र समझने चाहिए ॥९७॥

इदं सत्यं द्विजातीनां साधूनामात्मजस्य च ॥९८॥
सुहृदाञ्च जपेत् कर्णे शिष्यस्यानुगतस्य च ।

इस सत्य को ब्राह्मण, साधु, अपने पुत्र, सुहृद, शिष्य और सेवक के कान में कह दे ॥९८॥

इदं धन्यमिदं मेध्यमिदं स्वर्ग्यमनुत्तमम् ॥९९॥
इदं पुण्यमिदं रम्यं पावनं धर्म्यमुत्तमम् ।

यह सिद्धान्त, बड़ा श्रेष्ठ, पवित्र, उत्तम स्वर्ग का दाता है। यह पुण्य जनक, सुन्दर, पवित्र और उत्तम धर्म है ॥९९॥

महर्षीणामिदं गुह्यं सर्वपापप्रमोचनम् ॥१००॥
श्रीमत् स्वर्ग्यं तथा पुण्यं सपत्नशमनं शिवम्

यह रहस्य, महर्षियों को भी दुर्लभ है, जो सब पापों से छुटाने वाला है, जो इसको द्विजों के मध्य में पढ़ता हैं, वह शुद्ध होकर स्वर्ग पा लेता है ॥१००॥

अधीत्य द्विजमध्ये च निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात् ॥१०१॥
मेधाजननमग्र्यं वै तीर्थवंशानुकीर्त्तनम् ।
अपुत्रो लभते पुत्रमधनो धनमवाप्नुयात् ॥१०२॥
महीं विजयते राजा वैश्यो धनमाप्नुयात् ।

यह तीर्थों का वर्णन बड़ा ही पवित्र, शोभा-शाली, स्वर्गदायी शत्रु-नाशक, कल्याणकारी, वर्षा कराने वाला और सर्वोत्तम है। इससे पुत्रहीन पुत्र और धनहीन धन पाता है। राजा अपने राज्य को और वैश्य धन को प्राप्त करता है ॥१०१-१०२॥

शूद्रो यथेप्सितान् कामान् ब्राह्मणः पारगः पठन् ॥१०३॥
यश्चेदं शृणुयान्नित्यं तीर्थपुण्यं नरः शुचिः ।
जातीः स स्मरते बह्वीर्नाकपृष्ठे च मोदते ॥१०४॥

शूद्र अपनी कामना और ब्राह्मण पढ़ता हुआ वेद का पार पा लेता है। जो पवित्र मनुष्य, इस तीर्थ के माहात्म्य को सुनता है, उसको अनेक जन्म का ज्ञान हो जाता है और वह स्वर्गलोक प्राप्त करता है॥१०३-१०४॥

गम्यान्यपि च तीर्थानि कीर्त्तितान्यगमानि च ।
मनसा तानि गच्छेत सर्वतीर्थसमीक्षया ॥ १०५ ॥

अब तक जो सुगम या दुर्गम तीर्थों का वर्णन किया है, उनमें जिन पर जा सके जावें, नहीं तो मन से ही यात्रा करले। जिससे सारे तीर्थों का पता लग जावे ॥१०५॥

एतानि वसुभिः साद्धैरादित्यैर्मरुदश्विभिः ।
ऋषिभिर्देवकल्पैश्च स्नातानि सुकृतैषिभिः ॥ १०६ ॥

इन तीर्थों में वसुओं के साथ आदित्य, मरुद्गण, अश्विन, देवों के समान ऋषि और पुण्यात्मा मनुष्यों ने स्नान किया है ॥

एवं त्वमपि कौरव्य विधिनानेन सुव्रत ।
व्रज तीर्थानि नियतः पुण्यं पुण्येन वर्द्धयन् ॥१०७॥

हे कुरु-वंश-श्रेष्ठ ! तुम भी नियम शील होकर इस विधि से तीर्थ यात्रा करो । इस पुण्य कार्य से तुम्हारे और भी पुण्य की वृद्धि होगी ॥१०७॥

भावितैः करणैः पूर्वमास्तिक्याच्छ्रुतिदर्शनात् ।
प्राप्यन्ते तानि तीर्थानि सद्भिः शास्त्रानुदर्शिभिः ॥१०८

पूर्वकाल में शुद्ध इन्द्रिय, आस्तिकता और वेद के पठन पाठन से शास्त्रज्ञ विद्वान् ही इन तीर्थों की यात्रा करते थे ।१०८।

नाव्रती नाकृतात्मा च नाशुचिर्न च तस्करः ।
स्नाति तीर्थेषु कौरव्य न च वक्रमतिर्नरः ॥१०९॥

व्रतों से हीन, क्षुद्र, अपवित्र, चोर और कुटिल मति पुरुष, इन तीर्थों पर स्नान नहीं कर सकता था ॥१०९॥

त्वया तु सम्यग्वृत्तेन नित्यं धर्मार्थदर्शिना ।
पिता पितामहश्चैव सर्वे च प्रपितामहाः ॥ ११० ॥
पितामहपुरोगाश्च देवाः सर्षिगणा नृप ।
तव धर्मेण धर्मज्ञ नित्यमेवाभितोषिताः ॥१११ ॥

हे राजन् ! धर्म के जानने वाले आप सदाचारी ने तो अपने धर्माचरण से पिता, पितामह प्रपितामह और ब्रह्मादि देव, ऋषियों के संघ, इन सबको सन्तुष्ट कर लिया है ॥११०-१११॥

अवाप्स्यसि त्वं लोकान् वै वसूनां वासवोपम ।
कीर्त्तिश्च महतीं भीष्म प्राप्स्यसे भुवि शाश्वतीम् ॥११२॥

हे भीष्म ! तुम वसुओं के लोकों को और भूमि पर स्थायी महान् कीर्ति को प्राप्त करोगे ॥११२॥

नारद उवाच—

एवमुक्त्वाभ्यनुज्ञाय पुलस्त्यो भगवानृषिः ।
प्रीतः प्रीतेन मनसा तत्रैवान्तरधीयत ॥११३॥

नारद बोले—भगवान् ऋषि, पुलस्त्य, यह कह कर और आज्ञा लेकर चल दिये तथा प्रसन्न मन से हर्ष प्रगट करके अन्तर्ध्यान हो गए ॥११३॥

भीष्मश्च कुरुशार्दूल शास्त्रतत्त्वार्थदर्शिवान् ।
पुलस्त्यवचनाच्चैव पृथिवीं परिचक्रमे ॥११४॥

हे कुरु-शार्दूल ! भीष्म ने सारे शास्त्रों के तत्वों को देख रखे हैं, इस लिए पुलस्त्य के वचन से वे पृथिवी की परिक्रमा करने चल दिए ॥११४॥

एवमेषा महाभागा प्रतिष्ठाने प्रतिष्ठिता ।
तीर्थयात्रा महापुण्या सर्वपापप्रमोचनी ॥११५॥

यह अत्यन्त महत्त्व वाली तीर्थ यात्रा, बड़ी पवित्र, और सब पापों की नाशक है । इन सबकी समाप्ति प्रयाग में ही मानी गई है ॥११५॥

अनेन विधिना यस्तु पृथिवीं सञ्चरिष्यति ।
अश्वमेधशतान्यग्र्यं फलं प्रेत्य स भोक्ष्यति ॥११६॥

इस विधि से जो पृथिवी की परिक्रमा करेगा, वह सैंकड़ों अश्वमेधों के फल परलोक में प्राप्त करेगा ॥११६॥

ततश्चाष्टगुणं पार्थ प्राप्स्यसे धर्ममुत्तमम् ।
भीष्मः कुरूणां प्रवरो यथा पूर्वमवाप्तवान् ॥११७॥

हे युधिष्ठिर ! जो तीर्थ यात्रा का फल पूर्वकाल में कुरुश्रेष्ठ, भीष्म ने प्राप्त किया । तुम उससे अष्टगुण उत्तम धर्म प्राप्त करोगे ॥११७॥

नेता च त्वमृषीन् यस्मात्तेन तेऽष्टगुणं फलम् ।
रक्षोगणविकीर्णानि तीर्थान्येतानि भारत ॥११८॥
न गतिर्विद्यतेऽन्यस्य त्वामृते कुरुनन्दन ।

हे भारत ! तुम अपने साथ ऋषियों को ले जाओगे, जिससे ही तुमको अधिक फल मिलेगा । इन तीर्थों पर राक्षसों का निवास भी कहीं २ है, वे फल का नाश कर देते हैं । हे कुरुनन्दन ! इन तीर्थों पर तुम्हारे सिवा अन्य पुरुष, जा भी नहीं सकता है ॥११८॥

इदं देवर्षिचरितं सर्वतीर्थाभिसंश्रुतम् ॥११९॥
यः पठेत् कल्यमुत्थाय सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

जो सब तीर्थों के सहित, इस देवर्षि चरित को प्रातः काल उठ कर पढ़ता है, वह सब पापों से छुट जाता है ॥११९॥

ऋषिमुख्याः सदा यत्र वाल्मीकिस्त्वथ कश्यपः ॥१२०॥
आत्रेयः कुण्डजठरो विश्वामित्रोऽथ गौतमः ।
असितो देवलश्चैव मार्कण्डेयोऽथ गालवः॥१२१॥
भरद्वाजो वशिष्ठश्च मुनिरुद्दालकस्तथा ।
शौनकः सह पुत्रेण व्यासश्च तपताम्वरः ॥१२२॥
दुर्वासाश्च मुनिश्रेष्ठो जाबालिश्च महातपाः ।
एते ऋषिवराः सर्वे त्वत्प्रतीक्षास्तपोधनाः ॥१२३॥

एभिः सह महराज तीर्थान्येतान्यनुब्रज ।
एष ते लोमशो नाम महर्षिरमितद्युतिः ॥१२४॥
समेष्यति महाराज तेन सार्द्धमनुब्रज ।
मयापि सह धर्मज्ञ तीर्थान्येतान्यनुक्रमात् ॥१२५॥
प्राप्स्यसे महतीं कीर्त्तिं यथा राजा महाभिषः ।

जहां वाल्मीकि, कश्यप, आत्रेय, कुण्डजठर, विश्वामित्र, गौतम, असित, देवल, मार्कण्डेय, गालव, भरद्वाज, वशिष्ठ, उद्दालक मुनि, शौनक, पुत्र सहित तपस्वी व्यास, मुनि श्रेष्ठ दुर्वासा, महातपा जाबालि, आदि सारे उत्तम २ ऋषि तुम्हारी प्रतीक्षा करते हैं। हे महाराज ! तुम इनके साथ तीर्थयात्रा को जाओ। ये लोमश ऋषि भी अत्यन्त तेजस्वी हैं। ये भी आपके साथ होंगे। तुम इनको साथ लेकर तीर्थ यात्रा करो। हे धर्मज्ञ ! तुम मेरे साथ भी क्रम से तीर्थों पर चलो। तुम भी, राजा महाभिष की तरह महान् कीर्ति को प्राप्त करोगे ॥१२०-१२५॥

यथा ययातिर्धर्मात्मा यथा राजा पुरूरवाः ॥१२६॥
यथा त्वं राजशार्दूल स्वेन धर्मेण शोभसे ।
यथा भगीरथो राजा यथा रामश्च विश्रुतः॥१२७॥
तथा त्वं सर्वराजेभ्यो भ्राजसे रश्मिवानिव ।

हे राज,—शार्दूल ! जिस तरह धर्मात्मा राजा ययाति, पुरूरवा, भगीरथ, राम अपने धर्म से प्रकाशमान हुए हैं, वैसे ही तुम भी सूर्य की भांति प्रकाशित होगे ॥ १२६-१२७ ॥

यथा मनुर्यथेक्ष्वाकुर्यथा पूरुर्महायशाः ॥१२८॥
यथा वैन्यो महाराज यथा त्वमपि विश्रुतः ।

हे महाराज ! जैसे मनु, इक्ष्वाकु, महायशस्वी पूरु और वैन्य प्रसिद्ध हैं, वैसे ही तुम भी प्रसिद्ध हो जावोगे ॥ १२८ ॥

यथा च वृत्रहा सर्वान् सपत्नान्निर्दहन् पुरा ॥१२९॥
त्रैलोक्यं पालयामास देवराड् विगतज्वरः ।
तथा शत्रुक्षयं कृत्वा त्वं प्रजाः पालयिष्यसि ॥१३०॥

जैसे देवराज इन्द्र, सारे शत्रुओं को भस्म करके त्रिलोकी का पालन करता है, उसी तरह तुम शोक रहित होकर शत्रुओं का नाश करके प्रजा का पालन करोगे ॥ १२९-१३० ॥

स्वधर्मविजितामुर्वीं प्राप्य राजीवलोचन ।
ख्यातिं यास्यसि धर्मेण कार्त्तवीर्य्यार्जुनो यथा ॥१३१॥

हे कमल-लोचन ! तुम धर्म के द्वारा सारी पृथिवी को जीत कर कार्तवीर्य-अर्जुन के समान प्रसिद्ध हो सकोगे ॥ १३१ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमाश्वास्य राजानं नारदो भगवानृषिः ।

अनुज्ञाप्य महाराज तत्रैवान्तरधीयत ॥१३२॥

वैशम्पायन बोले—भगवान् देवर्षि नारद, राजा को आश्वासन देकर और इजाजत लेकर अलक्षित हो गए ॥१३२॥

युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा तमेवार्थं विचिन्तयन् ।

तीर्थयात्राश्रितं पुण्यमृषीणां प्रत्यवेदयत् ॥१३३॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि तीर्थयात्रायां नारदवाक्ये पञ्चाशीतिमोऽध्यायः ॥८५॥

धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर भी इस बात को विचारने लगे और तीर्थ यात्रा से होने वाले पुण्य का ऋषियों से निवेदन किया १३३

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें तीर्थ यात्रा के वर्णन में नारद के वाक्य का पिच्चासीवां अध्याय समाप्त हुआ ॥



छियासीवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

भ्रातॄणां मतमाज्ञाय नारदस्य च धीमतः ।
पितामहसमं धौम्यं प्राह राजा युधिष्ठिरः ॥१॥

वैशम्पायन बोले— हे राजन् ! अपने भाई और बुद्धिमान् नारद जी की सम्मति लेकर अपने पितामह के समान धौम्य से राजा युधिष्ठिर ने कहा ॥ १ ॥

मया स पुरुषव्याघ्रो जिष्णुः सत्यपराक्रमः ।
अस्त्रहेतोर्महाबाहुरमितात्मा विवासितः ॥२॥

हे ब्रह्मर्षे ! सत्य पराक्रमी, महाबाहु पुरुषश्रेष्ठ महात्मा अर्जुन को मैंने अस्त्रविद्या के लिए बाहर भेज रखा है ॥ २ ॥

स हि वीरोऽनुरक्तश्च समर्थश्च तपोधन ।
कृती च भृशमप्यस्त्रे वासुदेव इव प्रभुः ॥३॥

हे तपोधन ! वह वीर बड़ा शक्तिशाली, मुझ से प्रेम करने वाला, श्रीकृष्ण के समान शस्त्र विद्या में अत्यन्त कुशल है ॥३॥

अहं ह्येतावुभौ ब्रह्मन् कृष्णावरिविघातिनौ ।
अभिजानामि विक्रान्तौ तथा व्यासः प्रतापवान् ॥४॥

हे ब्रह्मन् ! मैं और प्रतापी व्यास, इन दोनों श्रीकृष्ण और अर्जुन को शत्रु-नाशक और महा-पराक्रमी जानते हैं ॥ ४ ॥

त्रियुगौ पुण्डरीकाक्षौ वासुदेवधनञ्जयौ ।
नारदोऽपि तथा वेद योऽप्यशंसत् सदा मम ॥५॥

कमल के समान नेत्र वाले वासुदेव और अर्जुन, तीनों युगों में साथ रहते हैं। इस बात को नारदजी जानते हैं, जो मुझ से कहते रहते हैं ॥ ५ ॥

तथाहमपि जानामि नरनारायणावृषी ।
शक्तोऽयमित्यतो मत्वा मया स प्रेषितोऽर्जुनः ॥६॥

मैं भी नर और नारायण ऋषियों को जानता हूँ। मैंने अर्जुन को इस कार्य में समर्थ देखकर ही भेजा है ॥ ६ ॥

इन्द्रादनवरः शक्रं सुरसूनुः सुराधिपम् ।
द्रष्टुमस्त्राणि चादातुमिन्द्रादिति विवासितः ॥७॥

यह देव-पुत्र अर्जुन, इन्द्र से कम नहीं है। मैंने इसे इन्द्र के दर्शन और उससे शस्त्र ग्रहण करने के लिए वहां भेजा है ॥।

भीष्मद्रोणावतीरथौ कृपो द्रौणिश्च दुर्जयः ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण वृता युधि महारथाः ॥८॥

भीष्म और द्रोण महारथी हैं और कृप तथा अश्वत्थामा भी दुर्जेय हैं। ये महारथी युद्ध के लिए दुर्योधन ने अपनी ओर कर रखे हैं ॥ ८ ॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वास्त्रविदुषस्तथा ।
योद्धुकामाश्च पार्थेन सततं ते महाबलाः ॥९॥

ये सारे शूरवीर वेद के ज्ञाता और सारे शस्त्र विद्या के जानने वाले हैं। ये महाबली सदा अर्जुन से युद्ध करने के अभिलाषी रहते हैं ॥ ९ ॥

स च दिव्यास्त्रवित् कर्णः सूतपुत्रो महारथः ।
सोऽस्त्रवेगानिलबलः शरार्चिस्तलनिस्वनः ॥१०॥

महारथी सूत पुत्र कर्ण भी, दिव्य अस्त्रों का ज्ञाता है। यह अस्त्र के वेग रूपी वायु के बल का धारी और बांण रूपी अग्नि शिखा से जिसका हाथ शब्द युक्त है ॥ १० ॥

रजोधूमोऽस्त्रसम्पातो धार्त्तराष्ट्रानिलोद्धतः ।
निसृष्ट इव कालेन युगान्ते ज्वलनो महान् ॥११॥
मम सैन्यमयं कक्षं प्रधक्ष्यति न संशयः ।

क्रोध रूपी धूम का धारी और दुर्योधन रूपी वायुसे उद्दीपित अस्त्र सम्पात (युद्ध) रूपी महान् अग्नि, प्रलय में काल से छोड़े हुए अग्नि के समान नाशकारी प्रतीत हो रहा है। यह मेरी सेना रूपी तृण समूह को जला कर भस्म कर देगा—इसमें सन्देह नहीं है ॥ ११ ॥

तं स कृष्णानिलोद्धूतो दिव्यास्त्रज्वलनो महान् ॥१२॥
श्वेतवाजिबलाकाभृद्गाण्डीवेन्द्रायुधोल्बणः ।
संरब्धः शरधाराभिः सुदीप्तं कर्णपावकम् ॥१३॥
अर्जुनादीरितो मेघः शमयिष्यति संयुगे ।

श्रीकृष्ण रूपी वायु से उठाया हुआ, दिव्य अस्त्र रूपी बिजली से देदीप्यमान, श्वेत अश्व रूपी बलाकाओं (बुगली) से युक्त, गाण्डीव धनुष रूपी इन्द्रायुध का धारी, बाणरूपी धाराओं से समन्वित, अर्जुन रूपी मेघ ही इस कर्ण रूपी प्रचण्ड अग्नि को युद्ध में शमन कर सकता है ॥ १२-१३ ॥

स साक्षादेव सर्वाणि शक्रात् परपुरञ्जयः ॥१४॥
दिव्यान्यस्त्राणि बीभत्सुस्तत्त्वतः प्रतिपत्स्यते।
अलं स तेषां सर्वेषामिति मे धीयते मतिः ॥१५॥

यही शत्रुओं का नाशक अर्जुन, साक्षात् इन्द्र से सारे दिव्य अस्त्रों को ठीक २ ग्रहण कर लेगा। यह अर्जुन, अकेला उन सब को पर्याप्त होगा, ऐसा मेरा खयाल है ॥ १४-१५ ॥

नास्ति त्वतिकृतार्थानां रणेऽरीणां प्रतिक्रिया।
तं वयं पाण्डवं सर्वे गृहीतास्त्रमरिन्दमम् ॥१६॥
द्रष्टारो न हि बीभत्सुर्भारमुद्यम्य सीदति।

इन कृतार्थ शत्रुओं के विजय का अन्य कोई उपाय दृष्टि में नहीं आता है। हम सब उसी अरि-विजयी अर्जुन को अस्त्र ग्रहण करके आया हुआ देखना चाह रहे हैं। यह अर्जुन, इस भार को अपने ऊपर लेकर भी कुछ क्लेश नहीं मानता है ॥

वयन्तु तमृते वीरं वनेऽस्मिन् द्विपदाम्वरम् ॥१७॥
अवधानं न गच्छामः काम्यके सह कृष्णया।

हम लोग तो द्रौपदी के साथ काम्यक वन में उस नर-श्रेष्ठ अर्जुन के विना कोई शान्ति नही पा रहे है ॥ ७ ॥

भवानन्यद्वनं साधु बह्वन्नं फलवच्छुचि ॥१८॥
आख्यातु रमणीयश्च सेवितं पुण्यकर्मभिः।

हे ब्रह्मन् ! अब आप, कोई ऐसा दूसरा सुन्दर वन बताओ, जहां उत्तम२ फलों के साथ बहुत सा वन का अन्न हो और जिस में उत्तम २ महात्माओं का निवास हो ॥ १८ ॥

यत्र कञ्चिद्वयं कालं वसन्तः सत्यविक्रमम् ॥१९॥
प्रतीक्षामोऽर्जुनं वीरं वृष्टिकामा इवाम्बुदम् ।

हम वहां रहकर कुछ समय सत्य पराक्रमी वीर अर्जुन की प्रतीक्षामें बिताना चाहते हैं। हमलोग वर्षा चाहने वाले किसानों की भांति अर्जुन की प्रतीक्षा में हैं ॥ १९ ॥

विविधानाश्रमान् कांश्चिद्विजातिभ्यः प्रतिश्रुतान् ॥२०॥
सरांसि सरितश्चैव रमणीयांश्च पर्वतान् ।
आचक्ष्व न हि मे ब्रह्मन् रोचते तमृतेऽर्जुनम् ।
वनेऽस्मिन् काम्यके वासो गच्छामोऽन्यां दिशं प्रति ।२१

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्ययुधिष्ठिर-
कथायां षडशीतितमोऽध्यायः ॥८६॥

हे ब्रह्मन् ! हमने ब्राह्मणों से अनेक आश्रम, सरोवर, नदी, सुन्दर पर्वत सुने हैं। अब तुम हमको किसी सुन्दर स्थान का निर्देश करो। मुझे अर्जुन के बिना इस काम्यक वन में रहना रुचिकर प्रतीत नहीं होता है। अब तो हम अन्य दिशाओं में ही जाना चाहते हैं ॥ २०-२१ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में धौम्य
युधिष्ठिर के सम्वाद का छियासीवां अध्याय
समाप्त हुआ ॥



सत्तासीवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

तान् सर्वानुत्सुकान् दृष्ट्वा पाण्डवान् दीनचेतसः ।
आश्वासयंस्तथा धौम्यो बृहस्पतिसमोऽब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इस प्रकार व्याकुल और उत्कण्ठित, पाण्डवों को देख कर बृहस्पति के समान विद्वान् धौम्य ने उनको आश्वासन दिया और कहा ॥ १ ॥

ब्राह्मणानुमतान् पुण्यानाश्रमान् भरतर्षभ ।
दिशस्तीर्थानि शैलांश्च शृणु मे वदतोऽनघ ॥२॥

हे भरतर्षभ ! जिनका ब्राह्मणों ने वर्णन किया है, मैं उन पवित्र आश्रम, दिशा, तीर्थ और पर्वतों का वर्णन करता हूँ, तुम सुनो ॥ २ ॥

यान् श्रुत्वा गदतो राजन् विशोको भविताऽसि ह ।
द्रौपद्या चानया सार्द्धं भ्रातृभिश्च नरेश्वर ॥३॥

हे राजन् ! जिनको सुन कर अपने भाई और द्रौपदी के साथ तुम्हारा शोक बहुत कुछ नष्ट हो जावेगा ॥ ३ ॥

श्रवणाच्चैव तेषां त्वं पुण्यमाप्स्यसि पाण्डव ।
गत्वा शतगुणञ्चैव तेभ्य एव नरोत्तम ॥४॥

हे नरोत्तम ! तुमको उनका वर्णन सुनकर ही बहुत सा पुण्य प्राप्त होगा और जो उनकी यात्रा करलीं, तो इस से सात गुणा पुण्य लाभ करोगे ॥ ४ ॥

पूर्वं प्राचीं दिशं राजन् राजर्षिगणसेविताम् ।
रम्यां ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर यथास्मृति ॥५॥

हे राजन्! मैं सर्व प्रथम राजर्षिगण से समन्वित, सुन्दर पूर्व दिशा का वर्णन अपनी स्मृति के अनुसार करता हूं ॥ ५ ॥

तस्यां देवर्षिजुष्टायां नैमिषं नाम भारत ।
यत्र तीर्थानि देवानां पुण्यानि च पृथक् पृथक् ॥६॥

हे भारत! इस देवर्षियों से युक्त पूर्व दिशा में नैमिषारण्य है। जिसमें देवों के पृथक् २ पवित्र तीर्थ हैं ॥ ६ ॥

यत्र स गोमती पुण्या रम्या देवर्षिसेविता ।
यज्ञभूमिश्च देवानां शामित्रञ्च विवस्वतः ॥७॥

इसी नैमिष क्षेत्र में पवित्र, देवर्षियों से युक्त, सुन्दर गोमती नदी है। जहां देवों की यज्ञ भूमि और यम का यज्ञीय पशुवध का स्थान है ॥ ७ ॥

तस्यां गिरिवरः पुण्यो गयो राजर्षिसत्कृतः ।
शिवं ब्रह्मसरो यत्र सेवितं त्रिदशर्षिभिः ॥८॥

इस नदी के समीप ही पुण्य जनक-एक गय पर्वत है, जहां राजर्षियों से सत्कृत गय नाम राजर्षि ने निवास किया हैं। यहीं कल्याण-कारी एक ब्रह्मसर है, जिस पर देवों का निवास है ॥८॥

यदर्थं पुरुषव्याघ्र कीर्त्तयन्ति पुरातनाः ।
एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्यप्येको गयां व्रजेत् ॥९॥

यजेत चाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ।
उत्तारयति सन्तत्या दश पूर्वान् दशापरान् ॥१०॥

हे पुरुष व्याघ्र ! इसी पर्वत के ध्यान से प्राचीन लोग कहते रहते हैं, कि मनुष्य को अनेक पुत्र उत्पन्न करने चाहिए । शायद कोई सा पुत्र गया तीर्थ पर चला जावे अथवा अश्वमेध यज्ञ करे या नीला वृषभ छोड़दे । ऐसा पुत्र अपने दश पूर्व के पूर्वज, और दश पीछे आने वाली सन्तान का उद्धार करता है ॥९-१०॥

महानदी च तत्रैव तथा गयशिरो नृप ।
यत्रासौ कीर्त्यते विप्रैरक्षय्यकरणो वटः ॥११॥

हे नृप ! यहां महानदी और गयशिर स्थान तथा अक्षय करने वाला वट है । ऐसा ऋषियों ने कहा है ॥११॥

यत्र दत्तं पितृभ्योऽन्नमक्षयं भवति प्रभो ।
सा च पुण्यजला तत्र फल्गुनामा महानदी ॥१२॥
बहुमूलफला चापि कौशिकी भरतर्षभ ।
विश्वामित्रोऽभ्यगाद्यत्र ब्राह्मणत्वं तपोधनः ॥१३॥

हे राजन् ! यहां जो पितरों का दान किया जाता है, वह अक्षय हो जाता है । यहीं पर पवित्र जल वाली फल्गु नाम महानदी है और बहुत से फल मूलों से युक्त कौशिकी नदी है । जहां पर तपोधन विश्वामित्र ने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था १२-१३

गङ्गा यत्र नदी पुण्या यस्यास्तीरे भगीरथः ।
अयजत्तत्र बहुभिः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥१४॥

यहीं पर गङ्गा नामकी पवित्र नदी है, जिसके तीर पर भगीरथ ने बड़ी २ दक्षिणा वाले यज्ञों से यजन किया था ॥१४॥

पाञ्चालेषु च कौरव्य कथयन्त्युत्पलावनम्।
विश्वामित्रोऽयजद्यत्र पुत्रेण सह कौशिकः ॥१५॥

हे कुरुनन्दन! पाञ्चाल देश में उत्पलावन है, जहां पर विश्वामित्र ने अपने पुत्र के साथ यज्ञ किया था ॥१५॥

यत्रानुवंशं भगवान् जामदग्न्यस्तथा जगौ।
विश्वामित्रस्य तां दृष्ट्वा विभूतिमतिमानुषीम् ॥१६॥

परशुराम ने यहीं पर विश्वामित्र की सर्वातिशायी सम्पत्ति देखकर उसके वंश का कीर्तन किया है ॥१६॥

कान्यकुब्जेऽपिबत्सोममिन्द्रेण सह कौशिकः।
ततः क्षत्रादपाक्रामद् ब्राह्मणोऽस्मीति चाब्रवीत् ॥१७॥

इन्द्र के साथ विश्वामित्र ने कान्यकुब्ज देश में सोम पान किया। यहीं पर इसने क्षत्रित्व को छोड़ कर अपने ब्राह्मण होने की घोषणा की ॥१७॥

पवित्रमृषिभिर्जुष्टं पुण्यं पावनमुत्तमम्।
गङ्गायमुनयोर्वीर सङ्गमं लोकविश्रुतम् ॥१८॥

हे वीर! यह गङ्गा यमुना का सङ्गम, प्रयाग तीर्थ, दुःखों से बचाने वाला, ऋषियों से युक्त, पवित्र करने वाला और लोक प्रसिद्ध है ॥१८॥

यत्रायजत भूतात्मा पूर्वमेव पितामहः ।
प्रयागमिति विख्यातं तस्माद्भरतसत्तम ॥१६॥

हे भरत-सत्तम ! प्राणियों के आधार, ब्रह्माजी ने प्रथम यहां यज्ञ किया था। इसी से इसको प्रयाग कहते हैं ॥१६॥

अगस्त्यस्य तु राजेन्द्र तत्राश्रमवरो नृप ।
तत्तथा तापसारण्यं तापसैरुपशोभितम् ॥२०॥

हे राजेन्द्र ! वहीं अगस्त्य का उत्तम आश्रम है। इसी तरह तापसारण्य, तपस्वियों से सुशोभित है ॥२०॥

हिरण्यबिन्दुः कथितो गिरौ कालञ्जरे महान् ।
अगस्त्यपर्वतो रम्यः पुण्यो गिरिवरः शिवः ॥२१॥

इस कालिञ्जर पर्वत में एक हिरण्य बिन्दु महान् स्थान है तथा सुन्दर, पवित्र और कल्याणकारी अगस्त्य पर्वत है ॥२१॥

महेन्द्रो नाम कौरव्य भार्गवस्य महात्मनः ।
अयजत्तत्र कौन्तेय पूर्वमेव पितामहः ॥२२॥

हे कौन्तेय ! महात्मा परशुराम का महेन्द्र नामक पर्वत है, जहां पूर्वकाल में ब्रह्माजी ने यज्ञ किया था ॥२२॥

यत्र भागीरथी पुण्या सरस्यासीद्युधिष्ठिर ।
यत्र सा ब्रह्मशालेति पुण्या ख्याता विशाम्पते ॥२३॥
धूतपाप्मभिराकीर्णा पुण्यं तस्याश्च दर्शनम् ।

हे युधिष्ठिर ! जहां मणिकर्णिका घाट पर पवित्र गङ्गा [illegible] है। जहाँ पर शुद्ध ब्रह्मशाला (वाराणसी) प्रसिद्ध स्थान है ।

जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, उन महात्माओं से यह ब्रह्मशाला भरी पड़ी है। इसका दर्शन भी बड़ा पवित्र है ॥२३॥

पवित्रो मङ्गलीयश्च ख्यातो लोके महात्मनः ॥२४॥
केदारश्च मतङ्गस्य महानाश्रम उत्तमः ।
कुण्डोदः पर्वतो रम्यो बहुमूलफलोदकः ॥२५॥
नैषधस्तृषितो यत्र जलं शर्म च लब्धवान् ।

वहीं महात्मा मतङ्ग का पवित्र और मंगलकारी केदार नामक उत्तम महान् आश्रम है। अनेक मूल, फल और जल से समन्वित कुण्डोद नामक सुन्दर पर्वत है, जहां प्यासे राजा नल ने जल पान करके शान्ति प्राप्ति की थी ॥२४-२५॥

यत्र देववनं रम्यं तापसैरुपशोभितम् ॥२६॥
बाहुदा च नदी यत्र नन्दा च गिरिमूर्द्धनि ।

जहां रमणीक देव वन है, जो तपस्वियों से सुशोभित है। वहीं बाहुदा नदी और पर्वत की चोटी पर नन्दा नामक सरित् है

तीर्थानि सरितः शैलाः पुण्यान्यायतनानि च ॥२७॥
प्राच्यां दिशि महाराज कीर्त्तितानि मया तव ।

हे महाराज ! अनेक तीर्थ, नदी, पर्वत, पवित्र स्थान जो पूर्व दिशा में हैं, वे मैंने तुमको बता दिए ॥२७॥

तिसृष्वन्यासु पुण्यानि दिक्षु तीर्थानि मे शृणु ।
सरितः पर्वतांश्चैव पुण्यान्यायतनानि च ॥२८॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थकथने सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥८७॥

अब तुम तीन अन्य दिशाओं में जो तीर्थ, पर्वत, नदी और पवित्र स्थान हैं उनको सुनो ॥२८॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में धौम्य-तीर्थ कथन का सत्तासीवां अध्याय समाप्त हुआ।



अट्ठासीवाँ अध्याय

धौम्य उवाच—

दक्षिणस्यान्तु पुण्यानि शृणु तीर्थानि भारत ।
विस्तरेण यथाबुद्धि कीर्त्यमानानि तानि वै ॥१॥

धौम्य बोले—हे भारत! अब तुम दक्षिण दिशा के तीर्थों को सुनो। मैं तुम से विस्तार के साथ कहता हूँ ॥१॥

यस्यामाख्यायते पुण्या दिशि गोदावरी नदी ।
बह्वारामा बहुजला तापसाचरिता शिवा ॥२॥

इस दक्षिण दिशा में अनेक उपवनों से समन्वित, तपस्वियों से युक्त, कल्याण करने वाली अगाध गोदावरी नदी है ॥२॥

वेणा भीमरथी चैव नद्यौ पापभयापहे ।
मृगद्विजसमाकीर्णे तापसालयभूषिते ॥३॥

पाप और भय की नाशक, मृग और पक्षियों से व्याप्त, मुनियों के आश्रमों से सुशोभित, वेणा और भीमरथी नदी हैं

राजर्षेस्तस्य च सरिन्नृगस्य भरतर्षभ ।
रम्यतीर्था बहुजला पयोष्णी द्विजसेविता ॥४॥

हे भरतर्षभ ! राजा नृग की भी एक नदी है, जिस में बहुत सा जल, सुन्दर तीर्थ और द्विजातियों का निवास है। उस नदी का नाम पयोष्णी है ॥४॥

अपि चात्र महायोगी मार्कण्डेयो महायशाः ।
अनुवंश्यां जगौ गाथां नृगस्य धरणीपतेः ॥५॥

हे महीपते ! यहां पर महायशस्वी, महायोगी, मार्कण्डेय मुनि ने राजा नृग की कथा का वंश के अनुरूप वर्णन किया है ॥

नृगस्य यजमानस्य प्रत्यक्षमिति नः श्रुतम्
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ॥६॥

राजा नृग ने बहुत यज्ञ किए, जिनमें इन्द्र, सोम पान से और ब्राह्मण, दक्षिणाओं से सन्तुष्ट हो गए-यह प्रत्यक्ष सुना गया है ॥६॥

पयोष्ण्यां यजमानस्य वाराहे तीर्थ उत्तमे ।
उद्धृतं भूतलस्थं वा वायुना समुदीरितम् ॥७॥
पयोष्ण्या हरते तोयं पापमामरणान्तिकम् ।

इसने पयोष्णी नदी पर वाराह उत्तम तीर्थ पर यज्ञ किया। उस समय स्थान में वायु से प्रेरित, भूतल का जल वह निकला।

यह पयोष्णी नदी का पवित्र जल जन्म भर के सारे पापों का नाश कर देता है ॥ ७ ॥

स्वर्गादुत्तुङ्गममलं विषाणं यत्र शूलिनः ॥८॥
स्वमात्मविहितं दृष्ट्वा मर्त्त्यः शिवपुरं व्रजेत्

यहीं पर स्वर्ग से भी ऊंचा, शिवजी का निर्मल विषाण है। जिसको देखकर मनुष्य, शिवपुर को प्राप्त करता है ॥८॥

एकतः सरितः सर्वाः गङ्गाद्याः सलिलाश्रयाः ॥९॥
पयोष्णी चैकतः पुण्या तीर्थेभ्यो हि मता मम।

जल से भरी हुई गङ्गा आदिक नदी तो एक ओर है और पयोष्णी नदी एक ओर है, जो सब तीर्थों से पवित्र मानी गई है।

माठरस्य वनं पुण्यं बहुमूलफलं शिवम् ॥१०॥
यूपश्च भरतश्रेष्ठ वरुणस्रोतसे गिरौ।
प्रवेण्युत्तरमार्गे तु पुण्ये कण्वाश्रमे तथा ॥११॥
तापसानामरण्यानि कीर्त्तितानि यथाश्रुति।

हे भरत—श्रेष्ठ! अनेक भांति के मूल और फलों से युक्त, कल्याण-कारी पवित्र माठर वन है, जहां पर्वत पर वरुण-स्रोत के समीप प्रवेणी के उत्तर मार्ग में पवित्र कण्व के आश्रम पर एक यूप है। अब तक मैंने शास्त्र प्रसिद्ध तपोवनों का वर्णन किया है ॥ १०-११ ॥

वेदी शूर्पारके तात जामदग्नेर्महात्मनः ॥१२॥
रम्या पाषाणतीर्था च पुनश्चन्द्रा च भारत।
अशोकतीर्थं तत्रैव कौन्तेय बहुलाश्रमम् ॥१३॥

हे तात ! शूपारक स्थान में महात्मा परशुराम की वेदी है और रमणीक पाषाण तीर्थ तथा चन्द्रा नदी है। हे भारत ! उधर ही अनेक आश्रमों से समन्वित, अशोक तीर्थ है ॥१३॥

अगस्त्यतीर्थं पाण्डेचषु वारुणञ्च युधिष्ठिर ।
कुमार्य्यः कथिताः पुण्याः पाण्डेचष्वेव नरर्षभ ॥१४॥

हे युधिष्ठिर ! पाण्ड्य देश में अगस्त्य तीर्थ है और वरुण तीर्थ है, इस देश में पवित्र रागहीन कुमारी कन्याएँ हैं ॥ १४ ॥

ताम्रपर्णीन्तु कौन्तेय कीर्त्तयिष्यामि तां शृणु ।
यत्र देवैस्तपस्तप्तं महदिच्छद्भिराश्रमे ॥१५॥

हे कौन्तेय ! मैं तुमको ताम्रपर्णी नदी का महत्त्व बताता हूँ, यहां मोक्ष चाहने वाले देवों (महात्माओं) ने अपने २ आश्रमों में बड़ा तप किया है ॥ १५ ॥

गोकर्ण इति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
शीततोयो बहुजलः पुण्यस्तात शिवः शुभः ॥१६॥

गोकर्ण तीर्थ तीनों लोकों में विख्यात है, इसमें बहुत सा जल भरा है, जो,बड़ा शीतल पवित्र,कल्याणकारी और शुभ है।

ह्रदः परमदुष्प्रापो मानुषैरकृतात्मभिः ।
तत्र वृक्षतृणाद्यैश्च सम्पन्नफलमूलवान् ॥१७॥

जो पापी मनुष्य हैं, उनको यह ह्रद बड़ा ही दुर्लभ है। यह वृक्ष और हरे तृणों से व्याप्त तथा फल फूलों से भरा पड़ा है ॥

आश्रमोऽगस्त्यशिष्यस्य पुण्यो देवसमो गिरिः ।
वैदूर्य्यपर्वतस्तत्र श्रीमान्मणिमयः शिवः ॥१८॥
अगस्त्यस्याश्रमश्चैव बहुमूलफलोदकः ।
सुराष्ट्रेष्वपि वक्ष्यामि पुण्यान्यायतनानि च ॥१९॥

आगे अगस्त्य के शिष्य का आश्रम है, जो देव के समान पवित्र पर्वत है। इसी भांति शोभा-शील मणिमय, कल्याणकारी वैदूर्य्य पर्वत है। यहां अगस्त्य का फल, मूल और जल धारी आश्रम है ॥१९॥

आश्रमान् सरितश्चैव सरांसि च नराधिप ।
चमसोद्भेदनं विप्रास्तत्रापि कथयन्त्युत ॥२०॥

हे राजन्! अब में सुराष्ट्र देश के पवित्र स्थान, नदी, आश्रम, सरोवर, कहता हूं। यहां भी यज्ञ के मुद्गर से भूमि नांप कर यज्ञ किया गया है ॥ २० ॥

प्रभासश्चोदधौ तीर्थं त्रिदशानां युधिष्ठिर ।
तत्र पिण्डारकं नाम तापसाचरितं शिवम् ॥२१॥

हे युधिष्ठिर! समुद्र पर देवों का एक प्रभास तीर्थ है। वहां पिण्डारक नाम कल्याणकारी तपस्वियों का आश्रम है ॥२१॥

उज्जयन्तश्च शिखरी क्षिप्रं सिद्धिकरो महान् ।
तत्र देवर्षिधीरेण नारदेनानुकीर्त्तितः ॥२२॥
पुराणः श्रूयते श्लोकस्तन्निबोध युधिष्ठिर ।

यहां उज्जयन्त पर्वत भी है, जो शीघ्र ही महासिद्धि करने वाला है। हे युधिष्ठिर! इसके विषय में देवर्षि नारद ने एक पुराना श्लोक कहा है, तुम वह सुनो॥ २२॥

पुण्ये गिरौ सुराष्ट्रेषु मृगपक्षिनिषेविते ॥२३॥
उज्जयन्ते स्म तप्ताङ्गो नाकपृष्ठे महीयते।

जो सुराष्ट्र में मृग पक्षियों से युक्त, पवित्र उज्जयन्त पर्वत है, उसमें तप करने वाला स्वर्ग में जाता है॥ २३॥

पुण्या द्वारवती तत्र यत्रासौ मधुसूदनः ॥२४॥
साक्षाद्देवः पुराणोऽसौ स हि धर्मः सनातनः।

यहां द्वारका नगरी पवित्र है जहां साक्षाद्देव, पुरुष, मधुसूदन रहते थे। यही सनातन धर्म है, क्योंकि धर्म और आत्म तत्व एक ही हैं॥ २४॥

ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः ॥२५॥
ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम्।

जो वेद के जानने वाले या अध्यात्म के ज्ञाता मुनि हैं, वे भगवान् श्रीकृष्ण को सनातन धर्म कहते हैं॥ २५॥

पवित्राणां हि गोविन्दः पवित्रं परमुच्यते ॥२६॥
पुण्यानामपि पुण्योऽसौ मङ्गलानाञ्च मङ्गलम्।
त्रैलोक्ये पुण्डरीकाक्षो देवदेवः सनातनः ॥२७॥

ये भगवान् श्रीकृष्ण, त्रिलोकी में पवित्रों में महा पवित्र और पुण्य जनकों में अत्यन्त पुण्य जनक तथा मङ्गलों में मङ्गल

माने गए हैं। यही कमल लोचन श्री कृष्ण, देवों के देव और सनातन हैं॥ २६-२७ ॥

अव्ययात्मा व्ययात्मा च क्षेत्रज्ञः परमेश्वरः ।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा तत्रैव मधुसूदनः ॥२८॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थकथने
अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥८८॥

जो अक्षर और क्षर तथा जीवात्मा रूप स्वयं परमेश्वर हैं। वे विचार में नहीं आने वाले श्रीकृष्ण, उसी द्वारवती में रहते हैं

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रा कथन में धौम्य-
तीर्थ के कथन का अठासीवां अध्याय समाप्त हुआ।



नवासीवां अध्याय

धौम्य उवाच—

अवन्तिषु प्रतीच्यां वै कीर्त्तयिष्यामि ते दिशि ।
यानि यत्र पवित्राणि पुण्यान्यायतनानि च ॥१॥

धौम्य बोले— हे राजन्! अवन्ती देश और पश्चिम दिशा में जो पवित्र पुण्य-जनक स्थान हैं, मैं उनका वर्णन करता हूं ॥१॥

प्रियङ्ग्वाम्रवनोपेता वानीरफलमालिनी ।
प्रत्यक्स्रोता नदी पुण्या नर्मदा तत्र भारत ॥२॥

हे भारत! प्रियङ्गु, आम आदि के वृक्षों से युक्त, बैंत और फल वाले वृक्षों से सुशोभित, पश्चिम की ओर बहने वाली पवित्र नर्मदा नदी है ॥ २ ॥

त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
सरिद्वनानि शैलेन्द्रा देवाश्च सपितामहाः ॥३॥
नर्मदायां कुरुश्रेष्ठ सह सिद्धर्षिचारणैः ।
स्नातुमायान्ति पुण्यौघैः सदा वारिषु भारत ॥४॥

हे नर-श्रेष्ठ! त्रिलोकी में जितने तीर्थ, पवित्र स्थान, नदी, वन-पर्वत ब्रह्मादिदेव हैं, पुण्यात्मा सिद्ध, ऋषि और चारण इस जल में स्नान करने आते हैं ॥ ३-४ ॥

निकेतः श्रूयते पुण्यो यत्र विश्रवसो मुनेः ।
जज्ञे धनपतिर्यत्र कुबेरो नरवाहनः ॥५॥

यहां विश्रवा मुनि का पवित्र आश्रम है और यही पर नर-वाहन-धारी धनपति, कुबेर, उत्पन्न हुए हैं ॥ ५ ॥

वैदूर्यशिखरो नाम पुण्यो गिरिवरः शिवः ।
नित्यपुष्पफलास्तत्र पादपा हरितच्छदाः ॥६॥

वैदूर्य शिखर नाम का कल्याण कारी पवित्र पर्वत हैं। जहां पुष्प, फल और हरे-२ पत्तों वाले वृक्ष, लगे हुए हैं ॥ ७ ॥

तस्य शैलस्य शिखरे सरः पुण्यं महीपते ।
फुल्लपद्मं महाराज देवगन्धर्वसेवितम् ॥७॥

महाभारत चित्र संख्या ३४



अपने पुत्रों को पहिचान कर राजा नल का विलाप करना
महाभारत वन पर्व ७५/२७ पृ० ४७६

हे महीपते ! उसी पर्वतके शिखर पर पवित्र सरोवर है । जिस पर कमल खिल रहे हैं और जो देव, गन्धर्वों से सुशोभित हैं ७

बह्वाश्चर्यं महाराज दृश्यते तत्र पर्वते ।
पुण्ये स्वर्गोपमे चैव देवर्षिगणसेविते ॥८॥

हे महाराज ! पवित्र देवर्षियों से सेवित, स्वर्ग के समान उस पर्वत पर अनेक आश्चर्य-जनक दृश्य विद्यमान हैं और वेदध्वनि होती रहती है ॥ ८ ॥

ह्रदिनी पुण्यतीर्था च राजर्षेस्तत्र वै सरित् ।
विश्वामित्रनदी राजन् पुण्या परपुरञ्जय ॥९॥

यस्यास्तीरे सतां मध्ये ययातिर्नहुषात्मजः ।
पपात स पुनर्लोकांल्लेभे धर्मान् सनातनान् ॥१०॥

हे शत्रु- विजयी ! राजन् ! वहीं जिसने अनेक सरोवर बनाए हैं, ऐसी राजर्षि विश्वामित्र की पुण्य-जनक एक नदी है। जिसके तीर पर नहुष पुत्र ययाति महात्माओं के मध्य में स्वर्ग से उतरा था और फिर वहीं से उसने फिर दिव्य सनातन लोकों को प्राप्त किया ॥१०॥

तत्र पुण्यो ह्रदः ख्यातो मैनाकश्चैव पर्वतः ।
बहुमूलफलोपेतस्त्वसितो नाम पर्वतः ॥११॥

वहीं एक पवित्र सरोवर है और मैनाक पर्वत है तथा बहु-भांति के फल और मूलों सहित असित नाम का पर्वत है ॥११॥

आश्रमः कक्षसेनस्य पुण्यस्तत्र युधिष्ठिर ।
च्यवनस्याश्रमश्चैव विख्यातस्तत्र पाण्डव ॥१२॥

हे युधिष्ठिर ! वहीं कक्षसेन का आश्रम है, जो बड़ा पवित्र है और च्यवन ऋषि का आश्रम भी उधर ही है ॥१२॥

तत्राल्पेनैव सिध्यन्ति मानवास्तापसा विभो ।
जम्बूमार्गो महाराज ऋषीणां भावितात्मनाम् ॥१३॥
आश्रमः शाम्यतां श्रेष्ठ मृगद्विजनिषेवितः ।

हे महाराज ! वहां जो तपस्वी थोड़ा भी तप कर लेता है, उसकी सिद्धि हो जाती है। हे शान्तिधारी ! महाराज ! महात्मा ऋषियों का जम्बूमार्ग नामक प्रसिद्ध आश्रम भी इसी दिशा में है जिस पर अनेक मृग और पक्षियों का निवास है ॥१३॥

ततः पुण्यतमा राजन् सततं तापसैर्युता ॥१४॥
केतुमाला च मेध्या च गङ्गाद्वारञ्च भूमिप ।
ख्यातञ्च सैन्धवारण्यं पुण्यं द्विजनिषेवितम् ॥१५॥
पितामहसरः पुण्यं पुष्करं नाम नामतः ।
वैखानसानां सिद्धानामृषीणामाश्रमः प्रियः ॥१६॥

हे राजन् ! तपस्वियों से युक्त, अत्यन्त पवित्र, पुण्य-जनक केतुमाला और गङ्गा-द्वार तीर्थ है। वहां सन्धवारण्य नामक विख्यात, ब्रह्मर्षियों से समन्वित तीर्थ है। उधर ब्रह्माजी का एक सरोवर है, जिसका नाम पुष्कर है। यह वानप्रस्थी सिद्धों और ऋषियों का प्रिय निवास स्थान है ॥१४-१६॥

अप्यत्र संश्रयार्थाय प्रजापतिरथो जगौ ।
पुष्करेषु कुरुश्रेष्ठ गाथां सुकृतिनाम्वर ॥१७॥

हे पुण्यात्मन्! कुरु-श्रेष्ठ! यहां पुष्कर तीर्थ में निवास करने के लिए प्रजापति ने एक गाथा गाई है ॥१७॥

मनसाप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः।
विप्रणश्यन्ति पापानि नाकपृष्ठे च मोदते ॥१८॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थकथने
एकोननवतितमोध्यायः ॥८९॥

जिस मनस्वी ने पुष्कर तीर्थ की मन से भी कामना कर ली, उसके पाप नष्ट हो जाते हैं और वह स्वर्ग में आनन्द करता है।

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व धौम्य
के तीर्थों के वर्णन का नवासीवां अध्याय समाप्त हुआ।



नव्वेवां अध्याय

धौम्य उवाच—

उदीच्यां राजशार्दूल दिशि पुण्यानि यानि वै।
तानि ते कीर्त्तयिष्यामि पुण्यायतनानि च ॥१॥

धौम्य कहने लगे-हे राज-शार्दूल! अब उत्तर दिशा में जो पवित्र नदी सरोवर आदि तीर्थ तथा पुण्य-जनक आश्रम हैं, मैं उनको वर्णन करता हूँ ॥१॥

शृणुष्वावहितो भूत्वा मम मन्त्रयतः प्रभो।
कथाप्रतिग्रहो वीर श्रद्धां जनयते शुभाम् ॥२॥

हे वीर ! मैं जो कथा तुमसे कह रहा हूँ, तुम उसको ध्यान से सुनो। कथा का मन में धारण कर लेना ही उत्तम श्रद्धा को उत्पन्न करता है ॥२॥

सरस्वती महापुण्या ह्रदिनी तीर्थशालिनी ।
समुद्रगा महावेगा यमुना यत्र पाण्डव ॥३॥

हे पाण्डव ! इस दिशा में महा पवित्र, ह्रद बना देने वाली, तीर्थों से युक्त, समुद्र-गामिनी वेगवती, सरस्वती और यमुना नदी हैं ॥३॥

यत्र पुण्यतमं तीर्थं प्लक्षावरणं शुभम् ।
यत्र सारस्वतैरिष्ट्वा गच्छन्त्यवभृथैर्द्विजाः ॥४॥

यहां प्लक्षावरण नामक शुभ तीर्थ है। यहीं सरस्वती नदी पर सम्पादित किये यज्ञों से द्विजों ने स्वर्ग प्राप्त किया है ॥४॥

पुण्यश्चाख्यायते दिव्यं शिवमग्निशिरोऽनघ ।
सहदेवोऽयजद्यत्र शम्याक्षेपेण भारत ॥५॥

हे भारत ! यहाँ दिव्य, कल्याण-जनक, पवित्र अग्निशिर नामक स्थान है। यहाँ सञ्जय पुत्र सहदेव ने शम्या (यज्ञ मुद्गर) फेंक कर नापी हुई विस्तृत भूमि में यज्ञ किया था ॥५॥

एतस्मिन्नेव चार्थेऽसौ इन्द्रगीता युधिष्ठिर ।
गाथा चरति लोकेऽस्मिन् गीयमाना द्विजातिभिः ॥६॥

इसी यज्ञ और पवित्र स्थान के विषय में ब्राह्मण एक इन्द्र-गीता नामक गाथा को गाते रहते हैं। जो लोक मे बड़ी प्रचलित है ॥६॥

अग्नयः सहदेवेन सेविता यमुनामनु ।
ते तस्य कुरुशार्दूल सहस्रशतदक्षिणाः ॥७॥

हे कुरु-शार्दूल ! इस सहदेव ने यमुना पर भी अग्नि की उपासना की। उन यज्ञकाल में इस राजा ने लाखों की संख्या में दक्षिणा का दान किया ॥७॥

तत्रैव भरतो राजा चक्रवर्त्ती महायशाः ।
विंशति सप्त चाष्टौ च हयमेधानुपाहरत् ॥८॥

यहीं पर महा-यशस्वी भरत राजा ने एक सौ अड़तालीस वार अश्वमेध यज्ञ किये थे ॥८॥

कामकृद्यो द्विजातीनां श्रुतस्तात यथा पुरा ।
अत्यन्तमाश्रमः पुण्यः शरभङ्गस्य विश्रुतः ॥९॥

हे तात ! द्विजातियों के कामना की सिद्धि करने वाला, अत्यन्त पवित्र शरभङ्ग ऋषि का प्रसिद्ध आश्रम है ॥९॥

सरस्वती नदी सद्भिः सततं पार्थ पूजिता ।
वालखिल्यैर्महाराज यत्रेष्टमृषिभिः पुरा ॥१०॥
दृषद्वती महापुण्या यत्र ख्याता युधिष्ठिरा ।

हे पार्थ ! यहां महात्मा लोग सदा सरस्वती नदी की उपासना करते रहते हैं। यहीं पूर्वकाल में वालखिल्यों ने तप किया है। हे युधिष्ठिर ! महा पवित्र दृषद्वती नदी भी इधर ही है ॥१०॥

न्यग्रोधाख्यस्तु पुण्याख्यः पाञ्चाल्यो द्विपदाम्वर ॥११॥
दाल्भ्यघोषश्च दाल्भ्यश्च धरणीस्थो महात्मनः ।

हे नर श्रेष्ठ ! न्यग्रोध, पुण्य, पाञ्चाल्य, दाल्भ्य घोष, दाल्भ्य वरणीस्थ ये सब इधर महात्मा हुए हैं ॥११॥

कौन्तेयानन्तयशसः सु ऽस्यामितौजसः ॥१२॥
आश्रमः ख्यायते पुण्यस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।

हे कौन्तेय ! अत्यन्त यशस्वी और महा-ओजस्वी सुव्रत महात्मा का पवित्र, आश्रम तीनों लोकों में प्रसिद्ध है ॥१२॥

एतावर्णावर्णौ च विश्रुतौ मनुजाधिप ॥१३॥
वेदज्ञौ वेदविद्वांसौ वेदविद्याविदावुभौ ।
ईजाते क्रतुभिर्मुख्यैः पुण्यैर्भरतसत्तम ॥१४॥

हे राजन् ! एतावर्ण और अववर्ण (नर-नारायण) नामक प्रसिद्ध ऋषि भी यहीं हुए हैं । ये दोनों वेद की क्रिया, वेद के अर्थ और, ज्ञान के जानने वाले थे । हे भारत ! इन्होंने भी उत्तम २ यज्ञों से यजन किया है ॥१३-१४॥

समेत्य बहुशो देवाः सेन्द्राः सवरुणाः पुरा ।
विशाखयूपेऽतप्यन्त तेन पुण्यतमश्च सः ॥१५॥

हे भरत-सत्तम ! पूर्वकाल में वरुण और इन्द्र के साथ देवोंने विशाख-यूप पर तप किया । जिससे यह आश्रम बड़ा ही पवित्र कहाता है ॥१५॥

ऋषिर्महान् महाभागो जमदग्निर्महायशाः ।
पलाशकेषु पुण्येषु रम्येष्वयजत प्रभुः ॥१६॥

हे राजन ! पूर्वकाल में महाभाग, महा-यशस्वी, महर्षि जमदग्नि ने पवित्र, सुन्दर पलाश वन में यजन किया है ॥१६॥

यत्र सर्वाः सरिच्छ्रेष्ठाः साक्षात्तमृषिसत्तमम् ।
स्वं स्वं तोयमुपादाय परिवार्योपतस्थिरे ॥१७॥

इस ऋषि श्रेष्ठ के सम्मुख, सारी उत्तम २ नदियां, अपना २ जल लेकर घेर कर खड़ी हो गई थीं ॥१७॥

अपि चात्र महाराज स्वयं विश्वावसुर्जगौ ।
इमं श्लोकं तदा वीर प्रेक्ष्य दीक्षां महात्मनः ॥१८॥

हे महाराज ! इस महात्मा ऋषि की यज्ञ दीक्षा को देख कर स्वयं विश्वावसु ने यह श्लोक कहा था ॥१८॥

यजमानस्य वै देवान् जमदग्नेर्महात्मनः ।
आगम्य सरितो विप्रान् मधुना समतर्पयन् ॥१९॥

इस जमदग्नि महात्मा के यज्ञ में आकर नदियों ने अपने जल से देव और ब्राह्मणों को स्वयं तृप्त किया था ॥१९॥

गन्धर्वयक्षरक्षोभिरप्सरोभिश्च सेवितम् ।
किरातकिन्नरावासं शैलं शिखरिणाम्वरम् ॥२०॥

यहां गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, अप्सराओं से समन्वित, किरात और किन्नरों का वासस्थान सब उत्तम पर्वतों में एक उत्तम पर्वत है ॥२०॥

बिभेद तरसा गङ्गा गङ्गाद्वारं युधिष्ठिर ।
पुण्यं तत्ख्यायते राजन् ब्रह्मर्षिगणसेवितम् ॥२१॥

हे युधिष्ठिर! यहां श्रीगङ्गाजी ने गङ्गा द्वार को अपने वेग से तोड़ दिया है। यह द्वार, ब्रह्मर्षियों से युक्त और बड़ा पवित्र प्रसिद्ध है ॥२१॥

सनत्कुमारः कौरव्य पुण्यं कनखलं तथा ।
पर्वतश्च पुरुर्नाम यत्र यातः पुरुरवाः ॥२२॥

हे कुरुनन्दन! इस पवित्र कनखल स्थान पर सनत्-कुमार ऋषि ने और पुरु नामक पर्वत पर पुरुरवा ने यात्रा की ॥२२॥

भृगुर्यत्र तपस्तेपे महर्षिगणसेविते ।
राजन् स आश्रमः ख्यातो भृगुतुङ्गो महागिरिः ॥२३॥

हे राजन्! महर्षियों के गणों से सेवित, एक स्थान पर भृगु मुनिने तप किया, जिससे वह आश्रम और पर्वत भृगुतुङ्ग नाम से प्रसिद्ध है ॥२३॥

यः स भूतं भविष्यच्च भवच्च भरतर्षभ ।
नारायणः प्रभुर्विष्णुः शाश्वतः पुरुषोत्तमः ॥२४॥
तस्यातियशसः पुण्यां विशालां बदरीमनु ।
आश्रमः ख्यायते पुण्यस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥२५॥

हे भरतर्षभ! जो भूत, भविष्य और वर्तमान में सदा वर्तमान रहते हैं, उन अति यशस्वी नारायण, पुरुषोत्तम श्रीविष्णु भगवान् का विशाल बदरी के वृक्ष के पास एक आश्रम है, जो तीनों लोकों में प्रसिद्ध है ॥२४-२५॥

उष्णतोयवहा गङ्गा शीततोयावहा पुरा ।
सुवर्णसिकता राजन् विशालां बदरीमनु ॥२६॥

हे राजन्! इस विशाल बदरी वृक्ष के समीप-उष्ण जल और शीत जल, दोनों की गङ्गा बहती है और सुवर्ण के वर्ण की यहां की रज है ॥२६॥

ऋषयो यत्र देवाश्च महाभागा महौजसः।
प्राप्य नित्यं नमस्यन्ति देवं नारायणं प्रभुम् ॥२७॥

हे महाभाग! यहां भगवान् के दर्शन करके नित्य महा-ओजस्वी ऋषि और देव भगवान् नारायण को प्रणाम करते हैं।

यत्र नारायणो देवः परमात्मा सनातनः।
तत्र कृत्स्नं जगत् सर्वं तीर्थान्यायतनानि च ॥२८॥

जहां नारायण, प्रभु, सनातन परमात्मा का निवास है, वहीं सारा जगत् और सारे तीर्थ तथा सारे स्थानों की स्थिति है।

तत् पुण्यं परमं ब्रह्म तत्तीर्थं तत्तपोवनम्।
तत्परं परमं देवं भूतानां परमीश्वरम् ॥२९॥
शाश्वतं परमश्चैव धातारं परमं पदम्।
यं विदित्वा न शोचन्ति विद्वासः शास्त्रदृष्टयः ॥३०॥
तत्र देवर्षयः सिद्धाः सर्वे चैव तपोधनाः।

इन परम पवित्र, ब्रह्म, तीर्थ, तपोवन रूप, परम देव, भूतों के ईश्वर, सनातन भगवान् विष्णु को जान कर शास्त्र ज्ञाता विद्वान्, देवर्षि सिद्ध, सारे तपोधनों को कुछ भी शोक का स्थान नहीं रह जाता है ॥३०॥

आदिदेवो महायोगी यत्रास्ते मधुसूदनः ॥३१॥
पुण्यानामपि तत्पुण्यमत्र ते संशयोऽस्तु मा।

जहां पर आदि देव महा योगी भगवान् विष्णु निवास करते हैं, वह पवित्र से पवित्र है, इसमें तुमको सन्देह नहीं करना चाहिए ॥३१॥

एतानि राजन् पुण्यानि पृथिव्यां पृथिवीपते ॥३२॥
कीर्त्तितानि नरश्रेष्ठ तीर्थान्यायतनानि च ।
एतानि वसुभिः साध्यैरादित्यैर्मरुदश्विभिः ॥३३॥
ऋषिभिर्देवकल्पैश्च सेवितानि महात्मभिः ।
चरन्नेतानि कौन्तेय सहितो ब्राह्मणर्षभैः ।
भ्रातृभिश्च महाभागैरुत्कण्ठां विजहिष्यसि ॥३४॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थकथने
नवतितमोऽध्यायः ॥९०॥

हे पृथिवीपते ! इस प्रकार मैंने तुमको सारे पवित्र तीर्थ और आश्रमों का वर्णन कर दिया है। इन तीर्थों पर वसु, साध्य, आदित्य, मरुत, आश्विन, देवों के समान ऋषि और महात्मा, निवास करते हैं। हे कौन्तेय! तुम भी ब्राह्मणों और अपने भाइयों के साथ इन तीर्थों की यात्रा करो। इससे अर्जुन में जो उत्कण्ठा हो रही है, वह कुछ शान्त हो जावेगी ॥३२-३४॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रा पर्व में धौम्य के
तीर्थों के वर्णन का नव्वेवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

इक्यानवेवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

एवं सम्भाष्यमाणे तु धौम्ये कौरवनन्दन ।
लोमशः स महातेजा ऋषिस्तत्राजगाम ह ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे कुरुनन्दन ! पुरोहित धौम्य के इतना कहने के अनन्तर महा-तेजस्वी लोमश ऋषि वहां आ पहुँचे।

तं पाण्डवाग्रजो राजा सगणो ब्राह्मणाश्च ते ।
उपातिष्ठन्महाभागं दिवि शक्रमिवामराः ॥२॥

अपने साथियों के साथ राजा युधिष्ठिर और सारे ब्राह्मण, स्वर्ग में इन्द्र को देवों के तुल्य, इस महाभाग लोमश ऋषि को घेर कर बैठ गए ॥२॥

समभ्यर्च्य यथान्यायं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
पप्रच्छागमने हेतुमटने च प्रयोजनम् ॥३॥

धर्म पुत्र राजा युधिष्ठिर ने शास्त्रानुसार पूजा करके आने का कारण पूछा और इस तरह इधर उधर घूमने का प्रयोजन जानना चाहा ॥३॥

स पृष्टः पाण्डुपुत्रेण प्रीयमाणो महामनाः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा हर्षयन्निव पाण्डवान् ॥४॥

जब राजा युधिष्ठिर ने इससे इस प्रकार पूछा, तो यह मनस्वी बड़ा सन्तुष्ट हुआ और पाण्डवों को हर्षित करता हुआ, यह वचन कहने लगा ॥४॥

सञ्चरन्नस्मि कौन्तेय सर्वान् लोकान् यदृच्छया ।
गतः शक्रस्य भवनं तत्रापश्यं सुरेश्वरम् ॥५॥

हे कौन्तेय ! मैं अपनी इच्छानुकूल सारे लोकों में घूम कर आ रहा हूँ । मैं इसी चक्कर में इन्द्र के भवन पर पहुंचा और इन्द्र के दर्शन किए ॥५॥

तत्र च भ्रातरं वीरमपश्यं सव्यसाचिनम् ।
शक्रस्यार्द्धासनगतं तत्र मे विस्मयो महान् ॥६॥
आसीत् पुरुषशार्दूल दृष्ट्वा पार्थं तथागतम् ।
आह मां तत्र देवेशो गच्छ पाण्डुसुतान् प्रति ॥७॥

वहां मैंने तुम्हारे भाई वीर अर्जुन को देखा, जो इन्द्र के आधे आसन पर बैठा था । हे पुरुष श्रेष्ठ ! मैं अर्जुन को इस दशा में देखकर बड़ा चकित हुआ । तब इन्द्र ने मुझे कहा, कि तुम पाण्डवों के समीप जाओ ॥६-७॥

सोऽहमभ्यागतः क्षिप्रं दिदृक्षुस्त्वां सहानुजम् ।
वचनात् पुरुहूतस्य पार्थस्य च महात्मनः ॥८॥

बस ! मैं इन्द्र की आज्ञा और महात्मा अर्जुन की प्रार्थना से भाइयों के साथ स्थित, आप से मिलने आया हूँ ॥८॥

आख्यास्ये ते प्रियं तात सुमहत् पाण्डुनन्दन ।
भ्रातृभिः सहितो राजन् कृष्णया चैव तच्छृणु ॥९॥

हे पाण्डु-नन्दन ! अब मैं तुमको बड़ी हितकारी बात बताऊंगा । तुम अपने भाई और द्रौपदी के साथ ध्यान से सुनो ॥९॥

यत्त्वयोक्तो महाबाहुरस्त्रार्थं भरतर्षभ ।
तदस्त्रमाप्तं पार्थेन रुद्रादप्रतिमं प्रभो ॥१०॥

हे भरतर्षभ ! जो तुमने अर्जुन को शस्त्र ग्रहण करने के लिए भेजा था, वह अब रुद्र से अद्भुत शस्त्र ग्रहण कर चुका है ॥१०॥

यत्तद् ब्रह्मशिरो नाम तपसा रुद्रमागमद् ।
अमृतादुत्थितं रौद्रं तल्लब्धं सव्यसाचिना ॥११॥

जिस अस्त्र को शिवजी ने भी बड़े तप से ग्रहण किया था और जो अमृत के सार से बनाया था, उस रौद्र ब्रह्म शिरा नामक शस्त्र अर्जुन ने ग्रहण कर लिया है ॥११॥

तत् समन्त्रं ससंहारं सप्रायश्चित्तमङ्गलम् ।
वज्रमस्त्राणि चान्यानि दण्डादीनि युधिष्ठिर ॥१२॥

हे युधिष्ठिर ! इसके सिवा, अर्जुन ने मन्त्रों तथा संहार विधि और प्रायश्चित्त एवं मङ्गल क्रमसे वज्र को ग्रहण किया और इसी भांति दण्ड आदि अन्य २ देवों के शस्त्र भी ग्रहण कर लिए हैं ॥

यमात् कुबेराद्वरुणादिन्द्राच्च कुरुनन्दन ।
अस्त्राण्यधीतवान् पार्थो दिव्यान्यमितविक्रमः ॥१३॥

हे कुरु-नन्दन ! यम, कुबेर, वरुण, इन्द्रादि देवों से भिन्न २ दिव्य शस्त्र, अत्यन्त पराक्रमी अर्जुन ने ग्रहण कर लिए हैं ॥१ ॥

विश्वावसोस्तु तनयाद्गीतं नृत्यञ्च साम च ।
वादित्रञ्च यथान्यायं प्रत्यविन्दद्यथाविधि ॥१४॥

इसने विश्वा वसु, गन्धर्व के पुत्र से गाना, नाचना, सामवेद गान, बाजा बजाना भी ठीक २ सीख लिया है ॥१४॥

एवं कृतास्त्रः कौन्तेयो गान्धर्वं वेदमाप्तवान् ।

सुखं वसति बीभत्सुरनुजस्यानुजस्तव ॥१५॥

इस प्रकार तेरा छोटा भाई कुन्ती पुत्र, अर्जुन, सारे अस्त्रों को सीखकर गन्धर्व वेद को भी सीख चुका है और इन्द्र के भवन में सुख से रह रहा है ॥ १५ ॥

यदर्थं मां सुरश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ।

तच्च ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर निबोध मे ॥१६॥

हे युधिष्ठिर ! इन्द्र ने जिस लिए यह सब कुछ समाचार मुझसे कहे हैं, वह सब मैं तुमको सुनाता हूँ, तुम ध्यान से सुनो ।

भवान् मनुष्य लोकेऽपि गमिष्यति न संशयः ।

ब्रूयाद्युधिष्ठिरं तत्र वचनान्मे द्विजोत्तम ॥१७॥

उन्होंने कहा—हे महर्षे ! तुम घूमते २ मनुष्य लोक में भी जावोगे ! वहां राजा युधिष्ठिर से मेरा ये समाचार कह देना ॥१७॥

आगमिष्यति ते भ्राता कृतास्त्रः क्षिप्रमर्जुनः ।

सुरकार्य्यं महत् कृत्वा यदशक्यं दिवौकसैः ॥१८॥

हे राजन् ! तुम्हारा भाई अर्जुन अस्त्र-विद्या ग्रहण और देवों का कार्य करके शीघ्र ही आवेगा । यह काम देवों से भी नहीं हो सकता है ॥ १८ ॥

तपसापि त्वमात्मानं योजय भ्रातृभिः सह ।

तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत् ॥१९॥

अब तुम भी भाइयों के साथ अपने आपको तप में लगाओ तप से कुछ श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि तप से ही महान् फल की प्राप्ति होती है ॥१९॥

अहञ्च कर्णं जानामि यथावद्भरतर्षभ ।
सत्यसन्धं महोत्साहं महावीर्य्यं महाबलम् ॥२०॥
महाहवेष्वप्रतिमं महायुद्धविशारदम् ।
महाधनुर्द्धरं वीरं महास्त्रं वरवर्णिनम् ॥२१॥
महेश्वरसुतप्रख्यमादित्यतनयं प्रभुम् ।
तथार्जुनमतिस्कन्धं सहजोल्वणपौरुषम् ॥२२॥
न स पार्थस्य संग्रामे कलामर्हति षोडशीम् ।

हे भरतर्षभ ! मैं सत्यप्रतिज्ञ, महोत्साही, महा-पराक्रमी, महाबली, महायुद्धों में अद्वितीय, महायुद्ध विशारद, महाधनुर्धर वीर, अस्त्रविद्या का ज्ञाता, महेश्वर के पुत्र महासेन के समान बली, सूर्य पुत्र, शक्ति शाली 'कर्ण को जानता हूं'। इसी तरह विशाल स्कन्धों के धारी, महा-पराक्रमी अर्जुन को भी जानता हूँ, परन्तु अब यह कर्ण अर्जुन का सोलहवां अंश भी नहीं है ॥२२

यच्चापि ते भयं कर्णान्मनसिस्थमरिन्दम ॥२३॥
तच्चाप्यपहरिष्यामि सव्यसाचिन्यतो गते ।

हे अरि-मर्दन ! जो तुम्हारे मन में कर्ण का भय घुसा है, म उसको भी अर्जुन के स्वर्ग से लौटने पर निकाल दूंगा ॥२३॥

यच्च ते मानसं वीर तीर्थयात्रामिमां प्रति ॥२४॥
स महर्षिर्लोमशस्ते कथयिष्यत्यसंशयम् ।

हे वीर ! जो तेरा मन तीर्थ-यात्रा में लग रहा है, महर्षि-लोमश इस विषय में भी सब कुछ तुमको समझा देंगे ॥ २४ ॥

यच्च किञ्चित्तपोयुक्तं फलं तीर्थेषु भारत ।
ब्रह्मर्षिरेष ब्रूयात्ते न तच्छ्रद्धेयमन्यथा ॥२५॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशसंवादे
एकनवतितमोऽध्यायः ॥९१॥

हे भारत ! जो तीर्थों के तप का फल है, उसको ये ब्रह्मर्षि, लोमश तुमको बता देंगे । तुम उसके विपरीत श्रद्धा न करना ॥२५॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में लोमश के सम्वाद का इक्यानवेवां अध्याय समाप्त हुआ ।

बानवेवां अध्याय

लोमश उवाच—

धनञ्जयेन चाप्युक्तं यत्तच्छृणु युधिष्ठिर ।
युधिष्ठिरं भ्रातरं मे योजयेद्धर्म्यया श्रिया ॥१॥

लोमश बोले—हे युधिष्ठिर ! अब जो कुछ अर्जुन ने कहा है वह मैं तुम को सुनाता हूं उन्होंने कहा है कि तुम मेरे भाई युधिष्ठिर को धार्मिक लक्ष्मी से युक्त करो ॥ १ ॥

त्वं हि धर्मान् परान् वेत्थ तपांसि च तपोधन ।
श्रीमतां चापि जानासि धर्मं राज्ञां सनातनम् ॥२॥

हे तपोधन ! तुम सारे उत्तम धर्म और तपों को जानते हो। तुम ऐश्वर्य-शाली राजाओं के भी प्राचीन धर्मों को जानते हो ।२।।

स भवान् परमं वेद पावनं पुरुषं प्रति।
तेन संयोजयेथास्त्वं तीर्थपुण्येन पाण्डवान् ।।३।।

तुम पुरुषों को पवित्र करने वाले, उत्तम तीर्थों के पुण्यों को जानते हो। इस पुण्य से पांण्डवों को भी संयुक्त करो ।३।

यथा तीर्थानि गच्छेत गाश्च दद्यात् स पार्थिवः।
तथा सर्वात्मना कार्य्यमिति मामर्जुनोऽब्रवीत् ।।४।।

जिस प्रकार राजा युधिष्ठिर तीर्थ यात्रा कर ले और उन तीर्थों पर गोदान कर सके। इसका सब तरह तुम सुभीता कर दो यह अर्जुन ने कहा है ।। ४ ।।

भवता चानुगुप्तोऽसौ चरेत्तीर्थानि सर्वशः।
रक्षोभ्यो रक्षितव्यश्च दुर्गेषु विषमेषु च ।।५।।

वे आपसे सुरक्षित होकर सारे तीर्थों की यात्रा कर ले, इसी तरह विषम और दुर्गम स्थानों में तुम उनकी रक्षा करते रहना।

दधीच इव देवेन्द्रं यथा चाप्यङ्गिरा रविम्।
तथा रक्षस्व कौन्तेयान्राक्षसेभ्यो द्विजोत्तम ।।६।।

हे द्विजोत्तम ! जैसे दधीच इन्द्रकी और अङ्गिरा सूर्य की रक्षा करता रहता है, वैसे ही तुम भी राक्षसों से पाण्डवों को बचाते रहना ।। ६ ।।

यातुधाना हि बहवो राक्षसाः पर्वतोपमाः ।
त्वयाभिगुप्तान् कौन्तेयान् न विवर्त्तेयुरन्तिकम् ॥७॥

बहुत से पिशाच और पर्वत के आकार-धारी राक्षस, तुम्हारे रक्षा करने पर उनके पास नहीं फटक सकेंगे ॥ ७ ॥

सोऽहमिन्द्रस्य वचनान्नियोगादर्जुनस्य च ।
रक्षमाणो भयेभ्यस्त्वां चरिष्यामि त्वया सह ॥८॥

अब मैं इन्द्र की आज्ञा और अर्जुन के कथन से तुम्हें भय से बचाता हुआ-तुम्हारे साथ २ घूमूंगा ॥ ८ ॥

द्विस्तीर्थानि मया पूर्वं दृष्टानि कुरुनन्दन ।
इदं तृतीयं द्रक्ष्यामि तान्येव भवता सह ॥९॥

हे कुरुनन्दन ! मैंने दो बार इन तीर्थों को देख रखा है । अब आपके साथ तीसरी बार देखूंगा ॥ ९ ॥

इयं राजर्षिभिर्याता पुण्यकृद्भिर्युधिष्ठिर ।
मन्वादिभिर्महाराज तीर्थयात्रा भयापहा ॥१०॥

हे युधिष्ठिर ! पुण्यात्मा मनु आदि राजर्षियों ने इस तीर्थ यात्रा का अवलम्बन किया है, जो साधारण मनुष्यों को बड़ी भय-कारी है ॥ १० ॥

नानृजुर्नाकृतात्मा च नाविद्यो न च पापकृत् ।
स्नाति तीर्थेषु कौरव्य न च वक्रमतिर्नरः ॥११॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! कुटिल, इन्द्रिय लोलुप, मूर्ख, पापी, दुष्ट पुरुष इन तीर्थों में स्नान नहीं कर सकता ॥ ११ ॥

त्वन्तु धर्ममतिर्नित्यं धर्मज्ञः सत्यसङ्गरः ।
विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो भूय एव भविष्यसि ॥१२॥

तुम तो सदा धर्म में बुद्धि लगाये रहते हो और धर्म के जानने वाले सत्यप्रतिज्ञ तथा सारे कुसङ्ग से रहित हो। आगे चलकर तुम फिर राज्य लक्ष्मी के अधिकारी बनोगे ॥ १२ ॥

यथा भगीरथो राजा राजानश्च गदादयः।
यथा ययाति कौन्तेय तथा त्वमपि पाण्डव ॥१३॥

जैसे राजा भगीरथ और गद आदि राजा तथा राजा ययाति ने अपनी राज्य लक्ष्मी प्राप्त की, उसी तरह तुम भी फिर उसको प्राप्त करोगे ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

न हर्षात् संप्रपश्यामि वाक्यस्यास्योत्तरं क्वचित्।
स्मरेद्धि देवराज्योऽयं को नामाभ्यधिकस्ततः ॥१४॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे महर्षे ! इस वाक्य को सुन कर मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है । अब इसका प्रत्युत्तर ही क्या देना है। जिसको इस प्रकार देवराज 'इन्द्र स्मरण करे, उससे अधिक प्रतिष्ठित अन्य कौन हो सकता है ॥ १४ ॥

भवता सङ्गमो यस्य भ्राता चैव धनञ्जयः ।
वासवः स्मरते यस्य को नामाभ्यधिकस्ततः ॥१५॥

जिसको आपके दर्शन और जिसका भाई अर्जुन एवं इन्द्र जिसको इस तरह स्मरण करे, उससे अधिक कौन हो सकता है।

यच्च मां भगवानाह तीर्थानां दर्शनं प्रति ।
धौम्यस्य वचनादेषा बुद्धिं पूर्वं कृतैव मे ॥१६॥

जो भगवान् इन्द्र ने मुझे तीर्थों के दर्शन की आज्ञा दी है, इसका पुरोहित धौम्य के वचन से मैं पूर्व ही विचार कर चुका था-

तद्यथा मन्यसे ब्रह्मन् गमनन्तीर्थदर्शने ।
तदैव गन्तास्मि तीर्थान्येष मे निश्चयः नरः ॥१७॥

हे ब्रह्मन्! अब जिस तरह तुम तीर्थों के दर्शनों के लिए यात्रा का निश्चय करो-उसी तरह मैं तीर्थों पर चलने को तय्यार हूं, यही मेरा निश्चय है ॥१७॥

वैशम्पायन उवाच—

गमने कृतबुद्धिन्तं पाण्डवं लोमशोऽब्रवीत् ।
लघुर्भव महाराज लघुः स्वैरं गमिष्यसि ॥१८॥

जब राजा युधिष्ठिर तीर्थ यात्रा के लिए तय्यार हो गए, तो उनसे महर्षि लोमश ने कहा । हे महाराज! आप लघु (अल्प-परिवार-धारी) हो जाइए। जो लघु होता है, वही स्वच्छन्द गमन कर सकता है ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

भिक्षाभुजो निवर्त्तन्तां ब्राह्मणा यतयश्च ये ।
क्षुत्तृष्णाध्वश्रमायासशीतार्चिमसहिष्णवः ॥१९॥
ते सर्वे विनिवर्त्तन्तां ये च मिष्टभुजो द्विजाः ।
पक्वान्नलेह्यपानानां मांसानाञ्च विकल्पकाः ॥२०॥

युधिष्ठिर बोले—हे ब्रह्मन्! जो मेरे साथ भिक्षा भोजी ब्राह्मण और यति हैं। अब इनको लौट जाना चाहिए,क्योंकि ये भूख प्यास मार्ग के परिश्रम तथा अन्य कष्ट या 'शीत की पीड़ा नहीं सह सकते हैं। इसी तरह सारे मिष्ट-भोजी एवं पक्वान्न तथा चाटने और पीने के पदार्थ एवं मांस आदि के चखने वाले ब्राह्मण भी लौट जाने चाहिए॥१६-२०॥

तेऽपि सर्वे निवर्त्तन्तां येऽपि सूदानुयायिनः।
मया यथोचिताजीव्यैः संविभक्ताश्च वृत्तिभिः॥२१॥

इनके सिवा रसोइयों के साथ रहने वाले ब्राह्मण या मैंने जिनकी यथोचित जीविका और वृत्ति नियत कर रखी है, वे भी वापिस चले जावें॥ २१॥

ये चाप्यनुगताः पौरा राजभक्तिपुरःसराः।
धृतराष्ट्रं महाराजमभिगच्छन्तु ते च वै॥२२॥
स दास्यति यथाकालमुचिता यस्य या भृतिः।

जो राज भक्ति के कारण पुरवासी, साथ २ घूम रहे हैं, वे भी महाराज धृतराष्ट्र के पास चले जावें। वह इनको यथोचित वृत्ति प्रदान कर देगा॥ २२॥

स चेद्यथोचितां वृत्तिं न दद्यान्मनुजेश्वर।
अस्मत्प्रियहितार्थाय पाञ्चाल्यो वः प्रदास्यति॥२३॥

यदि इस राजा ने हमारे द्वेष से इनकी जीविका का प्रबन्ध नहीं किया, तो हमारे प्रिय करने की इच्छा से द्रुपद राज इनकी वृत्ति नियत कर देगा॥ २३॥

वैशम्पायन उवाच—

ततो भूयिष्ठशः पौरा गुरुभारप्रपीडिताः ।
विप्राश्च यतयो मुख्या जग्मुर्नागपुरं प्रति ॥२४॥

वैशम्पयान बोले—हे राजन् ! अधिक भार से प्रपीडित अधिकांश पुरवासी और ब्राह्मण तथा यति लोग हस्तिनापुर को चल दिए ॥ २४ ॥

तान् सर्वान् धर्मराजस्य प्रेम्णा राजाम्बिकासुतः ।
प्रतिजग्राह विधिवद्धनैश्च समतर्पयत् ॥२५॥

इन सब ब्राह्मणों का राजा युधिष्ठिर के प्रेम से राजा धृतराष्ट्र ने बड़े सत्कार से स्वागत किया और इनको धन जीविका से सन्तुष्ट किया ॥ २५ ॥

ततः कुन्तीसुतो राजा लघुभिर्ब्राह्मणैः सह ।
लोमशेन च सुप्रीतस्त्रिरात्रं काम्यकेऽवसत् ॥२६॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि युधिष्ठिरतीर्थयात्रायां
द्विनवतितमोऽध्यायः ॥९२॥

अब कुन्ती पुत्र राजा युधिष्ठिर थोड़े से ब्राह्मण और लोमश ऋषि के साथ प्रसन्ता-पूर्वक तीन रात तक और काम्यक वनमें रहे ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में युधिष्ठिर
के तीर्थ यात्रा के प्रस्ताव का बानवेवां
अध्याय पूरा हुआ ।

तिरानवेवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततः प्रयान्तं कौन्तेयं ब्राह्मणा वनवासिनः ।
अभिगम्य तदा राजन्निदं वचनमब्रुवन् ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! राजा युधिष्ठिर के चलने के समय साथ २ यात्रा करने के लिए वनवासी ब्राह्मण आये और पास में पहुंच कर यह वचन बोले ॥ १ ॥

राजंस्तीर्थानि गन्तासि पुण्यानि भ्रातृभिः सह ।
ऋषिणा चैव सहितो लोमशेन महात्मना ॥२॥
अस्मानपि महाराज नेतुमर्हसि पाण्डव ।
अस्माभिर्हि न शक्यानि त्वदृते तानि कौरव ॥३॥

हे राजन् ! आप अपने भाइयों और महात्मा लोमश ऋषि के साथ तीर्थ यात्रा करने जारहे हो । हे महाराज ! हमारी इच्छा है कि आप हमको भी साथ ले चलें, क्योंकि आपके साथके विना हम इन तीर्थों की यात्रा नहीं कर सकते हैं ॥ २-३ ॥

श्वापदैरुपसृष्टानि दुर्गाणि विषमाणि च ।
अगम्यानि नरैरल्पैस्तीर्थानि मनुजेश्वर ॥४॥

हे मनुजेश्वर ! वनैले जीव जन्तुओं से व्याप्त, दुर्गम, विषम और अगम तीर्थों की यात्रा थोड़े से मनुष्यों से नहीं हो सकती है ॥ ४ ॥

भवतो भ्रातरः शूरा धनुर्द्धरवराः सदा ।
भवद्भिः पालिता शूरैर्गच्छामो वयमच्युत ॥५॥

आपके सारे भाई शूरवीर और धनुषधारी हैं। हम लोग आप शूरवीरों से सुरक्षित होकर तीर्थ यात्रा को चल सकते हैं।

भवत्प्रसादाद्धि वयं प्राप्नुयामः सुखं फलम् ।
तीर्थानां पृथिवीपाल वनानाञ्च विशाम्पते ॥६॥

हे पृथिवी-पते ! हम आपके अनुग्रह से ही वन और तीर्थों के सुख दायी फलों को प्राप्त कर सकते हैं ॥ ६ ॥

तव वीर्यपरित्राताः शुद्धास्तीर्थपरिप्लुताः ।
भवेम धूतपाप्मानस्तीर्थसन्दर्शनान्नृप ॥७॥

हे नृप ! आपके बल से सुरक्षित, तीर्थों में स्नान करने से हम भी तीर्थों के दर्शन से पाप रहित हो जावेंगे ॥ ७ ॥

भवानपि नरेन्द्रस्य कार्त्तवीर्य्यस्य भारत ।
अष्टकस्य च राजर्षेर्लोमपादस्य चैव ह ॥८॥
भरतस्य च वीरस्य सार्वभौमस्य पार्थिव ।
ध्रुवं प्राप्स्यति दुष्प्रापान् लोकांस्तीर्थपरिप्लुतः ॥९॥

हे भारत ! आप भी राजा कार्त-वीर्य, अष्टक, राजर्षि लोमपाद, चक्रवर्ती वीर-श्रेष्ठ राजा भरत के दुर्लभ लोकों को तीर्थ में स्नान करने से प्राप्त कर सकोगे ॥ ८-९ ॥

प्रभासादीनि तीर्थानि महेन्द्रादींश्च पर्वतान् ।
गङ्गाद्याः सरितश्चैव प्लक्षादींश्च वनस्पतीन् ॥१०॥

त्वया सह महीपाल द्रष्टुमिच्छामहे वयम् ।
यदि ते ब्राह्मणेष्वस्ति काचित् प्रीतिर्जनाधिप ॥११॥
कुरु क्षिप्रं वचोऽस्माकं ततः श्रेयोऽभिपत्स्यसे ।

हे महीपाल ! प्रभासादि तीर्थ महेन्द्र आदि पर्वत, गङ्गादिक नदी, लता आदिक वनस्पतियों को हम आपके साथ रह कर देखना चाहते हैं । हे राजन् ! यदि आपकी कुछ भी ब्राह्मणों में भक्ति है, तो इसको निषेध मत करो । हे महाबाहो ! आप हमारे वचनों को शीघ्र ही स्वीकार कर लें, इससे आपको बड़ा कल्याण प्राप्त होगा ॥ १०-११ ॥

तीर्थानि हि महाबाहो तपोविघ्नकरैः सदा ॥१२॥
अनुकीर्णानि रक्षोभिस्तेभ्यो नस्त्रातुमर्हसि ।

हे महाबाहो ! तीर्थ स्थान तप के विघ्न करने वाले राक्षसों से भरे पड़े हैं, आप उनसे हमारी रक्षा करते रहना ॥ १२ ॥

तीर्थान्युक्तानि धौम्येन नारदेन च धीमता ॥१३॥
यान्युवाच च देवर्षिर्लोमशः सुमहातपाः ।
विधिवत्तानि सर्वाणि पर्यटस्व नराधिप ॥१४॥
धूतपाप्मा सहास्माभिर्लोमशेनाभिपालितः ।

हे नराधिप ! जितने तीर्थों का वर्णन, पुरोहित धौम्य, बुद्धिमान् नारद और देवर्षि महातपा लोमश ने किया है-उन सबों में आप विधि पूर्वक पर्यटन करें । आप लोमश से सुरक्षित हुए हमारे साथ २ सब पापों से विशुद्ध हो जावोगे ॥१३-१४

स राजा पूज्यमानस्तैर्हर्षादश्रुपरिप्लुतः ॥१५॥
भीमसेनादिभिर्वीरैर्भ्रातृभिः परिवारितः ।
बाढमित्यब्रवीत् सर्वास्तानृषीन् पाण्डवर्षभ ॥१६॥

जब इन ब्राह्मणों ने राजा का इतना सत्कार किया, तो राजा के हर्ष के आंसु भर आए और भीमसेन आदि वीर भ्राताओं के साथ राजा युधिष्ठिर ने उन सब ऋषियों की प्रार्थना स्वीकार कर ली ॥ १५-१६ ॥

लोमशं समनुज्ञाप्य धौम्यञ्चैव पुरोहितम् ।
ततः स पाण्डवश्रेष्ठो भ्रातृभिः सहितो वशी ॥१७॥
द्रौपद्या चानवद्याङ्ग्या गमनाय मनो दधे ।

अब लोमश ऋषि और पुरोहित धौम्यसे आज्ञा लेकर अपने भाइयों तथा सुन्दरी द्रौपदी के साथ जितेन्द्रिय राजा युधिष्ठिर चलने के लिए तय्यार हो गए ॥ १७॥

अथ व्यासो महाभागस्तथा पर्वतनारदौ ॥१८॥
काम्यके पाण्डवं द्रष्टुं समाजग्मुर्मनीषिणः ।
तेषां युधिष्ठिरो राजा पूजाञ्चक्रे यथाविधि ।
सत्कृतास्ते महाभागा युधिष्ठिरमथाब्रुवन् ॥१९॥

इस समय महर्षि वेदव्यास, मनीषी नारद और पर्वत काम्यक वन में राजा युधिष्ठिर से मिलने के लिए आए । राजा युधिष्ठिर ने इनकी यथा विधि पूजा की, जब इन सबका सत्कार हो चुका तो ये धर्मराज से इस तरह बोले ॥१८-१९॥

ऋषय ऊचुः—

युधिष्ठिर यमौ भीम मनसा कुरुतार्ज्जवम् ।
मनसा कृतशौचा वै शुद्धास्तीर्थानि यास्यथ ॥२०॥

ऋषियों ने कहा—हे युधिष्ठिर ! नकुल, सहदेव, भीम, तुम लोग, अब मन को पवित्र कर लो । अपने मन को शुद्ध करने पर ही पवित्रता के साथ तीर्थों पर जाना चाहिए ॥२०॥

शरीरनियमं प्राहुर्ब्राह्मणा मानुषं व्रतम् ।
मनोविशुद्धां बुद्धिञ्च दैवमाहुर्व्रतं द्विजाः ॥२१॥
मनो ह्यदुष्टं शौचाय पर्याप्तं वै नराधिप ।
मैत्रीं बुद्धिं समास्थाय शुद्धास्तीर्थानि द्रक्ष्यथ ॥२२॥

हे राजन् ! ब्राह्मणों ने शरीर के नियमों को मानुष तथा मन और विशुद्ध बुद्धि को दैव-व्रत कहा है । यदि मन विशुद्ध है, तो शुद्धि के लिए पर्याप्त है । सब से मित्रता करने वाली बुद्धि का आश्रय लेकर ही शुद्धता-पूर्वक तीर्थों के दर्शन करो ॥२२॥

ते यूयं मानसैः शुद्धाः शरीरनियमव्रतैः !
दैवं व्रतं समास्थाय यथोक्तं फलमाप्स्यथ ॥२३॥

यदि तुम मनसे शुद्ध होकर शरीर के नियमों के व्रत के साथ इस दैवव्रत का आश्रय लोगे, तो जो कहा है, वही फल प्राप्त कर लोगे ।

ते तथेति प्रतिज्ञाय कृष्णया सह पाण्डवाः ।
कृतस्वस्त्ययनाः सर्वे मुनिभिर्दिव्यमानुषैः ॥२४॥

इन सब पाण्डवों ने द्रौपदी के साथ इस विषय में प्रतिज्ञा की। अब दिव्य मनुष्य इन ऋषियों ने इनका स्वस्ति वाचन किया ॥२४॥

लोमशस्योपसंगृह्य पादौ द्वैपायनस्य च।
नारदस्य च राजेन्द्र देवर्षेः पर्वतस्य च ॥२५॥

हे राजेन्द्र! राजा युधिष्ठिर ने महर्षि लोमश, वेदव्यास, देवर्षि नारद और पर्वत के चरणों का स्पर्श किया ॥२५॥

धौम्येन सहिता वीरास्तथा तैर्वनवासिभिः।
मार्गशीर्ष्यामतीतायां पुष्येण प्रययुस्ततः ॥२६॥

हे राजन्! ये वीर पाण्डव, पुरोहित धौम्य और वनवासी ब्राह्मणों के साथ मार्गशीर्ष के समाप्त होने पर पौष के महीने में तीर्थ यात्रा को चले ॥२६॥

कठिनानि समादाय चीराजिनजटाधराः।
अभेद्यैः कवचैर्युक्तास्तीर्थान्यनुचरंस्ततः ॥२७॥

इन पाण्डवों ने काठ के पात्र या पिटारी आदि एवं साधुओं के समान वस्त्र तथा मृगचर्म, और जटा धारण की। इन्होंने भेदन नहीं होने वाले कवच पहन रखे थे। इस प्रकार ये तीर्थों पर घूमने लगे ॥२७॥

इन्द्रसेनादिभिर्भृत्यै रथैः परिचतुर्दशैः।
महानसव्यापृतैश्च तथान्यैः परिचारकैः॥२८॥
सायुधा बद्धनिस्त्रिंशास्तूणवन्तः समार्गणाः।
प्राङ्मुखाः प्रययुर्वीराः पाण्डवा जनमेजय ॥२९॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रपर्वणि युधिष्ठिरतीर्थयात्रायां
त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥६३॥

हे जनमेजय ! इस समय इनके साथ इन्द्रसेन आदि पन्द्रह सेवक थे। इसमें रसोई के काम करने वाले तथा अन्य सेवक भी सम्मिलित हैं। इन्होंने आयुध धारण कर रखे थे और तलवार लटका रखी थी। इनके पास तूणीर और बाण विद्यमान थे। ये वीर इस प्रकार प्रथम पूर्व दिशा को चल दिए ॥२६॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रा पर्व में
युधिष्ठिर की तीर्थ यात्रा का तिरानवेवां अध्याय
पूरा हुआ।



चौरानवेवाँ अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—

न वै निर्गुणमात्मानं मन्ये देवर्षिसत्तम ।
तथास्मि दुःखसन्तप्तो यथा नान्यो महीपतिः ॥१॥

युधिष्ठिर ने कहा-हे देवर्षि-श्रेष्ठ ! यद्यपि मैं अपने को उत्तम गुणों से हीन नहीं मानता हूँ, तोभी दुःख से सन्तप्त हो रहा हूँ, कि मेरे समान अन्य किसी राजा ने ऐसा कष्ट नहीं उठाया होगा ॥१॥

परांश्च निर्गुणान्मन्ये न च धर्मगतानपि ।
ते च लोमश लोकेऽस्मिन्नृध्यन्ते केन हेतुना ॥२॥

हे लोमश ! मैं विरोधियों को उत्तम गुण और धर्म से वञ्चित देखता हूँ, तो भी वे किस कारण से बढ़ जा रहे हैं ॥२॥

लोमश उवाच—

न च दुःखं त्वया राजन् कार्य्यं पार्थ कथञ्चन ।
यदधर्मेण वर्द्धेयुरधर्मरुचयो जनाः ॥३॥

लोमश बोले—हे राजन् ! तुमको उस बात का कुछ शोक नहीं करना चाहिए कि अधर्मीजन अधर्म से बढ़ रहे हैं ॥३॥

वर्द्धत्यधर्मेण नरस्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥४॥

प्रथम तो मनुष्य अधर्म से बढ़ता है और कल्याण को प्राप्त होकर शत्रुओं को जीत लेता है, परन्तु फिर अपने परिवार सहित नष्ट हो जाता है ॥४॥

मया हि दृष्टा दैतेया दानवाश्च महीपते ।
वर्द्धमाना ह्यधर्मेण क्षयञ्चोपगताः पुनः ॥५॥

हे महीपते ! मैंने अनेक दैत्य और दानव देखे हैं, जो अधर्म से प्रथम बढ़े और फिर नष्ट हो गए ॥५॥

पुरा देवयुगे चैव दृष्टं सर्वं मया विभो ।
अरोचयन् सुरा धर्मं धर्मं तत्यजिरेऽसुराः ॥६॥

मैंने सतयुग में यह सब कुछ देखा है, कि देवों ने धर्म का आदर किया और असुरों ने धर्म का परित्याग कर दिया था ॥६॥

तीर्थानि देवा विविशुर्नाविशन् भारतासुराः ।
तानधर्मकृतो दर्पं पूर्वमेव समाविशत् ॥७॥

हे भारत ! देवों ने तीर्थों की यात्रा की थी और असुरों ने तीर्थों को कुछ नहीं माना । इन अधर्मियों को तो पूर्व से ही घमण्ड ने घेर लिया था ॥७॥

दर्पान्मानः समभवन्मानात् क्रोधो व्यजायत ।
क्रोधात् ह्रीस्ततोऽलज्जा वृत्तं तेषां ततोऽनशत् ॥८॥

इनके घमण्ड से मान और मान से क्रोध तथा क्रोध से संकोच का अभाव और संकोच के अभाव से निर्लज्जता उत्पन्न हो गई, जिससे इनका सदाचार नष्ट हो गया ॥८॥

तानलज्जान् गतह्रीकान् हीनवृत्तान् वृथाव्रतान् ।
क्षमा लक्ष्मीश्च धर्मश्च नचिरात् प्रजहुस्ततः ॥९॥

निर्लज्ज, संकोच हीन, सदाचार रहित, वृथा ढोंग करने वाले, इन असुरों को क्षमा, लक्ष्मी और धर्म ने शीघ्र ही छोड़ दिया ॥९॥

लक्ष्मीस्तु देवानगमदलक्ष्मीरसुरान्नृप ।
तानलक्ष्म्यासमाविष्टान् दर्पोपहतचेतसः ॥१०॥
दैतेयान् दानवांश्चैव कलिरप्याविशत्ततः ।
तानलक्ष्मीसमाविष्टान् दानवान् कलिना हतान् ॥११॥
दर्पाभिभूतान् कौन्तेय क्रियाहीनानचेतसः ।
मानाभिभूतानचिराद्विनाशः समपद्यत ॥१२॥

हे नृप ! देवों के पास लक्ष्मी और असुरों के पास अलक्ष्मी आ गई। अलक्ष्मी से युक्त और अहङ्कार से मदोन्मत्त, इन दैत्य, दानवों पर कलि ने आक्रमण कर लिया। इन अलक्ष्मी से समन्वित, कलि से मारे हुए अहङ्कार से दबे हुए, सदाचार हीन, मूर्ख, घमण्डी असुरों को शीघ्र ही विनाश ने धर दबाया॥१०-१२

निर्यशस्कास्तथा दैत्याः कृत्स्नशो विलयं गताः ।
देवास्तु सागरांश्चैव सरितश्च सरांसि च ॥१३॥
अभ्यगच्छन् धर्मशीलाः पुण्यान्यायतनानि च ।
तपोभिः क्रतुभिर्दानैराशीर्वादैश्च पाण्डव ॥१४॥
प्रजहुः सर्वपापानि श्रेयश्च प्रतिपेदिरे ।
एवमादानवन्तश्च निरादानाश्च सर्वशः ॥१५॥
तीर्थान्यगच्छन् विबुधास्तेनापुर्भूतिमुत्तमाम् ।

इस प्रकार यश हीन दैत्य, दानव, सारे नष्ट हो गए। अब धर्मशील देवों ने सारे सागर, नदी, सरोवर, पवित्र मठ आश्रमों की यात्रा की। ये सब तप, यज्ञ, दान करते जाते थे और आशीर्वाद ले रहे थे। इस प्रकार उनके सारे पाप क्षीण हो गए और ये कल्याण को प्राप्त हुए। इस प्रकार सरलतादि नियमों को धारण करके और किसी से भी दान न लेकर देवता तीर्थों पर पहुंचे, जिससे उनको बड़े ही कल्याण की प्राप्ति हुई ॥१३-१५॥

तथा त्वमपि राजेन्द्र स्नात्वा तीर्थेषु सानुजः ॥१६॥
पुनर्वेत्स्यसि तां लक्ष्मीमेष पन्थाः सनातनः ।

हे राजेन्द्र ! इसी भांति तुम भी तीर्थों में भाइयों के साथ स्नान करके अपनी राज्य लक्ष्मी को पा सकोगे । राज्य लक्ष्मी पाने का यही उत्तम सनातन मार्ग है ॥१६॥

यथैव हि नृगो राजा शिबिरौशीनरो यथा ॥१७॥
भगीरथो वसुमना गयः पुरुः पुरुरवाः ।
चरमाणास्तपो नित्यं स्पर्शनादम्भसश्च ते ॥१८॥
तीर्थाभिगमनात् पूता दर्शनाच्च महात्मनाम् ।
अलभन्त यशः पुण्यं धनानि च विशाम्पते ॥१९॥

हे विशाम्पते ! राजा नृग, औशीनर शिबि, भगीरथ, वसुमना, गय, पुरु, पुरुरवा, इन्होंने नित्य तप किया और तीर्थों के जल में स्नान किया । इन तीर्थों की यात्रा से तथा महात्माओं के दर्शन से वे पवित्र हो गए और उन्होंने बहुत सा यश, पुण्य एवं धन पाया ॥ १७-१९ ॥

तथा त्वमपि राजेन्द्र लब्ध्वा सुविपुलां श्रियम् ।
यथा चेक्ष्वाकुरभवत् सपुत्रजनबान्धवः ॥२०॥
मुचुकुन्दोऽथ मान्धाता मरुत्तश्च महीपतिः ।
कीर्त्तिं पुण्यामविन्दन्त यथा देवास्तपोबलात् ॥२१॥
देवर्षयश्च कार्त्स्न्येन तथा त्वमपि वेत्स्यसि ।

हे राजेन्द्र ! इसी भांति तुम भी विपुल राज्य लक्ष्मी को पावोगे । अपने पुत्र तथा बान्धवों के साथ राजा इक्ष्वाकु, मुचुकुन्द, मान्धाता, राजा मरुत्त ने जिस तरह पवित्र कीर्ति पाई, देवों और

देवर्षियों ने तपोबल से जो यश उठाया, तुम भी वही उत्तम कीर्ति प्राप्त करोगे ॥२८-२१॥

धार्त्तराष्ट्रास्त्वधर्मेण मोहेन च वशीकृताः ।
न चिराद्वै विनङ्क्ष्यन्ति दैत्या इव न संशयः ॥२२॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि युधिष्ठिरतीर्थगमने चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥६४॥

दुर्योधनादि धृतराष्ट्र के पुत्र तो अधर्म और अज्ञान में फंस गए हैं, ये शीघ्र ही दैत्यों की तरह नष्ट होकर रहेंगे ॥२२॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में युधिष्ठिर के तीर्थ गमन का चौरानवेवां अध्याय पूरा हुआ ॥



पिञ्चानवेवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ते तथा सहिता वीरा वसन्तस्तत्र तत्र ह ।
क्रमेण पृथिवीपाल नैमिषारण्यमागताः ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे पृथिवीपाल ! इस तरह स्थान २ पर निवास करते हुए, वीर क्रम से नैमिषारण्य में पहुंचे॥१॥

ततस्तीर्थेषु पुण्येषु गोमत्याः पाण्डवा नृप ।
कृताभिषेकाः प्रददुर्गाश्च वित्तञ्च भारत ॥२॥

हे भारत! इसके बाद गोमती नदी के पवित्र तीर्थों में पाण्डवों ने स्नान किया और गौऐं तथा बहुत सा धन दान दिया ॥२॥

तत्र देवान् पितृन् विप्रांस्तर्पयित्वा पुनः पुनः ।
कन्यातीर्थेऽश्वतीर्थे च गवां तीर्थे च भारत ॥३॥

हे भारत! राजा युधिष्ठिर ने वहां देव, पितर और ब्राह्मणों को तृप्त किया। अब ये कन्या तीर्थ, अश्व तीर्थ और गोतीर्थ पर पहुंचे ॥ ३ ॥

कालकोटयां विप्रषस्थे गिरावुष्य च कौरवाः ।
बाहुदायां महीपाल चक्रुः सर्वेऽभिषेचनम् ॥४॥

इन कुरुवंशियों ने कालकोटी तीर्थ और विषप्रस्थ पर्वत पर निवास किया। इन सबों ने बाहुदा नदी पर पहुँच कर स्नान किया ॥४॥

प्रयागे देवयजने देवानां पृथिवीपते ।
ऊषुराप्लुत्य गात्राणि तपश्चातस्थुरुत्तमम् ॥५॥

हे राजन्! देवों के यजन के स्थान प्रयाग पर उन्होंने निवास किया। यहां स्नान करके इन्होंने बड़ा उत्तम तप किया ॥५॥

गङ्गायमुनयोश्चैव सङ्गमे सत्यसङ्गराः ।
विपाप्मानो महात्मानो विप्रेभ्यः प्रददुर्वसु ॥६॥

इन सत्य प्रतिज्ञा धारी पाण्डवों ने गङ्गा यमुना के सङ्गम पर स्नान किया। इससे ये महात्मा पाप से रहित हो गए और यहां इन्होंने ब्राह्मणों को बहुत सा दान किया ॥६॥

तपस्विजनजुष्टाञ्च ततो वेदीं प्रजापतेः ।
जग्मुः पाण्डुसुता राजन् ब्राह्मणैः सह भारत ॥७॥

हे भारत ! तपस्वियों से युक्त, प्रजापति की वेदी पर सारे ब्राह्मणों के साथ वे पाण्डु-पुत्र पहुंचे ॥ ७ ॥

तत्र ते न्यवसन् वीरास्तपश्चातस्थुरुत्तमम् ।
सन्तर्पयन्तः सततं वन्येन हविषा द्विजान् ॥८॥

यहां इन वीरों ने निवास किया और ये बड़ा भारी तप करने लगे। ये वन की हवि से ब्राह्मणों की तृप्ति करते रहते थे ॥८॥

ततो महीधरं जग्मुर्धर्मज्ञेनाभिसंस्कृतम् ।
राजर्षिणा पुण्यकृता गयेनानुपमद्युते ॥९॥
नगो गयशिरो यत्र पुण्या चैव महानदी ।
वानीरमालिनी रम्या नदी पुलिन शोभिता ॥१०॥
दिव्यं पवित्रकूटञ्च पवित्रधरणीधरम् ।
ऋषिजुष्टं सुपुण्यन्तत्तीर्थं ब्रह्मसरोत्तमम् ॥११॥
अगस्त्यो भगवान् यत्र गतो वैवस्वतं प्रति ।
उवास च स्वयं तत्र धर्मराजः सनातनः ॥१२॥

हे महाकान्ति-धारी ! ये धर्मज्ञ, पुण्यात्मा, राजर्षि गय से कीर्ति को प्राप्त हुए, एक पर्वत पर पहुंचे, यहां ही गयशिर नामक पर्वत का खण्ड है और पवित्र महा नदी है। इस नदी पर वासों की पंक्ति लगी हुई है और यह पुलिनों से सुशोभित है। यहां दिव्य पवित्र कूट (शिखर) और पवित्र पर्वत है। ऋषियों से युक्त,

पुण्य-जनक एक उत्तम ब्रह्मसर है। यहीं भगवान् अगस्त्य ने सूर्य लोक के प्रति गमन किया। यहां सनातन धर्मराज ने स्वयं निवास किया है ॥९-११॥

सर्वासां सरिताञ्चैव समुद्भेदो विशाम्पते।
यत्र सन्निहितो नित्यं महादेवः पिनाकधृक् ॥१३॥
तत्र ते पाण्डवा वीराश्चातुर्मास्यैस्तदेजिरे।
ऋषियज्ञेन महता यत्राक्षयवटो महान् ॥१४॥

हे विशाम्पते! जहां सारी नदियों का निकास है और जहां पिनाक-धारी महादेव सदा रहते हैं। वहीं पर इन पाण्डवों ने चार मास तक ऋषि यज्ञ से यजन किया। इसी यजन स्थान पर अक्षय वट था ॥१३-१४॥

अक्षये देवयजने अक्षयं यत्र वै फलम्।
ते तु तत्रोपवासांस्तु चक्रुर्निश्चितमानसाः ॥१५॥

इन अक्षय देवों के यजन स्थान पर अक्षय ही फल मिलता है। इन दृढ़ मन वाले पाण्डवों ने वहां उपवास किया ॥१५॥

ब्राह्मणास्तत्र शतशः समाजग्मुस्तपोधनाः।
चातुर्मास्येनायजन्त आर्षेण विधिना तदा ॥१६॥

यहीं पर सैंकड़ों तपस्वी ब्राह्मण आ गए, इन्होंने आर्ष-विधि से चार महीने तक यजन किया ॥१६॥

तत्र विद्यातपोवृद्धा ब्राह्मणा वेदपारगाः।
कथां प्रचक्रिरे पुण्यां सदसिस्था महात्मनाम् ॥१७॥

वहां विद्या और तप से प्रतिष्ठित, वेदपाठी ब्राह्मणों ने महात्माओं की सभा में अनेक पवित्र कथाएं कहीं ॥१७॥

तत्र विद्याव्रतस्नातः कौमारं व्रतमास्थितः ।
शमठोऽकथयद्राजन्नमूर्त्तरयसं गयम् ॥१८॥

विद्या और व्रत में स्नातक, ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित, शमठ ने अमूर्तरय के पुत्र गय की कथा सुनाई ॥१८॥

शमठ उवाच—

अमूर्त्तरयसः पुत्रो गयो राजर्षिसत्तमः ।
पुण्यानि यस्य कर्माणि तानि मे शृणु भारत ॥१९॥

शमठ कहने लगा—हे भारत ! अमूर्तरय का पुत्र राजर्षि गय था। उसके बड़े पवित्र कर्म थे, जिनको तुम मुझसे सुनो ॥१९

यस्य यज्ञो बभूवेह बह्वन्नो बहुदक्षिणः ।
यत्रान्नपर्वता राजन् शतशोऽथ सहस्रशः ॥२०॥

हे राजन् ! उसने यहां बहुत से अन्न और बहुत सी दक्षिणा से यज्ञ किया। उस समय उसके अन्न के सैंकड़ों हजारों पर्वत लगे हुए थे ॥२०॥

घृतकुल्याश्च दध्नश्च नद्यो बहुशतास्तथा ।
व्यञ्जनानां प्रवाहाश्च महार्हाणां सहस्रशः ॥२१॥

इसके इस यज्ञ में घृत और दही की नदी तथा बहुत मूल्यके व्यञ्जनों (शाकों) के प्रवाह से बह रहे थे ॥२१॥

अहन्यहनि चाप्येवं याचतां संप्रदीयते ।
अन्ये च ब्राह्मणा राजन् भुञ्जतेऽन्नं सुसंस्कृतम् ॥२२॥

कुछ याचक ब्राह्मणों को इस तरह प्रति दिन दान करता था और अनेक ब्राह्मण उसके यज्ञ में पका हुआ भोजन कर रहे थे ।

तत्र वै दक्षिणाकाले ब्रह्मघोषो दिवं गतः ।
न च प्रज्ञायते किञ्चिद् ब्रह्मशब्देन भारत ॥२३॥

हे भारत ! इस यज्ञ के दक्षिणा के समय में वेद-ध्वनि आकाश तक पहुंच गई । इस वेद-ध्वनि के सामने अन्य कोई शब्द सुनाई नहीं देता था ॥२३॥

पुण्येन चरता राजन् भूर्दिशः खं नभस्तथा ।
आपूर्णमासीच्छब्देन तदाप्यासीन्महाद्भुतम् ॥२४॥
तत्र स्म गाथा गायन्ति मनुष्या भरतर्षभ ।
अन्नपानैः शुभैस्तृप्ता देशे देशे सुवर्च्चसः ॥२५॥
गयस्य यज्ञे केन्वद्य प्राणिनो भोक्तुमप्सवः ।
तत्र भोजनशिष्टस्य पर्वताः पञ्चविंशतिः ॥२६॥

हे राजन् ! इस पुण्या-चरण से भू, दिशा, अन्तरिक्ष, आकाश सब कोलाहल से भर गए । यह एक बड़ा ही कौतूहल (तमाशा) था । हे भरतर्षभ ! राजा गय के यज्ञ की मनुष्य, यह कथा कहते रहते हैं, कि उस समय देश २ के लोग उत्तम २ अन्नों से तृप्त हो गए । वर्चस्वी राजा गय के यज्ञ में कोई भोजन करना तो नहीं चाह रहा है—यही सब पूछते फिर रहे थे । उस समय भोजनके पच्चीस पर्वत शेष थे ॥ २४-२६ ॥

न तत्पूर्वे जनाश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे ।
गयो यदकरोद्यज्ञे राजर्षिरमितद्युतिः ॥२७॥

अब तक किसी पूर्व के मनुष्य ने ऐसा नहीं किया और न आगे कोई ऐसा कर सकता है, जो इस यज्ञ में अत्यन्त तेजस्वी राजर्षि गय ने कर दिखाया ॥२७॥

कथन्तु देवा हविषा गयेन परितर्पिताः ।
पुनः शक्ष्यन्त्युपादातुमन्यैर्दत्तानि कानिचित् ॥२८॥

राजा गय ने किस प्रकार देवों को हवि से सन्तुष्ट कर दिया, जो अन्य से प्रदान की हुई हवि को फिर ग्रहण करने में समर्थ हो सकें अर्थात् वे हवि ग्रहण करने में समर्थ नहीं थे ॥२८॥

सिकता वा यथा लोके यथा वा दिवि तारकाः ।
यथा वा वर्षतो धारा असङ्ख्येयाः स्म केनचित् ॥२९॥
तथा गणयितुं शक्या गययज्ञे न दक्षिणाः ।

लोक में जितने रज के कण और आकाश में जितने तारे तथा वर्षा की जितनी धाराएँ किसी से नहीं गिनी जाती, उसी तरह राजा गय के यज्ञ की दक्षिणा नहीं गिनी जा सकती थी २९

एवंविधाः सुबहवस्तस्य यज्ञा महीपतेः ।
बभूवुरस्य सरसः समीपे कुरुनन्दन ॥३०॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि गययज्ञकथने
पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥९५॥

इस प्रकार उस राजा गय ने अनेक यज्ञ कर डाले और वे सारे यज्ञ इसी सरोवर के तीर पर किये गए थे ॥३०॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में गय के यज्ञ के कथन का पिच्चानवेवां अध्याय पूरा हुआ।



छियानवेवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

तत: संप्रस्थितो राजा कौन्तेयो भूरिदक्षिण: ।
अगस्त्याश्रममासाद्य दुर्जयायामुवास ह ॥१॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! बहुत सी दक्षिणा देने के अनन्तर राजा युधिष्ठिर, आगे चल दिए और अगस्त्य के आश्रम में पहुंच कर, इन्होंनेदुर्जया (मणिमती पुरी) नामक स्थान पर निवास किया ॥१॥

तत्रैव लोमशं राजा पप्रच्छ वदतान्वर: ।
अगस्त्येनेह वातापि: किमर्थमुपशामित: ॥२॥

इस जगह बोलने वालों में श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर ने लोमश ऋषि से पूछा—हे महर्षे! यहां अगस्त्य ने वातापि दैत्य को किसलिये मारा ॥२॥

आसीद्वा किम्प्रभावश्च स दैत्यो मानवान्तक: ।
किमर्थश्चोदितो मन्युरगस्त्यस्य महात्मन: ॥३॥

मनुष्यों के घातक इस वातापि दैत्य का क्या प्रभाव था ? और किस लिए महात्मा अगस्त्य का कोप उत्पन्न हो गया ॥३॥

लोमश उवाच—

इल्वलो नाम दैतेय आसीत् कौरवनन्दन ।
मणिमत्यां पुरि पुरा वातापिस्तस्य चानुजः ॥४॥

लोमश ने कहा-हे कौरव-नन्दन ! पूर्वकाल में इल्वल नामक एक दैत्य था। यह मणिमती पुरी में रहता था, इसके छोटे भाई का नाम वातापि था। ॥४॥

स ब्राह्मणं तपोयुक्तमुवाच दितिनन्दनः ।
पुत्रं मे भगवानेकमिन्द्रतुल्यं प्रयच्छतु ॥५॥

यह इल्वल दैत्य इस तपस्वी ब्राह्मण से बोला—हे भगवन् ! आप मुझे एक इन्द्र के समान पराक्रमी पुत्र प्रदान करें ॥५॥

तस्मिन् स ब्राह्मणो नादात् पुत्रं वासवसम्मितम् ।
चुक्रोध सोऽसुरस्तस्य ब्राह्मणस्य ततो भृशम् ॥६॥

जब अगस्त्य मुनि ने इन्द्र के समान कोई पुत्र इस दैत्य को प्रदान नहीं किया, तो यह असुर उस ब्राह्मण पर बड़ा कुपित हुआ।

तदाप्रभृति राजेन्द्र इल्वलो ब्रह्महासुरः ।
मन्युमान् भ्रातरं छागं मायावी ह्यकरोत्ततः ॥७॥

हे राजेन्द्र ! ब्राह्मणों का घाती असुर इल्वल अब बड़ा रुष्ट हो गया, जिससे इस मायावी दैत्य ने अपने भाई वातापि क मेष बनाया ॥७॥

मेषरूपी च वातापिः कामरूप्यभवत् क्षणात् ।
संस्कृत्य च भोजयति ततो विप्रं जिघांसति ॥८॥

यह वातापि दैत्य भी कामना के अनुसार रूप धारण कर लेता था, इससे यह फौरन मेष बन गया। उस दैत्य ने यह समझा-कि वह इसको पका कर ज्यों ही खिलावेगा-त्यों ही वह मुनि मर जावेगा। इसने इस मुनि को इसी तरह मारना चाहा ॥८।

स चाह्वयति यं वाचा गतं वैवस्वतक्षयम् ।
स पुनर्देहमास्थाय जीवन् संप्रत्यदृश्यत ॥६॥

यह दैत्य जिस मरे हुए व्यक्ति को आवाज देकर बुलाता था, वह भी 'यमराज के घर से देह धारण करके जीवित लौटा हुआ दिखाई देता था ॥ ६ ॥

ततो वातापिमसुरं छागं कृत्वा सुसंस्कृतम् ।
तं ब्राह्मणं भोजयित्वा पुनरेव समाह्वयत ॥१०॥

इसने वातापि असुर का मेष बनाया और इसको मसालों में पकाकर ब्राह्मण को खिला दिया और फिर आवाज लगाई ॥१०॥

तामिल्वलेन महता स्वरेण वाचमीरिताम् ।
श्रुत्वातिमायो बलवान् क्षिप्रं ब्राह्मणकण्टकः ॥११॥
तस्य पार्श्वं विनिर्भिद्य ब्राह्मणस्य महासुरः ।
वातापिः प्रहसन्राजन्निश्चक्राम विशाम्पते ॥१२॥

हे विशाम्पते ! इल्वल दैत्य को बड़े उच्च स्वर से कही हुई वाणी को सुन कर ब्रह्मद्वेषी मायावी बलवान् वातापि महासुर उस ब्राह्मण के पार्श्वों को चीर कर हँसता हुआ बाहर निकल आया ॥ ११-१२ ॥

एवं स ब्राह्मणान्राजन् भोजयित्वा पुनः पुनः ।
हिंसयामास दैतेय इल्वलो दुष्टचेतसः ॥१३॥

हे राजन् ! यह दुष्ट दैत्य इल्वल, इसी तरह ब्राह्मणों को अपने भाइयों को खिलाकर बार २ मारता रहता था ॥ १३ ॥

अगस्त्यश्चापि भगवानेतस्मिन् काल एव तु ।
पितॄन् ददर्श गर्त्ते वै लम्बमानानधोमुखान् ॥१४॥

इस समय भगवान् अगस्त्य ने नीचे मुख किये सूखे कूप में अपने पितरों को लटकते देखा ॥ १४ ॥

सोऽपृच्छल्लम्बमानांस्तान् भवन्त इह किम्परा: ।
सन्तानहेतोरिति ते प्रत्यूचुर्ब्रह्मवादिनः ॥१५॥

इसने लटकते हुए पितरों से पूछा-आप यहां किस लिए लटक रहे हैं। उन ब्रह्म-वादियों ने कहा, हम तुम्हारे सन्तान चाहते हैं ॥ १५ ॥

ते तस्मै कथयामासुर्वयन्ते पितरः स्वकाः ।
गर्त्तमेतमनुप्राप्ता लम्बामः प्रसवार्थिनः ॥१६॥

उन्होंने इससे कहा--हम तुम्हारे पितर हैं। हम इस गड्ढे में इसी लिए लटक रहे हैं, कि तेरे संतान नहीं है ॥ १६ ॥

यदि नो जनयेथास्त्वमगस्त्यापत्यमुत्तमम् ।
स्यान्नोऽस्मान्निरयान्मोक्षस्त्वञ्च पुत्राप्नुया गतिम् ॥१७॥

हे अगस्त्य ! यदि तू हमारे लिए सन्तान उत्पन्न कर दे, तो हम इस दुःख से छुट जावें और तुझे भी उत्तम गति प्राप्त हो।

स तमुवाच तेजस्वी सत्यधर्मपरायणः ।
करिष्ये पितरः कामं व्येतु वो मानसो ज्वरः ॥१८॥

सत्य--धर्म परायण, यह तेजस्वी अगत्य मुनि ने कहा--हे पितरों ! मैं तुम्हारी कामनाओं पूर्ण करूंगा--तुम अपने मन के सन्ताप को निवृत करो ॥ १८ ॥

ततः प्रसवसन्तानं चिन्तयन् भगवानृषिः ।
आत्मनः प्रसवस्यार्थे नापश्यत् सदृशीं स्त्रियम् ॥१९॥

तब इन भगवान् अगस्त्य मुनि ने सन्तानतन्तु उत्पन्न करने का विचार किया। परन्तु इसके लिए उसको अपने सदृश कोई भार्या दिखाई नहीं पड़ी ॥ १९ ॥

स तस्य तस्य सत्त्वस्य तत्तदङ्गमनुत्तमम् ।
संगृह्य तत्समैरङ्गैर्निर्ममे स्त्रियमुत्तमाम् ॥२०॥

इसने उत्तम २ सिंह आदि जन्तुओं की कटि आदि अङ्गों को लेकर उसके समान अङ्गों से एक स्त्री को बनाया ॥ २० ॥

स तां विदर्भराजस्य पुत्रार्थं तप्यतस्तपः ।
निर्मितामात्मनोऽर्थाय मुनिः प्रादान्महातपाः ॥२१॥

इस महा-तपस्वी अगस्त्य मुनि ने सन्तान के लिए, तप करने वाले विदर्भ राज के लिए अपने ग्रहण करने को बनाई हुई कन्या को दे दिया ॥ २१ ॥

सा तत्र यज्ञे सुभगा विद्युत्सौदामिनी यथा ।
विभ्राजमाना वपुषा व्यवर्द्धत शुभानना ॥२२॥

यह सुन्दर कन्या भी बिजली की तरह अपने शरीर से देदीप्यमान हो रही थी । अब यह इस यज्ञ में बढ़ने लगी ॥ २२ ॥

जातमात्राञ्च तां दृष्ट्वा वैदर्भः पृथिवीपतिः ।
प्रहर्षेण द्विजातिभ्यो न्यवेदयत भारत ॥२३॥

हे भारत ! विदर्भ राज ने इस कन्या को उत्पन्न हुई देखकर ब्राह्मणों से निवेदन किया ॥ २३ ॥

अभ्यनन्दत तां सर्वे ब्राह्मणा वसुधाधिप ।
लोपामुद्रेति तस्याश्च चक्रिरे नाम ते द्विजाः ॥२४॥

हे राजन् ! सारे ब्राह्मणों ने इस कन्या का स्वागत किया और उन्होंने इसका नाम लोपामुद्रा रखा ॥ २४ ॥

ववृधे सा महाराज बिभ्रती रूपमुत्तमम् ।
अप्स्विवोत्पलिनी शीघ्रमग्नेरिव शिखा शुभा ॥२५॥

हे महाराज ! यह कन्या अद्भुत रूप को धारण करती हुई जल में कमलिनी और अग्नि की लपटों के समान बढ़ने लगी ॥

तां यौवनस्थां राजेन्द्र शतं कन्याः स्वलङ्कृताः ।
दास्यः शतञ्च कल्याणीमुपतस्थुर्वशानुगाः ॥२६॥

हे राजेन्द्र ! जब यह युवति हुई, तो अलङ्कारों से युक्त, सौ कन्याएँ और सौ दासी इसकी सेवा में नियुक्त कर दी गई। जो इस सुन्दरी की आज्ञा में रहती थीं ॥ २६ ॥

सा स्म दासीशतवृता मध्ये कन्याशतस्य च ।
आस्ते तेजस्विनी कन्या रोहिणीव दिवि प्रभा ॥२७॥

सौ कन्या और सौ दासियों के मध्य में यह तेजस्वी कन्या आकाश में रोहिणी की प्रभा सी चमक रही थी ॥ २७ ॥

यौवनस्थामपि च तां शीलाचारसमन्विताम् ।
न वव्रे पुरुषः कश्चिद्भयात्तस्य महात्मनः । २८॥

यह युवति हो चुकी और शील तथा आचार से सम्पन्न थी, तो भी इसको अगस्त्य के भय से कोई ग्रहण नहीं करता था ॥

सा तु सत्यवती कन्या रूपेणाप्सरसोऽप्यति ।
तोषयामास पितरं शीलेन स्वजनं तथा ॥२६॥

इस सत्य आचार वाली कन्या ने रूप में अप्सराओं का भी अतिक्रमण कर दिया। इसने शील से अपने पिता और परिवार को सन्तुष्ट कर लिया था ॥ २६ ॥

वैदर्भीन्तु तथायुक्तां युवतिं प्रेक्ष्य वै पिता ।
मनसा चिन्तयामास कस्मै दद्यामिमां सुताम् ॥३०॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि अगस्त्योपाख्याने
षण्णवतितमोऽध्यायः ॥६६॥

जब पिता ने अपनी कन्या को युवती देखा, तो मन में विचार किया, कि इस कन्या को किस के लिए प्रदान करूं ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में अगस्त्य के उपाख्यान का छियानवेवां अध्याय पूरा हुआ।

सत्तानवेवां अध्याय

लोमश उवाच—

यदा त्वमन्यतागस्त्यो गार्हस्थे तां क्षमामिति ।
तदाभिगम्य प्रोवाच वैदर्भं पृथिवीपतिम् ॥१॥

लोमश कहने लगे—हे राजन्! जब अगस्त्य मुनि ने इस कन्या को गृहस्थ के योग्य समझा, तो ये विदर्भ-राज के पास जाकर बोले ॥ १ ॥

राजन्निवेशो बुद्धिर्मे वर्त्तते पुत्रकारणात् ।
वरये त्वां महीपाल लोपामुद्रां प्रयच्छ मे ॥२॥

हे राजन्! मेरा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का विचार है, क्योंकि मेरे सन्तान नहीं है। हे महीपाल! मैं आपके पास इस लिए आया हूं, कि आप मुझको लोपामुद्रा कन्या को अर्पण कर दें ॥ २ ॥

एवमुक्तः स मुनिना महीपालो विचेतनः ।
प्रत्याख्यानाय चाशक्तः प्रदातुश्चैव नैच्छत ॥३॥

जब मुनि ने यह कहा, तो राजा अचेत सा होगया। वह न तो मुनि से निषेध ही कर सका और न उसको प्रदान ही करना चाहा ॥ ३ ॥

ततः स भार्य्यामभ्येत्य प्रोवाच पृथिवीपतिः ।
महर्षिर्वीर्य्यवानेष क्रुद्धः शापाग्निना दहेत् ॥४॥

अब यह राजा अपनी भार्या के पास पहुंचा और कहने लगा। यह महर्षि बड़ा शक्ति-शाली है, यदि इसको कन्या का अर्पण नहीं किया, तो यह क्रुद्ध होकर शाप की अग्नि से दग्ध कर देगा॥ ४॥

तं तथा दुःखितं दृष्ट्वा सभार्यं पृथिवीपतिम् ।
लोपामुद्राभिगम्येदं काले वचनमब्रवीत् ॥५॥

इस समय विदर्भराज को अपनी भार्या-सहित दुःखी देख कर, लोपामुद्रा वहां पहुंची और समयानुसार वचन कहने लगी ॥ ५ ॥

न मत्कृते महीपाल पीडामभ्येतुमर्हसि ।
प्रयच्छ मामगस्त्याय त्राह्यात्मानं मया पितः ॥६॥

हे पिता! आप मेरे कारण से दुःखी न होवें। तुम मुझे अगस्त्य के लिए ही प्रदान कर दो॥ ६ ॥

दुहितुर्वचनाद्राजा सोऽगस्त्याय महात्मने ।
लोपामुद्रां ततः प्रादाद्विधिपूर्वं विशाम्पते ॥७॥

हे विशाम्पते! जब अपनी पुत्री ने इस प्रकार अपनी सम्मति प्रकट कर दी, तो राजा ने महात्मा अगस्त्य के लिए विधिपूर्वक कन्या लोपामुद्रा का दान कर दिया॥ ७ ॥

प्राप्य भार्यामगस्त्यस्तु लोपामुद्रामभाषत।
महार्हाण्युत्सृजैतानि वासांस्याभरणानि च ॥८॥

अगस्त्य ने लोपामुद्रा को ग्रहण करके कहा-अब तुम इन अमूल्य वस्त्र और आभूषणों का परित्याग कर दो॥ ८ ॥

ततः सा दर्शनीयानि महार्हाणि तनूनि च ।
समुत्ससर्ज रम्भोरुर्वसनं ह्यायतेक्षणा ॥९॥

मुनि की आज्ञा होते ही विशाल नयनी, सुन्दरी लोपामुद्रा ने सुन्दर, सूक्ष्म और बहु-मूल्य के वस्त्र और आभूषणों का परित्याग कर दिया ॥ ९ ॥

ततश्चीराणि जग्राह वल्कलान्यजिनानि च ।
समानव्रतचर्य्या च बभूवायतलोचना ॥१०॥

अब इस विशालाक्षी ने फटे पुराने, वल्कल और मृग-चर्म के वस्त्र पहने और इस प्रकार वह अपने पति के समान व्रत-चर्या में सम्मिलित हो गई ॥ १० ॥

गङ्गाद्वारमथागम्य भगवानृषिसत्तमः ।
उग्रमतिष्ठत तपः सह पत्न्यानुकूलया ॥११॥

इसके अनन्तर भगवान् महर्षि अगस्त्य, गङ्गाद्वार पर पहुंचे और वहां उसने अपनी पतिव्रता भार्या के साथ तप करना आरम्भ किया ॥ ११ ॥

सा प्रीता बहुमानाच्च पतिं पर्य्यचरत्तदा ।
अगस्त्यश्च परां प्रीतिं भार्य्यायामाचरत् प्रभुः ॥१२

वह लोपामुद्रा, इस समय बड़ी प्रसन्न थी और बड़े मान से अपने पति की सेवा कर रही थी। अगस्त्य मुनि भी आज-कल अपनी भार्या पर बड़े ही प्रसन्न थे ॥ १२ ॥

ततो बहुतिथे काले लोपामुद्रां विशाम्पते ।
तपसा द्योतितां स्नातां ददर्श भगवानृषिः ॥१३॥

हे राजन् ! बहुत समय व्यतीत हो जाने पर तप से चमकती हुई ऋतुस्नाता, लोपामुद्रा को भगवान् अगस्त्य ने देखा ॥ १३ ॥,

स तस्याः परिचारेण शौचेन च दमेन च ।
श्रिया रूपेण च प्रीतो मैथुनायाजुहाव ताम् ॥१४॥

एक दिन अगस्त्य मुनि ने इस लोपामुद्रा के परिचार (सेवा) शौच, संयम; तेज और रूप से मुग्ध होकर इसको सम्भोग के लिए बुलाया ॥ १४ ॥

ततः सा प्राञ्जलिर्भूत्वा लज्जमानेव भामिनी ।
सा तदा प्रणयं वाक्यं भगवन्तमथाब्रवीत् ॥१५॥

इस सुन्दरी लोपामुद्रा ने हाथ जोड़ कर और लज्जित सी होकर अपने तेजस्वी पति से प्रेमपूर्ण वचन कहा ॥१५॥

असंशयं प्रजाहेतोर्भार्य्यां पतिरविन्दत ।
या तु त्वयि मम प्रीतिस्तामृषेः कर्त्तुमर्हसि ॥१६॥

हे महाराज ! पति, भार्या को सन्तान के लिए ग्रहण करता है । हे महर्षे ! यदि आप मुझ से प्रसन्न हैं, तो आप संतान उत्पन्न कर सकते हैं ॥१६॥

यथा पितृगृहे विप्र प्रासादे शयनं मम ।
तथाविधे त्वं शयने मामुपैतुमिहार्हसि ॥१७॥

हे मुने ! यदि आप मुझ से संभोग करना चाहते हैं, तो जैसे पिता के घर पर महलों में उत्तम शय्या पर मैं सोती थी, वैसे ही उत्तम महल में दिव्य शय्या पर आप मुझसे संभोग कर सकते हो

इच्छामि त्वां स्रग्विनश्च भूषणैश्च विभूषितम् ।
उपसत्तु यथाकामं दिव्याभरणभूषिता ॥१८॥

मैं तो स्वयं हार और भूषणों से विभूषित होकर हार और भूषण-धारी आप से लिपटना चाहती हूँ ॥१८॥

अन्यथा नोपतिष्ठेयं चीरकाषायवासिनी ।
नैवापवित्रो विप्रर्षे भूषणोऽयं कथञ्चन ॥१९॥

यदि आप इस तरह नहीं मिल सकते हो, तो रहने दो। मैं फटे पुराने गेरुवे वस्त्र पहन कर मिलना नहीं चाहती हूँ। हे विप्रर्षे! इस तरह तो इस शुद्ध वेश को आप अपवित्र न करें।

अगस्त्य उवाच—

न ते धनानि विद्यन्ते लोपामुद्रे तथा मम ।
यथाविधानि कल्याणि पितुस्तव सुमध्यमे ॥२०॥

अगस्त्य बोले—हे कल्याणि! मेरे पास तो उतना धन नहीं है, जितना तेरे पिता के पास है ॥२०॥

लोपामुद्रोवाच—

ईशोऽसि तपसा सर्वं समाहर्तुं तपोधन ।
क्षणेन जीवलोके यद्वसु किञ्चन विद्यते ॥२१॥

लोपामुद्रा ने कहा—हे तपोधन! तुम अपने तप से क्षण भर में संसार के धन को खैंच कर यहां लाने में समर्थ हो ॥२१॥

अगस्त्य उवाच—

एवमेतद्यथात्थ त्वं तपोव्ययकरन्तु तत् ।
यथा तु मे न नश्येत तपस्तन्मां प्रचोदय ॥२२॥

अगस्त्य ने कहा—हे भद्रे ! तूने ठीक कहा है, परन्तु इस से तप क्षीण हो जाता है, जिस तरह मेरा तप क्षीण न हो तुम इतना ही मुझ से कहो ॥२२॥

लोपामुद्रोवाच—

अल्पावशिष्टः कालोऽयमृतोर्मम तपोधन ।
न चान्यथाहमिच्छामि त्वामुपैतुं कथञ्चन ॥२३॥

लोपामुद्रा बोली—हे तपोधन ! अब मेरे ऋतुकाल के थोड़े ही दिन शेष रह गए हैं, परन्तु इस सामग्री के बिना मैं तुम से संभोग करना नहीं चाहती हूँ ॥२४॥

न चापि धर्ममिच्छामि विलोप्तुन्ते कथञ्चन ।
एवन्तु मे कथाकामं सम्पादयितुमर्हसि ॥२४॥

इसके सिवा मैं तुम्हारा धर्म भी लुप्त करना नहीं चाहती हूँ । अब आपकी इच्छा है, इन दोनों में कोई सा भी कार्य तुम स्वीकार कर सकते हो ॥२४॥

अगस्त्य उवाच—

यद्येष कामः सुभगे तव बुद्धया विनिश्चितः ।
हर्तुं गच्छाम्यहं भद्रे चर काममिह स्थिता ॥२५॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि अगस्त्योपाख्याने
सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥९७॥

अगस्त्य ने कहा—हे भद्रे ! यदि यही ढंग तूने निश्चय कर लिया है, तो अच्छी बात है । मैं धन लेने जाता हूं; तू यहां ठहर कर अपनी इच्छानुसार निवास कर ॥२५॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत अगस्त्य उपाख्यान का
सत्तानवेवां अध्याय पूरा हुआ ।

अट्ठानवेवाँ अध्याय

लोमश उवाच—

ततो जगाम कौरव्य सोऽगस्त्योभिक्षितुं वसु ।
श्रुतर्वाणं महीपालं यं वेदाभ्यधिकं नृपैः ॥१॥

लोमश बोले—हे कुरु श्रेष्ठ! इसके अनन्तर महर्षि अगस्त्य धन मांगने के लिए राजा श्रुतर्वा के पास पहुंचे । वह इस राजा को अन्य राजाओं से उत्तम मानता था ॥१॥

स विदित्वा तु नृपतिः कुम्भयोनिमुपागतम् ।
विषयान्ते सहामात्यः प्रत्यगृह्णात् सुसत्कृतम् ॥२॥

जब राजा ने सुना, कि अगस्त्य मुनि आ रहे हैं, तो वह देश की सीमा पर मंत्री को साथ लेकर पहुंचा और सत्कार-पूर्वक मुनि को लिवा लाया ॥२॥

तस्मै चार्घ्यं यथान्यायमानीय पृथिवीपतिः ।
प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा पप्रच्छागमनेऽर्थिताम् ॥३॥

राजा ने महर्षि को विधि-पूर्वक अर्घ्य दिया और हाथ जोड़ कर नम्रता के साथ आगमन का कारण पूछा ॥३॥

अगस्त्य उवाच—

वित्तार्थिनमनुप्राप्तं विद्धि मां पृथिवीपते ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ मे ॥४॥

अगस्त्य ने कहा—हे पृथिवी पते! मैं आपके पास धन की इच्छा से आया हूं । आप अपनी शक्ति के अनुसार अन्यों के भाग न छीन कर मुझे भी मेरा भाग प्रदान करें ॥४॥

लोमश उवाच—

तत आयव्ययौ पूर्णौ तस्मै राजा न्यवेदयत् ।
अतो विद्वन्नुपादत्स्व यदत्र वसु मन्यसे ॥५॥

लोमश बोले—राजा ने उसके लिए आय और व्यय का तमाम हिसाब दिखा दिया, जो दोनों बराबर हो चुके थे । हे विद्वन्! अब जो कुछ द्रव्य शेष हो, तो आप ग्रहण कर सकते हैं ॥४॥

तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः ।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥६॥

सब में समान बुद्धि रखने वाले इस मुनि ने, आय व्यय को देख कर-अब द्रव्य ग्रहण करने से प्राणियों को पीड़ा होगी-यह समझ लिया ॥५॥

स श्रुतर्वाणमादाय ब्रध्नश्वमगमत्ततः ।
स च तौ विषयस्यान्ते प्रत्यगृह्णाद्यथाविधि ॥७॥

अब यह श्रुतर्वा को साथ लेकर ब्रध्नश्व राजा के पास पहुंचे । इसने सीमा पर आकर इन दोनों का स्वागत किया ॥६॥

तयोरर्घ्यञ्च पाद्यञ्च ब्रध्नश्वः प्रत्यवेदयत् ।
अनुज्ञाप्य च पप्रच्छ प्रयोजनमुपक्रमे ॥८॥

राजा ब्रध्नश्व ने इन दोनों को पाद्य और अर्घ्य अर्पण करके इनसे आज्ञा लेकर इस सारे उपक्रम (आगमन) का प्रयोजन पूछा ॥७॥

अगस्त्य उवाच—

वित्तकामाविह प्राप्तौ विद्धयावां पृथिवीपते ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ नौ ॥९॥

अगस्त्य ने कहा—हे राजन ! हम दोनों आपके पास धन की इच्छा से आए हैं । यथा शक्ति अन्य की हिंसा न करके हमको हमारा भाग प्रदान कर दो ॥८॥

लोमश उवाच—

तत आयव्ययौ पूर्णौ ताभ्यां राजा न्यवेदयत् ।
अतो ज्ञात्वा तु गृह्णीतं यदत्र व्यतिरिच्यते ॥१०॥

लोमश बोले—इस राजा ने भी इन दोनों को अपना आय व्यय (आमद खर्च) बराबर दिखा दिया और कहा—आप इस हिसाब को देखकर जो बचे उसे ग्रहण कर सकते हो ॥९॥

तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ समममतिर्द्विजः ।
सर्वथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥११॥

इस समदृष्टि द्विज ने जब आमद खरच को बराबर देखा, तो यहां से धन लेना भी अन्य प्राणियों की पीड़ा ही माना ॥१०॥

पौरुकुत्सं ततो जग्मुस्त्रसदस्युं महाधनम् ।
अगस्त्यश्च श्रुतर्वा च ब्रध्नश्वश्च महीपतिः ॥१२॥

अब अगस्त्य, श्रुतर्वा और राजा ब्रध्नश्व, तीनों मिल कर पुरुकुत्स के पुत्र, महा-धनी, राजा त्रसदस्यु के पास पहुँचे ॥११॥

त्रसदस्युस्तु तान् दृष्ट्वा प्रत्यगृह्णाद्यथाविधि।
अभिगम्य महाराज विषयान्ते महामनाः ॥१३॥

हे महाराज ! इस मनस्वी राजा त्रसदस्यु ने देश की सीमा पर पहुंच कर इनका सत्कार के साथ स्वागत किया ॥१२॥

अर्चयित्वा यथान्यायमिक्ष्वाकुराजसत्तमः ।
समस्तांश्च ततोऽपृच्छत् प्रयोजनमुपक्रमे ॥१४॥

इस इक्ष्वाकु वंशी राजा ने शास्त्रानुसार इनकी पूजा करके इन सबसे इनके आगमन का कारण पूछा ॥१३॥

अगस्त्य उवाच—

वित्तकामानिह प्राप्तान् विद्धि नः पृथिवीपते ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ नः ॥१५॥

अगस्त्य ने कहा—हे राजन् ! हम यहां धन की अभिलाषा से आए हैं, तुम अन्य को पीड़ा न पहुंचाकर हमारा भाग हमको दे दीजिए ॥१५॥

लोमश उवाच —

तत आयव्ययौ पूर्णौ तेषां राजा न्यवेदयत् ।
एतज्ज्ञात्वा ह्युपादत्त यदत्र व्यतिरिच्यते ॥१६॥

इस राजा ने भी इन सब को अपना आय व्यय बराबर हो जाने का हिसाब (खाता) दिखा दिया और कहा-अब आप इसको देखकर जो बचे, उस द्रव्य को ग्रहण कर सकते हो ॥१५॥

तत आयव्ययौ दृष्ट्वा समौ सममतिर्द्विजः ।
सवथा प्राणिनां पीडामुपादानादमन्यत ॥१७॥

इस समान दृष्टि-धारी द्विज ने आय व्यय (आमद खरच) को पूर्ण हुआ देख कर वहां से द्रव्य लेना--प्राणियों को पीड़ा देना समझा ॥१६॥

ततः सर्वे समेत्याथ ते नृपास्तं महामुनिम् ।
इदमूचुर्महाराज समवेक्ष्य परस्परम् ॥१८॥

हे महाराज! अब सारे राजा मिल कर और एक दूसरे की ओर देख कर महामुनि अगस्त्य से बोले ॥१७॥

अयं वै दानवो ब्रह्मन्निल्वलो वसुमान् भुवि ।
तमभिक्रम्य सर्वेऽद्य वयञ्चार्थामहे वसु ॥१९॥

लोमश उवाच

हे ब्रह्मन्! पृथिवी पर इल्वल दानव बड़ा धनवान है। हम सब आज उसके पास चल कर धन की याचना करें ॥१८॥

तेषां तदासीदुचितमिल्वलस्यैव भिक्षणम् ।
ततस्ते सहिता राजन्निल्वलं समुपाद्रवन् ॥२०॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि अगस्त्योपाख्याने अष्टनवतितमोध्यायः ॥९८॥

लोमश बोले—हे राजन्! उन सब को अब इल्वल दानव से ही धन मांगना उचित प्रतीत हुआ। ये सब इकट्ठे होकर राजा इल्वल के पास पहुंचे ॥१९॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्वमें अगस्त्य उपाख्यान का अट्ठानवेवां अध्याय पूरा हुआ।

निन्यानवेवां अध्याय

लोमश उवाच—

इल्वलस्तान् विदित्वा तु महर्षिसहितान्नृपान् ।
उपस्थितान् सहामात्यो विषयान्ते ह्यपूजयत् ॥१॥

लोमश बोले—हे राजन् ! जब दानवराज इल्वल ने महर्षियों के साथ आए हुए राजाओं को सुना, तो वह अपने देश की सीमा पर मन्त्री को साथ लेकर पहुंचा और इसने इनकी अच्छी तरह पूजा की ॥१॥

तेषां ततोऽसुरश्रेष्ठस्त्वातिथ्यमकरोत्तदा ।
सुसंस्कृतेन कौरव्य भ्रात्रा वातापिना तदा ॥२॥

हे कुरु-श्रेष्ठ ! इस समय इस असुरराज ने अपने भाई वातापि को मसालों के साथ पका कर इनका अतिथि सत्कार किया ॥२॥

ततो राजर्षयः सर्वे विषण्णा गतचेतसः ।
वातापिं संस्कृतं दृष्ट्वा मेषभूतं महासुरम् ॥३॥

मेषरूपी वातापि असुर को पका हुआ देखकर, सारे राजा अवाक् और अचेत से खड़े रह गए ॥ ३ ॥

अथाब्रवीदगस्त्यस्तान्राजर्षीनृषिसत्तमः ।
विषादो वो न कर्त्तव्यो ह्यहं भोक्ष्ये महासुरम् ॥४॥

अब महर्षि अगस्त्य, इन राजर्षियों से बोला—आप दुखी न होवें, मैं इस महासुर को खा जाता हूं ॥४॥

धुर्य्यासनमथासाद्य निषसाद महानृषिः ।
तं पर्य्यवेशद्दैत्येन्द्र इल्वलः प्रहसन्निव ॥५॥

यह महर्षि, सब से पहिले आसन पर बैठ गया। इसके लिए, हँसते हुए दैत्यराज इल्वल ने भोजन परोस दिया ॥५॥

अगस्त्य एव कृत्स्नन्तु वातापिं बुभुजे ततः ।
भुक्तवत्यसुरो ह्वानमकरोत्तस्य चेल्वलः ॥६॥

अगस्त्य ने जीमना आरम्भ किया और वह सारे वातापि को खा गया। जब ऋषि खा चुका, तो इल्वल ने उसको आवाज़ लगाई ॥६॥

ततो वायुः प्रादुरभूदधस्तस्य महात्मनः ।
शब्देन महता तात गर्जन्निव यथा घनः ॥७॥

इस समय इस महात्मा के अधोवायु प्रवृत्त हुआ। इसका मेघ की गर्जना के समान बड़ा भारी शब्द हुआ ॥७॥

वातापे निष्क्रमस्वेति पुनः पुनरुवाच ह ।
तं प्रहस्याब्रवीद्राजन्नगस्त्यो मुनिसत्तमः ॥८॥

इल्वल ने बार २ कहा—हे वातापे ! बाहर निकल। इस पर अगस्त्य मुनि ने हंसकर कहा ॥८॥

कुतो निष्क्रमितुं शक्तो मया जीर्णस्तु सोऽसुरः ।
इल्वलस्तु विषण्णोऽभूद् दृष्ट्वा जीर्णं महासुरम् ॥९॥
प्राञ्जलिश्च सहामात्यैरिदं वचनमब्रवीत् ।
किमर्थमुपयाताः स्थ ब्रूत किं करवाणि वः ॥१०॥

हे दैत्यराज ! अब वातापि कहां से निकल सकता है। मैं तो उसको जीर्ण (हजम) भी कर गया। इल्वल अपने भाई महासुर वातापि को जीर्ण हुवा देखकर बड़ा चिन्तित हुआ और मन्त्रियों के सहित हाथ जोड़ कर यह वचन बोला, कि तुम लोग, यहां कैसे पधारे हो। कहिए—मैं आपका क्या कार्य सम्पादन करूं ॥९-१०॥

प्रत्युवाच ततोऽगस्त्यः प्रहसन्निल्वलं तदा ।
ईशं ह्यसुर विद्मस्त्वां वयं सर्वे धनेश्वरम् ॥११॥

इस समय अगस्त्य ने हंसकर इल्वल से कहा—हे असुरराज ! हम सब ने तुमको कुबेर के तुल्य धनी समझा है ॥११॥

एते च नातिधनिनो धनार्थश्च महान्मम ।
यथाशक्त्यविहिंस्यान्यान् संविभागं प्रयच्छ नः ॥१२॥

ये राजा अधिक धन-शाली नहीं है और मुझे अधिक धन-राशि की आवश्यकता है। अब तुम अन्यों का भाग (हक) नष्ट न करके हमारा भाग हमको प्रदान कर दो ॥१२॥

ततोऽभिवाद्य तमृषिमिल्वलो वाक्यमब्रवीत् ।
दित्सितं यदि वेत्सि त्वं ततो दास्यामि ते वसु ॥१३॥

इस ऋषि से प्रणाम करके 'इल्वल ने कहा, यदि तुम यह बतादो, कि मैं तुमको क्या देना चाहता हूँ, 'तो तुमको अभिलषित-धन प्रदान कर सकता हूं ॥१३॥

अगस्त्य उवाच--

गवां दशसहस्राणि राज्ञामेकैकशोऽसुर ।
तावदेव सुवर्णस्य दित्सितं ते महासुर ॥१४॥

मह्यं ततो वै द्विगुणं रथश्चैव हिरण्मयः ।
मनोजवौ वाजिनौ च दित्सितं ते महासुर ॥१५॥

अगस्त्य ने कहा—हे महासुर ! तुम प्रत्येक 'राजा को दश हजार गायें भेंट करना चाहते हो और इतने ही सुवर्ण के सिक्के (मुहर) प्रत्येक राजा को देने की तुम्हारी इच्छा है। इसके सिवा मुझे द्विगुण धन, एक सुवर्ण का रथ तथा मन के समान वेगशील दो अश्व देने की इच्छा है ॥१४-१५॥

जिज्ञास्यतां रथः सद्यो व्यक्त एष हिरण्मयः ।
जिज्ञास्यमानः स रथ कौन्तेयासीद्धिरण्मयः ॥१६॥

तुम किसी रथ को निश्चित करो, वह अभी सुवर्ण का हो जाता है। हे कौन्तेय ! इसने ज्योंहि रथ का ध्यान किया। वह सुवर्ण का हो गया ॥१६॥

ततः प्रव्यथितो दैत्यो ददावभ्यधिकं वसु ।
विरावश्च सुरावश्च तस्मिन् युक्तौ रथे हयौ ॥१७॥

अब दैत्य को कुछ व्यथा हुई, परन्तु उस दैत्य ने इनको बहुत सा धन दे दिया। इस रथ में विराव और सुराव नामक दो अश्व जोड़े गए ॥१७॥

ऊहतुः स्म वसूनाशु तावगस्त्याश्रमं प्रति ।
सर्वान्राज्ञः सहागस्त्यान्निमेषादिव भारत ॥१८॥

इन दोनों अश्वों ने अगस्त्य के आराम के लिए उस धन का बोझा अपने ऊपर उठाया। इन सारे राजा और महर्षि को क्षण

भर में इन दोनों अश्वों ने अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँचा दिया ॥१८॥

अगस्त्येनाभ्यनुज्ञाता जग्मूराजर्षयस्तदा ।
कृतवांश्च मुनिः सर्वं लोपामुद्राचिकीर्षितम् ॥१९॥

अगस्त्य मुनि की आज्ञा से सारे राजर्षि अपने घर को गए । अगस्त्य मुनि ने भी अपनी पत्नी लोपामुद्रा की इच्छा पूर्ण की ।१६

लोपामुद्रोवाच---

कृतवानसि तत्सर्वं भगवन्मम कांक्षितम् ।
उत्पादय सकृन्मह्यमपत्यं वीर्य्यवत्तरम् ॥२०॥

हे भगवन्! आपने मेरी अभिलाषा पूर्ण कर दी है। अब आप मुझसे एक वीर्य-शाली पुत्र उत्पन्न कर सकते हो ॥२०॥

अगस्त्य उवाच---

तुष्टोऽहमस्मि कल्याणि तव वृत्तेन शोभने ।
विचारणामपत्ये तु तव वक्ष्यामि तां शृणु ॥२१॥

अगस्त्य ने कहा—हे कल्याणि ! मैं तुम्हारे इस व्यवहार से बड़ा ही सन्तुष्ट हुआ हूं । अब सन्तान के विषय में जो विचार है, वह सुनो ॥२१॥

सहस्रन्तेऽस्तु पुत्राणां शतं वा दशसम्मितम् ।
दश वा शततुल्याः स्युरेको वापि सहस्रजित् ॥२२॥

हे कान्ते ! तुम्हारे दश हजार या एक लाख पुत्र ; सकता हूं । इसी तरह दश पुत्र सौ पुत्रों के तुल्य हो सकते हैं या एक ही सहस्रों का विजयी उत्पन्न किया जा सकता है ॥२२॥

लोपमुद्रोवाच—

सहस्रसम्मितः पुत्र एकोऽप्यस्तु तपोधन ।

एको हि बहुभिः श्रेयान् विद्वान् साधुरसाधुभिः ॥२३॥

लोपामुद्रा ने कहा—हे तपोधन ! सहस्र पुत्रों के तुल्य शक्ति-शाली एक ही पुत्र ठीक है। एक विद्वान् साधु, पुत्र, दुष्ट अनेक पुत्रों से अच्छा माना गया है ॥२३॥

स तथेति प्रतिज्ञाय तथा समभवन्मुनिः ।

समये समशीलिन्या श्रद्धावान् श्रद्धयानया ॥२४॥

महर्षि ने इसकी बात मान ली और स्वीकार करके समान आचार वाली, श्रद्धा-रूप लोपामुद्रा से श्रद्धा-धारी मुनि ने ऋतु-काल में संगम किया ॥२४॥

तत आधाय गर्भन्तमगमद्वनमेव सः ।

तस्मिन् वनगते गर्भो ववृधे सप्त शारदान् ॥२५॥

यह मुनि इसके गर्भ स्थापन करके फिर वन में चला गया। इसके वन में चले जाने पर गर्भ सात वर्ष तक बढ़ता रहा ॥२५॥

सप्तमेऽब्दे गते चापि प्राच्यवत् स महाकविः ।

ज्वलन्निव प्रभावेन दृढस्युर्नाम भारत ॥२६॥

हे भारत सातवें वर्ष चले जाने पर यह महाकवि दृढायु उदर से बाहर निकला। जो अपने तेज से जाज्वल्यमान हो रहा था ॥२६॥

साङ्गोपनिषदान् वेदान् जपन्निव महातपाः ।
तस्य पुत्रोऽभवदृषेः स तेजस्वी महाद्विजः ॥२७॥

यह महा-तपस्वी, उपनिषदों के सहित वेदों को पढ़ रहा था। इस ऋषि का यह पुत्र, बड़ा तेजस्वी ब्राह्मण था ॥२७॥

स बाल एव तेजस्वी पितुस्तस्य निवेशने ।
इध्मानां भारमाजह्रे इध्मवाहस्ततोऽभवत् ॥२८॥

यह तेजस्वी बालक बचपन में ही लकड़ियों का बोझा उठा लाया था, जिससे इसका नाम इध्मवाह हुआ था।

तथायुक्तन्तु तं दृष्ट्वा मुमुदे स मुनिस्तदा ।
एवं स जनयामास भारतापत्यमुत्तमम् ॥२९॥

हे भारत ! अपने पुत्र को वेदाध्ययन और काष्ठ वाहन करता हुआ देखकर अगस्त्य मुनि बड़ा प्रसन्न हुआ। इस मुनि ने इस प्रकार एक उत्तम पुत्र उत्पन्न किया ॥२९॥

लेभिरे पितरश्चास्य लोकान्राजन् यथेप्सितान् ।
तत ऊर्ध्वमयं ख्यातस्त्वगस्त्यस्याश्रमो भुवि ॥३०॥

हे राजन ! अब इसके पितरों ने अपने लोकों को प्राप्त किया। तब से ही यह अगस्त्य का आश्रम भूमि पर ऊर्ध्व-मय नाम से विख्यात हुआ ॥३०॥

प्राह्लादिरेवं वातापिरगस्त्येनोपशामितः ।
तस्यायमाश्रमो राजन्रमणीयैर्गुणैर्युतः ॥३१॥

हे राजन्! प्रह्लाद गोत्रोत्पन्न, वातापि, इस तरह अगस्त्य ने शान्त कर दिया। उसी ऋषि का रमणीय गुणों से युक्त यह आश्रम है ॥३१॥

एषा भागीरथी पुण्या देवगन्धर्वसेविता।
वातेरिता पताकेव विराजति नभस्तले ॥३२॥

यह पवित्र, भागीरथी गङ्गा है, जिस पर देव और गन्धर्वों का निवास है। यह वायु से कम्पायमान पताका की भांति आकाश में सुशोभित हो रही है ॥ ३२ ॥

प्रताय्र्यमाणा कूटेषु यथानिम्नेषु नित्यशः।
शिलातलेषु संत्रस्ता पन्नगेन्द्रवधूरिव ॥३३॥

ऊंचे नीचे पर्वतों में बहती हुई गङ्गा, शिलातलों के नीचे सर्प की वधू सी प्रतीत हो रही है ॥३३॥

दक्षिणां वै दिशं सर्वां प्लावयन्ती च मातृवत्।
पूर्वं शम्भोर्जटाभ्रष्टा समुद्रमहिषी प्रिया।
अस्यां नद्यां सुपुण्यायां यथेष्टमवगाह्यताम् ॥३४॥

समुद्र की प्रिय पत्नी गङ्गा नदी, दक्षिण दिशा को माता के समान स्नान कराती हुई, प्रथम शंकर के जटा जूट में गिरी। अब तुम इस पवित्र नदी में इच्छानुसार स्नान करो ॥३४॥

लोमश उवाच—

युधिष्ठिर निबोधेदं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
भृगोस्तीर्थं महाराज महर्षिगणसेवितम् ॥३५॥
यत्रोपस्पृष्टवान्रामो हृतं तेजस्तदाप्तवान्।

लोमश ने कहा—हे युधिष्ठिर ! तीनों लोकों में विख्यात-महर्षियों के समूह से युक्त, भृगु का तीर्थ है। अब तुम इसके विषय में सुनो। इसी तीर्थ पर परशुराम ने स्नान आचमन किया, जिससे रामचन्द्रजी द्वारा अपहरण किया हुआ तेज फिर प्राप्त कर लिया ॥३५॥

अत्र त्वं भ्रातृभिः सार्द्धं कृष्णया चैव पाण्डव ॥३६॥
दुर्योधनहृतं तेजः पुनरादातुमर्हसि।
कृतवैरेण रामेण यथा चोपहृतं पुनः ॥३७॥

हे पाण्डव ! यहां तुम भी अपने भाई और द्रौपदी के साथ दुर्योधन से छीने हुए तेज को फिर पा सकोगे, जैसे बैर को धारण करने वाले परशुराम ने पा लिया ॥३६-३७॥

वैशम्पायन उवाच—

स तत्र भ्रातृभिश्चैव कृष्णया चैव पाण्डवः।
स्नात्वा देवान् पितृंश्चैव तर्पयामास भारत।
तस्य तीर्थस्य रूपं वै दीप्ताद्दीप्ततरं बभौ ॥३८॥
अप्रधृष्यतरश्चासीच्छात्रवाणां नरर्षभ।
अपृच्छच्चैव राजेन्द्र लोमशं पाण्डुनन्दनः ॥३९॥

वैशम्पायन बोले—हे भारत ! राजा युधिष्ठिर ने अपने भाई और द्रौपदी के साथ इस तीर्थ में स्नान करके देव और पितरों का अर्चन तर्पण किया। इस तीर्थ का दीप्तिमान् रूप और प्रदीप्त हो उठा तथा राजा युधिष्ठिर शत्रुओं के आक्रमण के अयोग्य हो गया ॥३८॥

भगवन् किमर्थं रामस्य हृतमासीद्वपुः प्रभो ।
कथं प्रत्याहृतञ्चैव एतदाचक्ष्व पृच्छतः ॥४०॥

हे राजेन्द्र ! पाण्डु-नन्दन युधिष्ठिर ने महर्षि लोमश से पूछा । हे भगवन् ! परशुराम का तेज क्यों अपहरण किया गया और फिर वह कैसे वापिस मिल गया-यह मुझे सब कुछ बताओ ॥४०

लोमश उवाच

शृणु रामस्य राजेन्द्र भार्गवस्य च धीमतः ।
ज़ातो दशरथस्यासीत् पुत्रो रामो महात्मनः ॥४१॥

लोमश बोले--हे राजन् ! बुद्धिमान् परशुराम और रामचन्द्र जी की इस कथा को सुनो । ये राम महात्मा दशरथ के पुत्र थे ॥

विष्णुः स्वेन शरीरेण रावणस्य वधाय वै ।
पश्यामस्तमयोध्यायां जातं दाशरथिं ततः ॥४२॥

भगवान् विष्णु, अपने शरीर से रावण के वध के लिए दश-रथ के पुत्र होकर अयोध्या में उत्पन्न हुए ॥४२॥

ऋचीकनन्दनो रामो भार्गवो रेणुकासुतः ।
तस्य दाशरथेः श्रुत्वा रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥४३॥
कौतूहलान्वितो रामस्त्वयोध्यामगमत् पुनः ।

ऋचीकनन्दन, भृगु गोत्री परशुराम रेणुका के पुत्र थे । इस ने महा पराक्रमी दशरथ पुत्र राम के पराक्रम की चर्चा सुनी । यह इस इच्छा के परवश होकर अयोध्या में पहुंचा ॥४३॥

धनुरादाय तद्दिव्यं क्षत्रियाणां निवर्हणम् ॥४४॥
जिज्ञासमानो रामस्य वीर्यं दाशरथेस्तदा ।

इसने क्षत्रियों के विजय करने वाले उन दिव्य धनुष को हाथ में लिया और रामचन्द्रजी के पराक्रम को जानना चाहा ।।४४।।

तं वै दशरथः श्रुत्वा विषयान्तमुपागतम् ।।४५।।
प्रेषयामास रामस्य रामं पुत्रं पुरस्कृतम् ।

जब दशरथ ने इनको अपने देश की सीमा पर आया हुआ सुना-तो अपने वीर पुत्र राम को परशुराम के स्वागत के लिए भेजा ।।४५।।

स तमभ्यागतं दृष्ट्वा उद्यतास्त्रमवस्थितम् ।।४६।।
प्रहसन्निव कौन्तेय रामो वचनमब्रवीत् ।

हे कौन्तेय ! शस्त्र-धारी रामचन्द्रजी को आया हुआ देखकर परशुराम ने हंस कर कहा ।।४६।।

कृतकालं हि राजेन्द्र धनुरेतन्मया विभो।। ४७।।
समारोपय यत्नेन यदि शक्तोपि पार्थिव ।

हे राम ! मैंने क्षत्रियों के नाश करने के लिए इस धनुष को काल बनाया है। जो तुम इसको डोरी पर चढ़ा सकते हो, तो यत्न करके चढ़ाओ ।।४७।।

इत्युक्तस्त्वाह भगवंस्त्वन्नाधिक्षेप्तुमर्हसि ।।४८।।
नाहमप्यधमो धर्मे क्षत्रियाणां द्विजातिषु ।
इक्ष्वाकूणां विशेषेण बाहुवीर्य्येण कत्थनम् ।।४९।।

जब परशुराम ने इतना कहा, तो रामचन्द्रजी बोले—हे भगवन् ! मैं आपका अनादर नहीं करना चाहता हूं। मैं

द्विजातियों में क्षत्रियों के कर्मों में अधर्म कर्म करने वाला नहीं हूं और इक्ष्वाकु वंशी तो विशेष कर अपने बाहुबल की प्रशंसा नहीं करते हैं ॥४८-४६॥

तमेवं वादिनं तत्र रामो वचनमब्रवीत् ।
अलं वै व्यपदेशेन धनुरायच्छ राघव ॥५०॥

जब रामचन्द्रजी ने इतना कहा, तो परशुरामजी ने कहा— हे राघव ! अधिक बकवाद में क्या रखा है, धनुष उठाओ और इसको चढ़ाओ ॥५०॥

ततो जग्राह रोपेण क्षत्रियर्षभसूदनम् ।
रामो दाशरथिर्दिव्यं हस्ताद्रामस्य कार्मुकम् ॥५१॥

अब आवेश में आकर रामचन्द्रजी ने क्षत्रिय वीरों के नाशक, इस दिव्य धनुष को परशुराम के हाथ में से ले लिया ॥५१॥

धनुरारोपयामास सलील इव भारत ।
ज्याशब्दमकरोच्चैव स्मयमानः स वीर्य्यवान् ॥५२॥
तस्य शब्दस्य भूतानि वित्रसन्त्यशनेरिव ।
अथाब्रवीत्तदा रामो रामं दाशरथिस्तदा ॥५३॥

हे भारत ! वीर्यवान् रामचन्द्रजी ने इस धनुष को साधारण बल से ही चढ़ा दिया और वह हंस कर धनुष की डोरी का शब्द करने लगे इस शब्द से प्राणी, वज्र गिरने के शब्द के समान भयभीत हो गए । तब दशरथ पुत्र राम ने परशुराम से कहा ॥५३

इदमारोपितं ब्रह्मन् किमन्यत् करवाणि ते।
तस्य रामो ददौ दिव्यं जामदग्न्यो महात्मनः ।
शरमाकर्णदेशान्तमयमाकृष्यतामिति ॥५४॥

हे ब्रह्मन्! यह धनुष चढ़ा दिया है, बताओ-अब अन्य आपकी क्या सेवा करूं। अब परशुराम ने इसको एक दिव्य बाण दिया, कि इसको चढ़ाकर इस धनुप को कान तक खैंच दो।

लोमश उवाच –

एतच्छ्रुत्वाब्रवीद्रामः प्रदीप्त इव मन्युना ।
श्रूयते क्षम्यते चैव दर्पपूर्णोऽसि भार्गव ।
त्वया ह्यधिग　जः क्षत्रियेभ्यो विशेषतः ॥५५॥

पितामहप्रसादेन तेन मां क्षिपसि ध्रुवम् ।
पश्य मां स्वेन रूपेण चक्षुस्ते विरताम्यहम् ॥५६॥

लोमश बोले—यह सुन कर रामचन्द्रजी रोष में भर गए। हे भार्गव! तुमको मैंने घमण्डी सुना था, वैसे ही निकले, तो भी मैं क्षमा ही कर रहा हूँ। तूने इस तेज को विशेष क्षत्रियों से ही पाया है। अब तू ब्रह्मा के वरदान के कारण मेरा अपमान करना चाहता है। इस समय तू मेरा दिव्य स्वरूप देख, मैं तुम्हें दिव्य चक्षु प्रदान करता हूँ ॥५६॥

ततो रामशरीरे वै रामः पश्यति भार्गवः ।
आदित्यान् सवसून रुद्रान् साध्यांश्च समरुद्गणान् ॥५७॥
पितरो हुताशनश्च नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।

गन्धर्वा राक्षसा यक्षा नद्यस्तीर्थानि यानि च ॥५८॥
ऋषयो वालखिल्याश्च ब्रह्मभूताः सनातनाः ।
देवर्षयश्च कार्त्स्नेन समुद्राः पर्वतास्तथा ॥५९॥
वेदाश्च सोपनिषदो वषट्कारैः सहाध्वरैः ।
चेतोमन्ति च सामानि धनुर्वेदश्च भारत ॥६०॥
मेघवृन्दानि वर्षाणि विद्युतश्च युधिष्ठिर ।

हे युधिष्ठिर ! इस समय रामचन्द्र जी के शरीर में भृगु वंशी परशुराम ने आदित्य, वसु, रुद्र, मरुद्गण, पितर, अग्नि, नक्षत्र, ग्रह, गन्धर्व राक्षस, यक्ष, नदी, तीर्थ, ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए, बालखिल्य सनातन ऋषि, देवर्षि, सारे समुद्र, पर्वत, वेद, उपनिषद, यज्ञ, वषट्कार, चेतना युक्त सामवेद, धनुर्वेद, मेघ, वर्षा, बिजली आदि को देखा ॥५९-६०॥

ततः स भगवान् विष्णुस्तं वै बाणं मुमोच ह ॥६१॥
शुष्काशनिसमाकीर्णं महोल्काभिश्च भारत ।
पांशुवर्षेण महता मेघवर्षैश्च भूतलम् ॥६२॥
भूमिकम्पैश्च निर्घातैर्नादैश्च विपुलैरपि ।

हे भारत ! अब भगवान् विष्णु (रामचन्द्र) ने उस बाण को छोड़ा, तो शुष्क बिजली और उल्कापात (तारे टूटना) तथा महान् मिट्टी और मेघ की वर्षा एवं विपुल भूमि के कम्पन, शब्द, अघातों से भूतल भर गयी ॥६१-६२॥

स रामं विह्वलं कृत्वा तेजश्चाक्षिप्य केवलम् ॥६३॥
आगच्छज्ज्वलितो बाणो रामबाहुप्रचोदितः ।

इन्होंने परशुराम को विह्वल करके इसका सारा तेज छीन लिया । रामचन्द्रजी के भुजाओं के बल से फेंका हुआ और जलता हुआ बाण, लौट आया ॥६३॥

स तु विह्वलतां गत्वा प्रतिलभ्य च चेतनाम् ॥६४॥
रामः प्रत्यागतप्राणः प्रागमद्विष्णुतेजसम् ।
विष्णुना सोऽभ्यनुज्ञातो महेन्द्रमगमत् पुनः ॥६५॥
भीतस्तु तत्र न्यवसत् व्रीडितस्तु महातपाः ।

परशुराम मूर्छित होकर और फिर सचेत हुआ । अब फिर इसमें प्राण लौटे तो इसने विष्णु के तेज राम को प्रणाम किया । यह महातपा परशुराम रामचन्द्रजी से आज्ञा लेकर महेन्द्र पर्वत पर चला गया और वहां लज्जा के साथ भयभीत सा रहने लगा ॥६४-६५॥

ततः सम्वत्सरेऽतीते हृतौजसमवस्थितम् ।
निर्मदं दुःखितं दृष्ट्वा पितरो राममब्रुवन् ॥६६॥

जब इस भांति एक वर्ष व्यतीत हो गया, तो तेज और मद-हीन, दुःखी पितर परशुराम से बोले ॥६६॥

पितर ऊचुः—

न वै सम्यगिदं पुत्र विष्णुमासाद्य वै कृतम् ।
स हि पूज्यश्च मान्यश्च त्रिषु लोकेषु सर्वदा ॥६७॥

गच्छ पुत्र नदीं पुण्यां वधूसरकृताह्वयाम् ।
तत्रोपस्पृश्य तीर्थेषु पुनर्वपुरवाप्स्यसि ॥६८॥

पितर बोले—हे पुत्र ! तुमने रामचन्द्रजी से झगड़ा करके अच्छा नहीं किया । यह तो तीनों लोकों में पूज्य और मान्य हैं । हे पुत्र ! अब तुम पवित्र वधुसर नदी पर जाओ । वहां तीर्थों पर स्नान करने से तुम अपना तेज फिर प्राप्त कर सकोगे ॥६८॥

दीप्तोदं नाम तत्तीर्थं यत्र ते प्रपितामहः ।
भृगुर्देवयुगे राम तप्तवानुत्तमं तपः ॥६९॥

हे राम ! दीप्तोद नाम का एक तीर्थ है, वहां तुम्हारे प्रपितामह भृगु ने सत्ययुग में उत्तम तप किया है ॥६९॥

तत्तथा कृतवान्रामः कौन्तेय वचनात् पितुः ।
प्राप्तवांश्च पुनस्तेजस्तीर्थेऽस्मिन् पाण्डुनन्दन ॥७०॥

हे कौन्तेय ! अपने पितरों के कथन से परशुराम ने वैसा ही किया । इससे इसने अपना तेज प्राप्त कर लिया ॥७०॥

एतदीदृशकं तात रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
प्राप्तमासीन्महाराज विष्णुमासाद्य वै पुरा ॥७१॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि जामदग्न्यतेजहानि
कथने एकोनशततमोऽध्यायः ॥९९॥

हे महाराज ! यह तीर्थ इस प्रकार महाबली परशुराम ने विष्णु के अवतार रामचन्द्रजी से झगड़ कर प्राप्त किया है ।७१॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रा पर्व में
परशुराम के तेज हानि का निन्यानवेवां
अध्याय पूरा हुआ ।

सौवाँ अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—

भूय एवाहमिच्छामि महर्षेस्तस्य धीमतः ।
कर्मणां विस्तरं श्रोतुमगस्त्यस्य द्विजोत्तम ॥१॥

युधिष्ठिर बोले—हे द्विजोत्तम ! मैं उस बुद्धिमान् अगस्त्य मुनि के कर्मों को विस्तार से सुनना चाहता हूँ ॥१॥

लोमश उवाच—

शृणु राजन् कथां दिव्यामद्भुतामतिमानुषीम् ।
अगस्त्यस्य महाराज प्रभावममितौजसः ॥२॥

लोमश ने कहा—हे महाराज ! मनुष्यों के लिए दुर्लभ, अद्भुत और दिव्य अत्यन्त तेजस्वी अगस्त्य मुनि की कथा सुनाता हूँ—तुम ध्यान से सुनो ॥२॥

आसन् कृतयुगे घोरा दानवा युद्धदुर्मदाः ।
कालकेया इति ख्याता गणाः परमदारुणाः ॥३॥

हे राजन् ! कृतयुग में बड़े युद्ध—शील, परम—दारुण, कालकेय नामक दानवों के गण थे ॥३॥

ते तु वृत्रं समाश्रित्य नानाप्रहरणोद्यताः ।
समन्तात् पर्य्यधावन्त महेन्द्रप्रमुखान् सुरान् ॥४॥

इन्होंने अनेक प्रकार के शस्त्र लेकर और वृत्रासुर को मुख्य बना कर सब ओर से इन्द्रादि देवों पर चढ़ाई कर दी ॥४॥

ततो वृत्रवधे यत्नमकुर्वंस्त्रिदशाः पुरा ।
पुरन्दरं पुरस्कृत्य ब्राह्मणमुपतस्थिरे ॥५॥

अब देवता इन्द्र को आगे करके वृत्रासुर के वध के उपाय सोचने लगे । ये सब ब्रह्माजी के पास पहुंचे ॥५॥

कृताञ्जलींस्तु तान् सर्वान् परमेष्ठीत्युवाच ह ।
विदितं मे सुराः सर्वं यद्वः कार्य्यञ्चिकीर्षितम् ॥६॥
तमुपायं प्रवक्ष्यामि यथा वृत्रं वधिष्यथ ।

हाथ जोड़ कर उपस्थित देवों से ब्रह्मा जी ने कहा—हे देवों मुझे सारा वृत्तान्त ज्ञात है, जो तुम काम करना चाहते हो और, जिस लिए तुम यहां आए हो अब मैं तुमको एक उपाय बताता हूँ, जिससे तुम वृत्रासुर को मार सकोगे ॥६॥

दधीच इति विख्यातो महानृषिरुदारधीः ॥७॥
तं गत्वा सहिताः सर्वे वरं वै सम्प्रयाचत ।
स वो दास्यति धर्मात्मा सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥८॥

एक दधीच नाम का महान् उदार ऋषि है । तुम सब उसके पास जाकर इकट्ठे ही वरदान मांगो । वह धर्मात्मा प्रसन्न होकर तुमको वरदान देगा ॥७-८॥

स वाच्यः सहितैः सर्वैर्भवद्भिर्जयकांक्षिभिः ।
स्वान्यस्थीनि प्रयच्छेति त्रैलोक्यस्य हिताय वै ॥९॥

तुम सारे विजय चाहने वाले उसके पास जाकर कहो—कि त्रिलोकी के हित के लिए अपनी हड्डी प्रदान कर दो ॥९॥

स शरीरं समुत्सृज्य स्वान्यस्थीनि प्रदास्यति ।
तस्यास्थिभिर्महाघोरं वज्रं संक्रियतां दृढम् ॥१०॥
महच्छत्रुहनं घोरं षडस्रि भीमनिस्वनम् ।
तेन वज्रेण वै वृत्रं वधिष्यति शतक्रतुः ॥११॥
एतद्वः सर्वमाख्यातं तस्माच्छीघ्रं विधीयताम् ।

वह शरीर का परित्याग करके अपनी हड्डी प्रदान कर देगा। इसकी अस्थियों से बड़ा दृढ़ महा घोर वज्र तय्यार कर लेना। यह वज्र, शत्रु—नाशक, घोर, छः कोणों का भयानक शब्दकारी होगा। इन्द्र इस वज्र से ही वृत्रासुर का वध कर सकेगा। हे देवो! मैंने तुमको सारी बातें बता दी। अब तुम इसका शीघ्र उपाय करो ॥१०-११॥

एवमुक्तास्ततो देवा अनुज्ञाप्य पितामहम् ॥१२॥
नारायणं पुरस्कृत्य दधीचस्याश्रमं ययुः।

जब ब्रह्मा जी ने देवों से इतना कहा—तो वे पितामह ब्रह्मा की अनुमति लेकर और नारायण को आगे करके दधीचि के आश्रम पर गए॥१२॥

सरस्वत्याः परे पारे नानाद्रुमलतावृतम् ॥१३॥
षट्पदोद्गीतनिनदैर्विघुष्टं सामगैरिव ।
पुंस्कोकिलस्वनोन्मिश्रं जीवंजीवकनादितम् ॥१४॥

यह आश्रम, सरस्वती नदी के दूसरे तट पर था, जो नाना प्रकार के वृक्ष और लताओं से घिरा हुआ, सामवेद के गाने

वालों के समान भ्रमरों के गीत से शब्दायमान, कोयल के स्वर से मिले हुए क्षुद्र जीव चिड़िया आदि के शब्दों से समन्वित जीवित सा प्रतीत हो रहा था, ॥१३-१४॥

महिषैश्च वराहैश्च सृमरैश्चमरैरपि ।
तत्र तत्रानुचरितं शार्दूलभयवर्जितैः ॥१५॥

इसमें महिष, शूकर हरिन, चमरीमृग, सिंह के भय से रहित होकर निःशङ्क घूम रहे थे ॥ १५ ॥

करेणुभिर्वारणैश्च प्रभिन्नकरटामुखैः ।
सरोऽवगाढैः क्रीडद्भिः समन्तादनुनादितम् ॥१६॥

अपने कपोलों से मद के टपकाने वाले और सरोवर में डुबकी लगा २ कर क्रीड़ा करने वाले हाथी और हथिनियों से यह आश्रम, सब ओर से कोलाहल पूर्ण था ॥१६॥

सिंहैर्व्याघ्रैर्महानादैर्नदद्भिरनुनादितम् ।
अपरैश्चापि संलीनैर्गुहाकन्दरशायिभिः ॥१७॥

यह वन में घूमने वाले गुहा, कन्दराओं में पड़े हुए, महानाद करने वाले, सिंह और व्याघ्रों से शब्दायमान था ॥१७॥

तेषु तेष्ववकाशेषु शोभितं सुमनोरमम् ।
त्रिविष्टपसमप्रख्यं दधीचाश्रममागमन् ॥१८॥

जहां तहां स्थान २ पर, सुशोभित और रमणीक, स्वर्ग समान सुन्दर, दधीचि के आश्रम पर देवता पहुंचे ॥१८॥

तत्रापश्यन् दधीचन्ते दिवाकरसमद्युतिम् ।
जाज्वल्यमानं वपुषा यथा लक्ष्म्या पितामहम् ॥१६॥

इन देवों ने सूर्य के समान चमकते हुए, शोभा से पितामह ब्रह्मा के तुल्य, अपने शरीर की कान्ति से जाज्वल्यमान, दधीचि को देखा ॥१६॥

तस्य पादौ सुरा राजन्नभिवाद्य प्रणम्य च ।
अयाचन्त वरं सर्वे यथोक्तं परमेष्ठिना ॥२०॥

हे राजन् देवों ने इसके चरणों को पकड़कर प्रणाम किया और ब्रह्माजी के बताए हुए वरदान को सबने मांगा ॥ २० ॥

ततो दधीचः परमः प्रतीतः सुरोत्तमांस्तानिदमभ्युवाच ।
करोमि यद्वो हितमद्य देवाः स्वञ्चापि देहं स्वयमुत्सृजामि ।२१

यह सुनकर दधीचि ऋषि बड़ा प्रसन्न हुआ और उन देवों से कहने लगा-हे देवों ! मैं आज तुम्हारा कार्य कर दूंगा, चाहे मुझे अपने प्राण त्याग करने पड़े ॥२१॥

स एवमुक्तो द्विपदां वरिष्ठः प्राणान् वशी स्वान् सहसोत्ससर्ज
ततः सुरास्ते जगृहुः परासोरस्थीनि तस्याथ यथोपदेशम् ।२२

इस मनुष्य-श्रेष्ठ महर्षि ने इतना कह कर अपने प्राणों का परित्याग कर दिया । अब देवों ने ब्रह्मा के उपदेश के अनुसार इस मृतक की अस्थियां ग्रहण कर ली ॥२२॥

प्रहृष्टरूपाश्च जयाय देवास्त्वष्टारमागम्य तमथमूचुः ।
त्वष्टा तु तेषां वचनं निशम्य प्रहृष्टरूपः प्रयतः प्रयत्नात् ।२३

अब देवों को अपनी विजय में सन्देह नहीं था, इसलिए बड़े प्रसन्न हो रहे थे। इन्होंने विश्वकर्मा के पास आकर अपना प्रयोजन कहा। विश्वकर्मा भी इनके वचन सुनकर प्रसन्नता पूर्वक बड़े यत्न से वज्र बनाने लगा ॥२३॥

चकार वज्रं भृशमुग्ररूपं कृत्वा च शक्रं स उवाच हृष्टः ।
अनेन वज्रप्रवरेण देव भस्मीकुरुष्वाद्य सुरारिमुग्रम् ॥२४॥

इसने बड़ा उग्र वज्र बनाया और बनाकर हर्ष के साथ इन्द्र से कहा। हे देवराज ! अब तुम इस भीषण वज्र से सुरों के शत्रु महाबली वृत्रासुर को भस्म कर दो ॥२४॥

ततो हतारिः सगणः सुखं वै प्रशाधि कृत्स्नं त्रिदिवं दिविष्ठः
त्वष्ट्रा तथोक्तस्तु पुरन्दरस्तद्वज्रं प्रहृष्टः प्रयतो ह्यगृह्णात् ।२५

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि वज्रनिर्माणकथने शततमोऽध्यायः ॥१००॥

इसके अनन्तर जब सेना समेत तुम्हारे शत्रु नष्ट हो जावेंगे, तो स्वर्ग के सिंहासन पर बैठे हुए स्वर्ग का शासन करते रहना। विश्वकर्मा के इतना कहने पर इन्द्र ने बड़ी प्रसन्नता से उस वज्र को ग्रहण कर लिया ॥२५॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में वज्र के निर्माण का सौवां अध्याय पूरा हुआ।



एकसौ एकवां अध्याय

लोमश उवाच—

ततः स वज्री बलिभिर्दैवतैरभिरक्षितः ।
आससाद ततो वृत्रं स्थितमावृत्य रोदसी ॥१॥

लोमश बोले—हे राजन्! अब इन्द्र, बलवान् देवों की सेना से सुरक्षित होकर आकाश और भूमि को घेर कर खड़े हुए वृत्रासुर के पास पहुंचा ॥१॥

कालकेयैर्महाकायैः समन्तादभिरक्षितम् ।
समुद्यतप्रहरणैः सशृङ्गैरिव पर्वतैः ॥२॥

यह वृत्रासुर भी शस्त्र-धारी, शिखर वाले पर्वतों के समान बड़े२ शरीर-धारी कालकेय संज्ञक असुरों से सुरक्षित था ॥३॥

ततो युद्धं समभवद्देवानां दानवैः सह ।
मुहूर्त्तं भरतश्रेष्ठ लोकत्रासकरं महत् ॥३॥

हे भरत-सत्तम! इस समय देवों का दानवों के साथ थोड़ी देर तक बड़ा घोर युद्ध हुआ, जिससे सारे लोक भयभीत हो गए ॥३॥

उद्यतप्रतिपिष्टानां खड्गानां वीरबाहुभिः ।
आसीत् सुतुमुलः शब्दः शरीरेष्वभिपात्यताम् ॥४॥

खड्गों के निकालते ही वीरों की भुजाओं के द्वारा टुकड़े २ कर देने तथा शरीरों में टकराने से खड्गों का महा-भयानक, शब्द हो रहा था ॥४॥

शिरोभिः प्रपतद्भिश्चाप्यन्तरीक्षान्महीतलम् ।
तालैरिव महाराज वृन्ताद्भ्रष्टैरदृश्यत ॥५॥

आकाश से पृथिवी पर गिरते हुए देव और दानवों के मस्तक अपने स्थान से टूट कर गिरते हुए ताल वृक्षों के फल से प्रतीत होते थे ॥५॥

ते हेमकवचा भूत्वा कालेयाः परिघायुधाः ।
त्रिदशानभ्यवर्तन्त दावदग्धा इवाद्रयः ॥६॥

परिघ नामक शस्त्र लेकर कालेय दैत्यों ने सुवर्ण के कवच धारण किए और दावाग्नि से जलते हुए पर्वतों के तुल्य प्रतीत होते हुए देवों पर टूट पड़े ॥६॥

तेषां वेगवतां वेगं साभिमानं प्रधावताम् ।
न शेकुस्त्रिदशाः सोढुं ते भग्नाः प्राद्रवन् भयात् ॥७॥

अभिमान के साथ दौड़कर आये हुए उन वेग-शील दैत्यों के वेग को देवता नहीं सह सके और वे भय से भागने लगे ।७॥

तान् दृष्ट्वा द्रवतो भीतान् सहस्राक्षः पुरन्दरः ।
वृत्रे विवर्द्धमाने च कश्मलं महदाविशत् ॥८॥

सहस्रनेत्र-धारी, इन्द्र, इन देवों को भय-भीत होकर भागते हुए और वृत्रासुर की वृद्धि देख कर बड़ा चिन्तित हुआ ॥८॥

कालेन भयसन्त्रस्तो देवः साक्षात् पुरन्दरः ।
जगाम शरणं शीघ्रं तन्तु नारायणं प्रभुम् ॥९॥

इस समय साक्षात् इन्द्र देव भी, भयभीत हो गए और शक्ति-शाली भगवान् विष्णु की शरणमें गए।९॥

तं शक्रं कश्मलाविष्टं दृष्ट्वा विष्णुः सनातनः।
स्वतेजो व्यदधच्छक्रे बलमस्य विवर्द्धयन् ॥१०॥

सनातन पुरुष, भगवान् विष्णु ने, दुःख से व्याप्त इन्द्र को देखकर अपना तेज इन्द्र में रख दिया, जिससे उसका बल बढ़ गया॥१०॥

विष्णुना गोपितं शक्रं दृष्ट्वा देवगणास्ततः।
सर्वे तेजः समादध्युस्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥११॥

दिव्य महर्षि और सारे देवताओं ने विष्णु से सुरक्षित, इन्द्र को देखकर अपना २ तेज धारण किया॥११॥

स समाप्यायितः शक्रो विष्णुना दैवतैः सह।
ऋषिभिश्च महाभागैर्बलवान् समपद्यत ॥१२॥

अब विष्णु द्वारा अभिरक्षित होकर देवों और महाभाग ऋषियों के साथ इन्द्र, बलवान् हो गया ॥१२॥

ज्ञात्वा बलस्थं त्रिदशाधिपन्तु ननाद वृत्रो महतो निनादान्
तस्य प्रणादेन धरा दिशश्च खं द्यौर्नगश्चापि चचाल सर्वम् ॥

बल से देदीप्यमान इन्द्र को देखकर वृत्रासुर बड़ी भारी गर्जना करने लगा। इसकी इस गर्जना से पृथिवी, दिशा, स्वर्ग अन्तरिक्ष, आकाश हिलने लगे ॥१३॥

ततो महेन्द्रः परमाभितप्तः श्रुत्वा रवं घोररूपं महान्तम्।
स भये निमग्नस्त्वरितो मुमोच वज्रं महत्तस्य वधाय राजन्

हे राजन्! इस वृत्रासुर की घोर गर्जना को सुनकर इन्द्र बड़ा सन्तप्त हुआ और भयभीत ने ही शीघ्रता से इसके वध के लिये अपना महान् वज्र छोड़ दिया॥ १४॥

स शक्रवज्राभिहतः पपात महासुरः काञ्चनमाल्यधारी।
यथा महाशैलवरः पुरस्तात् स मन्दरो विष्णुकराद्विमुक्तः।१५।

सुवर्ण की माला पहने हुए, यह वृत्रासुर, इन्द्र के वज्र से टकरा कर पूर्व काल में विष्णु के करों से गिरे हुए मन्दर पर्वत की भांति गिर गया॥ १५॥

तस्मिन् हते दैत्यवरे भयार्त्तः शक्रः प्रदुद्राव सरः प्रवेष्टुम्।
वज्रं स मेने न कराद्विमुक्तं वृत्रं भयाचापि हतं न मेने॥१६

इस दैत्य राज के मरने के समय डरकर इन्द्र, तालाब में छुपने को दौड़ा। इसको भय से यह भी विदित नहीं हुआ कि मैं वज्र को हाथ से छोड़ चुका और वृत्र मर चुका है॥ १६॥

सर्वे च देवा मुदिताः प्रहृष्टा महर्षयश्चेन्द्रमभिष्टुवन्तः।
सर्वांश्च दैत्यांस्त्वरिताः समेत्य जघ्नुः सुरा वृत्रवधाभितप्तान्
तैस्त्रास्यमानास्त्रिदशैःसमेतैः समुद्रमेवाविविशुर्भयार्त्ताः

इस समय सारे देवता, प्रसन्न हो गए और महर्षि गण, इन्द्र की स्तुति करने लगे। अब देवों ने वृत्र के मरने से व्याकुल दैत्यों पर इकट्ठा ही आक्रमण कर दिया और उनको मारने लगे। इन सारे देवों से डर कर दुःखी दैत्य, समुद्र में घुस गए॥ १७॥

प्रविश्य चैवोदधिमप्रमेयं झषाकुलं नक्रसमाकुलञ्च॥१८॥
तदा स्म मन्त्रं सहिताः प्रचक्रुस्त्रैलोक्यनाशार्थमभिस्मयन्तः

ये मछली और मगरों से भरे हुए अगाध समुद्र में घुस कर हंस २ कर, त्रिलोकी के नाश का उपाय सोचने लगे ॥ १८ ॥

तत्र स्म केचिन्मतिनिश्चयज्ञास्तांस्तानुपायानुपवर्णयन्ति ॥
तेषान्तु तत्र क्रमकालयोगाद्घोरा मतिश्चिन्तयतां बभूव ।

उन में से कुछ बुद्धिमान् अपनी २ बुद्धि के अनुसार उन २ उपायों को बताने लगे। इस समय सलाह करते हुए इन दैत्यों की इस क्रम और काल के योग से यह घोर बुद्धि हुई ॥ १९ ॥

ये सन्ति विद्यातपसोपपन्नास्तेषां विनाशः प्रथमन्तु कार्य्यः ॥
लोका हि सर्वे तपसा ध्रियन्ते तस्मात्त्वरध्वं तपसः क्षयाय ।

जो विद्या और तप से युक्त हैं, प्रथम उन प्राणियों का वध करो। ये सारे लोक तप से स्थित हैं, इससे तप के नाश के लिए शीघ्रता करो ॥ २० ॥

ये सन्ति केचिच्च वसुन्धरायां तपस्विनो धर्मविदश्च तज्ज्ञाः ।२१
तेषां वधः क्रियतां क्षिप्रमेव तेषु प्रनष्टेषु जगत् प्रनष्टम् ।

जो कोई भी पृथिवी पर तपस्वी, धर्मात्मा और ज्ञानी है, उनका ही शीघ्र वध करो, क्योंकि उनके वध से ही सारा जगत् स्वयं नष्ट हो जायगा ॥२१॥

एवं हि सर्वे गतबुद्धिभावा जगद्विनाशे परमप्रहृष्टाः ।
दुर्गं समाश्रित्य महोर्मिमन्तं रत्नाकरं वरुणस्यालयं स्म ॥२२

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि वृत्रवधोपाख्याने
एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार ये नष्ट बुद्धि दैत्य, जगत् के विनाश के लिए प्रसन्नता से तैयार होगए। इन्होंने वरुण के आलय, महा तरङ्गों से युक्त, समुद्र को ही अपना दुर्ग (किला) बनाकर उसमें डेरा लगाया॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वांतर्गत तीर्थयात्रापर्व में वृत्र के वध का एकसौएकवां अध्याय पूरा हुआ॥



एक सौ दोवां अध्याय

लोमश उवाच—

समुद्रन्ते समाश्रित्य कारणं निधिमम्भसः।
कालेयाः समवर्त्तन्त त्रैलोक्यस्य विनाशने॥१॥

लोमश बोले—ये कालेय संज्ञक, दैत्य, जल के कारण और निधि समुद्र का आश्रय लेकर त्रिलोकी के विनाश के लिए प्रवृत्त हुए॥ १॥

ते रात्रौ समभिक्रुद्धा भक्षयन्ति सदा मुनीन्।
आश्रमेषु च ये सन्ति पुण्येष्वायतनेषु च॥२॥

ये क्रोधित हुए दैत्य, रात में जाकर पवित्र आश्रम और वनों में रहने वाले मुनियों को खा जाते थे॥ २॥

वशिष्ठस्याश्रमे विप्रा भक्षितास्तैर्दुरात्मभिः।
अशीतिः शतमष्टौ च नव चान्ये तपस्विनः॥३॥

इन दुष्टों ने वसिष्ठ के आश्रम में एक सौ सत्तानवें तपस्वी ब्राह्मणों का भक्षण कर लिया॥ ३॥

च्यवनस्याश्रमं गत्वा पुण्यं द्विजनिषेवितम् ।
फलमूलाशनानां हि मुनीनां भक्षितं शतम् ॥४॥

फिर ये द्विजों से भरे हुए च्यवन ऋषि के आश्रम में पहुंचे। वहां इन्होंने फल मूल खाने वाले सौ मुनि खाए ॥ ४ ॥

एवं रात्रौ स्म कुर्वन्ति विविशुश्चार्णवं दिवा ।
भरद्वाजाश्रमे चैव नियतब्रह्मचारिणः ॥५॥
वाय्वाहाराम्बुभक्षाश्च विंशतिः संनिषूदिताः ।

ये दैत्य, रात में ऐसा करते थे और दिन में समुद्र में घुस जाते थे। इस तरह भरद्वाज के आश्रम में भी वायु और जल के आहार करने वाले बीस नैष्ठिक ब्रह्मचारी मार डाले ॥५ ॥

एवं क्रमेण सर्वांस्तानाश्रमान् दानवास्तदा ॥६॥
निशायां परिबधन्ते मत्ता भुजबलाश्रयात् ।

इस प्रकार इन दानवों ने सारे आश्रमों को रात में मथ डाला। ये अपने भुज बल के आश्रय से मदोन्मत्त हो रहे थे ॥६॥

कालोपसृष्टाः कालेया घ्नन्तो द्विजगणान् बहून् ॥७॥
न चैनानन्वबुध्यन्त मनुजा मनुजोत्तम ।
एवं प्रवृत्तान् दैत्यांस्तांस्तापसेषु तपस्विषु ॥८॥

हे मनुजोत्तम ! इस तरह काल के वश में हुए कालेय दैत्यों ने बहुत से द्विजों को मार लिया। परन्तु इस बात का किसी को पता नहीं लगा, कि ये दैत्य, इन तप करने वाले मुनियों का विनाश कर रहे हैं ॥७-८॥

प्रभाते समदृश्यन्त नियमाहारकर्पिताः ।
महीतलस्था मुनयः शरीरैर्गतजीवितैः ॥९॥

प्रातःकाल सब लोगों ने देखा कि नियमानुसार आहार करने वाले मुनि, प्राण रहित शरीरों से भूमि पर पड़े हैं ॥ ९ ॥

क्षीणमांसैर्विरुधिरैर्विमज्जान्त्रैर्विसन्धिभिः ।
आकीर्णैराबभौ भूमिः शङ्खानामिव राशिभिः ॥१०॥

मांस, रक्त, मज्जा, अन्न आदि से रहित, संधि जोड़ खुले हुए मुनियों की हड्डियों से शंखों से व्याप्त हुई सी भूमि दिखाई देने लगी ॥ १० ॥

कलशैर्विप्रविद्धैश्च स्रुवैर्भग्नैस्तथैव च ।
विकीर्णैरग्निहोत्रैश्च भूर्बभूव समावृता ॥११॥

फूटे हुए कलश, टूटे हुए स्रुचे तथा फैले हुए अग्निहोत्र के साधनों से भूमि भर गई ॥ ११ ॥

निस्स्वाध्यायवषट्कारं नष्टयज्ञोत्सवक्रियम् ।
जगदासीन्निरुत्साहं कालेयभयपीडितम् ॥१२॥

अब कहीं भी वेदाध्ययन, वषट्कार नहीं थे । सब जगह यज्ञोत्सव नष्ट हो चुके थे । इन कालेय दैत्यों के भय से जगत् नष्ट सा हो चुका था ॥ १२॥

एवं संक्षीयमाणाश्च मानवा मनुजेश्वर ।
आत्मत्राणपरा भीताः प्राद्रवन्त दिशो भयात् ॥१३॥

हे मनुजेश्वर ! इस भांति मनुष्यों का विनाश हो गया और वह अपनी रक्षा चाहते हुए इधर उधर दिशाओं में भागने लगे ।

केचिद्गुहाः प्रविविशुर्निर्झरांश्चापरे तथा ।
अपरे मरणोद्विग्ना भयात् प्राणान् समुत्सृजन् ॥१४॥

कोई गुफाओं में चले गए और कोई झरनों में जा छिपे और किसी २ ने मृत्यु के भय से प्राण छोड़ दिये ॥ १४ ॥

केचिदत्र महेष्वासाः शूराः परमहर्षिताः ।
मार्गमाणाः परं यत्नं दानवानां प्रचक्रिरे ॥१५॥

किन्हीं धनुषधारी शूरवीरों ने हर्ष के साथ बड़े यत्न से दानवों के पते लगाने का प्रयत्न किया ॥ १५ ॥

न चैतानधिजग्मुस्ते समुद्रं समुपाश्रितान् ।
श्रमं जग्मुश्च परममाजग्मुः क्षयमेव च ॥१६॥

परन्तु कोई भी इनका पता नहीं लगा सका, क्योंकि वे समुद्र में छुपे रहते थे। इन खोजने वालों को बड़ा श्रम हुआ और अन्त में ये घर लौट आए ॥ १६ ॥

जगत्युपशमं जाते नष्टयज्ञोत्सवक्रिये ।
आजग्मुः परमामार्त्तिं त्रिदशा मनुजेश्वर ॥१७॥
समेत्य समहेन्द्राश्च भयान्मन्त्रं प्रचक्रिरे ।

हे मनुजेश्वर ! जब जगत् का विनाश सा हो गया और यज्ञ तथा क्रियाएँ नष्ट हो गईं। देवता बड़े क्लेश को प्राप्त हुए, ये सारे इकट्ठे होकर इन्द्र सहित भय से सलाह करने लगे १७

शरण्यं शरणं देवं नारायणमजं विभुम् ॥१८॥
तेऽभिगम्य नमस्कृत्य वैकुण्ठमपराजितम् ।
ततो देवाः समस्तास्ते तदोचुर्मधुसूदनम् ॥१९॥

इसके अनन्तर सारे देवता शरणागत वत्सल, रक्षक, नारायण देव, अज, विभु, पराजित नहीं होने वाले भगवान् विष्णु, के पास पहुंचे। उन्होंने उनके पास जाकर नमस्कार किया और उनसे कहने लगे ॥ १८-१६ ॥

त्वं नः स्रष्टा च कर्त्ता च हर्त्ता च जगतः प्रभो ।
त्वया सृष्टमिदं विश्वं यच्चेङ्ग यच्च नेङ्गति ॥२०॥

हे प्रभो ! तुमही हमारे रचने वाले और जगत् के कर्ता धर्ता हो और तुमही इस चेतन अचेतन विश्वके रचने वाले हो ॥२०

त्वया भूमिः पुरा नष्टा समुद्रात् पुष्करेक्षण ।
वाराहं वपुराश्रित्य जगदर्थं समुद्धृता ॥२१॥

हे कमल-लोचन ! तुमने ही जगत् के कल्याण के लिए पूर्वकाल में समुद्र में डूबी हुई भूमिका वाराह रूप धारण करके उद्धार किया है ॥ २१ ॥

आदिदैत्यो महावीर्य्यो हिरण्यकशिपुः पुरा ।
नारसिंहं वपुः कृत्वा सूदितः पुरुषोत्तम ॥२२॥

हे पुरुषोत्तम ! आपने सर्व प्रथम उत्पन्न हुए महा-शक्तिशाली हिरनाकुश दैत्य को नरसिंह रूप धारण करके नष्ट किया है २२॥

अवध्यः सर्वभूतानां बलिश्चापि महासुरः ।
वामनं वपुराश्रित्य त्रैलोक्याद् भ्रंशितस्त्वया ॥२३॥

सब प्राणियों से अवध्य, बलि दैत्य भी वामनावतार धारण करके आपने ही त्रिलोकी से गिरा कर पाताल भेज दिया ॥२३॥

असुरश्च महेष्वासो जम्भ इत्यभिविश्रुतः ।

यज्ञक्षोभकरः क्रूरस्त्वयैव विनिपातितः ॥२४॥

महा-धनुष धारी यज्ञों का विनाशक, क्रूर जम्भ नामक प्रसिद्ध दानव भी आपने ही मारा है ॥ २४ ॥

एवमादीनि कर्माणि येषां संख्या न विद्यते ।

अस्माकं भयभीतानां त्वं गतिर्मधुसूदन ॥२५॥

हे मधुसूदन ! आपके इस तरह के सुकर्मों की कोई गणना ही नहीं है । हम भयभीतों की तुम ही गति हो ॥ २५ ॥

तस्मात्त्वां देवदेवेश लोकार्थं ज्ञापयामहे ।

रक्ष लोकांश्च देवांश्च शक्रञ्च महतो भयात् ॥२६॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि विष्णुस्तवे
द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१०२

हे देव देवेश ! हम तो आपको लोकों की रक्षा के लिए प्रेरणा करते हैं । इस समय आप इस महा भय से लोक, देव और इन्द्र की रक्षा करो ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारतवनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में श्रीविष्णु की
स्तुति का एक सौ दोवां अध्याय पूरा हुआ ।



एक सौ तीनवां अध्याय

देवा ऊचुः—

तव प्रसादाद्वर्द्धन्ते प्रजाः सर्वाश्चतुर्विधाः ।
ता भाविता भावयन्ति हव्यकव्यैर्दिवौकसः ॥१॥

देव बोले-हे भगवन् ! आपके अनुग्रह से सुर, नर, तिर्यक् स्थावर प्रजा वृद्धि पाती रहती है। जब यह पुष्ट होती हैं, तो हव्य और कव्य से देव पितरों को तृप्त करते हैं ॥ १ ॥

लोका ह्येवं विवर्द्धन्ते ह्यन्योन्यं समुपाश्रिताः ।
त्वत्प्रसादान्निरुद्विग्नास्त्वयैव परिरक्षिताः ॥२॥

इस प्रकार एक दूसरे के आश्रय में होकर लोक अपनी वृद्धि करते रहते हैं। वे तेरे अनुग्रह से सुखी और सुरक्षित रहते हैं।

इदञ्च समनुप्राप्तं लोकानां भयमुत्तमम् ।
न च जानीम केनेमे रात्रौ वध्यन्ति ब्राह्मणाः ॥३॥

इस समय जगत् में यह भय खड़ा हो गया है। हमको इसका कुछ भी ज्ञान नहीं है, कि रात में ब्राह्मणों को कौन मार डालता है ॥३॥

क्षीणेषु च ब्राह्मणेषु पृथिवी क्षयमेष्यति ।
ततः पृथिव्यां क्षीणायां त्रिदिवं क्षयमेष्यति ॥४॥

यदि ब्राह्मण क्षीण हो गए—तो सारी पृथिवी क्षीण हो जावेगी और जब पृथिवी ही क्षीण हो गई तो स्वर्ग का भी नाश समझिए ॥४॥

त्वत्प्रासादान्महाबाहो लोकाः सर्वे जगत्पते ।
विनाशं नाधिगच्छेयुस्त्वया वै परिरक्षिताः ॥५॥

हे जगत्पते ! महाबाहो ! आपकी कृपा से सुरक्षित हुए, ये सारे लोक जैसे विनष्ट न होवें, वैसा ही उपाय करो ॥५॥

विष्णुरुवाच—

विदितं मे सुराः सर्वं प्रजानां क्षयकारणम् ।
भवताञ्चापि वक्ष्यामि शृणुध्वं विगतज्वराः ॥६॥

भगवान् विष्णु ने कहा—हे देवों ! मुझे प्रजा के क्षय का सारा कारण ज्ञात है । अब मैं तुमको भी बताता हूं, तुम ध्यान से सुनो । इसके सुनने से तुम्हारा क्लेश नष्ट हो जावेगा ॥६॥

कालेय इति विख्यातो गणः परमदारुणः ।
तैश्च वृत्रं समाश्रित्य जगत् सर्वं प्रमाथितम् ॥७॥

कालेय संज्ञक, दैत्यों का एक परम दारुण, प्रसिद्ध गण है । जिन्हों ने वृत्रासुर को सेनापति बना कर सारा जगत् मथ डाला था ॥७॥

ते वृत्रं निहतं दृष्ट्वा सहस्राक्षेण धीमता ।
जीवितं परिरक्षन्तः प्रविष्टा वरुणालयम् ॥८॥

जब इन्होंने बुद्धिमान् इन्द्र से मारे हुए वृत्रासुर को देखा-तो ये जीव बचाने के लिए भय से समुद्र में घुस गए ॥८॥

ते प्रविश्योदधिं घोरं नक्रग्राहसमाकुलम् ।
उत्सादनार्थं लोकानां रात्रौ घ्नन्ति ऋषीनिह ॥९॥

ये दैत्य, मकर, ग्राह आदि जल जन्तुओंसे आकुल, घोर समुद्र में घुस कर लोक के नाश करने के लिए रात में ऋषियों को मार डालते थे ॥९॥

न तु शक्याः क्षयं नेतुं समुद्राश्रयगा हि ते ।
समुद्रस्य क्षये बुद्धिर्भवद्भिः सम्प्रधार्य्यताम् ॥१०॥

अब तुम उसका नाश नहीं कर सकते हो, क्योंकि वे समुद्रमें रहते हैं। यदि उनका नाश करना है, तो समुद्र के नाश करने का प्रयत्न करो ॥१०॥

अगस्त्येन विना कोहि शक्तोऽन्योऽर्णवशोषणे ।
अन्यथा हि न शक्यास्ते विना सागरशोषणम् ॥११॥

अगस्त्य मुनि के सिवा समुद्र के शोषण में कौन समर्थ हो सकता है और विना समुद्रके सुखाए ये दैत्य नहीं मारे जा सकते ॥११॥

एतच्छ्रुत्वा तदा देवा विष्णुना समुदाहृतम् ।
परमेष्ठिनमाज्ञाप्य अगस्त्यस्याश्रमं ययुः ॥१२॥

जब भगवान् विष्णु ने इतना कहा—तो ये देव, इतना सुन कर ब्रह्माजी से आज्ञा लेकर अगस्त्य के आश्रम पर पहुंचे ॥१२

तत्रापश्यन्महात्मानं वारुणिं दीप्ततेजसम् ।
उपास्यमानमृषिभिर्देवैरिव पितामहम् ॥१३॥

यहां इन्होंने ब्रह्मा की सेवा में उपस्थित देवों के तुल्य ऋषियों से सेवित, मित्रावरुण के पुत्र अगस्त्य मुनि को देखा ॥१३॥

तेऽभिगम्य महात्मानं मैत्रावरुणिमच्युतम् ।
आश्रमस्थं तपोराशिं कर्मभिः स्वैरभिष्टुवन् ॥१४॥

ये देवता, मैत्रावरुण के पुत्र, बड़े दृढ़, आश्रम में स्थित, तप के राशि, महात्मा अगस्त्य मुनि के पास पहुँच कर कर्मों से उनकी स्तुति करने लगे ॥१४॥

देवा ऊचुः—

नहुषेणाभितप्तानां त्वं लोकानां गतिः पुरा ।
भ्रंशितश्च सुरैश्वर्यात् स्वर्लोकाल्लोककण्टकः ॥१५॥

देवों ने कहा—हे मुने ! पूर्वकाल में तुम नहुष से क्लेशित लोकों की रक्षा कर चुके हो। इस लोक के कण्टक नहुष को तुमने ही देवों के ऐश्वर्यों से युक्त स्वर्ग से भ्रष्ट किया था ॥१५॥

क्रोधात् प्रवृद्धः सहसा भास्करस्य नगोत्तमः ।
वचस्तवानतिक्रामन् विन्ध्यः शैलो न वर्द्धते ॥१६॥

पर्वतों में श्रेष्ठ, विन्ध्य पर्वत, क्रोध करके सूर्य के मार्ग में बढ़ा चला आया, परन्तु तुम्हारे वचन की मर्यादा मान कर यह पर्वत अब नहीं बढ़ पाता है ॥१६॥

तमसा चावृते लोके मृत्युनाभ्यर्दिताः प्रजाः ।
त्वामेव नाथमासाद्य निर्वृतिं परमाङ्गताः ॥१७॥

पूर्वकाल में संसार अन्धकार से भर गया और सारी प्रजा मृत्यु से व्याकुल हो उठी। उस समय तुमही रक्षक हुए, जिससे प्रजा को शान्ति प्राप्त हुई थी ॥१७॥

अस्माकं भयभीतानां नित्यशो भगवान् गतिः ।
ततस्त्वार्त्ताः प्रयाचामो वरं त्वां वरदो ह्यसि ॥१८॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि अगस्त्यमाहात्म्यकथने
त्र्यधिकशततमो ध्यायः ॥१०३॥

जब हमको भय प्राप्त होता है, तब आप ही हमारी गति (रक्षा करने वाले) होते हो। अब व्याकुल होकर हम आप से वर मांगते हैं, क्योंकि आप वरदाता हैं ॥१८॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में अगस्त्य के
माहात्म्य-कथन का एक सौ तीनवां अध्याय
पूरा हुआ।



एकसौ चारवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—

क्रिमर्थंसहसा विन्ध्यः प्रवृद्धः क्रोधमूर्छितः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण महामुने ॥१॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे महामुने ! अचानक क्रोधमें भर कर विन्ध्य पर्वत, क्यों बढ़गया। मैं इसको विस्तार के साथ सुनना चाहता हूं ॥१॥

लोमश उवाच—

अद्रिराजं महाशैलं मेरुं कनकपर्वतम् ।
उदयास्तमने भानुः प्रदक्षिणमवर्त्तत ॥२॥

लोमश बोले—महा पर्वत, अद्रिराज, सुवर्ण रचित, मेरु पर्वत के उदय और अस्त के समय सूर्य प्रदक्षिणा करता रहताहै

तन्तु दृष्ट्वा तथा विन्ध्यः शैलः सूर्य्यमथाब्रवीत् ।

यथा हि मेरुर्भवता नित्यशः परिगम्यते ॥३॥

प्रदक्षिणश्च क्रियते मामेवं कुरु भास्कर ।

हे सूर्य देव ! इस प्रकार सूर्य की परिक्रमा करते देख कर विन्ध्य पर्वत ने सूर्य से कहा, कि जिस तरह तुम नित्य मेरुपर्वत की परिक्रमा करते हो, उसी तरह मेरी परिक्रमा किया करो ॥३॥

एवमुक्तस्ततः सूर्य्यः शैलेन्द्रं प्रत्यभाषत ॥४॥

नाहमात्मेच्छया शैल करोम्येनं प्रदक्षिणम् ।

एष मार्गः प्रदिष्टो मे यैरिदं निर्मितं जगत् ॥५॥

जब मेरु पर्वत ने इतना कहा—तो सूर्य ने शैलेन्द्र से कहा-हे शैल ! मैं अपनी इच्छा से उसकी परिक्रमा नही करता हूं । मेरा तो यह मार्ग, उसी परमात्मा ने निर्दिष्ट कर दिया है, जिसने जगत् बनाया है ॥४-५॥

एवमुक्तस्ततः क्रोधात् प्रवृद्धः सहसाचलः ।

सूर्य्याचन्द्रमसोर्मार्गं रोद्धु मिच्छन् परन्तप ॥६॥

हे परन्तप ! जब सूर्य ने इतना कहा—तो विन्ध्य पर्वत, क्रोध करके सूर्य और चन्द्रमा के मार्ग को रोकने के लिए एक दम बढ़ चला ॥६॥

ततो देवाः सहिताः सर्व एव विन्ध्यं समागम्य महाद्रिराजम् ।
निवारयामासुरुपायतस्तं न च स्म तेषां वचनञ्चकार ॥७॥

इस समय सारे देवों ने इकट्ठे होकर और अद्रिराज विन्ध्य के समीप जाकर उपायों से उसे निवृत्त करना चाहा, परन्तु उसने इनके वचनों को नहीं माना ॥७॥

अथाभिजग्मुर्मुनिमाश्रमस्थं तपस्विनं धर्मभृताम्वरिष्ठम् ।
अगस्त्यमत्यद्भुतवीर्य्यवन्तं तञ्चार्थमूचुः सहिताः सुरास्ते ॥

अब ये, अद्भुत शक्ति शाली, धर्मात्माओं में श्रेष्ठ, आश्रम में बैठे हुए, तपस्वी अगस्त्य मुनि के पास पहुंचे और उन सारे देवों ने अपनी इस कठिनाई को मुनि के सामने पेश किया ॥८॥

देवा ऊचुः--

सूर्य्याचन्द्रमसोर्मार्गं नक्षत्राणां गतिं तथा ।
शैलराजो वृणोत्येष विन्ध्यः कोपवशानुगः ॥९॥

देवों ने कहा--हे मुने ! सूर्य और चन्द्रमा के मार्ग तथा नक्षत्रों की गति को यह क्रोधी, शैलराज विन्ध्य रोक रहा है ॥९।

तं निवारयितुं शक्तो नान्यः कश्चित् द्विजोत्तम ।
ऋते त्वां हि महाभाग तस्मादेनं निवारय ॥१०॥

हे द्विजोत्तम ! इसको तुम्हारे सिवा अन्य कोई भी रोकने में समर्थ नहीं है, इस लिए तुम इसको रोको ।१०॥

तच्छ्रुत्वा वचनं विप्रः सुराणां शैलमभ्यगात् ।
सोऽभिगम्याब्रवीद्विन्ध्यं सदारः समुपस्थितम् ॥११॥

देवों के वचन सुन कर महर्षि पर्वत के पास पहुंचा। इसने स्त्री के साथ पर्वत के पास आकर उस खड़े हुए विन्ध्य पर्वत से कहा ॥११॥

मार्गमिच्छाम्यहं दत्तं भवता पर्वतोत्तम।
दक्षिणामभिगन्तास्मि दिशं कार्य्येण केनचित् ॥१२॥

हे पर्वत-राज! मैं मार्ग चाहता हूं—आप मुझे मार्ग प्रदान कीजिए। मुझे किसी कार्य के लिए दक्षिण दिशा को जाना है॥

यावदागमनं मह्यं तावत्त्वं प्रतिपालय।
निवृत्ते मयि शैलेन्द्र ततो वर्द्धस्व कामतः ॥१३॥

हे शैलेन्द्र! जब तक मैं लौट आऊं, तब तक तू ठहर जा। इसके पीछे तू अपनी इच्छानुसार बढ़ जाना ॥१३॥

एवं स समयं कृत्वा विन्ध्येनामित्रकर्षण।
अद्यापि दक्षिणाद्देशाद्वारुणिर्न निवर्त्तते ॥१४॥

हे शत्रु-विजयी! इस प्रकार विन्ध्य पर्वत से नियम (शर्त) तय करके अगस्त्य मुनि, दक्षिण दिशा को चले गए, जो दक्षिण देश से आज तक नहीं लौटे हैं ॥१४॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यथा विन्ध्यो न वर्द्धते।
अगस्त्यस्य प्रभावेन यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥१५॥

कालेयास्तु यथा राजन् सुरैः सर्वैर्निषूदिताः।
अगस्त्याद्वरमासाद्य तन्मे निगदतः शृणु ॥१६॥

हे राजन्! यह विन्ध्य पर्वत अगस्त्य मुनि के प्रभाव में जिस तरह नहीं बढ़ता है—यह मैंने तुमको सुना दिया। अब जो तुम पूछते हो, कि सारे देवों ने कालेय दैत्यों को अगस्त्य के वरदान से कैसे मारा-वह मैं तुमसे कहता हूँ, तुम सुनो ॥१५-१६॥

त्रिदशानां वचः श्रुत्वा मैत्रावरुणिरब्रवीत्।
किमर्थमभियाताः स्थ वरं मत्तः किमिच्छथ।
एवमुक्तास्ततस्तेन देवता मुनिमब्रुवन् ॥१७॥

जब देवता अगस्त्य मुनि के पास पहुंचे, तो मैत्रावरुण के पुत्र अगस्त्य मुनि ने देवों के वचन सुन कर उनसे कहा—हे देवो! तुम कैसे आए हो और मुझसे क्या वरदान चाहते हो। जब उस ने यह कहा, तो देवता मुनि से बोले ॥१७॥

एवं त्वयेच्छाम कृतं हि कार्य्यं महार्णवं पीयमानं महात्मन्।
ततो वधिष्याम सहानुबन्धान् कालेयसंज्ञान् सुरविद्विषस्तान् ॥

हे महात्मन्! तुम समुद्र का पान कर जावो, बस? यही कार्य हम तुमसे चाहते हैं। तुम्हारे समुद्र के पी लेने पर हम कालेय असुरों को अपने गिरोह के साथ मार डालेंगे ॥१८॥

त्रिदशानां वचः श्रुत्वा तथेति मुनिरब्रवीत्।
करिष्ये भवतां कामं लोकानाञ्च महत् सुखम् ॥१९॥

देवों के ये वचन सुनकर मुनि ने कहा-अच्छी बात है। मैं तुम्हारे इस काम को कर दूँगा—जिससे लोकों को सुख होगा ॥१९॥

एवमुक्त्वा ततोऽगच्छत् समुद्रं सरिताम्पतिम्।
ऋषिभिश्च तपःसिद्धैः सार्द्धं देवैश्च सुव्रत ॥२०॥

हे व्रत-शील ! इतना कहकर तपोधन ऋषि और सिद्धों के साथ अगस्त्य मुनि समुद्र पर पहुँचे ॥२०॥

मनुष्योरगगन्धर्वयक्षकिम्पुरुषास्तथा ।
अनुजग्मुर्महात्मानं द्रष्टुकामास्तदद्भुतम् ॥२१॥

हे राजन् ! मनुष्य, उरग, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर आदि देव गण, महात्मा अगस्त्य के इस चमत्कार को देखने के लिए पीछे २ चल दिये ॥२१॥

ततोऽभ्यगच्छन् सहिताः समुद्रं भीमनिःस्वनम् ।
नृत्यन्तमिव चोर्मीभिर्वल्गन्तमिव वायुना ॥२२॥
हसन्तमिव फेनौघैः स्खलन्तं कन्दरेषु च ।
नानाग्राहसमाकीर्णं नानाद्विजगणान्वितम् ॥२३॥

ये सारे, इकट्ठे होकर भयानक शब्द करने वाले, लहरों से नांचते हुए और वायु से उछलते हुए, फेन (झागों) के समूह से हँसते हुए, कन्दराओं में टकराते हुए, अनेक ग्राह आदि जल-जन्तुओं से व्याप्त, अनेक पक्षियों के गणों से युक्त, समुद्र पर गये ॥२२-२३।

अगस्त्यसहिता देवाः सगन्धर्वमहोरगाः ।
ऋषयश्च महाभागाः समासेदुर्महोदधिम् ॥२४॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि अगस्त्यमाहात्म्यकथने
चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥१०४॥

अगस्त्य मुनि के साथ २ सारे देव, गन्धर्व उरग और महा भाग ऋषि समुद्र पर जा पहुंचे ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वांतर्गत तीर्थयात्रापर्व में अगस्त्य मुनि के माहात्म्य का एकसौ चारवां अध्याय पूरा हुआ ॥



एकसौ पांचवां अध्याय

लोमश उवाच—

समुद्रं स समासाद्य वारुणिर्भगवानृषिः ।
उवाच सहितान् देवानृषींश्चैव समागतान् ॥१॥

लोमश बोले—मित्रा वरुण के पुत्र, भगवान्, महर्षि अगस्त्य नें समुद्र पर जाकर, आये हुए देव और ऋषियों से कहा॥१॥

अहं लोकहितार्थं वै पिबामि वरुणालयम् ।
भवद्भिर्यदनुष्ठेयं तच्छीघ्रं संविधीयताम् ॥२॥

मैं लोक के हित के लिए इस समुद्र को पीता हूँ । अब तुमको जो करना हो शीघ्र कर लो ॥ २ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं मैत्रावरुणिरच्युतः ।
समुद्रमपिबत् क्रुद्धः सर्वलोकस्य पश्यतः ॥३॥

बस, इतना कह कर धैर्य-शील, अगस्त्य मुनि ने क्रोधपूर्वक सब लोक के देखते २ समुद्र को पी लिया ॥ ३ ॥

पीयमानं समुद्रन्तु दृष्ट्वा सेन्द्रास्तथामराः ।
विस्मयं परमं जग्मुः स्तुतिभिश्चाप्यपूजयन् ॥४॥

जब इन्द्र के साथ देवों ने समुद्र का पीना देखा तो उनको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने इनकी स्तुति करके बड़ा सत्कार किया ॥ ४ ॥

त्वं नस्त्राता विधाता च लोकानां लोकभावन ।
त्वत्प्रसादात् समुच्छेदं न गच्छेत् सामरं जगत् ॥५॥

हे लोक के रक्षक, मुने ! तू ही हमारा रक्षक और धारण करने वाला है। तेरी ही कृपा से देवों के साथ यह जगत् नष्ट नहीं हुआ है ॥५॥

स पूज्यमानस्त्रिदशैर्महात्मा गन्धर्वतूर्य्येषु नदत्सु सर्वशः
दिव्यैश्च पुष्पैरवकीर्य्यमाणो महार्णवं निःसलिलश्चकार ॥६॥

इस समय सब ओर गन्धर्वों की तूर्य (तुरी) बज रही थी। देवता लोग, महर्षि अगस्त्य की पूजा कर रहे थे और दिव्य पुष्पों की वर्षा हो रही थी। इस दशा को प्राप्त हुए अगस्त्यमुनि ने समुद्र को शुष्क कर दिया ॥ ६ ॥

दृष्ट्वा कृतं निःसलिलं महार्णवं सुराः समस्ताः परमप्रहृष्टाः ।
प्रगृह्य दिव्यानि वरायुधानि तान् दानवान् जघ्नुरदीनसत्त्वाः ॥

सारे समुद्रको जलरहित किया हुआ देखकर, सारे देवता, बड़े प्रसन्न हुए। इस समय बल सम्पन्न देवों ने दिव्य शस्त्र ग्रहण करके उन दानवों का मारना आरम्भ किया ॥७॥

ते वध्यमानास्त्रिदशैर्महात्मभिर्महाबलैर्वेगिभिरुन्नदद्भिः ।
न सेहिरे वेगवतां महात्मनां वेगं तदा धारयितुं दिवौकसाम्

अब महात्मा महाबली, वेग-शील गर्जना करने वाले देवों से ताड़ित किये हुए दैत्यों से, विशाल काय, शक्तिशाली देवों का वेग सहा नही गया ॥ ८ ॥

ते वध्यमानास्त्रिदशैर्दानवा भीमनिस्वनाः ।
चक्रुः सुतुमुलं युद्धं मुहूर्त्तमिव भारत ॥९॥

हे भारत ! देवों से ताड़ित दानवों ने थोड़ी देर तक बड़ा भयानक शब्द और घमसान युद्ध करना आरम्भ किया ॥ ९ ॥

ते पूर्वं तपसा दग्धा मुनिभिर्भावितात्मभिः ।
यतमानाः परं शक्त्या त्रिदशैर्विनिषूदिताः ॥१०॥

इन दैत्यों को प्रथम तो तप करने वाले महात्मा मुनियों ने ही तप से दग्ध कर दिया था । अब अपनी शक्ति से प्रयत्न करने पर तो देवों ने बिल्कुल ही नष्ट कर दिया ॥ १० ॥

ते हेमनिष्काभरणाः कुण्डलाङ्गदधारिणः ।
निहता बहुशोभन्त पुष्पिता इव किंशुकाः ॥११॥

सुवर्ण के हार, कुण्डल और अङ्गद (बाजू) धारण किये हुए दैत्य, फूले हुए ढाक के वृक्ष के समान सुशोभित होने लगे

हतशेषास्ततः केचित् कालेया मनुजोत्तम ।
विदार्य्य वसुधां देवीं पातालतलमास्थिताः ॥१२॥

हे मनुजोत्तम ! जो कुछ मारने से बचे हुए दानव थे, वे पृथिवी को चीर कर पाताल में चले गए ॥ १२ ॥

निहतान् दानवान् दृष्ट्वा त्रिदशा मुनिपुङ्गवम् ।
तुष्टुवुर्विविधैर्वाक्यैरिदं वचनमब्रुवन् ॥१३॥

मारे हुए दानवों को देखकर देवों ने अनेक वाक्यों से मुनि-श्रेष्ठ अगस्त्य की स्तुति की और यह वचन कहा ॥१३॥

त्वत्प्रसादान्महाबाहो लोकैः प्राप्तं महत् सुखम् ।
त्वत्तेजसा च निहताः कालेयाः क्रूरविक्रमाः ॥१४॥
पूरयस्व महाबाहो समुद्रं लोकभावन ।
यत्त्वया सलिलं पीतं तदस्मिन् पुनरुत्सृज ॥१५॥

हे महाबाहो ! आपके अनुग्रह से ही प्राणियों ने बड़ा सुख प्राप्त किया है । हम तुम्हारे तेज से ही इन कालेय दैत्यों को मार सके हैं । हे महाबाहो ! लोक रक्षक ! अब इसको भर दो और जो तुमने इसका जल पिया है, उसको फिर इसी में छोड़ दो ॥१५॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच भगवान् मुनिपुङ्गवः ।
जीर्णं तद्धि मया तोयमुपायोऽन्यः प्रचिन्त्यताम् ॥१६॥
पूरणार्थं समुद्रस्य भवद्भिर्यत्नमास्थितैः ।

इतना कहने पर मुनि-श्रेष्ठ, अगस्त्य ने कहा, कि मैंने तो समुद्र को जीर्ण [हज़म] कर लिया है, अब तुम कोई अन्य उपाय इस समुद्र के भरने का निकालो, क्योंकि आप इसके भरने के प्रयत्न हो ॥ १६ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं महर्षेर्भावितात्मनः ॥१७॥
विस्मिताश्च विषण्णाश्च बभूवुः सहिता सुराः ।

महात्मा महर्षि अगस्त्य के ये वचन सुन कर सारे इकट्ठे देवता, बड़े चकित और उदास हुए ॥ १७ ॥

परस्परमनुज्ञाप्य प्रणम्य मुनिपुङ्गवम् ॥१८॥
प्रजाः सर्वा महाराज विप्रजग्मुर्यथागतम् ।
त्रिदशा विष्णुना सार्द्धमुपजग्मुः पितामहम् ॥१९॥

हे महाराज ! परस्पर आज्ञा लेकर और मुनि श्रेष्ठ को प्रणाम करके सारी प्रजा अपने २ स्थान को चली गई । देवता भी भगवान् विष्णु के साथ ब्रह्माजी के पास गए ॥१९॥

पूरणार्थं समुद्रस्य मन्त्रयित्वा पुनः पुनः ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे सागरस्याभिपूरणम् ॥२०॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि समुद्रपूरणमन्त्रणे
पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥१०५॥

ये सब समुद्र, के भरने की बार २ सलाह करके और हाथ जोड़ कर समुद्र भरने के लिए मुनि से कहने लगे ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में समुद्र भरने की सम्मतिका एकसौ पांचवां अध्याय पूरा हुआ ॥



एकसौ छःवां अध्याय

लोमश उवाच—

तानुवाच समेतांस्तु ब्रह्मा लोकपितामहः ।
गच्छध्वं विबुधाः सर्वे यथाकामं यथेप्सितम् ॥१॥

लोमश ने कहा–हे राजन् ! इन सारे देवों से लोक के पितामह ब्रह्मा ने कहा—हे देवो ! अब तुम अपनी इच्छानुसार अपने अपने अभीष्ट स्थान को जावो ॥ १ ॥

महता कालयोगेन प्रकृतिं यास्यतेऽर्णवः ।
ज्ञातीन् वै कारणं कृत्वा महाराज्ञो भगीरथात् ॥२॥

कुछ दीर्घकाल के अनन्तर यह समुद्र फिर अपनी पूर्व अवस्था को प्राप्त हो जावेगा। महाराज भगीरथ और इसके बान्धव इसके कारण होंगे ॥ २ ॥

पितामहवचः श्रुत्वा सर्वे विबुधसत्तमाः ।
कालयोगं प्रतीक्षन्तो जग्मुश्चापि यथागतम् ॥३॥

ब्रह्माजी के वचन सुनकर सारे देवता, समय की प्रतीक्षा करते हुए अपने २ स्थान को चले गए ॥३॥

युधिष्ठिर उवाच—

कथं वै ज्ञातयो ब्रह्मन् कारणश्चात्र किं मुने ।
कथं समुद्रः पूर्णश्च भगीरथप्रतिश्रयात् ॥४॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे ब्रह्मन् ! कैसे भगीरथ के पूर्वज इसके कारण हैं और कैसे भगीरथ के आश्रय से यह समुद्र पूर्ण होगा ॥ ४ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ।
कथ्यमानं त्वया विप्र राज्ञाश्चरितमुत्तमम् ॥५॥

हे तपोधन ! आपके कहे हुए राजाओं के इस उत्तम चरित्र को मैं विस्तार से सुनना चाहता हूँ ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तस्तु विप्रेन्द्रो धर्मराज्ञा महात्मना ।
कथयामास माहात्म्यं सगरस्य महात्मनः ॥६॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन्! जब महात्मा धर्मराज ने लोमश से इतना कहा--तो वे महात्मा सगर के माहात्म्य को कहने लगा।

लोमश उवाच—

इक्ष्वाकूणां कुले जातः सगरो नाम पार्थिवः ।
रूपसत्त्वबलोपेतः स चापुत्रः प्रतापवान् ॥७॥

लोमश बोले--इक्ष्वाकु वंश में सगर नामक एक राजा हुआ है, जो रूप सत्व (तेज) और बल से युक्त, प्रतापी था। इसके कोई पुत्र नही था ॥ ७ ॥

स हैहयान् समुत्साद्य तालजङ्घांश्च भारत ।
वशे च कृत्वा राजन्यान् स्वराज्यमन्वशासत ॥८॥

वह हैहय और ताल-जङ्घ, राजाओं को जीत कर और उनको वश में करके अपने राज्य का शासन करने लगा ॥ ८ ॥

तस्य भार्ये त्वभवतां रूपयौवनदर्पिते ।
वैदर्भी भरतश्रेष्ठ शैब्या च भरतर्षभ ॥९॥

हे भरतर्षभ ! इसकी रूप और यौवन से भरी हुई, दो भार्या थी। एक वैदर्भी और दूसरी का नाम शैब्या था॥ ६॥

स पुत्रकामो नृपतिस्तताप सुमहत्तपः ।
पत्नीभ्यां सह राजेन्द्र कैलासं गिरिमाश्रितः ॥१०॥

हे राजेन्द्र ! इस महा तपस्वी ने पुत्र की इच्छा से कैलाश पर्वत पर दोनों पत्नियों के साथ बड़ा भारी तप किया॥ १०॥

स तप्यमानः सुमहत्तपोयोगसमन्वितः ।
आससाद महात्मानं त्र्यक्षं त्रिपुरमर्दनम् ॥११॥
शङ्करं भवमीशानं पिनाकिं शूलपाणिनम् ।
त्र्यम्बकं शिवमुग्रेशं बहुरूपमुमापतिम् ॥१२॥

इसने योग से युक्त होकर बड़ा भारी तप किया, तब इन्होंने त्रिपुरासुर के मर्दन करने वाले शंकर, भव ईशान, पिनाकी शूलपाणि, त्र्यम्बक, शिव, उग्र, बहुरूपी उमापति शिव को देखा।१२।

स तं दृष्ट्वैव वरदं पत्नीभ्यां सहितो नृपः ।
प्रणिपत्य महाबाहुः पुत्रार्थं समयाचत ॥१३॥

दोनों पत्नियों के साथ वरदायी शंकर को देखकर इस महाबाहु राजा सगर ने पुत्र के लिये याचना की॥ १३॥

तं प्रीतिमान् हरः प्राह सभार्य्यं नृपसत्तमम् ।
यस्मिन् वृतो मुहूर्त्तेऽहं त्वयेह नृपते वरम् ॥१४॥
षष्टिः पुत्रसहस्राणि शूराः परमदर्पिताः ।
एकस्यां सम्भविष्यन्ति पत्न्यां नरवरोत्तम ॥१५॥

हे नृपते ! इस पर प्रसन्न होकर भार्या सहित सगर से शंकर ने कहा—हे राजन् ! जिस मूहुर्त में तुमने वर मांगा है, इससे तो अत्यन्त तेजस्वी शूर-वीर साठ हजार पुत्र एक पत्नी में उत्पन्न होंगे ॥ १४-१५ ॥

ते चैव सर्वे सहिताः क्षयं यास्यन्ति पार्थिव ।
एको वंशधरः शूरः एकस्यां सम्भविष्यति ॥१६॥

हे राजन् ! परन्तु वे सब एक वार ही नष्ट हो जावेंगे । हां ? दूसरी रानी में वंश का प्रवृत्त करने वाला एक पुत्र होगा ॥१६॥

एवमुक्त्वा तु तं रुद्रस्तत्रैवान्तरधीयत ।
स चापि सगरो राजा जगाम स्वं निवेशनम् ॥१७॥

यह कह कर शिवजी अलक्षित हो गए और राजा सगर भी अपने घर को चले गए ॥१७ ॥

पत्नीभ्यां सहितस्तत्र सोऽतिहृष्टमनास्तदा ।
तस्य ते मनुजश्रेष्ठ भार्ये कमललोचने ॥१८॥
वैदर्भी चैव शैब्या च गर्भिण्यौ सम्बभूवतुः ।

हे मनुज—श्रेष्ठ ! महाराजा अपनी पत्नियों के साथ बड़ा प्रसन्न हुआ । थोड़े समय के बाद कमल के समान नेत्रों वाली वैदर्भी और शैब्या नामक इसकी भार्याएं गर्भवती होगई ॥१८

ततः कालेन वैदर्भी गर्भालावुं व्यजायत ॥१९॥
शैब्या च सुषुवे पुत्रं कुमारं देवरूपिणम् ।

समय के व्यतीत होने पर वैदर्भी ने अपने गर्भ से एक तुम्वी पैदा की और शैव्या ने देवों के समान सुन्दर पुत्र पैदा किया ॥ १६ ॥

तदालाबुं समुत्स्रष्टुं मनश्चक्रे स पार्थिवः ॥२०॥
अथान्तरीक्षाच्छुश्राव वाचं गम्भीरनिस्वनाम् ।

राजा सगर ने इस तुम्बी को फेंकना चाहा-परन्तु आकाश से गम्भीर शब्द वाली आकाश वाणी हुई ॥२०॥

राजन् मा साहसङ्कार्षीः पुत्रान्न त्यक्तुमर्हसि ॥२१॥
अलाबुमध्यान्निष्कृष्य बीजं यत्नेन गोप्यताम् ।
सोपस्वेदेषु पात्रेषु घृतपूर्णेषु भागशः ॥२२॥
ततः पुत्रसहस्राणि षष्टिं प्राप्स्यसि भारत ।

हे राजन् ! यह साहस मत करो-तुम अपने पुत्रों को न फैंको, इस तूम्बी के मध्य से निकले हुए बीजों की प्रयत्न से रक्षा करो । हे भारत ! कुछ गर्म घड़ों में घृतभर कर अलग २ इन बीजों को रखो, जिससे तुम साठ हजार पुत्र प्राप्त करोगे ॥ २१-२२

महादेवेन दिष्टं ते पुत्रजन्म नराधिप ।
अनेन क्रमयोगेन मा ते बुद्धिरतोऽन्यथा ॥२३॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि सगरसन्ततिकथने
षडधिकशततमोऽध्यायः ॥१०६॥

हे नराधिप ! भगवान् शंकर ने इसी रीति से तुम्हारे साठ हजार पुत्र उत्पन्न होने का योग निश्चित किया है तुम कुछ और खयाल न करो ॥२३॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में सगर के सन्तानकी उत्पत्ति का एक सौ छःवां अध्याय समाप्त हुआ।

एकसौ सातवां अध्याय

लोमश उवाच—

एतच्छ्रुत्वान्तरीक्षाच्च स राजा राजसत्तमः ।
यथोक्तं तच्चकाराथ श्रद्धद्भरतर्षभ ॥१॥

लोमश बोले— हे भरतर्षभ ! इस आकाश वाणी को सुन कर राजा सगर ने ऐसा ही किया और इस वाणी को श्रद्धा की दृष्टि से देखा ॥१॥

एकैकशस्ततः कृत्वा बीजं बीजं नराधिपः ।
घृतपूर्णेषु कुम्भेषु तान् भागान् विदधे ततः ॥२॥

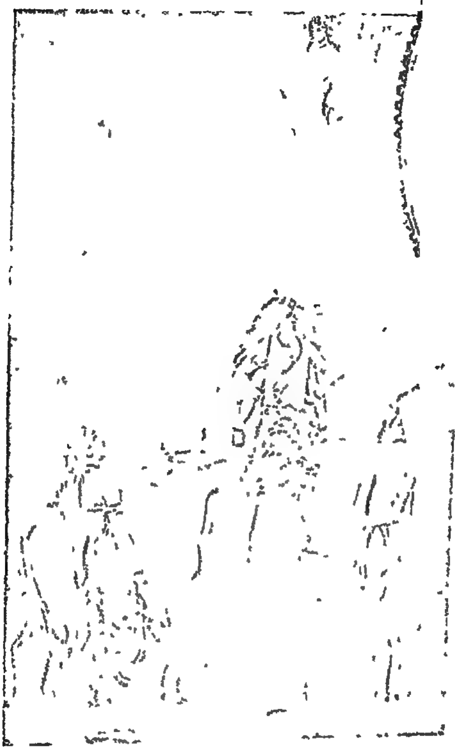
इस राजा ने तुम्बी के बीजों को पृथक् २ करके घृत से भरे हुए घड़ों में एक २ बीज को रख दिया ॥२॥

धात्रीश्चैकैकशः प्रादात् पुत्ररक्षणतत्परः ।
ततः कालेन महता समुत्तस्थुर्महाबलाः ॥३॥
षष्टिः पुत्रसहस्राणि तस्याप्रतिमतेजसः ।
रुद्रप्रसादाद्राजर्षेः समजायन्त पार्थिव ॥४॥

हे राजन् ! पुत्रों की रक्षा में तत्पर राजा ने इन घड़ों को भिन्न २ धायों को दे दिया। कुछ काल के अनन्तर राजा सगर के घड़ों से महाबली अत्यन्त—तेजस्वी, साठ हजार पुत्र रुद्र की कृपा से उत्पन्न हुए ॥३-४॥

ते घोराः क्रूरकर्माण आकाशपरिसर्पिणः ।
बहुत्वाच्चावजानन्तः सर्वान् लोकान् सहामरान् ॥५॥

महाभारत चित्र संख्या ३५



गंगावतरण

महाभारत वन पर्व अ० १०६/१ पृष्ठ ८०५

ये बड़े कुकर्म करने वाले, आकाश-चारी थे, इनकी संख्या बहुत थी, इससे ये देवों सहित सारे लोकों को अपमान की दृष्टि से देखते थे ॥५॥

त्रिदशांश्चाप्यधावन्त तथा गन्धर्वराक्षसान् ।

सर्वाणि चैव भूतानि शूराः समरशालिनः ॥६॥

ये देव, गन्धर्व और राक्षस, सब पर धावा बोल देते थे। इन युद्ध प्रेमी शूरवीरों ने सारे प्राणियों पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया ॥६॥

बाध्यमानास्ततो लोकाः सागरैर्मन्दबुद्धिभिः ।

ब्रह्माणं शरणं जग्मुः सहिताः सर्वदैवतैः ॥७॥

इन मन्द बुद्धि सगर के पुत्रों से पीड़ित हुए, सारे लोग, देवों के साथ ब्रह्माजी की शरण पहुंचे ॥७॥

तानुवाच महाभागः सर्वलोकपितामहः ।

गच्छध्वं त्रिदशाः सर्वे लोकैः सार्द्धं यथागतम् ॥८॥

नातिदीर्घेण कालेन सागराणां क्षयो महान् ।

भविष्यति महाघोरः स्वकृतैः कर्मभिः सुराः ॥९॥

इन सबसे सारे लोकों के पितामह, महाभाग ब्रह्माजी कहने लगे हे देवों ! तुम सारे लोकों के साथ अपने २ स्थान को जाओ। इन सगर के साठ हजार पुत्रों का अपने ही कर्मों से थोड़े ही काल में भयानक संहार होगा ॥८-९॥

एवमुक्तास्तु ते देवा लोकाश्च मनुजेश्वर।
पितामहमनुज्ञाप्य विप्रजग्मुर्यथागतम् ॥१०॥

हे मनुजेश्वर! जब ब्रह्मा जी ने इतना कहा—तो वे देवता और लोग, ब्रह्मा से आज्ञा लेकर अपने २ स्थान को चले गए।

ततः काले बहुतिथे व्यतीते भरतर्षभ।
दीक्षितः सगरो राजा हयमेधेन वीर्य्यवान् ॥११॥

हे भरतर्षभ! इसके अनन्तर कुछ समय के बीत जाने पर वीर्यवान् सगर ने अश्वमेध यज्ञ करना आरम्भ किया ॥११॥

तस्याश्वो व्यचरद्भूमिं पुत्रैः सुपरिरक्षितः।
समुद्रं स समासाद्य निस्तोयं भीमदर्शनम् ॥१२॥
रक्ष्यमाणः प्रयत्नेन तत्रैवान्तरधीयत।

इस राजा सगर का अश्व, पुत्रों से सुरक्षित होकर सारी भूमि पर घूमने लगा। जब वह सूखे भयानक समुद्र पर पहुंचा, तो प्रयत्न से सुरक्षित होने पर भी कहीं अलक्षित हो गया ॥१२॥

ततस्ते सागरास्तात हृतं मत्वा हयोत्तमम् ॥१३॥
आगम्य पितुराचख्युरदृश्यं तुरगं हृतम्।
तेनोक्ता दिक्षु सर्वासु सर्वेऽमार्गत वाजिनम् ॥१४॥

अब ये सगर के पुत्र, अश्व का अपहरण खयाल करके पिता के पास पहुंचे और छुपे २ अश्व के खो जाने का सारा वृत्तान्त पिता को सुनाया। पिता की आज्ञा से इन सबों ने सारी दिशाओं में अश्व का खोजना आरम्भ किया ॥१३-१४॥

ततस्ते पितुराज्ञाय दिक्षु सर्वासु तं हयम् ।
अमार्गन्त महाराज सर्वञ्च पृथिवीतलम् ॥१५॥
ततस्ते सागराः सर्वे समुपेत्य परस्परम् ।
नाध्यगच्छन्त तुरगमश्वहर्त्तारमेव च ॥१६॥
आगम्य पितरञ्चाचुस्ततः प्राञ्जलयोऽग्रतः ।
ससमुद्रवनद्वीपा सनदीनदकन्दरा ॥१७॥
सपर्वतवनोद्देशा निखिलेन मही नृप ।
अस्माभिर्विचिता राजन् शासनात्तव पार्थिव ॥१८॥
न चाश्वमधिगच्छामो नाश्वहर्त्तारमेव च ।

हे महाराज! अब पिता की आज्ञा को मान कर इन सारे पुत्रों ने सारी दिशा और सारे भूतल पर उस अश्व को खोजा परन्तु उस अश्व को या अश्व के अपहरण करने वाले को कहीं न पाया। अब ये सब इकट्ठे हो कर पिता के पास गये, और हाथ जोड़ कर कहने लगे—हे राजन्! समुद्र, वन, द्वीप, नदी, नद, कन्दरा, पर्वत, वन, प्रदेश आदि सारी भूमि आपकी आज्ञा से छान डाली, परन्तु कहीं भी अश्व या अश्व के अपहरण करने वाले को नहीं पाया है ॥१५-१८॥

श्रुत्वा तु वचनं तेषां स राजा क्रोधमूर्च्छितः ॥१९॥
उवाच वचनं सर्वांस्तदा दैववशान्नृप ।
अनागमाय गच्छध्वं भूयो मार्गत वाजिनम् ॥२०॥
यज्ञीयं तं विना ह्यश्वं नागन्तव्यं हि पुत्रकाः ।

हे नृप ! इनके ये वचन सुन कर राजा क्रोध में भर गया और दैव की प्रेरणा से इन सब से कहने लगा। हे पुत्रों ! तुम फिर जाओ और उस अश्व को खोजो। यदि तुमने उस यज्ञ के अश्व को नही खोज निकाला तो तुम यहां नहीं आना ॥१६-२०॥

प्रतिगृह्य तु सन्देशं पितुस्ते सगरात्मजाः ॥२१॥
भूय एव महीं कृत्स्नां विचेतुमुपचक्रमुः ।

इन सगर के पुत्रों ने पिता के इस सन्देश को सुन कर फिर सारी पृथिवी को खोजने लगे ॥२१॥

अथापश्यन्त ते वीराः पृथिवीमवदारिताम् ॥२२॥
समासाद्य बिलं तच्चाप्यखनन् सगरात्मजाः ।

इस समय इन वीरों ने कहीं पर फटी हुई भूमि देखी, तो ये सगर पुत्र, उस बिल को ही खोदने लग गए ॥२२॥

कुद्दालैर्ह्रेषुकैश्चैव समुद्रं यत्नमाश्रिताः ॥२३॥
स खन्यमानः सहितैः सागरैर्वरुणालयः ।
अगच्छत् परमामार्त्तिं दीर्य्यमाणः समन्ततः ॥२४॥

ये कुद्दाली, ह्रेषुक (फावले) आदि से उस समुद्र को खोदने लगे। इन इकट्ठे ही सगर पुत्रों के खोदने से समुद्र को बड़ी पीड़ा हुई, क्योंकि वह सब ओर से चीर फाड़ डाला गया था ॥२४॥

असुरोरगरक्षांसि सत्त्वानि विविधानि च ।
आर्त्तनादमकुर्वन्त वध्यमानानि सागरैः ॥२५॥

असुर, उरग, राक्षस तथा अनेक अन्य जन्तु, सगर पुत्रों से पीड़ित होकर चिल्लाने लगे ॥२५॥

छिन्नशीर्षा विदेहाश्च भिन्नत्वगस्थिसन्धयः ।
प्राणिनः समदृश्यन्त शतशोऽथ सहस्रशः ॥२६॥

सैकड़ों हजारों प्राणियों के शिर कट गए, किसी की देह के टुकड़े २ हो गए, किसी २ की त्वचा अस्थि आदि की सन्धि कट गई । इस प्रकार अनेक जीव जन्तु दिखाई देने लगे ॥२६॥

एवं हि खनतां तेषां समुद्रं वरुणालयम् ।
व्यतीतः सुमहान् कालो न चाश्वः समदृश्यत ॥२७॥

अब समुद्र को खोदते हुए इन सगर पुत्रों का बहुत काल व्यतीत हो गया, परन्तु फिर भी अश्व का कहीं भी पता न चला।

ततः पूर्वोत्तरे देशे समुद्रस्य महीपते ।
विदार्य्य पातालमथ संक्रुद्धाः सगरात्मजाः ॥२८॥

हे मही-पते ! पूर्व उत्तर की दिशा के कोने को चीर कर क्रोध में भरे हुए, ये सगर पुत्र, पाताल में पहुंचे ॥२८॥

अपश्यन्त हयं तत्र विचरन्तं महीतले ।
कपिलञ्च महात्मानं तेजोराशिमनुत्तमम् ॥२९॥
तेजसा दीप्यमानन्तु ज्वालाभिरिव पावकम् ।

यहां इन्होंने भूमि पर विचरते हुए उस अश्व को देखा। यहीं पर इन्होंने तेजो राशि सर्व-श्रेष्ठ, लपटों से अग्नि के तुल्य, तेज से देदीप्यमान, महात्मा कपिल को देखा ॥ २९ ॥

ते तं दृष्ट्वा हयं राजन् संप्रहृष्टतनूरुहाः ॥३०॥

अनादृत्य महात्मानं कपिलं कालचोदिताः ।

संक्रुद्धाः समधावन्त अश्वग्रहणकाङ्क्षिणः ॥३१॥

हे राजन् ! अश्वों को देखते ही इन सगर पुत्रों के रोमाञ्च खड़े हो गए। ये सब, काल से प्रेरित हुए महात्मा कपिल का अनादर करके अश्व के ग्रहण करने की इच्छा से क्रोध के साथ दौड़े ॥ ३०-३१ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज कपिलो मुनिसत्तमः ।

वासुदेवेति यं प्राहुः कपिलं मुनिपुङ्गवाः ॥३२॥

हे महाराज ! इससे मुनि-श्रेष्ठ, कपिल क्रुद्ध हो गए। महर्षि लोग इन कपिल को साक्षात् विष्णु का अवतार मानते हैं ॥३२॥

स चक्षुर्विकृतं कृत्वा तेजस्तेषु समुत्सृजन् ।

ददाह सुमहातेजा मन्दबुद्धीन् स सागरान् ॥३३॥

इसने अपनी आंखों को टेढी करके उन सबके ऊपर अपना तेज छोड़ा और इस तेज से महात्मा कपिल ने इन मन्द बुद्धि सगर पुत्रों को जला डाला ॥ ३३ ॥

तान् दृष्ट्वा भस्मसाद्भूतान्नारदः सुमहातपाः ।

सगरान्तिकमागच्छत्तच्च तस्मै न्यवेदयत् ॥३४॥

महा तपस्वी नारद, इनको भस्म हुए देख कर राजा सगर के पास पहुंचा और इसने यह सारा वृत्तान्त राजा को सुना दिया ३४

स तच्छ्रुत्वा वचो घोरं राजा मुनिमुखोद्गतम् ।
मुहूर्त्तं विमना भूत्वा स्थाणोर्वाक्यमचिन्तयत् ॥३५॥

राजा सगर, मुनि के मुख से निकले हुए, इस घोर वृत्तान्त को सुनकर थोड़ी देर को उदास हो गया, परन्तु फिर इसको शिवजी के वचनों का स्मरण हो आया ॥ ३५ ॥

अंशुमन्तं समाहूय असमञ्जःसुतं तदा ।
पौत्रं भरतशार्दूल इदं वचनमब्रवीत् ॥३६॥

हे भरतशार्दूल! राजा सगर ने असमञ्जस के पुत्र अंशुमान् अपने पौत्र को बुला कर यह वचन कहा ॥ ३६ ॥

षष्टिस्तानि सहस्राणि पुत्राणाममितौजसाम् ।
कापिलं तेज आसाद्य सत्कृते निधनं गताः ॥३७॥

हे तात ! अत्यन्त-तेजस्वी मेरे साठ हजार पुत्र, कपिल के तेज से यज्ञ के निमित्त मारे गए ॥३७॥

तव चापि पिता तात परित्यक्तो मयानघ ।
धर्मं स्वं रक्षमाणेन पौराणां हितमिच्छता । ३८॥

हे तात ! मैंने तेरे पिता असमञ्जस को भी अपने धर्म की रक्षा और प्रजा के हित करने के लिए पुर से निकाल रखा है !!३८॥

युधिष्ठिर उवाच—

किमर्थं राजशार्दूलः सगरः पुत्रमात्मजम् ।
त्यक्तवान् दुस्त्यजं वीरं तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥३९॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे तपोधन ! राजाओं में श्रेष्ठ, सगर ने किस लिए अपने वीर, त्याग के अयोग्य, पुत्र को त्याग दिया, आप इसको मुझे सुनाइये ॥ ३९ ॥

लोमश उवाच—

असमञ्जा इति ख्यातः सगरस्य सुतो ह्यभूत् ।
यं शैब्या जनयामास पौराणां स हि दारकान् ॥४०॥
गलेषु क्रोशतो गृह्य नद्यांक्षिपेप दुर्बलान् ।

लोमश कहने लगे--हे राजन् ! असमञ्जस नामक प्रसिद्ध सगर का पुत्र हुआ है, जिसको शैब्या ने उत्पन्न किया था । यह पुर वासियों के बच्चों को गले से पकड़ कर नदी में डाल देता था । वे बेचारे बच्चे चिल्लाते ही रह जाते थे ॥ ४० ॥

ततः पौराः समाजग्मुर्भयशोकपरिप्लुताः ॥४१॥
सगरञ्चाभ्ययाचन्त सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ।

पुर वासी भय और शोकसे व्याकुल हो,कर राजा के पास पहुंचे । ये सब हाथ जोड़ कर खड़े हो गए और राजा सगर से यह याचना करने लगे ॥ ४१ ॥

त्वं नस्त्राता महाराज परचक्रादिभिर्भयात् ॥४२॥
असमञ्जोभयाद्घोराच्चतो नस्त्रातुमर्हसि ।

हे महाराज ! आप शत्रु की सेना के भय से हमारे रक्षक है । इस समय आपके पुत्रअसमंजस का घोर भय खड़ा होगया है, इससे हमारी रक्षा करो ॥ ४२ ॥

पौराणां वचनं श्रुत्वा घोरं नृपतिसत्तमः ॥४३॥
मुहूर्त्तं विमना भूत्वा सचिवानिदमब्रवीत् ।

यह राजा पुर वासियों के घोर वचन सुन कर थोड़ी देर को उदास हो गया और मन्त्रियों से यह वचन बोला ॥४३॥

असमञ्जाः पुराद्द्य सुतो मे विप्रवास्यताम् ४४॥
यदि वो मत्प्रियं कार्य्यमेतच्छीघ्रं विधीयताम् ।

हे सचिवों ! तुम मेरे पुत्र, असमंजस को पुर से निकाल दो। यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो तो यह शीघ्र करो ॥४४॥

एवमुक्ता नरेन्द्रेण सचिवास्ते नराधिप ॥४५॥
यथोक्तं त्वरिताश्चक्रु र्यथाज्ञापितवान्नृपः ।

हे नराधिप ! राजा के इतना कहने पर सारे मन्त्रियों ने राजा की आज्ञा का पालन किया और उसकी आज्ञा के पूरा कर देने की सूचना दी ॥ ४५ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यथा पुत्रो महात्मना ॥४६॥
पौराणां हितकामेन सगरेण विवासितः ।

हे राजन् ! इस प्रकार महात्मा सगरने अपने पुत्र असमंजस को निकाला, जिसका वृत्तान्त मैंने तुम को यह सुना दिया है ॥

अंशुमांस्तु महेष्वासो यदुक्तः सगरेण हि ।
तत्ते सर्वं प्रवक्ष्यामि कीर्त्यमानं निबोध मे ॥४७॥

राजा सगर ने अंशुमान् से जो कहा-वह भी मैं तुम से कहता हूँ, तुम उसको भी मुझ से सुनो ॥ ४७ ॥

सगर उवाच—

पितुश्च तेऽहं त्यागेन पुत्राणां निधनेन च।

अलाभेन तथाश्वस्य परितप्यामि पुत्रक।

तस्माद् दुःखाभिसंतप्तं यज्ञविघ्नाच्च मोहितम् ॥४८॥

हयस्यानयनात् पौत्र नरकान्मां समुद्धर।

सगर ने कहा-हे पुत्र! तेरे पिता के त्याग और पुत्रों की मृत्यु से तथा अश्व के नहीं प्राप्त होने से मैं बड़ा क्लेशित हो रहा हूँ और इस यज्ञ विघ्न से भी मैं दुःखी और मोहित, हो रहा हूं। तुम अश्व को लाकर इस दुःख से मेरी रक्षा करो ॥ ४८ ॥

अंशुमानेवमुक्तस्तु सगरेण महात्मना ॥४९॥

जगाम दुःखात्तं देशं यत्र दारिता मही।

जब महात्मा सगर ने अंशुमान् से इतना कहा-तो अंशुमान् भी दुःख के साथ उसी स्थान पर पहुंचा, जहां वह पृथिवी फटी हुई थी ॥ ४९ ॥

स तु तेनैव मार्गेण समुद्रं प्रविवेश ॥५०॥

अपश्यच्च महात्मानं कपिलन्तुरगञ्च तम्।

वह भी इसी मार्ग से समुद्र में घुस गया और वहां महात्मा कपिल और अश्व को देखा ॥ ५० ॥

स दृष्ट्वा तेजसो राशिं पुराणमृषिसत्तमम् ॥५१॥

प्रणम्य शिरसा भूमौ कार्य्यमस्मै न्यवेदयत्।

इसने तेजो राशि, प्राचीन, ऋषि-श्रेष्ठ कपिल मुनि को पृथिवी में शिर झुका कर प्रणाम किया और अपना अभिप्राय प्रकट किया

ततः प्रीतो महाराज कपिलोंऽशुमतोऽभवत् ॥५२॥
उवाच चैनं धर्मात्मा वरदोऽस्मीति भारत ।

हे महाराज ! महामुनि, कपिल, इस अंशुमान् पर प्रसन्न होगया और इससे धर्मात्मा कपिल ने कहा--मैं तुम्हें वरदान देना चाहता हूं ॥२५॥

स वव्रे तुरगं तत्र प्रथमं यज्ञकारणात् ॥५३॥
द्वितीयं करकं वव्रे पितृणां पावनेच्छया ।

इसने प्रथम तो यज्ञ करने के लिए अश्व की याचना की और फिर अपने पितरों के पवित्र करने के लिए दूसरा वर मांगा ॥ ५३ ॥

तमुवाच महातेजाः कपिलो मुनिपुङ्गवः ॥५४॥
ददानि तव भद्रन्ते यद्यत् प्रार्थयसेऽनघ ।

इससे मुनिराज, महा तेजस्वी महात्मा कपिल ने कहा--हे अनघ जो २ तुम चाहते हो, मैं वही प्रदान करूंगा ॥ ५४ ॥

त्वयि क्षमा च धर्मश्च सत्यञ्चापि प्रतिष्ठितम् ॥५५॥
त्वया कृतार्थः सगरः पुत्रवांश्च त्वया पिता ।

तुझ में क्षमा धर्म और सत्य विद्यमान हैं. तुझ से सगर कृतार्थ हुआ है और तुझ से ही तेरा पिता सचमुच पुत्रवान् है ।

तव चैव प्रभावेन स्वर्गं यास्यन्ति सागराः ॥५६॥
पौत्रश्च ते त्रिपथगां त्रिदिवादानयिष्यति ।
पानार्थं सागराणां तोषयित्वा महेश्वरम् ॥५७॥

तेरे ही प्रभाव से सगर पुत्र स्वर्ग को चले जावेंगे और तेरे ही पौत्र, आकाश से इन सगरपुत्रों के पवित्र करने के लिये शिव को सन्तुष्ट करके गङ्गा को यहां लावेंगे ॥ ५६-५७॥

हयं नयस्व भद्रन्ते यज्ञियं नरपुङ्गव ।
यज्ञः समाप्यतां तात सगरस्य महात्मनः ॥५८॥

हे नरपुङ्गव ! तू इस यज्ञिय अश्व को लेजा और प्रथम महात्मा सगर के यज्ञ को समाप्त कर ले ॥५८॥

अंशुमानेवमुक्तस्तु कपिलेन महात्मना ।
आजगाम हयं गृह्य यज्ञवाटं महात्मनः ॥५९॥

महात्मा कपिल के इस प्रकार आज्ञा दे देने पर अंशुमान् उस अश्व को लेकर अपने पिता की यज्ञशाला में आया ॥५९॥

सोऽभिवाद्य ततः पादौ सगरस्य महात्मनः ।
मूर्ध्निः तेनाप्युपाघ्रातस्तस्मै सर्वं न्यवेदयत् ॥६०॥
यथा दृष्टं श्रुतञ्चापि सागराणां क्षयं तथा ।

इसने आकर महात्मा सगर के चरणों का स्पर्श किया। इसने इसका मस्तक सूंघा। अंशुमान् ने जिस तरह साठ हजार पुत्रों का नाश सुना या देखा, वह सारा वृत्तान्त अपने पितामह को सुनाया ॥६०॥

तश्चास्मै हयमाचष्ट यज्ञवाटमुपागतम् ॥ ६१ ॥
तच्छ्रुत्वा सगरो राजा पुत्रजं दुःखमत्यजत् ।
अंशुमन्तश्च सम्पूज्य समापयत तं क्रतुम् ॥ ६२ ॥

अंशुमान् ने यज्ञशाला में पहुंचे हुए अश्व की भी चर्चा की। यह सुनकर राजा सगर ने अपने पुत्रों का शोक छोड़ दिया और इस अंशुमान् अपने पौत्र का सत्कार करके अश्वमेध यज्ञ को पूरा किया ॥६१-६२॥

समाप्तयज्ञः सगरो देवैः सर्वैः सभाजितः ।
पुत्रत्वे कल्पयामास समुद्रं वरुणालयम् ॥ ६३ ॥

जब इसने यज्ञ समाप्त कर लिया, तो इस राजा सगर का सारे देवों ने बड़ा सत्कार किया। देवों ने समुद्र को ही इसका पुत्र कल्पित कर दिया ॥६३॥

प्रशास्य सुचिरं कालं राज्यं राजीवलोचनः ।
पौत्रे भारं समावेश्य जगाम त्रिदिवं तदा ॥ ६४ ॥

यह कमल-लोचन राजा सगर भी, बहुत दिन राज्य का शासन करके और फिर पौत्र को राज्य का भार सौंप कर आप स्वर्ग को चला गया ॥६४॥

अंशुमानपि धर्मात्मा महीं सागरमेखलाम् ।
प्रशशास महाराज यथैवास्य पितामहः ॥ ६५ ॥

हे महाराज ! इस धर्मात्मा राजा अंशुमान् ने भी अपने पितामह के समान इस समुद्र की मेखला वाली भूमि का शासन किया ॥६५॥

तस्य पुत्रः समभवद्दिलीपो नाम धर्मवित् ।
तस्मै राज्यं समाधाय अंशुमानपि संस्थितः ॥ ६६ ॥

धर्म का जानने वाला दिलीप नामक इसके पुत्र हुआ, जिसको राज्य सौंप कर अंशुमान् भी स्वर्ग चला गया ॥६६॥

दिलीपस्तु ततः श्रुत्वा पितॄणां निधनं महत् ।
पर्य्यतप्यत दुःखेन तेषां गतिमचिन्तयत् ॥ ६७ ॥

जब दिलीप ने अपने पितरों की पाताल में मृत्यु सुनी, तो वह बड़ा दुःखी हुआ और उनकी सुगति के विषय में विचार करने लगा ॥६७॥

गङ्गावतरणे यत्नं सुमहच्चाकरोन्नृपः ।
न चावतारयामास चेष्टमानो यथाबलम् ॥ ६८ ॥

इसने गङ्गा के अवतरण के लिए बड़ा प्रयत्न किया, परन्तु अपनी शक्ति के अनुसार प्रयत्न कर लेने पर भी यह गङ्गाजी को नहीं ला सका ॥६८॥

तस्य पुत्रः समभवत् श्रीमान् धर्मपरायणः ।
भगीरथ इति ख्यातः सत्यवागनसूयकः ॥ ६९ ॥

इसका पुत्र, धर्म परायण, श्रीमान् भगीरथ हुए, जो बड़े प्रसिद्ध, सत्यवादी और अनिन्दक थे ॥६९॥

अभिषिच्य तु तं राज्ये दिलीपो वनमाश्रितः ।
तपः सिद्धिसमायोगात् स राजा भरतर्षभ ।
वनाज्जगाम त्रिदिवं कालयोगेन भारतः ॥ ७० ॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि गङ्गावतरणकथने सप्ताधिकशततमोऽध्यायः॥ १०७ ॥

इसको राज्य पर बैठा कर दिलीप ने भी वन की राह ली। हे भरतर्षभ ! यह राजा भी तप की सिद्धि के योग से युक्त होकर समय आने पर स्वर्ग को चला गया ॥७०॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में गङ्गावतरण कथन का एक सौ सातवां अध्याय पूरा हुआ।



एकसौ आठवां अध्याय

लोमश उवाच—

स तु राजा महेष्वासश्चक्रवर्त्ती महारथः।
बभूव सर्वलोकस्य मनोनयननन्दनः॥ १ ॥

लोमश बोले—हे राजन् ! यह महा-धनुष-धारी, चक्रवर्ती, महारथी राजा भगीरथ, सारे संसार के मन और नयनों का आनन्द दाता था ॥१॥

स शुश्राव महाबाहुः कपिलेन महात्मना।
पितृणां निधनं घोरमप्राप्तिं त्रिदिवस्य च॥ २ ॥

इस महाबाहु ने महात्मा कपिल से अपने पितरों का घोर विनाश और स्वर्ग की अप्राप्ति सुनी ॥२॥

स राज्यं सचिवे न्यस्य हृदयेन विदूयता।
जगाम हिमवत्पार्श्वं तपस्तप्तुं नरेश्वर॥ ३ ॥

हे नरेश्वर! यह अपने राज्य का भार मन्त्री को सौंप कर व्याकुल हृदय से हिमालय में तप करने के लिए चला गया ॥३॥

आरिराधयिषुर्गङ्गां तपसा दग्धकिल्बिषः ।
सोऽपश्यत नरश्रेष्ठ हिमवन्तं नगोत्तमम् ॥ ४ ॥

हे नर-श्रेष्ठ! इसके तप से सारे पाप नष्ट हो चुके थे। यह अब गङ्गा की आराधना करना चाहता था। इसने सर्व प्रथम, पर्वत-श्रेष्ठ हिमालय को देखा ॥४॥

शृङ्गैर्बहुविधाकारैर्धातुमद्भिरलंकृतम् ।
पवनालम्बिभिर्मेघैः परिषिक्तं समन्ततः ॥ ५ ॥

इस पर्वत के शिखर अनेक प्रकार के धातुओं से अलङ्कृत (चित्रित) थे। यह पवन में लटकते हुए मेघों से सब ओर से सींचा गया था ॥५॥

नदीकुञ्जनितम्बैश्च प्रासादैरुपशोभितम् ।
गुहाकन्दरसंलीनसिंहव्याघ्रनिषेवितम् ॥ ६ ॥

यह पर्वत नदी के कुञ्ज और नितम्ब (ऊंचे २ पर्वत प्रदेश) तथा देवों के प्रसादों से सुशोभित था। इसकी गुहा और कन्दराओं में सिंह और व्याघ्र छुपे रहते थे ॥६॥

शकुनैश्च विचित्राङ्गैः कूजद्भिर्विविधा गिरः ।
भृङ्गराजैस्तथा हंसैर्दात्यूहैर्जलकुक्कुटैः ॥ ७ ॥
मयूरैः शतपत्रैश्च जीवञ्जीवककोकिलैः ।
चकोरैरसितापाङ्गैस्तथा पुत्रप्रियैरपि ॥ ८ ॥

यह भ्रमर, हंस, चातक, जलकुक्कुट, मयूर, शतपत्र, शिखण्डी चक्रवाक, कोयल, कृष्ण-नेत्र-प्रान्त-धारी चकोर, पुत्र-प्रिय-आदि विचित्र-अङ्ग-धारी, अनेक भांति से शब्द करने वाले पक्षियों से सुशोभित था ॥७-८॥

जलस्थानेषु रम्येषु पद्मिनीभिश्च संकुलम् ।
सारसानाञ्च मधुरैर्व्याहृतैः समलङ्कृतम् ॥ ९ ॥
किन्नरैरप्सरोभिश्च निषेवितशिलातलम् ।
दिग्वारणविषाणाग्रैः समन्ताद्धृष्टपादपम् ॥ १० ॥

यह हिमालय पर्वत, सुन्दर जल के स्थानों में कमलिनियों से व्याप्त और सारसों के शब्दों से विभूषित था। इसकी शिलाओं पर किन्नर और अप्सरा बैठे रहते थे। दिग्गजों के दांतों के अग्रभाग से सब ओर इसके वृक्ष घिस गए थे ॥१०॥

विद्याधरानुचरितं नानारत्नसमाकुलम् ।
विषोल्बणभुजङ्गैश्च दीप्तजिह्वैर्निषेवितम् ॥ ११ ॥

इसमें विद्याधरों का निवास था और नाना भांति के रत्नों से परिपूर्ण था। इस में महा-विष-धारी, लम्बी२ जिह्वा वाले भयानक सर्पों का भी निवास था ॥११॥

क्वचित् कनकसङ्काशं क्वचिद्रजतसन्निभम् ।
क्वचिदञ्जनपुञ्जाभं हिमवन्तमुपागमत् ॥ १२ ॥

यह कहीं तो सुवर्ण के समान और कहीं चांदी सा तथा कहीं अञ्जन का बना सा प्रतीत होता था। इस प्रकार के सुन्दर हिमालय पर्वत पर राजा भगीरथ पहुंचा ॥१२॥

स तु तत्र नरश्रेष्ठस्तपो घोरं समाश्रितः ।
फलमूलाम्बुसंभक्षः सहस्रं परिवत्सरान् ॥ १३ ॥

यहां इस नर श्रेष्ठ भगीरथ ने एक सहस्र वर्ष पर्यन्त फल मूल भक्षण तथा केवल जल पान करके घोर तप किया ॥१३॥

सम्वत्सरसहस्रे तु गते दिव्ये महानदी ।
दर्शयामास तं गङ्गा तदा मूर्तिमती स्वयम् ॥ १४ ॥

जब इसके एक सहस्र वर्ष तप करते हुए व्यतीत हो गए, तो गङ्गाजी ने मूर्ति धारण करके इसको स्वयं दर्शन दिए ॥१४॥

गङ्गा उवाच—

किमिच्छसि महाराज मत्तः किञ्च ददानि ते ।
तद्ब्रवीहि नरश्रेष्ठ करिष्यामि वचस्तव ॥ १५ ॥

गङ्गा कहने लगी—हे नर श्रेष्ठ ! तुम मुझ से क्या चाहते हो मैं तुमको क्या प्रदान करूं। तुम अपने मन की अभिलाषा प्रगट करो। मैं तुम्हारे वचन को पूरा कर दूंगी ॥१५॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच राजा हैमवतीं तदा ।
पितामहा मे वरदे कपिलेन महानदी ॥ १६ ॥
अन्वेषमानास्तुरगं नीता वैवस्वतक्षयम् ।
षष्टिस्तानि सहस्राणि सागराणां महात्मनाम् ॥ १७ ॥

गङ्गा के इतना कहने पर राजा भगीरथ ने कहा—हे वर देने वाली—गंगे ! मेरे पितामह "जो अश्व की खोज कर रहे थे"

महात्मा कपिल ने यमराज के अतिथि बना दिए। इन सगर पुत्र महात्माओं की साठ हजार संख्या थी ॥१६-१७॥

कपिलं देवमासाद्य क्षणेन निधनं गताः ।
तेषामेवं विनष्टानां स्वर्गे वासो न विद्यते ॥ १८ ॥

ये महात्मा कपिल के सम्मुख क्षण भर में नष्ट हो गए। इस तरह नष्ट होने से अभी तक उनको स्वर्ग का वास प्राप्त नहीं हुआ है ॥१८॥

यावत्तानि शरीराणि त्वं जलैर्नाभिषिञ्चसि ।
तावत्तेषां गतिर्नास्ति सागराणां महानदी ॥ १९ ॥

हे गङ्गे ! जब तक उनके शरीरों को तू जल से नहीं सींचेगी, तब तक उन सगर पुत्रों की गति नहीं होगी ॥१९॥

स्वर्गं नय महाभागे मत्पितॄन् सगरात्मजान् ।
तेषामर्थेन याचामि त्वामहं वै महानदि ॥ २० ॥

हे महाभागे ! अब तू इन सगरपुत्र मेरे पितरों को स्वर्ग में ले जा, मैं तो इनके लिए ही यह याचना करता हूं ॥२०॥

लोमश उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचो राज्ञो गङ्गा लोकनमस्कृता ।
भगीरथमिदं वाक्यं सुप्रीता समभाषत ॥ २१ ॥

लोमश ने कहा-राजा भगीरथ के ये वचन सुन कर लोकों में पूज्य, गङ्गा ने प्रसन्नता के साथ इससे यह वचन कहा ॥२१॥

करिष्यामि महाराज वचस्ते नात्र संशयः ।
वेगन्तु मम दुर्द्धार्य्यं पतन्त्या गगनाद्भुवम् ॥२२॥

हे महाराज! मैं तुम्हारा वचन निश्चय पूरा कर दूंगी, परन्तु आकाश से गिरने के समय मेरे वेग को कोई धारण नहीं कर सकता है ॥२२॥

न शक्तस्त्रिषु लोकेषु कश्चिद्धारयितुं नृप ।
अन्यत्र विबुधश्रेष्ठान्नीलकण्ठान्महेश्वरात् ॥२३॥

हे नृप! तीनों लोकों में देव-श्रेष्ठ, नील-कण्ठ भगवान् शंकर को छोड़ कर कोई भी मुझे धारण नहीं कर सकता है॥२३

तं तोषय महाबाहो तपसा वरदं हरम् ।
स तु मां प्रच्युतां देवः शिरसा धारयिष्यति ॥२४॥
स करिष्यति ते कामं पितॄणां हितकाम्यया ।

हे महा-बाहो! वरदायी शंकर को तप से सन्तुष्ट कर। वही आकाश से गिरने के समय मुझे धारण कर सकेगा। तेरे पितरों के हित की कामना से ये इस काम को कर देंगे ॥२४॥

एतच्छ्रुत्वा ततो राजन् महाराजो भगीरथः ॥२५॥
कैलासं पर्वत गत्वा तोषयामास शङ्करम् ।
तपस्तीव्रमुपागम्य कालयोगेन केनचित् ॥२६॥
अगृह्णाच्च वरं तस्माद्गङ्गाया धारणे नृप ।
स्वर्गे वासं समुद्दिश्य पितॄणां स नरोत्तमः ॥२७॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि गङ्गावतरणकथने
अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥१०८॥

हे राजन् ! महाराज भगीरथ यह सुन कर कैलाश पर्वत पर पहुँचे और भगवान् शंकर को सन्तुष्ट करने लगे। इन्होंने बड़ा तीव्र तप करना आरम्भ किया। कुछ समय के अनन्तर इस नर-श्रेष्ठ राजा ने अपने पितरों का स्वर्ग में वास कराने के उद्देश्य से भगवान् शंकर से गङ्गा के धारण करने का वरदान ले ही लिया ॥२६॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रा-पर्व में
गङ्गावतरण का एक सौ आठवां अध्याय पूरा हुआ।



एकसौ नौवां अध्याय

लोमश उवाच—

भगीरथवचः श्रुत्वा प्रियार्थञ्च दिवौकसाम् ।
एवमस्त्विति राजानं भगवान् प्रत्यभाषत ॥१॥

लोमश बोले—हे राजन् ! भगीरथ के वचन सुन कर भगवान् शंकर ने देवों के हित के ध्यान से गङ्गा के धारण करने की स्वीकृति दे दी ॥१॥

धारयिष्ये महाबाहो गगनात् प्रच्युतां शिवाम् ।
दिव्यां देवनदीं पुण्यां त्वत्कृते नृपसत्तम ॥२॥

हे नृप-सत्तम ! आकाश से गिरती हुई, कल्याण-कारी, पवित्र दिव्य नदी को मैं तुम्हारे हित के लिये धारण कर लूंगा ॥२॥

एवमुक्त्वा महाबाहो हिमवन्तमुपागमत् ।
वृतः पारिषदैर्घोरैर्नानाप्रहरणोद्यतैः ॥३॥

हे महा-बाहो ! इतना कह कर नाना भांति के शस्त्रों को धारण किये हुए, भयानक रूपने गणों से युक्त, भगवान शंकर, हिमालय पर पहुंचे ॥३॥

तत्र स्थित्वा नरश्रेष्ठं भगीरथमुवाच ह ।
प्रयाचस्व महाबाहो शैलराजसुतां नदीम् ॥४॥
पतमानां सरिच्छ्रेष्ठां धारयिष्ये त्रिविष्टपात् ।

वहां स्थित होकर भगीरथ से बोले—हे महाबाहो ! अब तुम शैल-राज-पुत्री नदियों में श्रेष्ठ, गङ्गा के आगमन की प्रार्थना करो। मैं स्वर्ग से गिरती हुई को धारण कर लूंगा ॥४॥

एतच्छ्रुत्वा वचो राजा शर्वेण समुदाहृतम् ॥५॥
प्रयतः प्रणतो भूत्वा गङ्गां समनुचिन्तयत् ।

भगवान् शंकर के ये वचन सुन कर राजा भगीरथ सावधानी से मस्तक झुकाकर श्री गङ्गाजी की प्रार्थना करने लगा ॥५॥

ततः पुण्यजला रम्या राज्ञा समनुचिन्तिता ॥६॥
ईशानञ्च स्थितं दृष्ट्वा गगनात् सहसा च्युताम् ।

इस पुण्य जल वाली सुन्दर गङ्गा ने जब राजा को अपना स्मरण करते देखा और भगवान् शंकर को धारण के लिए तैयार देखा, तो आकाश से एक दम छिटक पड़ी ॥६॥

तां प्रच्युतामथो दृष्ट्वा देवाः सार्द्धं महर्षिभिः ॥७॥
गन्धर्वोरगयक्षाश्च समाजग्मुर्दिदृक्षवः ।

इसको आकाश से गिरती हुई देख कर देवों के साथ महर्षि गन्धर्व, उरग, यक्ष, देखने के लिए सब इकट्ठे हो गए ॥७॥

ततः पपात गगनाद्गङ्गा हिमवतः सुता ॥८॥
समुद्भूतमहावर्त्ता मीनग्राहसमाकुला ।

अब हिमालय-पुत्री गङ्गा, आकाश से उतरी, जिसमें बड़े २ आवर्त (भवंर) पड़ रहे थे और मछली ग्राह आदि जल जन्तु व्याकुल हो रहे थे ॥८॥

तां दधार हरो राजन् गङ्गां गगनमेखलाम् ॥९॥
ललाटदेशे पतितां मालां मुक्तामयीमिव ।

हे राजन्! आकाश से गिरती हुई मोतियों की माला के समान इस गङ्गा को भगवान् शंकर ने अपने मस्तक पर धारण कर लिया ॥९॥

सा बभूव विसर्पन्ती त्रिधा राजन् समुद्रगा ॥१०॥
फेनपुञ्जाकुलजला हंसानामिव पङ्क्तयः ।

हे राजन्! यह गङ्गा तीन धाराओं में होकर बह निकली और समुद्र की ओर चली। इसके फेनों (झागों) से जल भर रहा था, जो हंसों की पंक्ति सा प्रतीत हो रहा था ॥ १० ॥

क्वचिदाभोगकुटिला प्रस्खलन्ती क्वचित् क्वचित् ॥११॥
सा फेनपटसंवीता मत्तेव प्रमदाव्रजत् ।
क्वचित् सा तोयनिनदैर्नदन्ती नादमुत्तमम् ॥१२॥

कहीं २ इसका पूर्ण प्रवाह कुटिल था और कहीं २ हिमालय के प्रदेशों से टकरा जाती थी। यह फेनरूपी श्वेत वस्त्र धारण करके मतवाली स्त्री के समान चली जा रही थी और कहीं २ यह जल के शब्दों से कोला-हल (शोर) कर रही थी॥ ११-१२॥

एवं प्रकारान् सुबहून् कुर्वन्ती गगनाच्युता।
पृथिवीतलसमासाद्य भगीरथमथाब्रवीत् ॥१३॥

आकाश से गिरती हुई गङ्गा ने इस तरह के अनेक क्रम स्वीकार किए। अब यह पृथिवी पर पहुंच कर राजा भगीरथ से बोली॥ १३॥

दर्शयस्व महाराज मार्गं केन व्रजाम्यहम्।
त्वदर्थमवतीर्णास्मि पृथिवीं पृथिवीपते ॥१४॥

हे महाराज ! बताओ—मैं किस मार्ग से चलूं, क्योंकि मैं तो इस पृथिवी पर तेरे लिए ही उतरी हूं॥ १४॥

एतच्छ्रुत्वा वचो राजा प्रातिष्ठत भगीरथः।
यत्र तानि शरीराणि सागराणां महात्मनाम् ॥१५॥

यह सुनकर राजा भगीरथ, उस स्थान के मार्ग से चला-जहां उन सगर पुत्र महात्माओं के शरीर भस्म हुए पड़े थे॥१५॥

प्लावनार्थं नरश्रेष्ठ पुण्येन सलिलेन च।
गङ्गाया धारणं कृत्वा हरो लोकनमस्कृतः ॥१६॥
कैलासं पर्वतश्रेष्ठं जगाम त्रिदशैः सह।

हे नर—श्रेष्ठ ! इस पवित्र जल से स्नान करने के लिए श्रीगङ्गा को धारण करके लोक पूज्य भगवान् शंकर, देवों के साथ कैलाश पर्वत को चले गए॥ १६॥

समासाद्य समुद्रञ्च गङ्गया सहितो नृपः ॥१७॥
पूरयामास वेगेन समुद्रं वरुणालयम् ।
दुहितृत्वे च नृपतिर्गङ्गां समनुकल्पयत् ॥१८॥
पितृणाञ्चोदकं तत्र ददौ पूर्णमनोरथः ।

राजा भगीरथ ने भी गङ्गा के साथ समुद्र पर पहुंच कर वग से वरुण के आलय समुद्र को भर दिया। इस समय राजा ने इस गङ्गा को अपनी पुत्री के समान माना। इसने इसके जल से पितरों का तर्पण किया, जिससे इसका मनोरथ पूर्ण हो गया ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं गङ्गा त्रिपथगा यथा ॥१६॥
पूरणार्थं समुद्रस्य पृथिवीमवतारिता ।
समुद्रश्च यथा पीतः कारणार्थं महात्मना ॥२०॥
वातापिश्च यथा नीतः क्षयं स ब्रह्महा प्रभो ।
अगस्त्येन महाराज यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥२१॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि गङ्गावतरणकथने
नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥१०६॥

हे राजन्! तीन मार्गों से बहने वाली, गङ्गा, समुद्र के भरने के लिए किस तरह पृथिवी पर लाई गई, महात्मा अगस्त्यने किस लिए समुद्र पीया, ब्रह्म-घाती वातापि किस भांति अगस्त्य द्वारा नष्ट किया गया, ये सब तुमने जो पूछा था, वह मैंने सब ठीक २ तुम को सुना दिया है ॥१६-२१॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत-तीर्थ यात्रा-पर्व में गङ्गा
वतरण का एकसौ नोवां अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

सायं प्रातश्च भगवान् दृश्यते हव्यवाहनः ।
मक्षिकाश्चादशंस्तत्र तपसः प्रतिघातिकाः ॥५॥
निर्वेदो जायते तत्र गृहाणि स्मरते जनः

यहाँ सायं और प्रातःकाल अग्नि देव दिखाई पड़ते हैं और तप का विघ्न करने वाली मक्षिकाएँ भी काटती रहती हैं। जिससे पर्वत की सैर करने से विरक्ति हो जाती है और घर याद आने लगता है ॥ ५ ॥

एवं बहुविधान् भावानद्भुतान् वीक्ष्य पाण्डवः ।
लोमशं पुनरेवाथ पर्यपृच्छत्तदद्भुतम् ॥६॥

इस तरह के अनेक दृश्यों को देखकर राजा युधिष्ठिर ने इस अद्भुत विषय में फिर पूछना आरम्भ किया ॥ ६ ॥

लोमश उवाच—

यथाश्रुतमिदं पूर्वमस्माभिररिकर्षण ।
तदेकाग्रमना राजन् निबोध गदतो मम ।
अस्मिन्नृषभकूटेऽभूदृषभो नाम तापसः ॥७॥
अनेकशतवर्षायुस्तपस्वी कोपनो भृशम् ।
स वै सम्भाष्यमाणोऽन्यैः कोपाद्गिरमुवाच ह ॥८॥

हे शत्रु-विजयी ! राजन् ! जो हमने पूर्व से सुन रखा है, वह मैं तुमको सुनाता हूँ। तुम एकाग्र मन होकर ध्यान से सुनो। इस ऋषभकूट पर एक ऋषभ नामक तपस्वी रहता था। यह तपस्वी बड़ा क्रोधी और कई सौ वर्ष की आयु का धारण करने

वाला था। इसने किसी अन्य से बात करने के प्रकरण में कोप करके पर्वत से यह वाणी कही ॥ ७-८ ॥

य इह व्याहरेत् कश्चिदुपलानुत्सृजेस्तथा ।
वातश्चाहूय मा शब्दमित्युवाच स तापसः ॥९॥
व्याहरंश्चेह पुरुषो मेघशब्देन वार्य्यते ।

हे पर्वत ! जो यहां आकर बात करे—उस पर तू पत्थर फैंका कर। इसने वायु को बुलाकर कहा कि तुम यहां शब्द न किया करो। अब जो कोई पुरुष यहां आकर बातें करता है, उसको मेघ के शब्द द्वारा रोक दिया जाता है ॥ ९ ॥

एवमेतानि कर्माणि राजंस्तेन महर्षिणा ॥१०॥
कृतानि कानिचित् क्रोधात् प्रतिषिद्धानि कानिचित् ।

हे राजन् ! इस महर्षि ने इस प्रकार के अनेक कर्म किए और अन्यों को कोलाहल (शोरगुल) करने से रोक दिया ॥१०॥

नन्दां त्वभिगता देवा पुरा राजन्निति श्रुतिः ॥११॥
अन्वपद्यन्त सहसा पुरुषा देवदर्शिनः ।

हे राजन्। एक बार इस नन्दा नदी पर देवता आये ऐसा सुना गया है। इन देवोंके दर्शनों को सहसा मनुष्य दौड़ पड़े।

ते दर्शनं त्वनिच्छन्तो देवाः शक्रपुरोगमाः ॥१२॥
दुर्गञ्चक्रुरिमं देशं गिरिप्रत्यूहरूपकम् ।

इन्द्र आदि देवता, मनुष्यों को दर्शन देना नहीं चाहते थे। उन्होंने इस प्रदेश को बड़ा दुर्गम बना दिया और इस पर आने का विघ्न इस पर्वत को बनाया ॥ १२ ॥

तदाप्रभृति कौन्तेय नरा गिरिमिमं सदा ॥१३॥
नाशक्नुवन्नभिद्रष्टुं कुत एवाधिरोहितुम् ।

हे कौन्तेय ! तब से मनुष्य, इस पर्वत पर देख भी नहीं सकता है, चढ़ने की तो कथा ही क्या है ॥ १३ ॥

नातप्ततपसा शक्यो द्रष्टुमेष महागिरिः ॥१४॥
आरोढुं वापि कौन्तेय तस्मान्नियतवाग्भव ।

हे कौन्तेय ! तप रहित पुरुष, इस महागिरि को देख भी नहीं सकता है और न चढ़ सकता है, इससे तू अपनी वाणीका अवश्य नियमन कर ॥१४ ॥

इह देवास्तदा सर्वे यज्ञानाजह्रुरुत्तमान् ॥१५॥
तेषामेतानि लिङ्गानि दृश्यन्तेऽद्यापि भारत ।

हे भारत ! यहां देवों ने उत्तम २ यज्ञ किए, उनके चिन्ह आज कल भी कहीं २ मिलते हैं ॥ १५ ॥

कुशाकारेव दूर्वेयं संस्तीर्णेव च भूरियम् ॥१६॥
यूपप्रकारा बहवो वृक्षाश्चेमे विशाम्पते ।

यह दूर्वा कुशा के आकार की है। यह भूमि दर्भा से ढकी सी दिखती है तथा यूप (यज्ञ स्तम्भ) के समान ये वृक्ष दिखाई देते हैं ॥ १६ ॥

देवाश्च ऋषयश्चैव वसन्त्यद्यापि भारत ॥१७॥
तेषां सायं तथा प्रातर्दृश्यते हव्यवाहनः ।

हे भारत ! यहां प्रसन्न रूप से देवता और ऋषि, आजकल भी रहते हैं। उनके अग्निहोत्र का अग्नि, सुबह शाम दिखाई दे जाता है ॥ १७ ॥

इहाप्लुतानां कौन्तेय सद्यः पाप्माभिहन्यते ॥१८॥
कुरुश्रेष्ठाभिषेकं वै तस्मात् कुरु सहानुजः ।

हे कौन्तेय ! इस जगह स्नान करने से फौरन ही पाप नष्ट हो जाते हैं। हे कुरु-श्रेष्ठ ! इसलिए अपने भाइयों के साथ यहां स्नान करो ॥ १८ ॥

ततो नन्दाप्लुताङ्गस्त्वं कौशिकीमभियास्यसि ॥१९॥
विश्वामित्रेण यत्रोग्रं तपस्तप्तमनुत्तमम् ।

इस नन्दा नदी में स्नान करने के अनन्तर कौशिकी नदी पर चलना। जहां विश्वामित्र ने बड़ा भारी तप किया है ॥ १९ ॥

ततस्तत्र समाप्लुत्य गात्राणि सगणो नृपः ।
जगाम कौशिकीं पुण्यां रम्यां शीतजलां शुभाम् ॥२०॥

इन के इतना कहने पर राजा युधिष्ठिर ने अपने साथियों के साथ वहां स्नान किया और बाद में शीत और शुभ जल वाली, पवित्र कौशिकी नदी पर गमन किया ॥ २० ॥

लोमश उवाच—

एषा देवनदी पुण्यां कौशिकी भरतर्षभ ।
विश्वामित्राश्रमो रम्य एष चात्र प्रकाशते ॥२१॥

लोमश ने कहा—हे भरत-वंश-श्रेष्ठ ! यह पवित्र कौशिकी नाम की देव नदी है। यहां विश्वामित्र का यह सुन्दर आश्रम दिखाई दे रहा है ॥२१॥

आश्रमश्चैव पुण्याख्यः काश्यपस्य महात्मनः ।
ऋष्यशृङ्गसुतो यस्य तपस्वी संयतेन्द्रियः ॥२२॥

यही पर पुण्य नाम का कश्यप ऋषि का आश्रम है, जिसका पुत्र ऋष्यशृङ्ग है। यह तपस्वी ऋष्यशृङ्ग बड़ा जितेन्द्रिय था ॥

तपसा यः प्रभावेन वर्षयामास वासवम् ।
अनावृष्ट्या भयाद्यस्य ववर्ष बलवृत्रहा ॥२३॥

इसने अपने तप के प्रभाव से इन्द्र को वर्षा करने के लिए प्रेरित किया। इस अनावृष्टि के समय में इसके भय से इन्द्र ने वर्षा की ॥ २३ ॥

मृग्यां जातः स तेजस्वी काश्यपस्य सुतः प्रभुः ।
विषये लोमपादस्य यश्चकाराद्भुतं महत् ॥२४॥

यह काश्यप ऋषि का पुत्र, तेजस्वी ऋष्यशृङ्ग, मृग में उत्पन्न हुआ था। इसने राजा लोमपाद के देश में महां अद्भुत कर्म करके दिखाया ॥ २४ ॥

निर्वर्त्तितेषु शस्येषु यस्मै शान्ता ददौ नृपः ।
लोमपादो दुहितरं सावित्रीं सविता यथा ॥२५॥

वर्षा होने पर अनाज उत्पन्न हो गया, तब सविता ने जैसे सावित्री को प्रदान किया, वैसे ही इस राजा लोमपाद ने अपनी कन्या इस मुनि को प्रदान कर दी ॥२५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

ऋष्यशृङ्गः कथं मृग्यामुत्पन्नः काश्यपात्मजः ।
विरुद्धे योनिसंसर्गे कथञ्च तपसा युतः ॥२६॥

युधिष्ठिर बोले—हे ब्रह्मन्! काश्यप-पुत्र ऋष्यशृङ्ग, मृगी में कैसे उत्पन्न हुए, यह तो विरुद्ध योनियों की मिलावट थी। यह ऋषि इतना तपस्वी कैसे हुआ ॥ २६ ॥

किमर्थञ्च भयाच्छक्रस्तस्य बालस्य धीमतः ।
अनावृष्ट्यां प्रवृत्तायां ववर्ष बलवृत्रहा ॥२७॥

क्या कारण था? जो इस बुद्धिमान् बच्चे के भय से बल और वृत्रासुर के घातक इन्द्र ने अनावृष्टि के समय भी वर्षा कर दी ॥ २७ ॥

कथं रूपा च सा शान्ता राजपुत्री यतव्रता ।
लोभयामास या चेतो मृगभूतस्य तस्य वै ॥२८॥

यह व्रत-शील राजपुत्री शान्ता कैसी बुद्धिमान् थी, जो इसने मृग के समान अज्ञानी को भी अपनी ओर खींच लिया ॥२८॥

लोमपादश्च राजर्षिर्यदाश्रूयत धार्मिकः ।
कथं वै विषये तस्य नावर्षत् पाकशासनः ॥२९॥

जो लोमपाद राजर्षि, धार्मिक था, तो इसके देश में इन्द्र ने वर्षा क्यों बन्द की ॥ २९ ॥

एतन्मे भगवन् सर्वं विस्तरेण यथातथम् ।
वक्तुमर्हसि शुश्रूषोर्ऋष्यशृङ्गस्य चेष्टितम् ॥३०॥

हे भगवन् ! आप मुझे इन सब कथाओं को विस्तार से ठीक ठीक सुना दें। मैं ऋष्यशृङ्ग की चेष्टाएँ सुनना चाहता हूँ ॥ ३०॥

लोमश उवाच—

विभाण्डकस्य विप्रर्षेस्तपसा भावितात्मनः ।

अमोघवीर्य्यस्य सतः प्रजापतिसमद्युतेः ।

शृणु पुत्रो यथा जात ऋष्यशृङ्ग प्रतापवान् ॥३१॥

लोमश कहने लगे—हे राजन ! तप करने वाले, अमोघ वीर्य, प्रजापति के समान कान्तिधारी, महर्षि विभाण्डक के जिस प्रकार ऋष्यशृङ्ग प्रतापी पुत्र उत्पन्न हुआ। वह मैं तुमको सुनाता हूँ। तुम ध्यान से सुनो ॥ ३१ ॥

महार्हस्य महातेजा बालः स्थविरसम्मतः ।

महाह्रदं समासाद्य काश्यपस्तपसि स्थितः ॥३२॥

इस महा-पूज्य, विभाण्डक का महा-तेजस्वी पुत्र बचपन में ही वृद्धों में मान्य था। इस काश्यप-पुत्र (विभाण्डक) ने महा ह्रद पर जाकर तप करना आरम्भ किया ॥ ३२ ॥

दीर्घकालं परिश्रान्त ऋषिः स देवसम्मितः ।

तस्य रेतः प्रचस्कन्द दृष्ट्वाप्सरसमुर्वशीम् ॥३३॥

देवों के समान ओजस्वी ऋषि, इस प्रकार तप करते हुए खड़ा २ थक गया। इसने एक बार उर्वशी को देखा, जिससे इसका वीर्य स्खलित हो गया ॥ ३३ ॥

अप्सूपस्पृशतो राजन् मृगी तच्चापिबत्तदा ।
सह तोयेन तृषिता गर्भिणी चाभवत्ततः ॥३४॥

हे राजन् ! जल पीने के समय किसी प्यासी मृगी ने इस वीर्य को जल के साथ पी लिया, जिससे यह गर्भवती हो गई ॥

सा पुरोक्ता भगवता ब्रह्मणा लोककर्तृणा ।
देवकन्या मृगी भूत्वा मुनिं सूय विमोक्ष्यसे ॥३५॥

लोकों के कर्ता भगवान् ब्रह्मा ने इससे पूर्वकाल में कह दिया था, कि हे देव-कन्या ! तू मृगी बनकर एक मुनि को उत्पन्न करेगी और इसके बाद इस मृगी योनि से छुटकारा पाकर फिर देव कन्या हो जावेगी ॥ ३५ ॥

अमोघत्वाद्विधेश्चैव भावित्वाद्दैवनिर्मितात् ।
तस्यां मृग्यां समभवत्तस्य पुत्रो महानृषिः ॥३६॥

इस ऋषि के अमोघ वीर्य, विधाता की गति, दैवनिर्मित होन-हार के कारण, इस मृगी में महर्षि ऋष्यश्रृङ्ग, उस मुनि का पुत्र होकर उत्पन्न हो गया ॥ ३६ ॥

ऋष्यशृङ्गस्तपो नित्यो वन एवाभ्यवर्तत ।
तस्यर्षेः शृङ्गं शिरसि राजन्नासीन्महात्मनः ॥३७॥
तेनर्ष्यशृङ्ग इत्येवं तदा स प्रथितोऽभवत् ।
न तेन दृष्टपूर्वोऽन्यः पितुरन्यत्र मानुषः ॥३८॥
तस्मात्तस्य मनो नित्यं ब्रह्मचर्येऽभवन्नृप ।

हे राजन् ! ऋष्यशृङ्ग, नित्य तप में परायण रहकर वन में ही रहता था। इस महात्मा ऋषि के शिर पर एक सींग था, इसीसे इसका नाम ऋष्यशृङ्ग पड़ गया। इसने पिता के सिवा अन्य कोई मनुष्य नहीं देखा था। हे नृप ! इससे इसका मन ब्रह्मचर्य के पालन में लगा रहता था ॥ ३७-३८ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु सखा दशरथस्य वै ॥३६॥

लोमपाद इति ख्यातो अङ्गानामीश्वरोऽभवत् ।

तेन कामात् कृतं मिथ्या ब्राह्मणस्येति नः श्रुतिः ॥४०॥

इसी समय में राजा दशरथ का सखा लोमपाद अङ्ग देश का स्वामी था। इसने किसी स्वार्थ से ब्राह्मणों के साथ मिथ्या व्यवहार किया ॥ ३९-४० ॥

स ब्राह्मणैः परित्यक्तस्तदा वै जगतः पतिः ।

पुरोहितापचाराच्च तस्य राज्ञो यदृच्छया ॥४१॥

न ववर्ष सहस्राक्षस्ततोऽपीड्यन्त वै प्रजाः ।

अब ब्राह्मणों ने राजा का परित्याग कर दिया। पुरोहित के अपकार से अचानक इस राजा के नगर में इन्द्र ने वर्षा नहीं की, इससे प्रजा बड़ी पीड़ित होगई ॥४१॥

स ब्राह्मणान् पर्य्यपृच्छत्तपोयुक्तान् मनीषिणः ॥४२॥

प्रवर्षणे सुरेन्द्रस्य समर्थान् पृथिवीपते ।

कथं प्रवर्षेत् पर्जन्य उपायः परिदृश्यताम् ॥४३॥

हे पृथिवी-पते ! इसने मनस्वी और तपस्वी ब्राह्मणों से इस विषय में पूछा— जो इन्द्र के बरसाने में समर्थ थे । हे ब्राह्मणों ! अब मेघ कैसे वर्षा करें, तुम इसका कोई उपाय बताओ ॥४३

तमूचुश्चोदितास्ते तु स्वमतानि मनीषिणः ।
तत्र त्वेको मुनिवरस्तं राजानमुवाच ह ॥४४॥

राजा के इतना पूछने पर उन विद्वान् ब्राह्मणों ने अपनी सम्मति प्रकट की । उनमें से एक मुनिवर ने उस राजा से कहा ॥४४॥

कुपितास्तव राजेन्द्र ब्राह्मणा निष्कृतिश्चर ।
ऋष्यशृङ्गं मुनिसुतमानयस्व च पार्थिव ॥४५॥

हे राजेन्द्र ! तुमसे ब्राह्मण कुपित हो गए हैं । अब तुम इस का प्रायश्चित्त करो । हे राजन् ! इसके लिए तुम मुनि के पुत्र ऋष्य-शृङ्ग को बुलाओ ॥४५॥

वानेयमनभिज्ञञ्च नारीणामार्जवे रतम् ।
स चेदवतरेद्राजन् विषयन्ते महातपाः ॥४६॥
सद्यः प्रवर्षेत् पर्जन्य इति मे नात्र संशयः ।

यह वनवासी, नारियों के व्यवहार में बिल्कुल अनभिज्ञ और सरल है । यह महा-तपस्वी, यदि तेरे देश में आजावे, तो मेघ फौरन बरस जावे—इसमें संशय नहीं है ॥४६॥

एतच्छ्रुत्वा वचो राजन् कृत्वा निष्कृतिमात्मनः ॥४७॥
स गत्वा पुनरागच्छत् प्रसन्नेषु द्विजातिषु ।
राजानमागतं श्रुत्वा प्रतिसञ्जहृषुः प्रजाः ॥४८॥

हे राजन् ! राजा लोमपाद ने वह सुन कर अपना प्रायश्चित्त किया। यह तीर्थ स्थानों पर जाकर फिर उन सन्तुष्ट ब्राह्मणों के पास आया। राजा को आया हुआ सुन कर प्रजा बड़ी प्रसन्न हुई ॥४७-४८॥

ततोऽङ्गपतिराहूय सचिवान्मन्त्रकोविदान् ।
ऋष्यशृङ्गागमे यत्नमकरोन्मन्त्रनिश्चये ॥४६॥

अब अङ्ग-पति लोमपाद ने सम्मति देने में कुशल मन्त्रियों को बुला कर ऋष्य-शृङ्ग के बुलाने में यत्न करने को सम्मति की

सोऽध्यगच्छदुपायन्तु तैरमात्यैः सहाच्युत ।
शास्त्रज्ञैरलमर्थज्ञैर्नित्यश्च परिनिष्ठितैः ॥५०॥

हे राजन् ! इसने मन्त्रियों के साथ एक उपाय निश्चित किया। ये सारे मन्त्री, शास्त्र के ज्ञाता, नीति के जानने वाले और अनुभवी थे ॥५०॥

ततश्चानाययामास वारमुख्या महीपतिः ।
वेश्याः सर्वत्र निष्णातास्ता उवाच स पार्थिवः ॥५१॥

राजा लोमपाद ने कुछ सुन्दर वेश्याओं को बुलाया। ये वेश्याएँ सब कार्यों में बड़ी ही कुशल थी। इनसे राजा ने कहा।

ऋष्यशृङ्गमृषेः पुत्रमानयध्वमुपायतः ।
लोभयित्वाभिविश्वास्य विषयं मम शोभनाः ॥५२॥

हे सुन्दरियो ! तुम ऋष्य-शृङ्ग को उपायों से मुग्ध करके तथा विश्वास देकर मेरे देश में ले आओ ॥५२॥

ता राजभयभीताश्च शापभीताश्च योषितः ।
न शक्यमूचुस्तत्कार्य्यं विवर्णा गतचेतसः ॥५३॥

अब ये वेश्याएँ, इधर तो राजा के दण्ड से डरी और उधर मुनि के शाप से भयभीत हो गईं। इस कार्य के विषय में ये कुछ भी नहीं बोल सकी । इनका रंग फीका पड़ गया और ये अचेत सी हो गईं ॥५३॥

तत्र त्वेका जरद्योषा राजानमिदमब्रवीत् ।
प्रयतिष्ये महाराज तमानेतुं तपोधनम् ॥५४॥

इनमें से एक वृद्ध वेश्या बोली—हे महाराज ! उस तपोधन मुनि के लाने का मैं प्रयत्न करूंगी ॥५४॥

अभिप्रेतांस्तु मे कामांस्त्वमनुज्ञातुमर्हसि ।
ततः शक्ष्याम्यानयितुमृष्यशृङ्गमृषेः सुतम् ॥५५॥

तुम मेरी चाही हुई वस्तुओं को इकट्ठी करवा दो, तो ऋषिपुत्र ऋष्य-शृङ्ग को मैं ला सकती हूँ ॥५५॥

तस्याः सर्वमभिप्रेतमन्वजानात् स पार्थिवः ।
धनञ्च प्रददौ भूरि रत्नानि विविधानि च ॥५६॥

राजा ने उसकी अभीष्ट वस्तुएँ मंगवादी और इसको बहुत सा धन और अनेक भांति के रत्न प्रदान किए ॥५६॥

ततो रूपेण सम्पन्ना वयसा च महीपते ।
स्त्रिय आदाय काश्चित् सा जगाम वनमञ्जसा ॥५७॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि ऋष्यशृङ्गोपाख्याने
दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११०॥

हे महीपते ! इसके अनन्तर रूप और वय से सम्पन्न कुछ सुन्दरी स्त्रियों को लेकर यह झट पट वन की ओर चल दी ॥५७॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रा पर्व में
ऋष्य-शृङ्ग के उपाख्यान में एकसौ दसवां
अध्याय पूरा हुआ।



एकसौ ग्यारहवां अध्याय

लोमशउवाच—

सा तु नाव्याश्रमञ्चक्रे राजकार्य्यार्थसिद्धये ।
सन्देशाच्चैव नृपतेः स्वबुद्ध्या चैव भारत ॥१॥

लोमश बोले—हे भारत ! इस वेश्या ने राजा के कार्य की सिद्धि के लिए राजा के आदेश और अपनी बुद्धि से एक नौकाओं का आश्रम बनवाया ॥१॥

नानापुष्पफलैर्वृक्षैः कृत्रिमैरुपशोभितैः ।
नानागुल्मलतोपेतैः स्वादुकामफलप्रदैः ॥२॥
अतीव रमणीयन्तदतीव च मनोहरम् ।
चक्रे नाव्याश्रमं रम्यमद्भुतोपमदर्शनम् ॥३॥

यह आश्रम बनावटी, नाना भांति के पुष्प, फलों के वृक्षों से सुशोभित था। इसमें अनेक प्रकार की झाड़ी और लतायें

लगी हुई थीं और यह उत्तम २ कामनाओं के पूर्ण करने में समर्थ था। यह इन वृक्षादि से अतीव रमणीक और मनोहर था। इसने इस नौका के आश्रम को बड़ा रसीला और अद्भुत बनाया ॥३॥

ततो निबध्य तां नावमदूरे काश्यपाश्रमात् ।
चारयामास पुरुषैर्विहारं तस्य वै मुनेः ॥४॥

इस वृद्ध वेश्या ने काश्यप मुनि के आश्रम के पास में ही अपनी नौका को बांध दिया। इसने अपने पुरुषोंसे विभाण्डक मुनि के बाहर जाने के समय का पता लगाया ॥४॥

ततो दुहितरं वेश्यां समाधायेतिकार्य्यताम् ।
दृष्ट्वान्तरं काश्यपस्य प्राहिणोद्बुद्धिसम्मताम् ॥५॥

इस बुढ़िया ने अपनी बेटी, बुद्धि के अनुसार चलने वाली, युवति वेश्या को अपने कार्य का गौरव समझा कर काश्यप मुनि के पीछे इस आश्रम में भेजा ॥५॥

सा तत्र गत्वा कुशला तपोनित्यस्य सन्निधौ ।
आश्रमं तं समासाद्य ददर्श तमृषेः सुतम् ॥६॥

यह चतुर नारी, इस आश्रम में तपस्वी के पास पहुंची और इस ने उस ऋषि के पुत्र को देखा ॥६॥

वेश्योवाच—

कच्चिन्मुने कुशलं तापसानां कच्चिच्च वो मूल फलं प्रभूतम् ।
कच्चिद्भवानृमते चाश्रमेऽस्मिंस्त्वां वै द्रष्टुं साम्प्रतमागतोऽस्मि ॥

वेश्या ने कहा—हे मुने ! तपस्वी लोग तो कुशल से हैं ? तुम्हारे आश्रम में फल मूल तो पर्याप्त हैं ? आप इस आश्रम में प्रसन्नता से तो रहते हो ? मैं आज आपके दर्शन करने को ही आई हूँ ॥७॥

कच्चित्तपो वर्द्धते तापसानां पिता च ते कच्चिदहीनतेजाः
कच्चित्त्वया प्रीयते चैव विप्र कच्चित् स्वाध्यायं क्रियते चर्ष्यशृङ्ग ॥

इस तपोवन में तपस्वियों का तप तो बढ़ रहा है। तुम्हारे पिता का तेज तो किसी भांति क्षीण नहीं होता है ? हे ऋष्य-शृङ्ग आप प्रसन्न तो हैं और नित्य वेद का अध्ययन तो होता रहता है

ऋष्यशृङ्ग उवाच—

ऋद्ध्या भवान् ज्योतिरिवप्रकाशते मन्येचाहं त्वामभिवादनीयम्
पाद्यं वै ते संप्रदास्यामि कामाद्यथाधर्मं फलमूलानि चैव ॥९

ऋष्य-शृङ्ग बोले—हे महा-भाग ! तुम अपने तेज से ज्योति की भांति प्रकाशित हो रहे हो। मैं तो तुमको प्रणाम के योग्य समझता हूँ। मेरी इच्छा है कि मैं तुम को पाद्य अर्घ्य प्रदान करूँ और मेरे धर्म के अनुसार तुम्हारे लिए फल मूलों की भेंट अर्पण करूँ ॥९॥

कौश्यां बृष्यामासस्वयथोपजोषंकृष्णाजिनेनावृतायां सुखायाम्
क चाश्रमस्तव किं नाम चेदं व्रतं ब्रह्मंश्चरसि हि देववत्त्वम् ।१०

तुम अपनी इच्छा के अनुसार इस कुशा के आसन पर बैठो जो इस मृग-चर्म से आवृत और सुखदायी है। हे ब्रह्मन् ! आपका

आश्रम कहां है और जो आप इस देवों के तुल्य, व्रत का आचरण कर रहे हैं; इस व्रत का क्या नाम है ॥१०॥

वेश्योवाच—

ममाश्रमः काश्यपपुत्र रम्यस्त्रियोजनं शैलमिमं परेण ।
तत्र स्वधर्मोऽनभिवादनं मे न चोदकं पाद्यमुपस्पृशामि ॥११

वेश्या बोली—हे काश्यप पुत्र! इस पर्वत के पीछे की ओर तीन योजन पर मेरा आश्रम है। मेरा यही धर्म है, कि मैं किसी का प्रणाम नहीं लेता हूँ और न पाद्य जल का स्पर्श करता हूं ॥११॥

भवता नाभिवाद्योऽहमभिवाद्यो भवान्मया ।
व्रतमेतादृशं ब्रह्मन् परिष्वज्यो भवान् मया ॥१२॥

आपको मुझे प्रणाम नहीं करना चाहिए, बल्कि मैं आपको प्रणाम कर सकता हूं, मेरा यही व्रत है। मुझे तो आप से आलिङ्गन करके प्रेम प्रकट करना चाहिए, ॥१२॥

ऋष्यशृङ्ग उवाच—

फलानि पक्वानि ददानि तेऽहं भल्लातकान्यामलकानि चैव।
करूषकाणीङ्गुदधन्वनानि पिप्पलानां कामकारं कुरुष्व ॥१३

ऋष्यशृङ्ग ने कहा—मैं तुमको पक्के २ भिलावे, आंवले, करूपक, इङ्गुद, धन्वन, पिप्पल के फल प्रदान करता हूं, तुम अपनी इच्छा के अनुसार ग्रहण करो ॥१३॥

लोमश उवाच—

सा तानि सर्वाणि विवर्जयित्वा भक्ष्याण्यनर्हाणि ददौ ततोऽस्य
तान्यृष्यशृङ्गस्य महारसानि भृशं सुरूपाणि रुचिं ददुर्हि ॥१४॥

इस वेश्या ने उन सब फलों को छोड़ कर उत्तम २ भोजन अर्पण किए, जो ऋष्यशृङ्ग को बड़े रसीले और सुन्दर प्रतीत हुए। इन्होंने इसकी रुचि को बढ़ाया ॥१४॥

ददौ च माल्यानि सुगन्धवन्ति चित्राणि वासांसि च भानुमन्ति
पेयानि चाग्र्याणि ततो मुमोद चिक्रीड चैव प्रजहास चैव ॥१५

इस वेश्या ने सुगन्ध युक्त मालाएँ, चमकते हुए अद्भुत वस्त्र, उत्तम २ पीने के पदार्थ, प्रदान किए, जिससे वह बड़ा प्रसन्न हुआ और उसके साथ क्रीड़ा तथा उपहास करने लगा ॥ १५ ॥

सा कन्दुकेनारमतास्य मूले विभज्यमाना फलिता लतेव ।
गात्रैश्च गात्राणि निषेवमाणा समाश्लिषच्चासकृदृष्यशृङ्गम् १६

यह वेश्या, इसके पास गेंद से खेलने लगी-जिससे यह नीचे झुकी हुई और फली हुई लता सी प्रतीत होती थी। यह अपने अङ्ग से मुनि के अङ्गों का स्पर्श करके बार २ ऋष्यशृङ्ग से आलिङ्गन करने लगी ॥ १६ ॥

सर्जानशोकांस्तिलकांश्च वृक्षान् सुपुष्पितानवनाम्यावभज्य
विलज्जमानेव मदाभिभूता प्रलोभयामास सुतं महर्षेः ॥१७॥

पुष्पों से लदे हुए, शाल, अशोक, तिलक, (चन्दन) के वृक्षों को झुका कर या तोड़ कर मद से भरी हुई, इस कामिनी ने लज्जित सी होकर इस महर्षि के सुत को अपने पञ्जे में फंसा लिया ॥ १७ ॥

अथर्ष्यशृङ्गं विकृतं समीक्ष्य पुनः पुनः पीड्य च कायमस्य ।
अवेक्ष्यमाणा शनकैर्जगाम कृत्वाग्निहोत्रस्य तदापदेशम् ॥

इसने ऋष्यशृङ्ग के मन में विकार देख कर इसके शरीर का बार २ गाढ़ आलिङ्गन किया। फिर यह अग्निहोत्र का बहाना करके धीरे २ चल दी। ऋष्यशृङ्ग इसकी ओर देखता ही रहा॥

तस्यां गतायां मदनेन मत्तो विचेतनश्चाभवदृष्यशृङ्गः।
तामेव भावेन गतेन शून्ये विनिश्वसन्नार्त्तरूपो बभूव ॥१९॥

जब यह चली गई तो कामातुर ऋष्यशृङ्ग अचेत होगया। इसका मन उस कामिनी में फंस चुका था, इससे इस शून्य प्रदेश में निश्वास लेकर व्याकुलता से फिरने लगा॥ १९॥

ततो मुहूर्त्ताद्धरिपिङ्गलाक्षः प्रवेष्टितो रोमभिरानखाग्रात्।
स्वाध्यायवान् वृत्तसमाधियुक्तो विभाण्डकःकाश्यपःप्रादुरासीत्

थोड़ी ही देर में हरी पीली आंख वाला, नखों तक रोमों से भरा हुआ, स्वाध्यायशील, सदाचार और समाधि सहित, कश्यप पुत्र विभाण्डक वहां आ पहुंचा॥२०॥

सोऽपश्यदासीनमुपेत्य पुत्रं ध्यायन्तमेकं विपरीतचित्तम्।
विनिश्वसन्तं मुहुरूर्ध्वदृष्टिं विभाण्डकः पुत्रमुवाच दीनम् २१

इस विभाण्डक मुनि ने किसी के ध्यान में बैठे हुए, विपरीत-चित्तवाले, ऊपर को दृष्टि करके श्वास भरते हुए, अपने पुत्र को देखा। अब यह अपने आतुर पुत्र के पास जाकर उससे बोला २१

न कल्प्यन्ते समिधः किं नु तात कच्चिद्धुतश्चाग्निहोत्रं त्वयाद्य
सुनिर्णिक्तं स्रुक्स्रुवं होमधेनुः कच्चित्सवत्सा चकृता त्वया च॥

हे तात ! समिधा क्यों नहीं लाए ? क्या आज तुम अग्निहोत्र कर चुके ? क्या तुमने स्रुक् और स्रुवा शुद्ध कर लिया और होम धेनु को बछड़े से मिला दिया ॥२२॥

न वै यथापूर्वमिवासि पुत्र चिन्तापरश्चासि विचेतनश्च ।
दीनोऽतिमात्रं त्वमिहाद्य किं नु पृच्छामि त्वां क इहाद्यागतोऽभूत्

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि ऋष्यशृङ्गोपाख्याने
एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥१११॥

हे पुत्र ! आज तो तुम्हारा अन्य ही ढंग दिखाई पड़ता है। जैसे पहिले दिखाई देते थे-वैसे नहीं हो । चिन्तातुर और अचेत से हो रहे हो। आज तुम बड़े दीन हो रहे हो । मैं तुम से पूछता हूँ, कि क्या कोई यहां आया था ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में ऋष्यशृङ्ग
के उपाख्यान का एक सौ ग्यारहवां अध्याय पूरा हुआ ॥



एकसौ बारहवां अध्याय

ऋष्यशृङ्ग उवाच—

इहागतो जटिलो ब्रह्मचारी न वै ह्रस्वो नातिदीर्घो मनस्वी ।
सुवर्णवर्णः कमलायताक्षः स्रुतः सुराणामिव शोभमानः ॥१

ऋष्य-शृंग बोले—हे पिता ! आज यहां एक ब्रह्मचारी आया था; जो मनस्वी, न तो छोटा था और न अधिक लम्बा ही था। इसका स्वर्ण के समान वर्ण और कमल के समान आंख थी। यह देवों के तुल्य सुशोभित था ॥१॥

समृद्धरूपः सवितेव दीप्तः सुशुक्लकृष्णाक्षिरतीव गौरः ।
नीलाः प्रसन्नाश्च जटाः सुगन्धा हिरण्यरज्जुग्रथिताः सुदीर्घाः
आधाररूपा पुनरस्य कण्ठे विभ्राजते विद्युदिवान्तरीक्षे ।
द्वौ चास्य पिण्डावधरेण कण्ठादजातरोमौ सुमनोहरौ च ।२

इसका रूप बहुत अधिक था और यह सूर्य के तुल्य तेजस्वी था। यह स्वयं बड़ा गौर वर्ण था। इसकी काली, सुगन्धित गुथी हुई जटाएँ थीं और सुवर्ण की बड़ी लम्बी गुथी हुई रस्सी उसके पास थी, जो आकाश में बिजली के सदृश कण्ठ में चमक रही थी। इसके कण्ठ के नीचे दो मांस पिण्ड (स्तन) हैं, जिन पर रोम नहीं हैं और जो बड़े ही मनोहर हैं ॥२-३॥

विलग्नमध्यश्च च नाभिदेशे कटिश्च तस्यातिकृतप्रमाणा ।
तथास्य चीरान्तरतः प्रभाति हिरण्मयी मेखला मे यथेयम् ।।४

इसका नाभिप्रदेश गम्भीर और कटि भाग अत्यन्त पतला है। इसके बारीक कपड़ों में होकर मेरी मेखला जैसी उसकी सोने की मेखला चमकती रहती है ॥४॥

अन्यच्च तस्याद्भुतदर्शनीयं विकूजितं पादयोः संप्रभाति ।
पाण्योश्च तद्वत् स्वनवन्निबद्धौ कलापकावक्षमाला यथेयम् ।५

उसकी अन्य बातें भी बड़ी सुन्दर हैं। इसके पैरों के नूपुर-शब्द करते हुए बड़े अच्छे मालूम होते हैं, इसी तरह इसके हाथों में बन्धे हुए और शब्द करते हुए भूषण, मेरी अक्षमाला के समान सुशोभित हैं ॥५॥

विचेष्टमानस्य च तस्य तानि कूजन्ति हंसाः सरसीव मत्ताः।
चीराणि तस्याद्भुतदर्शनानि नेमानि तद्वन्मम रूपवन्ति ॥६

जब यह ब्रह्मचारी कुछ चेष्टा करता है, तो इसके ये भूषण, सरोवर पर मत्त हंसों की भांति कूजने लगते हैं। इसके वस्त्र बड़े सुन्दर हैं। उनके समान मेरे ये वस्त्र नहीं हैं ॥६॥

वक्त्रञ्च तस्याद्भुतदर्शनीयं प्रव्याहृतं ह्लादयतीव चेतः।
पुंस्कोकिलस्येव च तस्य वाणीता शृण्वतो मे व्यथितोऽन्तरात्मा

इसका मुख भी अत्यन्त मनोहर है, जो बोलने पर चित्त को खिला देता है। इसकी वाणी कोयल की सी है, जिसको सुन कर मेरी आत्मा तड़फ रही है ॥७॥

यथा वनं माधवमासि मध्ये समीरितं श्वसनेनैव भाति ।
तथा स भात्युत्तमपुण्यगन्धी निषेव्यमाणः पवनेन तात ॥८॥

हे तात ! जिस भांति वसन्त ऋतु में वायु से भूपित वन सुशोभित होता है, उसी तरह वायु से वह उत्तम सुगन्धका धारी ब्रह्मचारी सुशोभित होता है ॥८॥

सुसंयताश्चापि जटा विभक्ता द्वैधीकृता नातिसमा ललाटे ।
कर्णौ च चित्रैरिव चक्रवाकैः समावृतौ तस्य सुरूपवद्भिः ॥९॥

इसकी जटाएं साफ सुथरी हैं, जो दो भागों में बटी हुई हैं और ललाट पर छाई हुई नहीं हैं। इसके कान सुन्दर, विचित्र भूषण से चक्रवाकों से घिरे हुए से हैं ॥९॥

तथा फलं वृत्तमथो विचित्रं समाहरत् पाणिना दक्षिणेन ।
तद्भूमिमासाद्य पुनः पुनश्च समुत्पतत्यद्भुतरूपमुच्चैः ॥१०॥

यह अपने दाऐं हाथ से किसी विचित्र गोलफल (गेंद) को धारण किए हुए था। जो फल, भूमि पर मारने से बार २ ऊपर को उछलता था। यह दृश्य भी बड़ा ही अद्भुत था ॥१०॥

तच्चाभिहत्वा परिवर्त्ततेऽसौ वातेरितो वृक्ष इवाथ घूर्णन् ।
तं प्रेक्षतः पुत्रमिवामराणां प्रीतिः परा तात रतिश्च जाता ।११

हे तात ! वह इस फल को पृथिवी पर पटक कर चक्कर खा जाता था, जैसे वायु से वृक्ष हिलता है। देवों के पुत्र के समान उसको देख कर मुझको बड़ी प्रीति और आनन्द प्राप्त हुआ है।

स मे समाश्लिष्य पुनः शरीरं जटासु गृह्याभ्यवनाम्य वक्त्रम्
वक्त्रेण वक्त्रं प्रणिधाय शब्दञ्चकार तन्मेऽजनयत् प्रहर्षम् १२

उसने मेरे शरीर का आलिङ्गन करके और जटा पकड़ कर मुख को नीचे झुकाया तथा मुख से मुख मिला कर कुछ शब्द सा किया, जिससे मुझे बड़ा ही रस आया ॥१२॥

न चापि पाद्यं बहुमन्यतेऽसौ फलानि चेमानि मया हृतानि ।
एवंव्रतोऽस्मीति च मामवोचत् फलानि चान्यानि स चाददान्मे

इसने न तो मेरा पाद्य ग्रहण किया और न मेरे दिए हुए फल ग्रहण किए। इसने कहा—कि मेरा यहीं व्रत है और इसने कुछ अन्य फल मुझे ही दे दिए ॥१३॥

मयोपयुक्तानि फलानि यानि नेमानि तुल्यानि रसेन तेषाम्
न चापि तेषां त्वगियंयथैषांसाराणिनैषामिवसन्तितेषाम् ॥१४

मैंने जितने फल आज तक खाए, इनके रस के समान नहीं थे। न उनका इनके समान छिलका था और न इनके समान रस ही था ॥१४॥

तोयानि चैवातिरसानि मह्यं प्रादात् स वै पातुमुदाररूपः ।
पीत्वैवयान्यभ्यधिकः प्रहर्षोम ममाभवद् भूश्चलितेव आसीत्॥१५

इस उदार ब्रह्मचारी ने पीने के लिए अत्यन्त स्वादु जल प्रदान किया। जिसके पीते ही बड़ी जागृति हुई और भूमि चलती दिखाई देने लगी ॥१५॥

इमानिचित्राणिचगन्धवन्तिमाल्यानितस्योद्ग्रथितानिपट्टैः ।
यानि प्रकीर्येहगतःस्वमेव स आश्रमंतपसा द्योतमानः ॥१६॥

ये सुगन्धित मालाएँ रेशम में उनके हाथ की गूंथी हुई हैं, जिनको बखेर कर वह तप से प्रदीप्त, ब्रह्मचारी, अपने आश्रम को चला गया ॥१६॥

गतेन तेनास्मि कृतो विचेता गात्रञ्च मे संपरिदह्यतीव ।
इच्छामितस्यान्तिकमाशुगन्तुं तञ्चेहनित्यंपरिवर्त्तमानम् १७

उसके जाने से मैं अचेत सा हो गया हूं और मेरा शरीर जल सा रहा है। मैं नित्य उसके पास जाना और उसका यहां आना चाहता हूं ॥१७॥

गच्छामितस्यान्तिकमेवतातकानामसाव्रतचर्य्याच तस्य ।
इच्छाम्यहं चरितुं तेन सार्द्धं यथा तपः स चरत्यार्य्यधर्मा ।
चर्त्तुं तथेच्छाहृदयेममास्तिदुनोतिचित्तंयदितंन पश्ये ॥१८॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि ऋष्यशृङ्गोपाख्याने
द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११२॥

हे तात ! मैं तो उसी के पास जाता हूँ, उसकी इस व्रत-चर्या का क्या नाम है। मैं उसके साथ घूमना चाहता हूँ और जिस व्रत को वह श्रेष्ठ ब्रह्मचारी कर रहा है, मेरे हृदय में भी उसी व्रत के करने की लालसा है। जब तक मैं उस ब्रह्मचारी को नहीं देख लूंगा—तब तक मेरा चित्त ऐसे ही व्याकुल रहेगा ॥१८॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में
ऋष्य-शृङ्ग के उपाख्यान का एक सौ बारहवां
अध्याय पूरा हुआ।

एकसौ तेरहवाँ अध्याय

विभाण्डक उवाच—

रक्षांसि चैतानि चरन्ति पुत्र रूपेण तेनाद्भुतदर्शनेन ।
अतुल्यवीर्य्याण्यतिरूपवन्तिविघ्नंसदातपसश्चिन्तयन्ति ॥१॥

विभाण्डक बोले—हे पुत्र ! इस अद्भुत सुन्दर रूप को धारण करके राक्षस घूमा करते हैं, जो बड़े शक्तिशाली और रूप वाले हैं। ये सदा तपों का विघ्न करते रहते हैं ॥१॥

सुरूपरूपाणि च तानि तात प्रलोभयन्ते विविधैरुपायैः ।
सुखाच्च लोकाच्च निपातयन्ति तान्युग्ररूपाणिमुनीन्वनेषु ॥२

ये सुन्दर रूप धारी राक्षस, अनेक उपायों से तपस्वी को अपनी ओर खैंचते हैं । उन महा-तेजस्वी मुनियों को वन में अपने सुखकारी स्थान से च्युत कर देते हैं ॥२॥

नतानिसेवेतमुनिर्यतात्मासतांलोकान्प्रार्थयानःकथञ्चित् ।
कृत्वाविघ्नंतापसानांरमन्ते पापाचारास्तापसस्तान्नपश्येत् ॥

जो सज्जनों को अभीष्ट उत्तम लोकों की वाञ्छा करता है, वह जितेन्द्रिय मुनि, इनके पास भी नहीं जाता है । ये पापी तपस्वियों का विनाश करके बड़े प्रसन्न होते हैं, इससे किसी भी तपस्वी को इनकी ओर नहीं देखना चाहिए ॥३॥

असज्जनेनाचरितानि पुत्र पानान्यपेयानि मधूनि तानि ।
माल्यानिचैतानिनवैमुनीनांस्मृतानिचित्रोज्ज्वलगन्धवन्ति ॥

हे पुत्र ! इस प्रकार नहीं पीने योग्य मधुओं (सुरा) को तो अनार्य लोग पीते हैं और ये अद्भुत २ सुगन्धितवाली, मालाओं का मुनिजन स्मरण तक नहीं करते ॥४॥

लोमश उवाच—

रक्षांसि तानीति निवार्य्य पुत्रं विभाण्डकस्तां मृगयाम्बभूव।
नासादयामास यदात्र्यहेणतदासपर्य्याविवृते श्रमाय ॥५॥

लोमश बोले—इस प्रकार अपने पुत्र के लिए उस वेश्या को राक्षस बता कर विभाण्डक मुनि उस कामिनी की खोज में निकले। जब इसको तीन दिन तक खोजने पर भी वह न मिली, तो यह थक कर आश्रम को लौट आया ॥५॥

यदा पुनः काश्यपोवैजगाम फलान्याहर्त्तुं विधिनाश्रावणेन
तदा पुनर्लोभयितुं जगाम सा वेशयोपा मुनिमृष्यशृङ्गम् ॥६॥

जब मुनि वृत्ति से फल लेने के लिए विभाण्डक मुनि गए तो यह सुन्दरी वेश्या फिर ऋष्य-शृङ्ग को मुग्ध करने के लिए उस के पास पहुँची ॥६॥

दृष्ट्वैव तामृष्यशृङ्गः प्रहृष्टः संभ्रान्तरूपोऽभ्यपतत्तदानीम्।
प्रोवाच चैनां भवतोऽश्रमाय गच्छाव यावन्नपितामभैति ॥७॥

इसको देखते ही ऋष्य-शृङ्ग खिल गया और पागल की भांति उसकी ओर दौड़ पड़ा। ऋष्य-शृङ्ग ने इससे कहा—कि जब तक पिता जी नहीं आवें; हम दोनों तुम्हारे आश्रम को चलें ॥७॥

ततो राजन् काश्यपस्यैकपुत्रं प्रवेश्य योगेनविमुच्यनावम्।
प्रमोदयन्त्योविविधैरुपायैराजग्मुरङ्गाधिपतेः समीपम् ॥८॥

हे राजन् ! काश्यप मुनि के एक मात्र पुत्र ऋष्य-शृङ्ग को अपने उपाय से पञ्जे में फँसा कर वेश्या ने अपनी नौका को खोल कर चलता कर दिया। ये सब इस मुनि को अनेक उपायों से मुग्ध करते हुए अङ्गराज लोमपाद के पास पहुंचे ॥८॥

संस्थाप्य तामाश्रमदर्शने तु सन्तारितां नावमथातिशुभ्राम्
नीरादुपादाय तथैव चक्रे नाव्याश्रमं नाम वनं विचित्रम् ॥

नदी से पार हुई उत्तम नौका को जल से बाहर निकाला और स्थापित किया, फिर इसी नौका में विचित्र आश्रम बना लिया ॥९॥

अन्तःपुरे तन्तु निवेश्य राजा विभाण्डकस्यात्मजमेकपुत्रम् ।
ददर्श देवं सहसा प्रवृष्टमापूर्य्यमाणञ्च जगज्जलेन ॥१०॥

विभाण्डक मुनि के एक मात्र पुत्र ऋष्य शृङ्ग को रनवास में ज्यों ही प्रविष्ट किया, त्यों ही राजा लोमपाद ने अचानक इन्द्र को बरसते देखा; जिससे सारा जगत् जल से भर गया ॥१०॥

स लोमपादः परिपूर्णकामः सुतां ददावृष्यशृङ्गाय शान्ताम् ।
क्रोधप्रतीकारकरञ्च चक्रे गाश्चैव मार्गेषु च कर्षणानि ॥११॥

जब लोमपाद की कामना पूर्ण हो गई, तो उसने ऋष्य-शृङ्ग के लिए अपनी कन्या शान्ता को प्रदान कर दिया और विभाण्डक मुनि के क्रोध के प्रतिकार के लिए मार्ग में गौ और खेत लगवा दिए ॥११॥

विभाण्डकस्याव्रजतः स राजा पशून् प्रभूतान् पशुपांश्च वीरान् ।
समादिशत् पुत्रगृद्धी महर्षिर्विभाण्डकः परिपृच्छेद्यदा वः ॥१२॥

स वक्तव्यः प्राञ्जलिभिर्भवद्भिः पुत्रस्य ते पशवः कर्षणञ्च।
किन्ते प्रियं वै क्रियतां महर्षे दासाः स्म सर्वे तव वाचि बद्धाः

उस राजा ने विभाण्डक के आने के मार्ग में अनेक पशु और वीर पशु पालकों को नियुक्त किया और उनको आज्ञा दी कि जब पुत्र प्रेमी, महर्षि विभाण्डक तुमसे पूछे, तो तुम लोग हाथ जोड़ कर कहना, कि ये पशु और खेती आपके पुत्र की ही हैं। हे महर्षे! हम आपकी क्या सेवा करें, हमतो आपकी आज्ञा के दास हैं ॥१२-१३॥

अथोपायात् स मुनिश्चण्डकोपः स्वमाश्रमं मूलफलं गृहीत्वा
अन्वेषमाणश्च न तत्र पुत्रं ददर्श चुक्रोध ततो भृशं सः ॥१४॥

अब महा-क्रोधी विभाण्डक मुनि, कन्द, मूल, फल लेकर अपने आश्रम से आया। इसने इधर उधर पुत्र को देखा, परन्तु कहीं नहीं पाया, इससे यह अत्यन्त कुपित हो गया ॥१४॥

ततः स कोपेन विदार्य्यमाण आशङ्कमानो नृपतेर्विधानम्।
जगाम चम्पां प्रति धक्ष्यमाणस्तमङ्गराजं सपुरं सराष्ट्रम् ॥

अब इसे कोप ने चीर सा डाला। इसने यह सारी कार्यवाही राजा लोमपाद की है, यह समझ लिया। यह मुनि अङ्गराज को पुर और राष्ट्र सहित भस्म करने के लिए चम्पानगरी की ओर चल दिया ॥१५॥

सवैश्रान्तःक्षुधितः काश्यपस्तान्घोषान्समासादितवान्समृद्धान्
गोपैश्च तैर्विधिवत् पूज्यमानो राजेव तां रात्रिमुवास तत्र॥१६॥

यह थका हुआ, भूखा, प्यासा मुनि कश्यप, उन सम्पत्तिशाली छोटे २ गावों में पहुंचा। उन गोपों ने इसकी बड़ी पूजा की। यहां इसने रात में राजा की तरह निवास किया ॥१६॥

अवाप्य सत्कारमतीव तेभ्यः प्रोवाच कस्य प्रथिताः स्थ गोपाः
ऊचुस्ततस्तेऽभ्युपगम्य सर्वे धनं तवेद विहितं सुतस्य॥१७॥

विभाण्डक मुनि, इनसे अतीव सत्कार पाकर इन गोपों से बोला—हे गोपो! तुम किसकी ओर से यहां रहते हो। वे सारे आकर बोले—यह सारा धन आपका ही है। क्योंकि यह आपके पुत्र ने प्राप्त किया है ॥१७॥

देशेषु देशेषु स पूज्यमानस्तांश्चैव शृण्वन् मधुरान् प्रलापान्
प्रशान्तभूयिष्ठरजाः प्रहृष्टः समाससादाङ्गपतिं पुरस्थम् ॥१८॥

इस मुनि की देश २ में पूजा हो रही थी और यह इसी तरह की सब जगह मीठी २ बातें सुनता जा रहा था। इन सब घटनाओं से इसका रजोगुण (क्रोध) शान्त हो गया। यह इस तरह राजधानी में स्थित अंगराज के पास पहुंचा ॥१८॥

स पूजितस्तेन नरर्षभेण ददर्श पुत्रं दिवि देवं यथेन्द्रम्।
शान्तां स्नुषाञ्चैव ददर्श तत्र सौदामिनीमुच्चरन्तीं यथैव॥१९॥

राजा लोमपाद ने इस मुनि की अत्यन्त पूजा की। यहां इसने अपने पुत्र को स्वर्ग में इन्द्र के तुल्य बैठा हुआ देखा। इसी के पास अपनी पुत्र-वधू शान्ता को देखा, जो चमकती बिजली के सदृश देदीप्यमान हो रही थी ॥१९॥

ग्रामांश्चघोषांश्चसुतस्यदृष्ट्वाशान्ताञ्चशान्तोऽस्यपरःसकोपः
चकार तस्यैव परं प्रसादं विभाण्डको भूमिपतेर्नरेन्द्र ॥२०॥

हे नरेन्द्र ! अपने पुत्र के पास गांव-घोष (छोटे २ गांव) और पुत्र वधू शान्ता को देख कर इस मुनि का कोप शान्त हो गया अब तो यह विभाण्डक मुनि ही उस राजा पर अत्यन्त प्रसन्न हो गया ॥२०॥

स तत्र निक्षिप्य सुतं महर्षिरुवाच सूर्य्याग्निसमप्रभावः ।
जातेतुपुत्रेवनमेवाव्रजेथाराज्ञः प्रियाण्यस्यसर्वाणिकृत्वा ॥२१॥

सूर्य के तुल्य तेजस्वी, महर्षि विभाण्डक ने अपने पुत्र को वहीं छोड़ कर कहा—हे पुत्र ! इस पुत्र-वधू में सन्तान उत्पन्न करके तथा इस राजा का सब तरह से सन्तोष करके वन में आ जाना ॥२१॥

स तद्वचः कृतवानृष्यशृङ्गो ययौ च यत्रास्य पिता बभूव ।
शान्तांचैनंपर्य्यचरन्नरेन्द्र खे रोहिणी सोममिवानुकूला २२॥

ऋष्य-शृङ्ग ने अपने पिता का वचन पूरा किया और अन्त में वह अपने पिता के पास वन में चला आया। हे नरेन्द्र ! पतिव्रता शान्ता भी, चन्द्रमा को रोहिणी के तुल्य इस मुनि की सेवा में तत्पर रहने लगी ॥२२॥

अरुन्धतीवासुभगावशिष्ठंलोपामुद्रा वापि यथा ह्यगस्त्यम् ।
नलस्य वा दमयन्ती यथाभूद्यथा शची वज्रधरस्यचैव॥२३॥

नारायणीवेन्द्रसेना बभूव वश्या नित्यं मुद्गलस्याजमीढ़ ।
तथा शान्ताऋष्यशृङ्गं वनस्थं प्रीत्या युक्ता पर्य्यचरन्नरेन्द्र ॥

हे युधिष्ठिर ! सौभाग्यवती अरुन्धती, वसिष्ठ के, लोपामुद्रा अगस्त्य के, दमयन्ती नल के, शची इन्द्र के, नारायणी इन्द्रसेना मुद्गल के जिस तरह अनुकूल रहती थीं, उसी तरह शान्ता भी वनवासी ऋष्य-शृङ्ग की प्रेम से सावधानी के साथ सेवा करने लगी ॥२३-२४॥

तस्याश्रमः पुण्य एषोऽत्रभाति महाहृदं शोभयन् पुण्यकीर्त्तिः।
अत्र स्नातः कृतकृत्योविशुद्धस्तीर्थान्यन्यान्यनुसंयाहिराजन्

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि ऋष्यशृङ्गोपाख्याने
त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११३॥

हे राजन् ! यह उसी ऋषी का पवित्र आश्रम है। इसकी सर्वत्र कीर्ति है। यह इस बड़े भारी सरोवर को सुन्दर बना रहा है। तुम इसमें स्नान करके कृतार्थ होकर आगे अन्य तीर्थों पर यात्रा करो ॥२५॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में
ऋष्य-शृङ्ग के उपाख्यान का एक सौ तेरहवां
अध्याय पूरा हुआ।



एकसौ चौदहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

ततः प्रयातः कौशिक्याः पाण्डवो जनमेजय ।
आनुपूर्व्येण सर्वाणि जगामायतनान्यथ ॥१॥

वैशम्पायन कहने लगे—हे जनमेजय ! राजा युधिष्ठिर कौशिकी नदी से आगे चल दिए और क्रम से सारे मन्दिरों की यात्रा करने लगे ॥१॥

स सागरं समासाद्य गङ्गायाः सङ्गमे नृप ।
नदीशतानां पञ्चानां मध्ये चक्रे समाप्लवम् ॥२॥

हे नृप ! इन राजर्षि ने गंगा सागर पर पहुंच कर पांच सौ नदियों के प्रवेश करने के स्थान पर स्नान किया ॥२॥

ततः समुद्रतीरेण जगाम वसुधाधिपः ।
भ्रातृभिः सहितो वीरः कलिङ्गान् प्रति भारत ॥३॥

हे भारत ! राजा युधिष्ठिर समुद्र के तीर पर अपने भाइयों के साथ कलिङ्ग देश को चल दिए ॥३॥

लोमश उवाच—

एते कलिङ्गा कौन्तेय यत्र वैतरणी नदी ।
यत्रायजत धर्मोऽपि देवाञ्छरणमेत्य वै ॥४॥

महर्षि लोमश ने कहा—हे कौन्तेय ! ये कलिंग देश है, जहां वैतरणी नदी है । यहां पर देवों की शरण प्राप्त करके धर्म ने यज्ञ किया था ॥४॥

ऋषिभिः समुपायुक्तं यज्ञियं गिरिशोभितम् ।
उत्तरं तीरमेतद्धि सततं द्विजसेवितम् ॥५॥

पर्वत से सुशोभित, यज्ञ भूमि, ऋषियों से व्याप्त, यह समुद्र का उत्तर तीर है, जो द्विजातियों से भरा रहता है ॥५॥

समानं देवयानेन पथा स्वर्गमुपेयुषः ।
अत्र वै ऋषयोऽन्येऽपि पुरा क्रतुभिरीजिरे ॥६॥

यह स्थान स्वर्ग प्राप्त करने वालों को देवयान मार्ग के सदृश है । यहां पूर्व काल में अनेक ऋषियों ने यज्ञ किए हैं ॥६॥

अत्रैव रुद्रो राजेन्द्र पशुमादत्तवान्मखे ।
पशुमादाय राजेन्द्र भागोऽयमिति चाब्रवीत् ॥७॥

हे राजेन्द्र ! यहां पर रुद्र ने यज्ञ में पशु, बल-पूर्वक ग्रहण किया था और पशु को लेकर कहा-कि यह मेरा भाग है ॥७॥

हृते पशौ तदा देवास्तमूचुर्भरतर्षभ ।
मा परस्वमभिद्रोग्धा मा धर्मान् सकलान् वशीः ॥८॥

हे भरतर्षभ ! रुद्र द्वारा पशु के अपहरण कर लेने पर देवों ने कहा—तुम दूसरे के भाग की ईर्ष्या मत करो और न सारे धर्मों का नाश करो या अन्य के भाग की इच्छा करो ॥८॥

ततः कल्याणरूपाभिर्वाग्भिस्ते रुद्रमस्तुवन् ।
इष्ट्या चैनं तर्पयित्वा मानयाञ्चक्रिरे तदा ॥९॥

इसके बाद कल्याण युक्त स्तुतियों से रुद्र की स्तुति की और यज्ञ द्वारा इसको तृप्त करके इसका आदर किया ॥ ९ ॥

ततः स पशुमुत्सृज्य देवयानेन जग्मिवान् ।
तत्रानुवंशो रुद्रस्य तन्निबोध युधिष्ठिर ॥१०॥

हे युधिष्ठिर! अब यह पशु का परित्याग करके देवयान मार्ग से चलता बना। इस समय से रुद्र के विषय में जो कथा चल पड़ी है, वह तुमको सुनाता हूं ॥ ॥ १०॥

अयातयामं सर्वेभ्यो भागेभ्यो भागमुत्तमम् ।
देवाः सङ्कल्पयामासुर्भयाद्रुद्रस्य शाश्वतम् ॥११॥

सब भागों से उत्तम भाग अयातयाम (पहर भर का बनाया हुआ) है, रुद्र के भय से देवों ने इस भाग को रुद्र का भाग सदा के लिए निश्चित कर दिया ॥ ११ ॥

इमां गाथामत्र गायन्नुप स्पृशति यो नरः ।
देवयानोऽस्य पन्थाश्च चक्षुषाभिप्रकाशते ॥१२॥

हे नृप ! इस गाथा को यहां गाकर जो इस तीर्थ का स्पर्श करता है। उसकी दृष्टि में देवयान मार्ग प्रकाशित हो जाता है ॥

वैशम्पायन उवाच—

ततो वैतरणीं सर्वे पाण्डवा द्रौपदी तथा ।
अवतीर्य्य महाभागास्तर्पयाञ्चक्रिरे पितॄन् ॥१३॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! महानुभाव, पाण्डव और द्रौपदी, वैतरणी नदी में उतर कर नदीके जल से पितरों का तर्पण करने लगे ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

उपस्पृश्येह विधिवदस्यां नद्यां तपोबलात् ।
मानुषादस्मि विषयादपेतः पश्य लोमश ॥१४॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे महर्षे ! मैं इस नदी में विधि-पूर्वक स्नान करके तपोबल से युक्त होकर मनुष्य कोटि से ऊंचा सा हो गया हूं--तुम देख सकते हो ॥ १४ ॥

सर्वान् लोकान् प्रपश्यामि प्रसादात्तव सुव्रत ।
वैखानसानां जपतामेष शब्दो महात्मनाम् ॥१५

हे ब्रह्मन ! तुम्हारी कृपा से मैं सब लोकों को देख रहा हूं, और जप करने वाले वानप्रस्थी महात्माओं के शब्दों को सुनता हूं ॥ १५ ॥

लोमश उवाच —

त्रिशतं वै सहस्राणि योजनानां युधिष्ठिर ।
यत्र ध्वनिं शृणोष्येनं तूष्णीमास्व विशाम्पते ॥१६॥

हे युधिष्ठिर ! अब तू इस ध्वनि को तीन सौ योजन तक सुनता रहेगा—चुपचाप होजा ॥ १६ ॥

एतत् स्वयम्भुवो राजन् वनं दिव्यं प्रकाशते ।
यत्रायजत राजेन्द्र विश्वकर्मा प्रतापवान् ॥१७॥

हे राजेन्द्र ! यह स्वयम्भू (ब्रह्मा) का दिव्यवन, प्रकाशित हो रहा है । यहां प्रतापी विश्वकर्मा ने यज्ञ किया था ॥१७॥

यस्मिन् यज्ञे हि भूर्दत्ता कश्यपाय महात्मने।
सपर्वतवनोद्देशा दक्षिणार्थे स्वयम्भुवा ॥१८॥

इस यज्ञ में ब्रह्माजी ने महात्मा काश्यप के लिए पर्वत और वनों सहित भूमि, दक्षिणा में देदी थी ॥ १८ ॥

अवासीदच्च कौन्तेय दत्तमात्रा महीं तदा।
उवाच चापि कुपिता लोकेश्वरमिदं प्रभुम् ॥१६॥

हे कौन्तेय! दान में देते ही भूमि ने कष्ट का अनुभव किया और कुपित होकर लोकेश्वर ब्रह्मा से यह वचन कहा ॥ १६ ॥

न मां मर्त्याय भगवन् कस्मैचिद्दातुमर्हसि।
प्रदानं मोघमेतत्ते यास्याम्येषा रसातलम् ॥२०॥

हे भगवन्! मुझे आपको किसी मनुष्य के लिए प्रदान नहीं करना चाहिए। यह तुम्हारा प्रदान करना निष्फल है, अब मैं रसातल को जाता हूं ॥ २० ॥

विषीदन्तीन्तु तां दृष्ट्वा कश्यपो भगवानृषिः।
प्रसादयाम्बभूवाथ ततो भूमिं विशाम्पते ॥२१॥

हे विशाम्पते! भगवान् महर्षि कश्यप ने जब इसको दुःखी होते देखा तो यह भूमि को प्रसन्न करने की चेष्टा करने लगा।

ततः प्रसन्ना पृथिवी तपसा तस्य पाण्डव।
पुनरुन्मज्य सलिलाद्वेदीरूपा स्थिता बभौ ॥२२॥

हे पाण्डव! इसके तप से पृथिवी प्रसन्न हो गई। यह फिर जल से बाहर निकली और वेदी के रूप में स्थित हो गई ॥२२॥

सैषा प्रकाशते राजन् वेदी संस्थानलक्षणा।
आरुह्यात्र महाराज वीर्य्यवान् वै भविष्यसि ॥२३॥

हे राजन्! यह भूमि वेदी के रूप में स्थित है। आप इस पर चढ़ कर वीर्यवान् हो जावोगे ॥ २३ ॥

सैषा सागरमासाद्य राजन् वेदी समाश्रिता।
एतामारुह्य भद्रन्ते त्वमेकस्तर सागरम् ॥२४॥

हे राजन्! यह भूमि इस समुद्र के आश्रयों को ग्रहण करके स्थित है। हे युधिष्ठिर! इस पर आरोहण करके तू अकेला इस सागर से पार हो जा ॥ २४॥

अहञ्च ते स्वस्त्ययनं प्रयोक्ष्ये यथा त्वमेनामधिरोहसेऽद्य।
स्पृष्टा हि मर्त्येन ततः समुद्रमेषा वेदी प्रविशत्याजमीढ ॥२५॥

हे अजमीढ़-वंश-श्रेष्ठ! मैं तुम्हारा स्वस्तिवाचन करता हूं, जिससे तुम इस पर चढ़ सकोगे। यदि साधारण मनुष्य, इस वेदी को छू लेगा, तो यह समुद्र में घुस जावेगी ॥ २५ ॥

ओं नमो विश्वगुप्ताय नमो विश्वपराय ते।
सान्निध्यं कुरु देवेश सागरे लवणाम्भसि ॥२६॥

विश्वगुप्त और विश्वश्रेष्ठ परमात्मा के लिये नमस्कार है। हे परमात्मन्! आप इस खारे समुद्र पर अपना सहयोग प्रदान करें ॥ २६ ॥

अग्निर्मित्रो योनिरापोऽथ देव्यो विष्णोरेतस्त्वममृतस्य नाभिः
एवं ब्रुवन् पाण्डव-सत्यवाक्यं वेदीमिमां त्वं तरसाधिरोह ॥२७॥

अग्नि और सूर्य, दिव्य जल की योनि है, जो विष्णु का वीर्य और अमृत की नाभि है। हे पाण्डव! तुम इस प्रकार सत्य वाक्य को कहते हुए, इस वेदी पर वेग के साथ चढ़ जावो २७

अग्निश्च ते योनिरिडा च देहो रेतोधा विष्णोरमृतस्य नाभिः।
एवं जपन् पाण्डव सत्यवाक्यं ततोऽवगाहेत पतिं नदीनाम्॥२८

तेरी (जलकी) योनि अग्नि है और (यज्ञ) देह है। तू विष्णु की शक्ति के धारण करने वाला, अमृत का (मोक्ष) उत्पादक है। हे पाण्डव! इस सत्य वाक्य को जपता हुआ, तू, इस समुद्र में अवगाहन कर॥ २८॥

अन्यथा हि कुरुश्रेष्ठ देवयोनिरपाम्पतिः।
कुशाग्रेणापि कौन्तेय न स्प्रष्टव्यो महोदधिः॥२९॥

हे कुरु-श्रेष्ठ! यह समुद्र देव योनि है, इसको अन्य रीति से कुशा के अग्रभाग से भी न छू लेना॥ २९॥

वैशम्पायन उवाच—

ततः कृतस्वस्त्ययनो महात्मा युधिष्ठिरः सागरमभ्यगच्छत्।
कृत्वा च तच्छासनमस्य सर्वं महेन्द्रमासाद्य निशामुवास॥३०॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि महेन्द्राचलगमने
चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः॥११४॥

वैशम्पायन बोले—जब महर्षि ने राजा युधिष्ठिर का स्वस्ति-वाचन कर दिया, तब राजा युधिष्ठिर समुद्र पर गया। इसने महर्षि की सारी आज्ञाओं का पालन करके फिर महेन्द्र पर्वत पर जाकर रात में निवास किया॥ ३०॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में महेन्द्र पर्वत पर जाने का एक सौ चौदहवां अध्याय पूरा हुआ।

एक सौ पन्द्रहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

स तत्र तामुषित्वैकां रजनीं पृथिवीपतिः ।
तापसानां परश्चक्रे सत्कारं भ्रातृभिः सह ॥१॥

वैशम्पायन बोले--हे राजन्! राजा युधिष्ठिर ने एक रात इस पर्वत पर निवास किया और अपने भाइयों के साथ वहां रहने वाले तपस्वियों का बड़ा आदर किया ॥ १ ॥

लोमशस्तस्य तान् सर्वानाचख्यौ तत्र तापसान् ।
भृगूनङ्गिरसश्चैव वाशिष्ठानथ काश्यपान् ॥२॥

लोमश ने भृगु, अङ्गिरा, वशिष्ठ और कश्यप-गोत्री सारे तपस्वियों को पृथक् २ बता दिया ॥२ ॥

तान् समेत्य स राजर्षिरभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
रामस्यानुचरं वीरमपृच्छदकृतव्रणम् ॥३॥

राजर्षि युधिष्ठिर, इन तपस्वियों के पास पहुंचा और इनको प्रणाम करके उनमें से परशुराम के अनुचर वीर, अकृतव्रण से :पूछने लगा ॥ ३ ॥

कदा तु रामो भगवांस्तापसान्दर्शयिष्यति ।
तेनैवाहं प्रसङ्गेन द्रष्टुमिच्छामि भार्गवम् ॥४॥

हे मुने ! भगवान्, परशुराम, किस समय तपस्वियों को दर्शन देते हैं । मैं भी इस सङ्ग में इन भृगुवंशी राम के दर्शन करना चाहता हूं ॥ ४ ॥

अकृतव्रण उवाच—

आयानेवासि विदितो रामस्य निदितात्मनः ।
प्रीतिस्त्वयि च रामस्य क्षिप्रं त्वां दर्शयिष्यति ॥५॥

अकृतव्रण बोले--हे राजन् ! सब कुछ जानने वाले, परशुराम को आपके आने का पता होगया है। आपमें उनकी बड़ी प्रीति है, वे तुमको शीघ्र ही दर्शन देंगे ॥ ५ ॥

चतुर्दशीमष्टमीश्च रामं पश्यन्ति तापसाः ।
अस्यां राज्यां व्यतीतायां भवित्री श्वश्चतुर्दशी ।
तत्र द्रक्ष्यसि रामं त्वं कृष्णाजिनजटाधरम् ॥६॥

तपस्वी लोग, चतुर्दशी और अष्टमी को परशुराम के दर्शन करते हैं। आज की रात व्यतीत होने पर कल चतुर्दशी आवेगी, तब तुम, कृष्ण-मृग-चर्म और जटा धारी जामदग्न्य राम के दर्शन कर सकोगे ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

भवाननुगतो रामं जामदग्न्यं महाबलम् ।
प्रत्यक्षदर्शी सर्वस्य पूर्ववृत्तस्य कर्मणः ॥७॥

राजा युधिष्ठिर ने कहा--हे महा-भाग ! आप महाबली जमदग्नि पुत्र परशुराम के अनुचर हैं और उनके पूर्व चरित तथा कामों के प्रत्यक्ष देखने वाले हैं ॥ ७ ॥

स भवान् कथयत्वद्य यथा रामेण निर्ज्जिताः ।
आहवे क्षत्रियाः सर्वे कथं केन च हेतुना ॥८॥

आप यह कहिए-कि महात्मा परशुराम ने युद्ध में कैसे और किस कारण से क्षत्रियों का विध्वंस किया ॥ ८ ॥

अकृतव्रण उवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम् ।
भृगूणां राजशार्दूल वंशे जातस्य भारत ॥९॥
रामस्य जामदग्न्यस्य चरितं देवसम्मितम् ।
हैहयाधिपतेश्चैव कार्त्तवीर्य्यस्य भारत ॥१०॥

अकृतव्रण ने कहा—हे 'राज-शार्दूल ! मैं तुम से भृगुवंशी जमदग्नि-पुत्र, परशुराम और हैहय क्षत्रियों के अधिपति कार्त-वीर्य अर्जुन का देवों के चरित के समान चरित्र सुनाता हूँ ॥९-१०॥

रामेण चार्जुनो नाम हैहयाधिपतिर्हतः ।
तस्य बाहुशतान्यासंस्त्रीणि सप्त च पाण्डव ॥११॥

हे पाण्डव ! इन परशुराम ने हैयय—वंशियों के अधिपति सहस्राजुन को मारा है । जिसके एक सहस्र भुजाएँ थी ॥११॥

दत्तात्रेयप्रसादेन विमानं काञ्चनं तथा ।
ऐश्वर्य्यं सर्वभूतेषु पृथिव्यां पृथिवीपते ॥१२॥

हे पृथिवी-पते ! इसने दत्तात्रेय को कृपा से एक सुवर्ण का विमान बनवाया था तथा पृथिवी पर सारे प्राणियों से अधिक इनका ऐश्वर्य था ॥१२॥

अव्याहतगतिश्चैव रथस्तस्य महात्मनः ।
रथेन तेन तु सदा वरदानेन वीर्य्यवान् ॥१३॥

ममर्द देवान् यक्षांश्च ऋषींश्चैव समन्ततः ।
भूतांश्चैव स सर्वांस्तु पीडयामास सर्वतः ॥१४॥

इस महात्मा सहस्त्रार्जुन के रथ की गति कहीं रुकती न थी। वह बे रोक टोक सब जगह जा सकता था। इस शक्तिशाली राजा कार्तवीर्य ने इस रथ और वरदान से उन्मत्त होकर सब ओर से देव, यक्ष, ऋषि, तथा समस्त प्राणियों को पीड़ित कर डाला ॥१३-१४॥

ततो देवाः समेत्याहुर्ऋषयश्च महाव्रताः ।
देवदेवं सुरारिघ्नं विष्णुं सत्यपराक्रमम् ॥१५॥

अब सारे देवता और महा-व्रत-शील, ऋषि, इकट्ठे होकर सत्य-पराक्रमी, देवों के देव, असुरनाशक, भगवान् विष्णु के पास पहुंचे और बोले—हे भगवन्! आप प्राणियों की रक्षा के लिए सहस्त्रार्जुन का नाश कीजिए ॥१५॥

भगवन् भूतरक्षार्थमर्जुनं जहि वै प्रभो ।
विमानेन च दिव्येन हैहयाधिपतिः प्रभुः ॥१६॥
शचीसहायं क्रीडन्तं धर्षयामास वासवम् ।

एक बार शक्तिशाली हैहयाधिप ने, इन्द्राणी के साथ क्रीड़ा करते हुए, इन्द्र पर आक्रमण कर दिया ॥१६॥

ततस्तु भगवान् देवं शक्रेण सहितस्तदा ॥१७॥
कार्त्तवीर्य्यविनाशार्थं मन्त्रयामास भारत ।
यत्तद्भूतहितं कार्य्यं सुरेन्द्रेण निवेदितम् ॥१८॥

हे भारत ! अब भगवान् विष्णु ने इन्द्र के साथ बैठ कर, कार्त-वीर्य-अर्जुन के विनाश के लिए सम्मति की। इन्द्र ने कहा हे भगवन् ! जिससे जगत् का कल्याण हो वह आपको करना ही चाहिए ॥१७-१८॥

स प्रतिश्रुत्य तत् सर्वं भगवान् लोकपूजितः ।
जगाम बदरीं रम्यां स्वमेवाश्रममण्डलम् ॥१९॥

लोक में पूजित, भगवान् विष्णु, इसके विनाश की प्रतिज्ञा करके अपने सुन्दर बदरिकाश्रम पर पहुंचे ॥१९॥

एतस्मिन्नेव काले तु पृथिव्यां पृथिवीपतिः ।
कान्यकुब्जे महानासीत् पार्थिवः सुमहाबलः ॥२०॥
गाधीति विश्रुतो लोके वनवासं जगाम ह ।

इसी समय पृथिवी पर कान्यकुब्जे देश में एक महाबली राजा राज करता था। इसका गाधी नाम था। यह वनवास करने लगा ॥२०॥

वने तु तस्य वसतः कन्या जज्ञेऽप्सरःसमा ॥२१॥
ऋचीको भार्गवस्तांश्च वरयामास भारत ।

हे भारत ! इसके वनवास के समय में अप्सरा के समान कन्या उत्पन्न हुई। इसको भृगुवंशी ऋचीक ने अपने लिए मांगी ॥२१॥

तमुवाच ततो गाधिर्ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥२२॥
उचितं नः कुले किञ्चित् पूर्वैर्यत् सम्प्रवर्त्तितम् ।

एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम् ॥२३॥
सहस्रं वाजिनां शुल्कमिति विद्धि द्विजोत्तम ।

इस व्रतशील ब्राह्मण से राजा गाधि कहने लगा—हे ब्रह्मन्! हमारे कुल में पूर्वजों की स्थापित की हुई एक प्रथा है, जो उचित मानी गई है। हम वग-शील, श्वेत, श्यामकर्ण, (भीतर से लाल बाहर से काले कान वाले) एक हजार अश्व, कन्या के मूल्य के रूप में ग्रहण कर सकते हैं ॥२२-२३॥

न चापि भगवान् वाच्यो दीयतामिति भार्गव ।
देया मे दुहिता चैव त्वद्विधाय महात्मने ॥२४॥

हे भार्गव! आप कोई निन्दित व्यक्ति नहीं हैं। आप हमारा मूल्य दे दीजिए। हम भी आपके समान महात्मा को इस कन्या को प्रदान कर देंगे ॥२४॥

ऋचीक उवाच—

एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम् ।
दास्याम्यश्वसहस्रं ते मम भार्या सुतास्तु ते ॥२५॥

ऋचीक ने कहा—अच्छी बात है—मैं तुमको वेगवान्-श्वेत-वर्ण-धारी, श्यामकर्ण, एक हजार अश्व प्रदान कर दूंगा—इसके अनन्तर तुम्हारी पुत्री मेरी पत्नी हो जावेगी ॥२५॥

अकृतव्रण उवाच—

स तथेति प्रतिज्ञाय राजन् वरुणमब्रवीत् ।
एकतः श्यामकर्णानां पाण्डुराणां तरस्विनाम् ॥२६॥
सहस्रं वाजिनामेकं शुल्कार्थं मे प्रदीयताम् ।

अकृतव्रण बोले--हे राजन्! महात्मा ऋचीक, इससे प्रतिज्ञा करके वरुण से कहने लगा-कि तुम मुझे शुल्क रूप में देने योग्य, एक सहस्र श्वेत, वेगशील, श्यामकर्ण, अश्व, प्रदान करो

तस्मै आदात् सहस्रं वै वाजिनां वरुणस्तदा ॥२७॥
तदश्वतीर्थं विख्यातमुत्थिता यत्र ते हयाः।

वरुण ने, इस ऋषि को एक सहस्र श्यामकर्ण अश्व दे दिए। जिस स्थान पर ये अश्व निकले, उस स्थान का नाम ही अश्व-तीर्थ पड़ गया है ॥२७॥

गङ्गायां कान्यकुब्जे वै ददौ सत्यवतीं तदा ॥२८॥
ततो गाधिः सुताश्चास्मै जन्याश्चासन् सुरास्तदा।
लब्ध्वा हयसहस्रन्तु तांश्च दृष्ट्वा दिवौकसः ॥२९॥

इसके अनन्तर गंगा तट पर बसे हुए कान्यकुब्ज नगर में गाधी ने अपनी पुत्री सत्यवती को अर्पण कर दिया। इस विवाह में बराती देवता थे। इस ऋचीक मुनि ने एक सहस्र अश्व प्राप्त कर लिए, जिनको देवों ने देखा ॥२८-२९॥

धर्मेण लब्ध्वा तां भार्य्यामृचीको द्विजसत्तमः।
यथाकामं यथाजोषं तया रेमे सुमध्यया ॥३०॥

यह द्विज-सत्तम ऋचीक, धर्म पूर्वक अपनी पत्नी पाकर अपनी इच्छा के अनुसार सुख-पूर्वक उस सुन्दरी के साथ रमण करने लगा ॥३०॥

तं विवाहे कृते राजन् सभार्य्यमवलोककः।
आजगाम भृगुः श्रेष्ठः पुत्रं दृष्ट्वा ननन्द ह ॥३१॥

हे राजन्! उस ऋचीक के विवाह कर लेने पर अपनी भार्या के साथ अवलोकन का इच्छुक, महर्षि भृगु आया और अपने प्रिय पुत्र को देख कर बड़ा आनन्दित हुआ ॥३१॥

भार्य्यापती तमासीनं गुरुं सुरगणार्च्चितम्।
अर्च्चित्वा पर्य्युपासीनौ प्राञ्जली तस्थतुस्तदा ॥३२॥

भार्या और पति, ऋचीक और सत्यवती, सुरगण से पूजित, बैठे हुए, पूज्य, भृगु मुनि का पूजन करके और हाथ जोड़ कर बैठ गये ॥३२॥

ततः स्नुषां स भगवान् प्रहृष्टो भृगुरब्रवीत्।
वरं वृणीष्व सुभगे दाता ह्यस्मि तवेप्सितम् ॥३३॥

अब प्रसन्न हुए, भगवान् भृगु ने अपनी पुत्र-वधू से कहा-हे सुभगे! तू वर मांग, मैं तुझे तेरा मनोरथ प्रदान करूंगा ॥३३

सा वै प्रसादयामास तं गुरुं पुत्रकारणात्।
आत्मनश्चैव मातुश्च प्रसादञ्च चकार सः ॥३४॥

इसने पुत्र प्राप्ति के लिए अपने पूज्य श्वसुर को वर देने के लिए प्रसन्न कर लिया। ऋषि ने अपनी पुत्र वधू और उसकी माता पर अनुग्रह किया अर्थात् पुत्र होने का वरदान दिया ॥३४॥

भृगुरुवाच।

ऋतौ त्वञ्चैव माता च स्नाते पुंसवनाय वै।
आलिङ्गेतां पृथग्वृक्षौ साश्वत्थं त्वमुडुम्बरम् ॥३५॥

भृगु बोले--जब तेरा और तेरी माता का ऋतुस्नान हो चुके, तब पुत्र उत्पन्न करने के लिए तुम दोनों भिन्न २ वह पीपल और तू गूलर के वृक्षों से आलिङ्गन करना ॥ ३५ ॥

चरुद्वयमिदं भद्रे जनन्याश्च तवैव च ।
विश्वमावर्चयित्वा तु मया यत्नेन साधितम् ॥३६॥

हे भद्रे ! ये तेरी और तेरी माता की भिन्न २ चरु (यज्ञ शेष भक्ष्य) हैं । परमात्मा का वार २ ध्यान करके या संसार भर में खोजकर मैंने यह यत्न से तय्यार किया है ॥ ३६ ॥

प्राशितव्यं प्रयत्नेन चेत्युक्त्वादर्शनं गतः ।
आलिङ्गने चरोश्चैव चक्रतुस्ते विपर्य्ययम् ॥३७॥

तुम दोनों इस चरु का प्रयत्न से भक्षण कर लेना, यह कह कर मुनि तो अलक्षित हो गए और उन दोनों माता और पुत्री के वृक्ष को आलिंगन तथा चरु भक्षण में उलट पलट हो गया ॥३७॥

ततः पुनः स भगवान् काले बहुतिथे गते ।
दिव्यज्ञानाद्विदित्वा तु भगवानागतः पुनः ॥३८॥

जब कुछ समय व्यतीत हुआ, तो दिव्य ज्ञान से इस घटना को जान कर भगवान् भृगु, फिर आए । ॥ ३८ ॥

अथोवाच महातेजा भृगुः सत्यवतीं स्नुषाम् ।
उपयुक्तश्चरुर्भद्रे वृक्षे चालिङ्गनं कृतम् ॥३९॥

अब महा-तेजस्वी भृगु ने अपनी पुत्र वधू सत्यवती से कहा- हे भद्रे ! तुमने ठीक २ चरु-भक्षण और वृक्ष का आलिंगन तो कर लिया ॥ ३९ ॥

विपरीतेन ते सुभ्रु मात्रा चैवासि वञ्चिता ।
ब्राह्मणः क्षत्रवृत्तिर्वै तव पुत्रो भविष्यति ॥४०॥

हे भद्रे ! यह तो उलटा हो गया और तेरी माता ने तुझे ठग लिया। अब तेरे क्षत्रियोंके समान व्यवहार करने वाला ब्राह्मण पुत्र उत्पन्न होगा ॥ ४० ॥

क्षत्रियो ब्राह्मणाचारो मातुस्तव सुतो महान् ।
भविष्यति महावीर्य्यः साधूनां मार्गमास्थितः ॥४१॥

तेरी माता के ब्राह्मण के समान आचार करने वाला क्षत्रिय पुत्र होगा। यह महा-पराक्रमी महात्माओं के मार्ग में चलेगा।

ततः प्रसादयामास श्वशुरं सा पुनः पुनः ।
न मे पुत्रो भवेदीदृक् कामं पौत्रो भवेदिति ॥४२॥

इसके बाद इसने अपने श्वसुर को फिर सन्तुष्ट कर लिया और कहा-'मेरे तो ब्राह्मण पुत्र उत्पन्न हो। यदि आपका वचन सत्य ही होगा-तो मेरा पौत्र इस प्रकार का उत्पन्न कर देना'॥ ४२ ॥

एवमस्त्विति सा तेन पाण्डवप्रतिनन्दिता ।
जमदग्निं ततः पुत्रं जज्ञे सा काल आगते ॥४३॥
तेजसा वर्च्चसा चैव युक्तं भार्गवनन्दनम् ।

हे पाण्डव ! महर्षि भृगु ने यह स्वीकार कर लिया और अपनी पुत्र-वधू को आनन्दित किया। अब समय पर इसने जमदग्नि नामक पुत्र उत्पन्न किया। यह भृगुनन्दन जमदग्नि, तेज और ब्रह्मचर्य से युक्त थे ॥ ४३ ॥

स वर्द्धमानस्तेजस्वी वेदस्याध्ययनेन च ॥४४॥

हे पाण्डव ! यह तेजस्वी वेद का अध्ययन करता हुआ बढ़ने लगा। इस महा तेजस्वी ने वेदाध्ययन में ऋषियों का अतिक्रमण कर लिया ॥ ४४ ॥

तन्तु कृत्स्नो धनुर्वेदः प्रत्यभाद्भरतर्षभ ।
चतुर्विधानि चास्त्राणि भास्करोपमवर्च्चसम् ॥४५॥

इति आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि जमदग्न्युत्पत्तौ पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११५॥

हे भरतर्षभ ! सूर्य के समान तेजस्वी इस महर्षि जमदग्नि को सारा धनुर्वेद और चारों प्रकार के अस्त्र भी स्वतः सिद्ध प्राप्त हो गए ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वांतर्गत तीर्थयात्रा पर्व में जमदग्नि की उत्पत्ति का एक सौ पन्द्रहवां अध्याय पूरा हुआ ॥



एकसौ सोलहवां अध्याय

अकृतव्रण उवाच—

स वेदाध्ययने युक्तो जमदग्निर्महातपाः ।
तपस्तेपे ततो वेदान्नियमाद्वशमानयत् ॥१॥

अकृतव्रण ने कहा—हे राजन् ! वेदाध्ययन में लगे हुए महा-तपा ! जमदग्नि ने बड़ा भारी तप किया और ब्रह्मचर्य आदि के नियमों से सारे वेद को अपने आधीन कर लिया ॥१॥

स प्रसेनजितं राजन्नधिगम्य नराधिपम् ।
रेणुकां वरयामास स च तस्मै ददौ नृपः ॥२॥

हे राजन् ! इस मुनि ने राजा प्रसेन—जित के पास जाकर रेणुका नामक कन्या मांगी । इस राजा ने इसको मुनि के लिए अर्पण कर दिया ॥२॥

रेणुकान्त्वथ सम्प्राप्य भार्य्यां भार्गवनन्दनः ।
आश्रमस्थस्तया सार्द्धं तपस्तेऽपेनुकूलया ॥३॥

यह भृगु-वंशी, जमदग्नि रेणुका को भार्या रूप से प्राप्त करके उसके साथ आश्रम में रहने लगे और अपनी अनुकूल भार्या के साथ तप करने लगा ॥३॥

तस्याः कुमाराश्चत्वारो जज्ञिरे रामपञ्चमाः ।
सर्वेषामजघन्यस्तु राम आसीज्जघन्यजः ॥४॥

इसके पांच पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें पांचवा परशुराम था । इन सब में छोटा और गुणों में बड़ा परशुराम ही था ॥४॥

फलाहारेषु सर्वेषु गतेष्वथ सुतेषु वै ।
रेणुका स्नातुमगमत् कदाचिन्नियतव्रता ॥५॥

एक दिन फल लेने के लिए जब सारे पुत्र चले गए, तो व्रत-परायण रेणुका स्नान करने के लिए नदी पर गई ॥५॥

सा तु चित्ररथं नाम मार्त्तिकावतकं नृपम् ।
ददर्श रेणुका राजन्नागच्छन्ती यदृच्छया ॥६॥

हे राजन् ! इस आती हुई रेणुका ने अचानक मार्तिकावत नामक गन्धर्वराज चित्ररथ को देखा ॥६॥

क्रीडन्तं सलिले दृष्ट्वा सभार्य्यं पद्ममालिनम् ।
ऋद्धिमन्तं ततस्तस्य स्पृहयामास रेणुका ॥७॥

कमलों की मालाधारी, भार्या के सहित जल में क्रीड़ा करते हुए ऐश्वर्यशाली इस चित्ररथ को देख कर रेणुका के भी संभोग की इच्छा जागृत हो गई ॥७॥

व्यभिचाराच्च तस्मात् सा क्लिन्नाम्भसि विचेतना ।
प्रविवेशाश्रमं त्रस्ता तां वै भर्त्ता त्वबुध्यत ॥८॥

इस अनुचित काम वासना से अचेत सी रेणुका जल में ही स्खलित हो गई । अब यह घबराई सी आश्रम में घुसी । इसके भर्ता जमदग्नि ने इसके मनोविकार को जान लिया ॥८॥

स तां दृष्ट्वा च्युतां धैर्य्याद्ब्राह्मया लक्ष्म्या विवर्ज्जिताम्
धिक्शब्देन महातेजा गर्हयामास वीर्य्यवान् ॥९॥

इसने धैर्य से च्युत हुई और ब्राह्म लक्ष्मी से भ्रष्ट हुई इस रेणुका को वीर्यवान् महा तेजस्वी मुनि ने बड़ा धिक्कार दिया ।६

ततो ज्येष्ठो जामदग्न्यो रुमण्वान्नाम नामतः ।
आजगाम सुषेणश्च वसुर्विश्वावसुस्तथा ॥१०॥

इसी समय जमदग्नि के रुमण्वान्, सुषेण, वसु और विश्वावसु चारों पुत्र चले आए ॥१०॥

तानानुपूर्व्या भगवान् वधे मातुरचोदयत् ।
न च ते जातसम्मोहाः किञ्चिदूचुर्विचेतसः ॥११॥

इन चारों से भगवान् जमदग्नि ने क्रम से माता के वध की आज्ञा दी । ये सब आज्ञा को सुन कर मोहित से हो गए और कुछ न बोले ॥११॥

ततः शशाप तान् क्रोधात्ते शप्ताश्चेतनां जहुः ।
मृगपक्षिसधर्माणः क्षिप्रमासन् जडोपमाः ॥१२॥

क्रोध में भर कर मुनि ने उन पुत्रों को शाप दे डाला । इन्होंने ज्यों ही शाप के अक्षर सुने अचेत से हो गये । ये मृग पक्षियों के तथा (जड़ों) मूर्खों के समान व्यवहार करने लगे ॥१२॥

ततो रामोऽभ्ययात् पश्चादाश्रमं परवीरहा ।
तमुवाच महाबाहुं जमदग्निर्महातपाः ॥१३॥

इसके अनन्तर शत्रु-विजयी परशुराम आश्रम में आया । इस महाबाहु परशुराम से महातपस्वी जमदग्नि ने कहा ॥१३॥

जहीमां मातरं पापां मा च पुत्र व्यथां कृथाः ।
तत आदाय परशुं रामो मातुः शिरोऽहरत् ॥१४॥

हे पुत्र ! तुम इस पापिनी माता को मार डालो-घबराओ मत । परशुराम ने परशु उठाकर माता का शिर काट डाला ॥१४॥

ततस्तस्य महाराज जमदग्नेर्महात्मनः ।
कोपोऽभ्यगच्छत् सहसा प्रसन्नश्चाब्रवीदिदम् ॥१५॥

हे महाराज ! अब जमदग्नि का कोप शान्त हो गया और प्रसन्न होकर यह बोला ॥१५॥

ममेदं वचनात्तात कृतन्ते कर्म दुष्करम् ।
वृणीष्व कामान् धर्मज्ञ यावतो वाञ्छसे हृदा ॥१६॥

हे तात ! तूने मेरे वचन से दुष्कर कर्म कर डाला है। अब तेरी हृदय की जितनी वाञ्छाऐं हैं; उन सबको मांगले १६

स वव्रे मातुरुत्थानमस्मृतिश्च वधस्य वै ।
पापेन तेन चास्पर्शं भ्रातृणां प्रकृतिं तथा ॥१७॥
अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे दीर्घमायुश्च भारत ।
ददौ च सर्वान् कामांस्तान् जमदग्निर्महातपाः ॥१८॥

हे भारत ! इसने भी माता का जीवित होना, उसके वध का स्मरण न रहना; इस पाप का स्पर्श न होना; अपने भाइयों का होश में आ जाना, युद्ध में कोई बराबरी न कर सकना और दीर्घ-काल जीवित रहना-मांगा । महा तपस्वी जमदग्नि ने उसे ये सब कामनाऐं देदी ॥१७-१८॥

कदाचित्तु तथैवास्य विनिष्क्रान्ताः सुताः प्रभो ।
अथानूपपतिर्वीर कार्त्तवीर्य्योऽभ्यवर्त्तत ॥१९॥

हे प्रभो ! किसी समय इस मुनि के सारे पुत्र बाहर गए हुए थे । उस समय अनूप प्रदेश का स्वामी कार्त-वीर्य वहां चला आया।

तमाश्रमपदं प्राप्तमृषेर्भार्य्या समर्च्चयत् ।
स युद्धमदसम्मत्तो नाभ्यनन्दत्तथार्च्चनम् ॥२०॥

इसको आश्रम में देखकर ऋषि-पत्नी ने इसका अर्चन करना चाहा । यह तो युद्ध के मद में मस्ताना हो रहा था, इससे इसने अर्चन की कुछ परवा नहीं की ॥२०॥

प्रमथ्य चाश्रमात्तस्माद्धोमधेनोस्तथा बलात् ।
जहार वत्सं क्रोशन्त्या बभञ्ज च महाद्रुमान् ॥२१॥

इसने आश्रम पर आक्रमण करके बल-पूर्वक ऋषि की होम-धेनु को छीन लिया । गौ का बछड़ा पुकारता ही रह गया । इसने आश्रम के बड़े २ वृक्षों को नष्ट भ्रष्ट कर डाला ॥२१॥

आगताय च रामाय तदाचष्ट पिता स्वयम् ।
गाञ्च रोरुदतीं दृष्ट्वा कोपो रामं समाविशत् ॥२२॥

जब परशुराम आया तो इसको पिता ने सारा वृत्तान्त सुनाया । इधर गाय को रम्भाती देखकर परशुराम को कोप चढ़ आया २२

स मृत्युवशमापन्नं कार्त्तवीर्य्यमुपाद्रवत् ।
तस्याथ युधि विक्रम्य भार्गवः परवीरहा ॥२३॥
चिच्छेद निशितैर्भल्लैर्बाहून् परिघसन्निभान् ।
सहस्रसम्मितान्राजन् प्रगृह्य रुचिरं धनुः ॥२४॥

हे राजन् ! यह परशुराम, मृत्यु के वश में होने वाले, कार्तवीर्य की ओर झपटा । शत्रु-विजयी परशुराम ने अपने तीक्ष्ण बाणों से परिघ (लोह मुद्गर) के आकार धारी उसकी एक सहस्र भुजाओं को तीक्ष्ण बाणों से सुन्दर धनुष लेकर काट गिराया ॥

अभिभूतः स रामेण संयुक्तः कालधर्मणा ।
अर्जुनस्याथ दायादा रामेण कृतमन्यवः ॥२५॥
आश्रमस्थं विना रामं जमदग्निमुपाद्रवन् ।
ते तं जघ्नुर्महावीर्य्यमयुध्यन्तं तपस्विनम् ॥२६॥
असकृद्रामरामेति विक्रोशन्तमनाथवत् ।
कार्त्तवीर्य्यस्य पुत्रास्तु जमदग्निं युधिष्ठिर ॥२७॥

हे युधिष्ठिर ! परशुराम से पराजित, कालधर्म से युक्त, सहस्रार्जुन और परशुराम से कुपित किये हुए इसके बान्धव, आश्रम में स्थित जमदग्नि पर टूट पड़े । इस समय वहां परशुराम नहीं थे । इन दुष्टों ने तपस्वी, युद्ध नहीं करने वाले, तप के पराक्रम के धारी, राम २ आवाज देकर अनाथ की भांति बार २ चिल्लाते हुए जमदग्नि मुनि को मार गिराया ॥२५-२७॥

पीडयित्वा शरैर्जग्मुर्यथागतमरिन्दमाः ।
अपक्रान्तेषु चैतेषु जमदग्नौ तथा गते ॥२८॥
समित्पाणिरुपागच्छदाश्रमं भृगुनन्दनः ।

ये शत्रु-मर्दन, हैहय, बाणों से मुनि को मार कर वापिस लौट गए । जब ये दुष्ट वापिस लौट गए और जमदग्नि के प्राण निकल गए तो कुशा हाथ में लिए परशुराम आश्रम में आए ॥२८

स दृष्ट्वा पितरं वीरस्तथामृत्युवशङ्गतम् ।
अनर्हं तं तथाभूतं विललाप सुदुःखितः ॥२६॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि जमदग्निवधे षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११६॥

इस वीर ने इस भांति अत्याचार से मारने के अयोग्य, दुर्दशा से मारे हुए अपने पिता को देख कर परशुराम, बड़े दुःखी हुए और विलाप करने लगे ॥२६॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में जमदग्नि के वध का एक सौ सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ।



एक सौ सतरहवां अध्याय

राम उवाच—

ममापराधात्तैः क्षुद्रैर्हतस्त्वं तात बालिशैः ।
कार्त्तवीर्य्यस्य दायादैर्वने मृग इवेषुभिः ॥१॥

परशुराम बोले—हे तात ! तुमको इन दुष्ट कार्त-वीर्य के नीच भाई बन्धुओं ने बाणों से मृग के समान मेरे वैर से मार डाला है ॥१॥

धर्मज्ञस्य कथं तात वर्त्तमानस्य सत्पथे ।
मृत्युरेवंविधो युक्तः सर्वभूतेष्वनागसः ॥२॥

हे पिता! तुम तो धर्मात्मा, सन्मार्ग में चलने वाले सब प्राणियों पर दया दिखाने वाले और निरपराधी थे। आपकी इस प्रकार मृत्यु हुई-इसका बड़ा ही अफसोस है ॥२॥

किन्नु तैर्न कृतं पापं यैर्भवांस्तपसि स्थितः ।
अयुध्यमानो वृद्धः सन् हतः शरशतैः शितैः ॥३॥

उन दुष्टों ने तप में स्थित; युद्ध नहीं करने वाले, वृद्ध तपस्वी को तीक्ष्ण सैकड़ों बाणों से मार डाला है। ऐसा करके उन नीचों ने क्या पाप नहीं किया ॥३॥

किन्नु ते तत्र वक्ष्यन्ति सचिवेषु सुहृत्सु च ।
अयुध्यमानं धर्मज्ञमेकं हत्वानपत्रपाः ॥४॥

ये निर्लज्ज, युद्ध नहीं करने वाले एक धर्मात्मा को मार कर अपने मन्त्री और मित्रों में क्या कहेंगे अर्थात् उन्हें कैसे मुख दिखलावेंगे ॥४॥

लालप्यैवं सकरुणं बहु नानाविधं नृप ।
प्रेतकार्य्याणि सर्वाणि पितुश्चक्रे महातपाः ॥५॥

हे राजन्! इस प्रकार बहुत सी करुणा-पूर्ण आक्रन्दन करके महा-तपस्वी राम ने अपने पिता के सारे प्रेत-कृत्य किए ॥५॥

ददाह पितरञ्चाग्नौ रामः परपुरञ्जयः ।
प्रतिजज्ञे वधञ्चापि सर्वक्षत्रस्य भारत ॥६॥

हे भारत! शत्रुओं के पुरों के विजयी परशुराम ने अपने पिता का अग्नि में दाह किया और इस समय सारे क्षत्रियों के विनाश की प्रतिज्ञा की ॥६॥

स क्रुद्धोऽतिबलः सङ्ख्ये शस्त्रमादाय वीर्य्यवान्।
जघ्निवान् कार्त्तवीर्य्यस्य सुतानेकोऽन्तकोपमः ॥७॥

यह युद्ध में बड़ा क्रुद्ध हुआ। काल के समान विकराल इस वीर्यवान् अकेले परशुराम ने शस्त्र लेकर कार्त-वीर्य अर्जुन के सारे पुत्रों का वध कर डाला ॥७॥

तेषाञ्चानुगता ये च क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ।
तांश्च सर्वानवामृद्नाद्रामः प्रहरताम्वरः ॥८॥

हे क्षत्रियर्षभ! इन राजकुमारों के साथी जो क्षत्रिय थे, उन सब को भी प्रहार करने वालों में श्रेष्ठ राम ने मार डाला ॥

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः।
समन्तपञ्चके पञ्च चकार रौधिरान् ह्रदान् ॥९॥

इसने इक्कीस बार पृथिवी को क्षत्रियों से शून्य करके समन्त-पञ्चक तीर्थ में पांच रक्त के भरे कुण्ड बनाए ॥९॥

स तेषु तर्पयामास भृगून् भृगुकुलोद्वहः।
साक्षाद्ददर्श चर्चीकं स च रामं न्यवेदयत् ॥१०॥

इस भृगु-वंश-श्रेष्ठ, परशुराम ने उस रक्त से अपने भृगुवंशी पूर्वजों का तर्पण किया। इसने इस समय अपने पूर्वज ऋचीक के भी साक्षात् दर्शन किए। इस ऋचीक ने परशुराम से निवेदन करके उस को शान्त किया ॥१०॥

ततो यज्ञेन महता जामदग्न्यः प्रतापवान्।
तर्पयामास देवेन्द्रमृत्विग्भ्यः प्रददौ महीम् ॥११॥

इस प्रतापी जमदग्नि पुत्र ने बड़े भारी यज्ञ से इन्द्र को तृप्त किया और उस यज्ञ की दक्षिणा में इसने सारी भूमि दान दे दी ॥११॥

वेदीश्चाप्यददद्धैमीं कश्यपाय महात्मने।
दशव्यामायतां कृत्वा नावोत्सेधां विशाम्पते ॥१२॥

हे विशाम्पते! इसने महात्मा कश्यप के लिए दश व्याम (दोनों हाथ फैली) चौड़ी और नाव के समान ऊंची सुवर्ण की वेदी बना कर दान की ॥१२॥

तां कश्यपस्यानुमते ब्राह्मणाः खण्डशस्तदा।
व्यभजंस्ते तदा राजन् प्रख्याताः खाण्डवायनाः ॥१३॥

हे राजन्! इस वेदी को कश्यप की आज्ञा से ब्राह्मणों ने खण्ड २ में बांट ली, तब से ही ये ब्राह्मण खाण्डवायन कहलाए॥

स प्रदाय महीं तस्मै कश्यपाय महात्मने।
तपः सुमहदास्थाय क्षत्रियान्तकरो नृप।
अस्मिन्महेन्द्रशैलेन्द्रे वसत्यमितविक्रमः ॥१४॥

हे नृप! यह सारी भूमि को महात्मा कश्यप के लिए प्रदान करके क्षत्रिय के नाश के लिए महान् तप करने लगा। यह महापराक्रमी, इसी महेन्द्र पर्वत पर बसता है॥ १४

एवं वैरमभूत्तस्य क्षत्रियैर्लोकवासिभिः।
पृथिवी चापि विजिता रामेणामित्रतेजसा ॥१५॥

इस प्रकार परशुराम और क्षत्रियों का परस्पर वैर हुआ और इस क्रम में अमित-तेजस्वी राम ने इस पृथिवी को जीता है १५

वैशम्पायन उवाच—

ततश्चतुर्दशीं रामः समयेन महामनाः ।
दर्शयामास तान् विप्रान् धर्म्मराजञ्च सानुजम् ॥१६॥

वैशम्पायन वोले--हे राजन् ! इसके अनन्तर महामना परशुराम ने चतुर्दशी के दिन, उन ब्राह्मण और भाइयों के सहित धर्मराज को दर्शन दिए ॥१६॥

स तमानर्च्च राजेन्द्र भ्रातृभिः सहितः प्रभुः ।
द्विजानाञ्च परां पूजां चक्रे नृपतिसत्तमः ॥१७॥

हे राजेन्द्र ! राजा युधिष्ठिर ने अपने भाइयों के साथ परशुराम की बड़ी पूजा की और इसके साथ ही वहां निवास करने वाले ब्राह्मणों को पूजा ॥ १७ ॥

अर्चित्वा जामदग्न्यं स पूजितस्तेन चोदितः ।
महेन्द्र उष्य तां रात्रिं प्रययौ दक्षिणामुखः ॥१८॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि जामदग्न्योपाख्याने सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११७॥

राजा युधिष्ठिर ने जमदग्नि पुत्र परशुराम की पूजा की। परशुराम ने भी इसका सत्कार करके वहीं एक रात रहने की प्रेरणा की। अब यह उस रात वहां निवास करके फिर दक्षिण की ओर चल दिया ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रा पर्व में परशुराम के उपाख्यान का एक सौ सतरहवां अध्याय पूरा हुआ ।

एक सौ अठारहवां अध्याय

वैशम्पायन उवाच—

गच्छन् स तीर्थानि महानुभावः पुण्यानि रम्याणि ददर्श राजा
सर्वाणि विप्रै रुपशोभितानि कचित् कचिद्भारत सागरस्य ॥ १

वैशम्पायन बोले-हे भारत ! महानुभाव राजा युधिष्ठिर, सुन्दर और पवित्र, समुद्र तट के तीर्थों को देखते हुए चले जा रहे थे।

स वृत्तवांस्तेषु कृताभिषेकः सहानुजः पार्थिवपुत्रपौत्रः ।
समुद्रगां पुण्यतमां प्रशस्तां जगाम पारिक्षित पाण्डुपुत्रः ॥२

हे जनमेजय ! इस सदाचारी, धर्म-पुत्र, युधिष्ठिर ने अपने भाइयों के साथ इन तीर्थों में स्नान किया। इसके बाद पाण्डु-पुत्र, समुद्र तक बहने वाली प्रशस्ता नाम पवित्र नदी पर गए ॥ २ ॥

तत्रापि चाप्लुत्य महानुभावः सन्तर्पयामास पितॄन् सुरांश्च।
द्विजातिमुख्येषु धनं विसृज्य गोदावरीं सागरगामगच्छत् ३

इस महानुभाव ने वहां भी स्नान करके पितरों और देवों का अर्चन किया तथा विद्वान् ब्राह्मणों को दान दिया। ये फिर समुद्र-गामिनी गोदावरी नदी की ओर चल दिए ॥३॥

ततो विपाप्मा द्रविडेषु राजन् समुद्रमासाद्य च लोकपुण्यम्।
अगस्त्यतीर्थञ्च महापवित्रं नारीतीर्थान्यथ वीरो ददर्श ॥४॥

हे राजन् ! इस प्रकार पापोंसे रहित होकर यह वीर युधिष्ठिर द्रविड़ देश में गया। यहां संसार में पवित्र समुद्र तट पर पहुंच कर इसने महा-पवित्र अगस्त्य-तीर्थ और नारी-तीर्थ देखे ॥४॥

तत्रार्जुनस्याग्र्यधनुर्धरस्य निशम्य तत् कर्म नरैरशक्यम्
संपूज्यमानः परमर्षिसंघैः परां मुदं पाण्डुसुतः स लेभे ॥५॥

यहां पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिर ने, धनुष-धारियों में श्रेष्ठ अर्जुन के मनुष्यों से नहीं होने वाले कर्मों को सुन कर तथा उत्तम २ ऋषियों से आदर पाकर बड़ा ही आनन्द प्राप्त किया ॥ ५ ॥

स तेषु तीर्थेष्वभिषिक्तगात्रः कृष्णासहायः सहितोऽनुजैश्च ।
सम्पूजयन् विक्रममर्जुनस्य रेमे महीपाल पतिः पृथिव्याः

हे महीपाल ! राजा युधिष्ठिर ने द्रौपदी और अपने भाइयों के साथ इन तीर्थों में अपने शरीर को पवित्र किया और मन ही मन अर्जुन के पराक्रम की प्रशंसा करके बड़ा आनन्द प्राप्त किया

ततः सहस्राणि गवां प्रदाय तीर्थेषु तेष्वम्बुधरोत्तमस्य ।
हृष्टः सह भ्रातृभिरर्जुनस्य सङ्कीर्त्तयामास गवां प्रदानम् ॥७

इस समुद्र के तट के तीर्थों पर धर्मराज ने एक सहस्र गायें प्रदान करके अपने भाइयों के साथ बड़ा हर्ष अनुभव किया। और अर्जुन के नाम से गोदान किया ॥ ७ ॥

स तानि तीर्थानि च सागरस्य पुण्यानि चान्यानि बहूनि राजन्
क्रमेण गच्छन् परिपूर्णकामः शूर्पारकं पुण्यतमं ददर्श ॥

हे राजन् ! ये धर्मराज, समुद्र तटवर्ती उन पवित्र, तीर्थों पर क्रम से जाकर सन्तुष्ट हो गये और फिर बड़े पवित्र शूर्पारक तीर्थ पर पहुंचे ॥८॥

तत्रोदधेः कञ्चिदतीत्य देशं ख्यातं पृथिव्यां वनमाससाद।
तप्तं सुरैरत्र तपः पुरस्तादिष्टं तथा पुण्यपरैर्नरेन्द्रैः ॥९॥

इसके अनन्तर ये समुद्र के प्रसिद्ध २ प्रदेशों का अतिक्रमण करके किसी वन में पहुंचे, जहां पूवकाल में देवों ने तप किया और पुण्यात्मा राजर्षियों ने यज्ञ किया था ॥९॥

स तत्र तामग्र्यधनुर्द्धरस्य वेदीं ददर्शायतपीनबाहुः।
ऋचीकपुत्रस्य तपस्विसङ्घैः समावृतां पुण्यकृदर्चनीयाम्॥

विशाल-भुज-धारी, राजा युधिष्ठिर ने वहां धनुष-धारियों में श्रेष्ठ, ऋचीक वंशी महात्मा परशुराम की वेदी को देखा, जिसके चारों ओर तपस्वी लोग बैठे थे और जो पुण्यात्माओं से अतीव पूजनीय थी ॥१०॥

ततो वसूनां वसुधाधिपः स मरुद्गणानाञ्च तथाश्विनोश्च।
वैवस्वतादित्यधनेश्वराणामिन्द्रस्य विष्णोः सवितुर्विभोश्च॥
भवस्य चन्द्रस्य दिवाकरस्य पतेरपां साध्यगणस्य चैव।
धातुः पितॄणाञ्च तथा महात्मा रुद्रस्य राजन् सगणस्य चैव॥
सरस्वत्याः सिद्धगणस्य चैव पुण्याश्च ये चाप्यमरास्तथान्ये
पुण्यानि चाप्यायतनानि तेषां ददर्श राजा सुमनोहराणि॥

इसके अनन्तर पृथिवीपति महात्मा, राजा युधिष्ठिर, वसु, मरुद्गण, आश्विन, यम, अदिति पुत्र (देवता) कुवेर, इन्द्र, विष्णु प्रकाशमान सविता, शिव, चन्द्रमा, सूर्य, वरुण, साध्यगण, ब्रह्मा, पितर, गण सहित रुद्र, सरस्वती, सिद्धों के गण, पवित्र २ देवता, इन सब के पवित्र मनोहर स्थानों को देखने लगे ॥११॥

तेषूपवासान् विविधानुपोष्य दत्त्वा च रत्नानि महान्ति राजा ।
तीर्थेषु सर्वेषु परिप्लुताङ्गः पुनः स शूर्पारकमाजगाम ॥१४॥

यहां धर्मराज ने अनेक उपवास किए और बहुत से अमूल्य रत्नों का दान किया । इन सब तीर्थों में स्नान करके राजा शूर्पारक तीर्थ पर पहुंचे ॥१४॥

स तेन तीर्थेन तु सागरस्य पुनः प्रयातः सह सोदरीयैः ।
द्विजैः पृथिव्यां प्रथितं महद्भिस्तीर्थं प्रभासं समुपाजगाम ॥

ये पाण्डव अपने भाइयों के साथ समुद्र तटवर्ती तीर्थों की यात्रा करके बड़े २ ब्राह्मणों के साथ पृथिवी पर प्रसिद्ध प्रभास तीर्थ पर पहुंचे ॥१५॥

तत्राभिषिक्तः पृथुलोहिताक्षः सहानुजैर्देवगणान् पितृंश्च ।
सन्तर्पयामास तथैव कृष्णा ते चापि विप्राः सह लोमशेन ।

विशाल और लाल नेत्रधारी राजा युधिष्ठिर ने वहां अपने भाइयों के साथ स्नान किया और देव तथा पितरों का अर्चन एवं तर्पण किया । इसी तरह द्रौपदी और महर्षि लोमश के साथ अन्य ब्राह्मणों ने भी स्नान किया ॥१६॥

स द्वादशाहं जलवायुभक्षः कुर्वन् क्षपाहःसु तदाभिषेकम् ॥
समन्ततोऽग्नीनुपदीपयित्वा तेपे तपो धर्मभृतांवरिष्ठः ॥१७॥

यह यहां बारह दिन तक जल और वायु का आहार करके रात दिन स्नान जप करता रहा । इस धर्मात्मा ने, अपने चारों ओर अग्नि जला कर भी तप किया ॥१७

तमुग्रमास्थाय तपश्चरन्तं शुश्राव रामश्च जनार्दनश्च ।
तौ सर्ववृष्णिप्रवरौ ससैन्यौ युधिष्ठिरं जग्मतुराजमीढम् ॥

राजा युधिष्ठिर को उग्र तप करते हुए बलराम और श्रीकृष्ण ने सुना। वृष्णिवंश श्रेष्ठ ये दोनों वीर, अजमीढ़-वंशी धर्मराज के पास पहुंचे ॥१८॥

ते वृष्णयः पाण्डुसुतान्समीक्ष्य भूमौशयानान्मलदिग्धमात्रान् ।
अनर्हतीं द्रौपदीञ्चापि दृष्ट्वा सुदुःखिताश्चुक्रुशुरार्त्तनादम् ॥

इन वृष्णियों ने जब भूमि में सोते हुए और मैल से भरे हुए पाण्डवों तथा इस दुःखके अयोग्य द्रौपदीको देखा, तो बड़े ही दुःखी होकर रोने लगे ॥१९॥

ततः स रामञ्च जनार्दनञ्च कार्ष्णिञ्च साम्बञ्च शिनेश्चपौत्रम् ।
अन्यांश्च वृष्णीनुपगम्य पूजाञ्चक्रे यथाधर्ममहीनसत्त्वः ॥

इस मनस्वी धर्मराज ने बलराम श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न, साम्ब और सात्यकि तथा अन्य वृष्णियों की धर्मानुसार पूजा की ॥२०॥

ते चापि सर्वान् प्रतिपूज्य पार्थांस्तैःसत्कृताः पाण्डुसुतैस्तथैव ।
युधिष्ठिरं सम्परिवार्य्य राजन्नुपाविशन्देवगणा यथेन्द्रम् ॥

हे राजन्! इन सब ने भी पाण्डवों की यथा-योग्य पूजा (सत्कार) की। पाण्डवों ने इनका बड़ा सत्कार किया। अब ये सब इन्द्र को देव गणों के सदृश राजा युधिष्ठिर को घेरकर बैठ गए ॥२१॥

तेषां स सर्वश्चरितं परेषां वने च वासं परमप्रतीतः ।

अस्त्रार्थमिन्द्रस्य गतश्च पार्थं निवेशनं हृष्टमनाः शशंस ॥

इन्होंने प्रसन्नता-पूर्वक पाण्डव और कौरवों का सारा वृत्तान्त सुना तथा वनवास चर्या की भी रहन सहन मालूम की। धर्मराज ने इन्द्र के पास अस्त्र सीखने के लिए अर्जुन का जाना और उसको इन्द्र के अस्त्रों का प्राप्त हो जाना भी कह दिया ॥२२॥

श्रुत्वा तु ते तस्य वचः प्रतीतास्तांश्चापि दृष्ट्वा सुकृशानतीव ।

नेत्रोद्भवं स्वं मुमुचुर्महार्हा दुःखार्त्तिजं वारि महानुभावाः ॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि वार्ष्णेययुधिष्ठिर संवादे अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११८॥

ये धर्मराज के वचन सुन कर और उनको अत्यन्त कृश देख कर बड़े ही करुणा में मग्न हुए थे। आदरणीय महानुभाव इस समय नेत्रों से उत्पन्न हुए जल (आंसू) को दुःख और क्लेश के साथ छोड़ने लगे ॥२३॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में वृष्णि और युधिष्ठिर के सम्वाद का एकसौ अट्ठारहवां अध्याय समाप्त हुआ।



एकसौ उन्नीसवां अध्याय

जनमेजय उवाच—

प्रभासतीर्थमासाद्य पाण्डवा वृष्णयस्तथा ।
किमकुर्वन् कथाश्चैषां कास्तत्रासंस्तपोधन ॥१॥

जनमेजय ने कहा—हे तपोधन! प्रभास तीर्थ पर पहुंच कर पाण्डव और वृष्णियों ने क्या २ किया और वहां क्या २ इनके साथ घटनाएं हुईं, वे सब सुनाइये ॥१॥

ते हि सर्वे महात्मानः सर्वशास्त्रविशारदाः ।
वृष्णयः पाण्डवाश्चैव सुहृदश्च परस्परम् ॥२॥

ये सारे वृष्णि और पाण्डव, महात्मा तथा सब शस्त्र-विद्या के पण्डित और परस्पर मित्र थे ॥२॥

वैशम्पायन उवाच—

प्रभासतीर्थं संप्राप्तं पुण्यतीर्थं महोदधेः ।
वृष्णयः पाण्डवान् वीराः परिवार्योपतस्थिरे ॥३॥

वैशम्पायन ने कहा—हे राजन! ये वृष्णि वीर, समुद्र के पवित्र, तीर्थ, प्रभास क्षेत्र पर पहुंच कर पाण्डवों के चारों ओर बैठ गए ॥३॥

ततो गोक्षीरकुन्देन्दुमृणालरजतप्रभः ।
वनमाली हली रामो बभाषे पुष्करेक्षणम् ॥४॥

अब गाय के दुग्ध, चमेली, चन्द्रमा, कमलिनी और चांदी के सदृश श्वेत, वनमाली, हलधर बलराम, श्रीकृष्ण से कहने लगे।

बलदेव उवाच—

न कृष्ण धर्मश्चरितो भवाय जन्तोरधर्मश्च पराभवाय ।
युधिष्ठिरो यत्र जटी महात्मा वनाश्रयः क्लिश्यति चीरवासाः ॥

बलराम बोले—हे कृष्ण! धर्म का आचरण कल्याण के लिये और अधर्म का आचरण अकल्याण के लिए होता है। देखो? यह धर्मात्मा युधिष्ठिर, जटा और फटे पुराने कपड़े धारण करके वन में रहता हुआ कितना दुःखी है ॥५॥

दुर्योधनश्चापि महीं प्रशास्ति न चास्य भूमिर्विवरं ददाति ।
धर्मादधर्मश्चरितो गरीयानितीव मन्येत नरोऽल्पबुद्धिः ॥६॥

यह दुष्ट दुर्योधन भूमि का शासन कर रहा है और भूमि फट कर इसको निगलती नहीं है। इससे तो थोड़ी-बुद्धि-वाले पुरुष, धर्म के आचरण से अधर्म के आचरण को ही अच्छा समझते हैं

दुर्योधने चापि विवर्द्धमाने युधिष्ठिरे चासुखमात्तराज्ये ।
किन्त्वत्र कर्त्तव्यमिति प्रजाभिः शङ्का मिथः सञ्जनिता नराणाम् ।

दुर्योधन के बढ़ने और राज्य रहित युधिष्ठिर के दुःख प्राप्त करने से प्रजा सन्देह में पड़ गई है, कि धर्म या अधर्म में से किसका आचरण करें ॥७॥

अयं स धर्मप्रभवो नरेन्द्रो धर्मे धृतः सत्यधृतिः प्रदाता ।
चलेद्धि राज्याच्च सुखाच्च पार्थो धर्मादपेतस्तु कथं विवर्द्धेत् ॥८

यह राजा युधिष्ठिर, धर्म से उत्पन्न हुए हैं। धर्म में श्रद्धा रखते हैं, सत्यवादी और दानी हैं। यह राज्य और सुख को छोड़

सकता है, परन्तु धर्म को नहीं छोड़ेगा, क्योंकि धर्म के त्याग देने पर फिर कैसे बढ़ सकता है ॥८॥

कथं नु भीष्मश्च कृपश्च विप्रो द्रोणश्च राजा च कुलस्य वृद्धः।
प्रव्राज्य पार्थान्सुखमाप्नुवन्ति धिक् पाप बुद्धीन्भरतप्रधानान्

भीष्म, कृप, द्रोणाचार्य, कुल में वृद्ध, राजा धृतराष्ट्र, इन पाण्डवों को वन में भेज कर सुख मान रहे हैं। इन भरतवंश के प्रधान वीर पुरुषों को मैं तो धिक्कार के योग्य ही मानता हूँ ॥६

किन्नाम वक्ष्यत्यवनिप्रधानः पितॄन् समागम्य परत्र पापः।
पुत्रेषु सम्यक्चरितं मयेति पुत्रानपापान्व्यपरोप्य राज्यात् ॥

यह पापी राजा धृतराष्ट्र, अपने धार्मिक पुत्रों को राज्य से हटा कर परलोक में अपने पितरों के सम्मुख यह कैसे कह सकेगा, कि मैंने सारे पुत्रों के साथ धर्म का व्यवहार किया था॥१०

नासौ धिया संप्रतिपश्यति स्म किं नाम कृत्वाहमचक्षुरेवम्।
जातःपृथिव्यामितिपार्थिवेषुप्रव्राज्यकौन्तेयमितिस्वराज्यात् ॥

यह राजा धृतराष्ट्र अपनी बुद्धि से यह कुछ भी नहीं सोचता है, कि मैंने पूर्व जन्म में क्या पाप किया, जिससे पृथिवी पर ऐसा अन्धा उत्पन्न हुआ हूँ और अब राजाओं के सम्मुख पाण्डवों को अपने राज्य से च्युत करके मैं क्या बनूंगा ॥११॥

नूनंसमृद्धान्पितृलोकभूमौचामीकराभान्क्षितिजान्प्रफुल्लान्
विचित्रवीर्यस्यसुतःसपुत्रःकृत्वानृशंसंवतपश्यतिस्म ॥१२॥

विचित्र वीर्य का पुत्र राजा धृतराष्ट्र, अपने पुत्र सहित, इस पाप को करके पितर-लोक में सुवर्ण के समान देदीप्यमान,

समृद्ध-शाली, खिले हुए अनेक राजाओं को देखेगा और आप क्लेश में होगा-यह बड़े दुःख की बात है ॥१२॥

व्यूढोत्तरांसान्पृथुलोहिताक्षानिमान्स्मपृच्छन्नसशृणोतिनूनम्
आस्थापयत्यत्सवनंह्यशङ्कोयुधिष्ठिरंसानुजमात्तशस्त्रम् ॥१३॥

यह राजा, दृढ़ कन्धे वाले, विशाल और लाल नेत्रधारी, इन भीष्म आदिकों से पूछता तो है, परन्तु इससे इनको केवल दुःखी ही करता है— इनकी कुछ सुनता नहीं है। जो इसने निःशङ्क होकर छोटे भाइयों के साथ, शस्त्र-धारी, राजा युधिष्ठिर को वन में निकाल दिया है ॥१३॥

योऽयं परेषां पृतनां समृद्धां निरायुधो दीर्घभुजो निहन्यात् ।
श्रुत्वैव शब्दं हि वृकोदरस्य मुञ्चन्ति सैन्यानिशकृत्समूत्रम् १४

शत्रुओं की विशाल सेना को, विशाल भुज-धारी भीम, विना शस्त्र के ही मार डालता है। इस वृकोदर भीम के शब्द को सुन कर ही शत्रु सेनाएँ भय से मलमूत्र करने लग जाती हैं ॥१४॥

स क्षुत्पिपासाध्वकृशस्तरस्वी समेत्य नानायुधबाणपाणिः ।
वनेस्मरन्वासमिमंसुघोरंशेषंनकुर्य्यादितिनिश्चितं मे ॥१५॥

भूख, प्यास और मार्ग के श्रम से कृश, वेगवान्, भीमसेन, अनेक शस्त्रों को ग्रहण करके और इस वन के घोर वास का स्मरण करके शेषभूत कौरवों के विनाश को न कर डाले-मुझे यही निश्चित शङ्का है ॥१५॥

नह्यस्यवीर्य्येस्यबलेनकश्चित्समःपृथिव्यामपिविद्यतेऽन्यः ।
सशीतवातातपकर्षिताङ्गोनशेषमाजावसुहृत्सुकुर्य्यात् ॥१६॥

इस भीम के बल और वीर्य के समान पृथिवी पर अन्य कोई नहीं है। यह शीत, वात और आतप से व्याकुल होकर कहीं युद्ध में अपने शत्रु कौरवों का नाश न कर डाले ॥१६॥

प्राच्यान्नृपानेकरथेन जित्वा वृकोदरः सानुचरान्रणेषु।
स्वस्त्यागमद्योऽतिरथस्तरस्वी सोऽयंवनेक्लिश्यतिचीरवासाः॥

इस भीम ने एक रथ से ही प्राच्य दिशा के सारे राजा, सेना सहित रण में जीत लिए थे। यह महारथी, वेगवान् इस दिग्विजय की यात्रा से आनन्द पूर्वक लौट आया। वही भीम आज फटे कपड़े पहिन कर वन में क्लेश भोग रहा है ॥१७॥

यःसिन्धुकूले व्यजयन्नृदेवान्समागतान्दाक्षिणात्यान्महीपान्
तं पश्यतेमं सहदेवमद्य तरस्विनं तापसवेशरूपम् ॥१८॥

जिसने समुद्र तट के दक्षिण देशवर्ती आये हुऐ प्रजापति राजाओं को जीत लिया-उस तपस्वी सहदेव को जरा तपस्वी के रूप में देख तो लो ॥ १८ ॥

यः पार्थिवानेकरथेन जिग्ये दिशं प्रतिचीं प्रति युद्धशौण्डः।
सोऽयंवनेमूलफलेनजीवन्जटीचरत्यद्यमलाचिताङ्गः ॥१९॥

युद्ध विद्या में निपुण, पश्चिम दिशा के राजाओं को एक रथ से विजेता कन्द मूल फल से जीवन को धारण करता हुआ, जटा-धारी, से व्याप्त, वह नकुल भी, आज वन में निर्वाह कर रहा है ॥ १९ ॥

सत्रे समृद्धेऽतिरथस्य राज्ञो वेदीतलादुत्पतिता सुता या।
सेयं वने वासमिमं सुदुखं कथंसहत्यद्य सती सुखार्हा ॥२०॥

महारथी राजा द्रुपद की यज्ञ वेदी से जो उत्पन्न हुई है, वह सती, सुख के योग्य द्रौपदी, वन में इस दुःख को कैसे सह रही है ॥२०॥

त्रिवर्गमुख्यस्य समीरणस्य देवेश्वरस्याप्यथ वाश्विनोश्च ।
एषां सुराणांतनयाःकथन्नुवनेचरन्त्यस्तसुखाःसुखार्हाः ॥२१

धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनी-कुमार जैसे देवों के पुत्र होकर भी सुख के योग्य, ये पाण्डव, सुख से वञ्चित होकर वन में कैसे घूम रहे हैं ॥ २१ ॥

जिते हि धर्मस्य सुते सभार्य्ये सभ्रातृके सानुचरे निरस्ते ।
दुर्योधनेचापिविवर्द्धमाने, कथं न सीदत्यवनिः सशैला ॥२२॥

इति श्री महाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि बलरामवाक्ये एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥११९॥

भार्या सहित धर्मराज के जीत लेने पर और भाई तथा अनुचरों के साथ इसके हार जाने पर एवं दुर्योधन के उन्नति पद प्राप्त कर लेने पर भी यह पर्वतों से बोझ को धारण करने वाली पृथिवी, कैसे पीड़ित नहीं होती है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रा पर्व में बलराम वाक्य का एक सौ उन्नीसवां अध्याय पूरा हुआ ।

एक सौ बीसवां अध्याय

सात्यकिरुवाच—

न राम कालः परिदेवनाय यदुत्तरं त्वत्र तदेव सर्वे।
समाचरामो ह्यनतीतकालं युधिष्ठिरोयद्यपिनाहकिञ्चित् ॥१॥

सात्यकि ने कहा—हे राम! यह समय चीखने चिल्लाने का नहीं है। इसका तो इतना ही उत्तर है, कि यद्यपि राजा युधिष्ठिर कुछ नहीं कहते हैं, तो भी हम सब लोग काल की उपेक्षा न करके इन को हित का आचरण करें॥ १॥

ये नाथवन्तोऽद्य भवन्ति लोके ते नात्मनाकर्मसमारभन्ते।
तेषान्तु कार्य्येषु भवन्ति नाथाः शैव्यादयो राम यथाययातेः॥२

हे राम! जो मनुष्य संसार में ऐश्वर्य-शाली हुए हैं, उन्होंने कोई काम अकेले ही नहीं कर लिया है। उनके कार्यों में सहायक अन्य लोग भी होते हैं, जैसे राजा ययाति के कार्य की सिद्धि में उनके शिष्य शैव्य आदि सहायक थे॥२॥

येषां तथा राम समारभन्ते कार्य्याणिनाथाःस्वमतेन लोके।
ते नाथवन्तःपुरुषप्रवीरानानाथवत्कृच्छ्रमवाप्नुवन्ति ॥३॥

हे राम! जिनके कार्यों को ये सहायक अपनी बुद्धि से सम्भाल लेते हैं। वे सहायता वाले, पुरुष-श्रेष्ठ, फिर अनाथ की तरह कभी विपत्ति में नहीं गिरते हैं॥ ३॥

कस्मादिमौरामजनार्दनौ चप्रद्युम्नसाम्बौचमयासमेतौ।
वसन्त्यरण्येसहसोदरीयैस्त्रैलोक्यनाथानभिगम्यपार्थाः॥४

बलराम और कृष्ण, पुत्र सहित प्रद्युम्न और साम्ब किस काम आ रहे हैं, जो हम त्रिलोकी के रक्षकों की सहायता प्राप्त करके भी यह धर्मराज, अपने भाइयों के साथ वन में निवास कर रहा है ॥ ४ ॥

निर्यातु साध्वद्य दशार्हसेना प्रभूतनानायुधचित्रवर्मा ।
यमक्षयं गच्छतु धार्त्तराष्ट्रः सबान्धवो वृष्णिबलाभिभूतः ॥५

आज ही दाशार्हों की सेना अनेक प्रकार के शस्त्र और कवचों को धारण करके चढ़ाई कर दे । अब वृष्णियों के बल से अभिभूत होकर अपने बान्धवों के साथ दुर्योधन यमगृह का अतिथि बन जाना चाहिए ॥ ५ ॥

त्वं ह्येव कोपात्पृथिवीमपीमां संवेष्टयेस्तिष्ठतु शार्ङ्गधन्वा ।
स धार्त्तराष्ट्रं जहि सानुबन्धं वृत्रं यथा देवपतिर्महेन्द्रम् ॥६॥

हे बलराम ! तुम अकेले ही क्रोध में भर कर सारी पृथिवी को लपेट सकते हो । इन भगवान् श्रीकृष्ण को भी रहने दो । तुमही वृत्रासुर को देवराज इन्द्र के सदृश, परिवार सहित दुर्योधन को मार डालो ॥ ६ ॥

भ्राता च मे यः स सखा गुरुश्च जनार्दनस्यात्मसमश्च पार्थः ।
यदर्थमैच्छन्मनुजाः सुपुत्रं शिष्यं गुरुश्चाप्रतिकूलवादम् ॥७॥

जो अर्जुन मेरा भाई, सखा और गुरु सब कुछ है तथा श्रीकृष्ण को आत्मा के सदृश प्रिय है । जिस लिए मनुष्य सुपुत्र की कामना करते हैं और प्रतिकूल नहीं बोलने वाले शिष्य को गुरु चाहते हैं—यह वही समय है ॥७॥

यदर्थमभ्यु द्यतमुत्तमन्तत् करोति कर्माग्र्यमपारणीयम् ।
तस्यास्त्रवर्षाण्यहमुत्तमास्त्रैर्विहत्यसर्वाणिरणोऽभिभूय ॥८॥
कोपाच्छिरः सर्पविषाग्निकल्पैःशरोत्तमैरुन्मथितास्मिराम ।
खड्गेनचाहंनिशितेनसङ्ख्ये कायाच्छिरस्तस्यबलात्प्रमथ्य ॥
ततोऽस्यसर्वाननुगान्हनिष्येदुर्य्योधनञ्चापिकुरूंश्चसर्वान् ।
आत्तायुधंमामिहरौहिणेयपश्यन्तुभैमायुधिजातहर्षाः ॥१०॥

इसका यही तत्व है, कि जब कोई उत्तम कार्य आ पड़ा तो उस सर्व-श्रेष्ठ, नहीं पूरा होने वाले कार्य को भी ये सुपुत्रादि कर डालते हैं। मैं उन शत्रुओं के अस्त्रों की वर्षा को अपने उत्तम अस्त्रों से काट कर और उनको रण में पराजित करके सर्प और विष के समान बांणों से कोप के साथ उसके मस्तक को शरीर से अलग कर दूंगा तथा तेज खड्ग से युद्ध में बल-पूर्वक उसके शरीर से सिर को काट कर उसकी सारी सेना को काट डालूंगा। इस प्रकार दुर्योधन और सारे कौरवों को मारूंगा। हे बलराम ! युद्ध में प्रसन्न हुए भीम कर्म करने वाले, योद्धा, मुझ शस्त्रधारी को ऐसा करते आंखों से देखेंगे ॥ ८-१० ॥

निघ्नन्तमेकं कुरुयोधमुख्यानग्निं महाकक्षमिवान्तकाले ।
प्रद्युम्नमुक्तान्निशितान्न शक्ताःसोढुं कृपद्रोणविकर्णकर्णाः ॥

बड़े भारी तिनकों के समूह जलाते हुए,अग्निके सदृश, कुरुओं के मुख्य २ योधाओं को मारते हुए, मुझ अकेले को तुम लोग देखोगे। इसके सिवा कृप, द्रोण, विकर्ण और कर्ण भी प्रद्युम्न के छोड़े हुए बांणों को नहीं सह सकेंगे ॥ ११॥

जानामिवीर्य्यञ्चजयात्मजस्यकार्ष्णिर्भवत्येपयथारणस्थः।
साम्बःससूतंसरथंभुजाभ्यांदुःशासनंशास्तुबलात्प्रमथ्य ॥१२

मैं अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु के बलको जानता हूँ। यह प्रद्युम्न की तरह युद्ध में लड़ने वाला है। साम्ब भी सारथि और रथ के साथ दुःशासन के बल का मथन करके शासन कर सकता है १२

न विद्यते जाम्बवतीसुतस्य रणे विषह्यं हि रणोत्कटस्य।
एतेनबालेनहिशम्बरस्यदैत्यस्यसैन्यंसहसाप्रणुन्नम् ॥१३॥

रण में उत्कृष्ट जाम्बवती के सुत (साम्ब) को भी युद्ध में कोई नहीं सह सकेगा। इसने बाल्य अवस्था में ही शम्बर दैत्य की सेना को एक दम मार भगाया था ॥ १३ ॥

वृत्तोरुरत्यायतपीनबाहुरेतेन सह्यं निहतोऽश्वचक्रः।
कोनामसाम्बस्यमहारथस्यरणेसमक्षंरथमभ्युदीयात् ॥१४॥

इसकी गोल जांघें और लम्बी तथा पुष्ट भुजाएं हैं। इसने युद्ध में अश्वों का समूह मार गिराया था। ऐसा कौन शक्तिशाली होगा,जो इस महारथी के सम्मुख रण में रथको ले आवे ॥१४॥

यथाप्रविश्यान्तरमस्यसङ्ख्ये कोवैमनुष्योहिविनिष्क्रमेत।
तथाप्रविश्यान्तरमस्यसङ्ख्ये कोनामजीवैन्पुनरात्रजेच्च ॥१५॥

इस साम्ब के युद्ध में फंसकर कौन ऐसा वीर है, जो बाहर निकल सकता है अथवा इसके युद्ध में फंसकर जीता ही कौन लौट सकता है ॥ १५ ॥

द्रोणञ्च भीष्मञ्च महारथौ तौ सुतैर्वृतञ्चाप्यथ सोमदत्तम्।
सर्वाणिसैन्यानिचवासुदेवःप्रधक्ष्यते सायकवह्निजालैः ॥१६॥

दोनों महारथी द्रोण और भीष्म तथा अपने पुत्रों से युक्त सोमदत्त एवं सारी सेना को अपने बाणों के अग्नि जाल से श्रीकृष्ण, जला डालेंगे ॥१६॥

किन्नाम लोकेष्वविषह्यमस्ति कृष्णस्य सर्वेषु सदेवकेषु ।
आत्तायुधस्योत्तमबाणपाणेश्चक्रायुधस्याप्रतिमस्ययुद्धे ॥१७॥

देवों सहित सारे लोकों में शस्त्र धारी, उत्तम बाण धारण किए हुए चक्रधारी, युद्ध में अद्वितीय, श्रीकृष्ण के लिए क्या असह्य है ॥१७॥

ततोऽनिरुद्धोऽप्यसिचर्मपाणिर्महीमिमांधार्त्तराष्ट्रैर्विसंज्ञैः ।
हृतोत्तमाङ्गैर्निहितैःकरोतु कीर्णाङ्कुशैर्वेदिमिवाध्वरेषु॥१८॥

ढाल तलवार हाथ में लिए हुए, अनिरुद्ध भी, छिन्न मस्तक वाले, मरे हुए, अचेत, धृतराष्ट्र पुत्रों से यज्ञ में कुशाओं से ढकी हुई, वेदी के तुल्य इस भूमि को ढक देगा ॥१८॥

गदोल्मुकौ बाहुकभानुनीथाःशूरश्चसङ्ख्ये निशठः कुमारः ।
रणोत्कटौसारणचारुदेष्णौ कुलोचितंविप्रथयन्तुकर्म॥१९॥

गद, उल्मुक, बाहुक, भानु, नीथ और युद्ध में शूरवीर कुमार निशठ तथा रण में उत्कट सारण, चारुदेष्ण, आदि भी अपने कुल के अनुसार वीर धर्म का प्रदर्शन करें ॥१९

सवृष्णिभोजान्धकयोधमुख्या समागतासात्वतशूरसेना ।
हत्वारणेतान्धृतराष्ट्रपुत्रान्लोकेयशःस्फीतमुपाकरोतु ॥२०॥

वृष्णि-भोज और अन्धक वीरों से युक्त, यादवों की शूरवीर सेना आकर और रण में धृतराष्ट्र के पुत्रों को मार कर जगत में उज्ज्वल यश को प्राप्त करे ॥२०॥

ततोऽभिमन्युःपृथिवींप्रशास्तु यावद्व्रतं धर्मभृतांवरिष्ठः।
युधिष्ठिरः पारयते महात्मा द्यूतेयथोक्तं कुरुसत्तमेन ॥२१॥

धर्मात्माओं में श्रेष्ठ, महात्मा युधिष्ठिर, अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करे, जो कि इस कुरु-श्रेष्ठ ने द्यूत के समय की थी। इस समय तक इस पृथिवी का शासन अभिमन्यु करता रहेगा ॥२१॥

अस्मत्प्रमुक्तैर्विशिखैर्जितारिस्ततोमहींभोक्ष्यतिधर्मराजः।
निर्धार्तराष्ट्रांहतसूतपुत्रामेतद्धिनःकृत्यतमंयशस्यम् ॥२२॥

हमारे छोड़े हुए बाणों से शत्रुओं को जीत कर अन्त में धर्मराज, दुर्योधन और कर्ण से रहित पृथिवी का शासन करेगा। इस समय यश देने वाला हमारा यही कर्त्तव्य है ॥२२॥

वासुदेव उवाच—

असंशयं माधव सत्यमेतद्गृह्णीम ते वाक्यमदीनसत्त्व।
स्वाभ्यांभुजाभ्यामजितान्तुभूमिंनेच्छेत्कुरूणामृषभःकथञ्चित्

श्रीकृष्ण बोले—हे सात्यकि! तू बड़ा पराक्रमी है। तेरा यह वाक्य सन्देह रहित और सत्य है, जिसको हम स्वीकार करते हैं। परन्तु कुरु-वंश-श्रेष्ठ, यह राजा युधिष्ठिर, अपनी भुजाओं से नहीं जीती हुई, इस भूमि को कभी ग्रहण नहीं करेगा ॥ २३ ॥

नह्येषकामान्नभयान्नलोभाद्युधिष्ठिरोजातुजह्यात्स्वधर्मम्।
भीमार्जुनौचातिरथौयमौचतथैवकृष्णाद्रुपदात्मजेयम् ॥२४॥

यह युधिष्ठिर, किसी स्वार्थ, भय या लोभ से अपने धर्म को नहीं छोड़ेगा। इसी तरह भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव भी महारथी हैं और ऐसी ही यह द्रौपदी है ॥ २४ ॥

उभौ हि युद्धेऽप्रतिमौ पृथिव्यां वृकोदरश्चैव धनञ्जयश्च ।
कस्मान्नकृत्स्नांपृथिवीप्रशासेन्माद्रीसुताभ्यांञ्चपुरस्कृतोऽयम्

ये भीम और अर्जुन पृथिवी पर युद्ध में अप्रतिभट हैं। फिर माद्री-सुत नकुल और सहदेवके साथ होजाने पर तो यह धर्मराज सारी पृथिवी को जीत कर क्यों नहीं शासन करेगा ॥ २५ ॥

यदा तु पाञ्चालपतिर्महात्मा सकेकयश्चेदिपतिर्वयञ्च ।
युध्येमविक्रम्यरणेसमेतास्तदैवसर्वेरिपवो हि न स्युः ॥२६॥

जब महात्मा पाञ्चालपति द्रुपद, केकयराज और चेदपति तथा हम लोग, इकट्ठे ही रण में पराक्रम दिखाकर युद्ध करेंगे, तब सारे शत्रु नष्ट होकर रहेंगे ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—

नेदञ्चित्रंमाधवयद्ब्रवीपिसत्यन्तुमेरक्ष्यतमं न राज्यम् ।
कृष्णस्तुमांवेदयथावदेकःकृष्णञ्चवेदाहमथोयथावत् ॥२७॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे सात्यकि ! जो तुमने कहा है, वह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, परन्तु यह सत्य है, कि मैं इस तरह राज्य की रक्षा का भार नहीं ग्रहण करूंगा। मुझे तो अकेले श्रीकृष्ण ही ठीक २ जानते हैं और मैं इनके स्वरूप को ठीक समझता हूँ ॥ २७ ॥

यदैव कालं पुरुषप्रवीर वेत्स्यत्ययं माधव विक्रमस्य ।
तदा रणेत्वञ्चशिनिप्रवीर सुयोधनं जेष्यसि केशवश्च॥२८॥

हे पुरुष-प्रवीर ! माधव ! जब ये श्रीकृष्ण, विक्रम करनेका समय देखेंगे—हे शिनि-वंश-श्रेष्ठ, तब तू और श्रीकृष्ण, युद्ध में दुर्योधन को जीत लेना ॥ २८ ॥

प्रतिप्रयान्त्वद्य दशार्हवीरा दृष्टोऽस्मिना थैर्नरलोकनाथैः ।
धर्मेऽप्रमादं कुरुताप्रमेया द्रष्टास्मिभूयःसुखिनःसमेतान् ॥२६

हे दशार्ह देश के वीरो ! अब तुम जाओ । तुम सहायक राजाओं ने आज मेरी सुध लेली है । हे महा-भागो ! तुम धर्म में जागृत रहो-मैं सुख युक्त तुम, सब लोगों का समय पर दर्शन करूंगा ॥ २६ ॥

तेऽन्योन्यमामन्त्र्यतथाभिवाद्यवृद्धान्परिष्वज्यशिशूंश्चसर्वान्
यदुप्रवीराःस्वगृहाणिजग्मुस्तेचापितीर्थान्यनुसंविचेरुः ॥३०॥

ये सब यदु-श्रेष्ठ, एक दूसरे से सलाह कर के और वृद्धों को प्रणाम तथा बालकों से आलङ्गिन करके अपने २ घर को गए; एवं पाण्डव भी तीर्थों की यात्रा के लिए चल दिए ॥ ३० ॥

विसृज्यकृष्णांत्वथ धर्मराजो विदर्भराजोपचितां सुतीर्थाम् ।
जगाम पुण्यां सरितं पयोष्णीं सभ्रातृभृत्यः सह लोमशेन ॥

श्री कृष्ण को विदा करके विदर्भ-राज से बढ़ाई हुई, पवित्र उत्तम तीर्थ पयोष्णी नाम नदी पर भाई,सेवक और महर्षि लोमश के साथ २ राजा युधिष्ठिर पहुँचे ॥ ३१ ॥

सुतेन सोमेन विमिश्रतोयां पयः पयोष्णीं प्रति सोऽभ्युवास
द्विजातिमुख्यैर्मुदितैर्महात्मा संस्तूयमानः स्तुतिभिर्वराभिः॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि वृष्णिगमने
विंशत्यधिशततमोऽध्यायः॥१२०॥

यज्ञ में निकाले हुए सोम से जिसका जल मिला हुआ था, ऐसी पयोष्णी नदी पर जल मात्रपान करके राजा ने निवास किया। इस समय महात्मा धर्मराज की उत्तमर द्विजाति, उत्तमर स्तुतियों से प्रशंसा कर रहे थे ॥३२॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वांतर्गत तीर्थयात्रा-पर्व में कृष्ण गमन
का एक सौ बीसवां अध्याय पूरा हुआ ॥



एकसौ इक्कीसवां अध्याय

लोमश उवाच—

नृगेण यजमानेन सोमेनेह पुरन्दरः ।
तर्पितः श्रूयते राजन् स तृप्तो मुदमभ्यगात् ॥१॥

लोमश बोले—हे राजन्! यहां यज्ञ करने वाले राजा नृगने सोम से इन्द्र को सन्तुष्ट किया था। यह इन्द्र, तृप्त होकर बड़ा ही प्रसन्न हुआ—ऐसा सुना जाता है ॥ १॥

इह देवैः सहेन्द्रैश्च प्रजापतिभिरेव च ।
इष्टं बहुविधैर्यज्ञैर्महद्भिर्भूरिदक्षिणैः ॥२॥

यहां इन्द्र और प्रजा-पतियों के साथ देवों ने बड़ी २ दक्षिणा के अनेक यज्ञ कर डाले थे ॥ २ ॥

आमूर्त्तरयसश्चेह राजा वज्रधरं प्रभुम् ।
तर्पयामास सोमेन हयमेधेषु सप्तसु ॥३॥

इसके बाद अमूर्तरय के पुत्र राजा गयने भी सात अश्वमेध यज्ञ कर के सोमपानसे शक्ति-शाली, वज्र-धर इन्द्रको तृप्त किया ॥

तस्य सप्तसु यज्ञेषु सर्वमासीद्धिरण्मयम् ।
वानस्पत्यञ्च भौमञ्च यद्द्रव्यं नियतं मखे ॥४॥

इसके सातों यज्ञों में जो यूप आदि यज्ञ साधन काष्ठ के होने चाहिए थे जो पात्र तथा कलश आदि मृत्तिका के चाहिए थे, वे सब सुवर्ण के थे ॥४॥

चषालयूपचमसाः स्थाल्यः पात्र्यः स्रुचः स्रुवाः ।
तेष्वेव चास्य यज्ञेषु प्रयोगाः सप्त विश्रुताः ॥५॥

चषाल (यूप के ऊपर की लकड़ी) यूप (स्तम्भ) चमस (सोमपान पात्र) स्थाली, हविके पात्र स्रुक् स्रुवा, इन सात वस्तुओं का यज्ञ में प्रयोग है, जो सुवर्ण की थी ॥ ५ ॥

सप्तैकैकस्य यूपस्य चषालाश्चोपरिस्थिताः ।
तस्य स्म यूपान् यज्ञेषु भ्राजमानान् हिरण्मयान् ॥६॥
स्वयमुत्थापयामासुर्देवाः सेन्द्रा युधिष्ठिर ।

एक २ यूप के ऊपर सात २ चषाल लगाए थे । हे युधिष्ठिर इसके यज्ञ में सुवर्ण के चमकते हुए यूपों को इन्द्र के साथ देवोंने स्वयं ही उठाया था ॥ ६ ॥

तेषु तस्य मखाग्रयेषु गयस्य पृथिवीपतेः ॥७॥
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ।
असंख्यानानसंख्येयान् प्रत्यगृह्णन् द्विजातयः ॥८॥

इस राजा गय के इन उत्तम यज्ञों में इन्द्र तो सोम से और ब्राह्मण दक्षिणाओं से सन्तुष्ट हो गए थे। ब्राह्मणों ने अगणित प्रसंख्यान (द्रव्य मापक पात्र) ग्रहण किए थे ॥ ७-८ ॥

सिकता वा यथा लोके यथा वा दिवि तारकाः ।
यथा वा वर्षतो धारा असंख्येयाः स्म केनचित् ॥९॥
तथैव तदसंख्येयं धनं यत् प्रददौ गयः ।
सदस्येभ्यो महाराज तेषु यज्ञेषु सप्तसु ॥१०॥

हे महाराज ! लोक में मिट्टी के कण, आकाश में तारे और वर्षा की धाराएँ, जिस भांति किसी से भी नहीं गिनी जा सकती हैं। उसी तरह राजा गय के सातों यज्ञों में सदस्यों को दिए हुए दान की संख्या नहीं की जा सकती थी ॥ ९-१० ॥

भवेत् संख्येयमेतद्धि यदेतत् परिकीर्त्तितम् ।
न तस्य शक्यः संख्यातुं दक्षिणा दक्षिणावतः ॥११॥

उपर्युक्त रजः कण आदि गिने भी जा सकते हैं, परन्तु इस दक्षिणा देने वाले राजा गय की दक्षिणा की गिनती नहीं हो सकती ॥ ११ ॥

हिरण्मयीभिर्गोभिश्च कृताभिर्विश्वकर्मणः ।
ब्राह्मणांस्तर्पयामास नानादिग्भ्यः समागतान् ॥१२॥

विश्वकर्मा द्वारा बनाई हुई सुवर्ण की गौओं के दानसे अनेक दिशाओं से आए हुए ब्राह्मणों को राजा गय ने सन्तुष्ट कर दिया

अल्पवशेषा पृथिवी चैत्यैरासीन्महात्मनः ।
गयस्य यजमानस्य तत्र तत्रविशाम्पते ॥१३॥

हे विशाम्पते ! यज्ञ करने वाले, महात्मा राजा गय द्वारा, जहां तहां बनाई हुई, वेदियों से पृथिवी बहुत थोड़ी खाली रह गई थी

स लोकान् प्राप्तवानैन्द्रान् कर्मणा तेन भारत ।
सलोकतां तस्य गच्छेत् पयोष्ण्यां य उपस्पृशेत् ॥१४॥

हे भारत ! इस राजा गय ने इस कर्म से इन्द्र के लोकों को प्राप्त किया। अब जो मनुष्य, इस पयोष्णी नदी में स्नान करता है, वह भी उसके लोकों में पहुंच जाता है ॥ १४ ॥

तस्मात्त्वमत्र राजेन्द्र भ्रातृभिः सहितोच्युत ।
उपस्पृश्य महीपाल धूतपाप्मा भविष्यसि ॥१५॥

हे महीपाल ! इससे तुम भी अपने भाइयोंके साथ इस नदी में स्नान करके पापों से रहित हो जावोगे ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

स पयोष्ण्यां नरश्रेष्ठ स्नात्वा वै भ्रातृभिः सह ।
वैदूर्य्यपर्वतञ्चैव नर्मदाञ्च महानदीम् ॥१६॥
समाजगाम तेजस्वी भ्रातृभिः सहितोऽनघ ।
तत्रास्य सर्वानाचख्यौ लोमशो भगवानृषिः ॥१७॥

वैशम्पायन ने कहा—हे नर-श्रेष्ठ ! यह धर्मराज, अपने भाइयों के साथ इस पयोष्णी नदी में स्नान करके उन ही भाइयों

के साथ २ वैदूर्य पर्वत और नर्मदा नदी पर पहुंचा। वहां इस को महर्षि भगवान् लोमश ने सब कुछ बता दिया॥ १६-१७॥

तीर्थानि रमणीयानि पुण्यान्यायतनानि च।
यथायोगं यथाप्रीति प्रययौ भ्रातृभिः सह।
तत्र तत्राददद्वित्तं ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः॥१८॥

यह भी पवित्र सुन्दर तीर्थ और मठों पर योग (उपाय) और प्रीति के अनुसार अपने भाइयों के साथ चला गया और जहां जैसा समय देखा-सहस्रों ब्राह्मणों को धन दान दिया॥ १८॥

लोमश उवाच—

देवानामेति कौन्तेय तथा राज्ञां सलोकताम्।
वैदूर्यपर्वतं दृष्ट्वा नर्मदामवतीर्य्य च।
सन्धिरेष नरश्रेष्ठ त्रेताया द्वापरस्य च॥१९॥
एतमासाद्य कौन्तेय सर्वं पापैः प्रमुच्यते।

लोमश बोले—हे कौन्तेय! इस वैदूर्य पर्वत के दर्शन और नर्मदा नदी में स्नान करके मनुष्य, देव और राजर्षियों के लोकों को प्राप्त करता है। हे नर-श्रेष्ठ! यह त्रेता और द्वापर की सन्धि का समय है, जो इस समय यहां आता है, वह सब पापों से छूट जाता है॥ १९॥

एष शर्य्यातियज्ञस्य देशस्तात प्रकाशते॥२०॥
साक्षाद्यत्रापिबत् सोममश्विभ्यां सह कौशिकः।

हे तात! यह शर्याति के यज्ञ का देश प्रकाशित हो रहा है। यहां साक्षात् अश्विनों के साथ विश्वामित्र ने सोमपान किया है।

चुकोप भार्गवश्चापि महेन्द्रस्य महातपाः ॥२१॥
संस्तम्भयामास च तं वासवं च्यवनः प्रभुः ।
सुकन्याञ्चापि भार्य्याञ्च राजपुत्रीमवाप्तवान् ॥२२॥

यहीं भृगुवंशी, महा-तपस्वी च्यवन ऋषि ने इन्द्र पर कोप किया, जिससे शक्तिशाली च्यवन मुनि ने इन्द्र को जड़ सा बना दिया और सुकन्या नामक राज-कन्या से यहीं विवाह किया ॥२२॥

युधिष्ठिर उवाच—

कथं विष्टम्भितस्तेन भगवान् पाकशासनः ।
किमर्थं भार्गवश्चापि कोपश्चक्रे महातपाः ॥२३॥

राजा युधिष्ठिर बोले—हे महर्षे! इस ऋषिने भगवान् इन्द्र को कैसे जड़ बना दिया और महा-तपस्वी च्यवन ने किस लिए इतना कोप किया ॥ २३ ॥

नासत्यौ च कथं ब्रह्मन् कृतवान् सोमपीथिनौ ।
एतत् सर्वं यथावृत्तमाख्यातु भगवान्मम ॥२४॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि सुकन्योपाख्याने एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२१॥

हे ब्रह्मन्! अश्विनी-कुमारों को देवोंके साथ २ सोम-पीने-वाले विश्वामित्र ने कैसे बनाए। हे भगवन्! आप यह सब कुछ वृत्तान्त मुझे ठीक २ सुनाइये ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रा-पर्व में सुकन्या के उपाख्यान का एक सौ इक्कीसवां अध्याय पूरा हुआ।



एकसौ बाईसवाँ अध्याय

लोमश उवाच—

भृगोर्महर्षेः पुत्रोऽभूच्च्यवनो नाम भारत ।
समीपे सरसस्तस्य तपस्तेपे महाद्युतिः ॥१॥

लोमश बोले—हे भारत ! महर्षि भृगु के च्यवन नामक एक पुत्र थे । इन महा-तपस्वी ने किसी सरोवर के समीप तप करना आरम्भ किया ॥१॥

स्थाणुभूतो महातेजा वीरस्थानेन पाण्डव ।
अतिष्ठत् चिरं कालमेकदेशे विशाम्पते ॥२॥

हे पाण्डव ! यह महा-तेजस्वी, वीरासन से बैठा हुआ शुष्क-वृक्ष सा जड़ी भूत हो गया और एक स्थान पर ही बहुत काल तक बैठा रहा ॥२॥

स वल्मीकोऽभवद्दषिर्लताभिरभिसंवृतः ।
कालेन महता राजन् समाकीर्णः पिपीलिकैः ॥३॥

हे राजन् ! इस ऋषि पर कुछ काल में वल्मीक सा बन गया । इस पर लताएं छा गईं और इसको चींटियों व्याप्त कर लिया ॥३

तथा स संवृतो धीमान् मृत्पिण्ड इव सर्वशः ।
तप्यते स्म तपो घोरं वल्मीकेन समावृतः ॥४॥

यह बुद्धिमान् ऋषि, इस प्रकार लताओं से आवृत हुआ, मिट्टी की ढेरी सा प्रतीत होता था । यह वल्मीक से आवृत होकर घोर तप करने लगा ॥४॥

अथ दीर्घस्य कालस्य शर्यातिर्नाम पार्थिवः ।
आजगाम सरो रम्यं विहर्त्तुमिदमुत्तमम् ॥५॥

कुछ समय के अनन्तर शर्याति नाम कोई राजा, इस सुन्दर सरोवर पर क्रीड़ा करने चला आया ॥५॥

तस्य स्त्रीणां सहस्राणि चत्वार्यासन् परिग्रहः ।
एकैव च सुता सुभ्रूः सुकन्या नाम भारत ॥६॥

हे भारत ! इसके चार सहस्र स्त्रियों का रनवास था और इन में एक कन्या थी, जिसका नाम ही सुकन्या था ॥६॥

सा सखीभिः परिवृता दिव्याभरणभूषिता ।
चंक्रम्यमाणा वल्मीकं भार्गवस्य समासदत् ॥७॥

यह एक दिन, दिव्य भूषण पहने हुए सखियों के साथ घूमती हुई वल्मीक पर च्यवन ऋषि के पास पहुंची ॥७॥

सा वै वसुमती तत्र पश्यन्ती सुमनोरमाम् ।
वनस्पतीन् विचिन्वन्ती विजहार सखीवृता ॥८॥

यह यहां की मनोहर भूमि को देखती हुई तथा सखियों के साथ लता और झाड़ियों को खोजती हुई, घूमने लगी ॥८॥

रूपेण वयसा चैव मदनेन मदेन च ।
बभञ्ज वनवृक्षाणां शाखाः परमपुष्पिताः ॥९॥

यह रूप, यौवन, काम के मद और स्वाभाविक मद से वन के वृक्षों को पुष्पों से लदी हुई, शाखाओं को तोड़ने लगी ॥९॥

तां सखीरहितामेकामेकवस्त्रामलंकृताम् ।
ददर्श भार्गवो धीमांश्चरन्तीमिव विद्युतम् ॥१०॥

इस समय बुद्धिमान् च्यवन ने सखियों से रहित एक धोती पहने हुए, अकेली, भूषणों से अलङ्कृत, इस सुकन्या को चमकती हुई बिजली के समान देखा ॥१०॥

तां पश्यमानो विजने स रेमे परमद्युतिः ।
क्षामकण्ठश्च विप्रर्षिस्तपोबलसमन्वितः ॥११॥

इसको एकान्त में देख कर अत्यन्त द्युतिमान्, तपो-बल से युक्त, ब्रह्मर्षि ने क्षीण ध्वनि से कहा ॥११॥

तामाबभाषे कल्याणीं सा चास्य न शृणोति वै ।
ततः सुकन्या वल्मीके दृष्ट्वा भार्गवचक्षुषी ॥१२॥
कौतूहलात् कण्टकेन बुद्धिमोहबलात्कृता ।
किन्तु खल्विदमित्युक्त्वा निर्बिभेदास्य लोचने ॥१३॥

महर्षि ने सुकन्या को आवाज दी, परन्तु इसने नहीं सुना । अब सुकन्या ने वल्मीक में भार्गव च्यवन की टिमटिमाती आंखों को देखा । इसने खेल में आकर बुद्धि के मोह से यह क्या है-यह कह कर कांटे से उसकी आंखे फोड़दीं ॥१३॥

अक्रुध्यत् स तया विद्धे नेत्रे परममन्युमान् ।
ततः शर्यातिसैन्यस्य शकृन्मूत्रे समावृणोत् ॥१४॥

इससे आंखे फोड़ देने पर यह अत्यन्त क्रोधी मुनि, कुपित हो उठा । इस मुनि ने शर्याति की सेना का मल और मूत्र रोक दिया ॥१४॥

ततो रुद्धे शकृन्मूत्रे सैन्यमासीत् सुदुःखितम् ।
तथागतमभिप्रेक्ष्य पर्य्यपृच्छत् स पार्थिवः ॥१५॥

जब सेना का मल-मूत्र रुक गया, तो वह बड़ी दुःखी हुई। इस दशा को देख कर राजा ने लोगों से पूछा ॥१५॥

तपोनित्यस्य वृद्धस्य रोषणस्य विशेषतः ।
केनापकृतमद्येह भार्गवस्य महात्मनः ॥१६॥

हे सैनिको ! तपस्वी, वृद्ध, विशेषता से क्रोध करने वाले, महात्मा च्यवन का किस ने अपराध किया है ॥१६॥

ज्ञातं वा यदि वाज्ञातं तद्द्रुतं ब्रूत मा चिरम् ।
तमूचुः सैनिकाः सर्वे न विद्मोऽपकृतं वयम् ॥१७॥
सर्वोपायैर्यथाकामं भवांस्तदधिगच्छतु ।

जिस किसी ने ज्ञान से या अज्ञान से अपराध किया हो, वह जल्दी बतलावो-देर मत करो। सारे सैनिकों ने कहा—हे राजन् ! हमतो इसके अपकार करने वाले को जानते नहीं हैं। आप ही अपनी इच्छानुसार इस बात का पता लगालो ॥१७॥

ततः स पृथिवीपालः साम्ना चोग्रेण च स्वयम् ॥१८॥
पर्य्यपृच्छत् सुहृद्वर्गं पर्य्यजानन्न चैव ते ।

इसके बाद इस राजा शर्याति ने लोगों से समझा बुझा कर तथा डरा धमका कर पूछा एवं अपने मित्रों से मालूम किया, परन्तु कुछ भी पता नहीं लगा ॥१८॥

आनाहार्त्तं ततो दृष्ट्वा तत् सैन्यमसुखार्दितम् ॥१९॥
पितरं दुःखितं दृष्ट्वा सुकन्येदमथाब्रवीत् ।

आनाह (आफरे) से व्याकुल, दुःखार्त्त, सेना को देख कर तथा अपने पिता को देख कर सुकन्या बोली ॥१९॥

मयाटन्त्येह वल्मीके दृष्टं सत्त्वमभिज्वलत् ॥२०॥
खद्योतवदभिज्ञातं तन्मया विद्धमन्तिकात् ।

हे पिता ! मैंने कल घूमने के समय वल्मीक में कोई जन्तु चमकता देखा था । वह खद्योत सा जान पड़ा । उसको तो पास जाकर मैंने कांटे से बींधा है ॥२०॥

एतच्छ्रुत्वा तु वल्मीकं शर्यातिस्तूर्णमभ्ययात् ॥२१॥
तत्रापश्यत्तपोवृद्धं वयोवृद्धं च भार्गवम् ।
अयाचदथ सैन्यार्थं प्राञ्जलिः पृथिवीपतिः ॥२२॥
अज्ञानाद्बालया यत्ते कृतं तत् क्षन्तुमर्हसि ।

यह सुन कर शर्याति, वल्मीक के पास बड़ी शीघ्रता से पहुंचा । वहां उसने तपो-वृद्ध और वयोवृद्ध च्यवन मुनि को देखा । राजा शर्याति ने हाथ जोड़कर सेना के संकट निवारण की प्रार्थना की । हे मुने ! अज्ञान से इस बालक लड़की ने जो अपराध कर डाला है, इसको आप क्षमा कर दें ॥२१-२२॥

ततोऽब्रवीन्महीपालं च्यवनो भार्गवस्तदा ॥२३॥
अपमानादहं विद्धो ह्यनया दर्पपूर्णया ।
रूपौदार्य्यसमायुक्तां लोभमोहबलात्कृताम् ॥२४॥

तामेव प्रतिगृह्याहं राजन् दुहितरं तव ।
क्षंस्यामीति महीपाल सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥२५॥

इसके बाद भृगु-पुत्र, च्यवन मुनि ने राजा से कहा—हे राजन्! इस लड़की ने अभिमान में भर कर मेरा अपमान कियाहै। रूप की उत्तमता से युक्त, लोभ,मोह, के वश में गई हुई इस कन्या को ग्रहण करके ही मैं तुमको क्षमा कर सकता हूँ-यह सत्य कहता हूं ॥२३-२५॥

लोमश उवाच—

ऋषेर्वचनमाज्ञाय शर्यातिरविचारयन् ।
ददौ दुहितरं तस्मै च्यवनाय महात्मने ॥२६॥

लोमश ने कहा—हे राजन्! ऋषि के वचन सुन कर राजा शर्याति ने सोच विचार की आवश्यकता न जान कर महात्मा च्यवन के लिए अपनी पुत्री को अर्पण कर दिया ॥२६॥

प्रतिगृह्य च तां कन्यां भगवान् प्रससाद ह ।
प्राप्तप्रसादो राजा वै ससैन्यः पुरमाव्रजत् ॥२७॥

इस कन्या को ग्रहण करके भगवान् च्यवन मुनि प्रसन्न हो गए। मुनि की कृपा प्राप्त करके सेना सहित राजा शर्याति अपने पुर में चला आया ॥२७॥

सुकन्यापि पतिं लब्ध्वा तपस्विनमनिन्दिता ।
नित्यं पर्य्यचरत् प्रीत्या तपसा नियमेन च ॥२८॥

इस सुन्दरी सुकन्या ने तपस्वी पति को पाकर बड़ा आनन्द पाया। यह तप और नियम से नित्य प्रेम के साथ इसकी सेवा करने लगी ॥२८॥

अग्नीनामतिथीनाञ्च शुश्रूषुरनसूयिका।
समाराधयत क्षिप्रं च्यवनं सा शुभानना ॥२९॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि सुकन्योपाख्याने द्वाविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥१२२॥

यह सुन्दरी, अग्नि और अतिथियों की सेवा में परायण रह कर और रागद्वेष से रहित होकर महर्षि च्यवन की उपासना करने लगी ॥२९॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में सुकन्योपाख्यान का एक सौ बाईसवां अध्याय पूरा हुआ।



एकसौ तेईसवाँ अध्याय

लोमश उवाच—

कस्यचित्त्वथ कालस्य त्रिदशावश्विनौ नृप।
कृताभिषेकां विवृतां सुकन्यां तामपश्यताम् ॥१॥

लोमश बोले—हे नृप! कुछ काल के अनन्तर अश्विनी-कुमारों ने स्नान करके (धोती पहनती हुई) नग्न सुकन्या को देखा ॥१॥

तां दृष्ट्वा दर्शनीयाङ्गीं देवराजसुतामिव।
ऊचतुः समभिद्रुत्य नासत्यावश्विनाविदम् ॥२॥

देव-राज की पुत्री के समान सुन्दरी सुकन्या को देख कर नासत्य संज्ञक अश्विनी-कुमार इसके पास जाकर यह बोले ॥२॥

कस्य त्वमसि वामोरु वनेऽस्मिन् किङ्करोषि च।
इच्छाव भद्रे ज्ञातुं त्वां तत्त्वमाख्याहि शोभने ॥३॥

हे सुन्दरि! तुम किसकी भार्या हो और इस वन में क्या करती हो। हे शोभने! हम तुमको ठीक २ जानना चाहते हैं—तुम सच २ बतादो ॥३॥

ततः सुकन्या सव्रीडा तावुवाच सुरोत्तमौ।
शर्यातितनयां वित्तं भार्य्यां मां च्यवनस्य च ॥४॥

इस सुकन्या ने लज्जित होकर उन दोनों देवों से कहा—मैं राजा शर्याति की कन्या हूं और महर्षि च्यवन की भार्या हूं ॥४

अथाश्विनो प्रहस्यैतामब्रूतां पुनरेव तु।
कथं त्वमसि कल्याणि पित्रा दत्ता गताध्वने ॥५॥

अब इससे हँसकर दोनों अश्विनी-कुमार बोले—हे कल्याणी तुमको तुम्हारे पिता ने इस मरणोन्मुख मुनि को कैसे विवाह दिया है ॥५॥

भ्राजसेऽस्मिन् वने भीरु विद्युत्सौदामिनी यथा।
न देवेष्वपि तुल्यां हि त्वया पश्याव भाविनि ॥६॥

हे भीरु! तुमतो इस वन में जगमगाती बिजली सी चमक रही हो। तुम्हारे समान सुन्दरी कन्या तो हमने देवों में भी नहीं देखी है ॥६॥

अनाभरणसम्पन्ना परमाम्बरवर्जिता।
शोभयस्यधिकं भद्रे वनमप्यनलंकृता ॥७॥

हे भद्रे! शृङ्गार और भूषणों से रहित, उत्तम २ वस्त्रों के वर्जित भी तू, इस वन को अधिक सुशोभित कर रही है ॥७॥

सर्वाभरणसम्पन्ना परमाम्बरधारिणी।
शोभसे त्वनवद्याङ्गि नत्वेवं मलपङ्किनी ॥८॥

हे सर्वाङ्ग-सुन्दरि! सब प्रकार आभरणों से युक्त, उत्तम २ वस्त्रों को धारण करने वाली के समान ही तुम भी सुशोभित हो रही हो। अन्य स्त्री इस प्रकार शृङ्गार शून्य होकर सुशोभित नहीं हो सकती हैं ॥ ८ ॥

कस्मादेवंविधा भूत्वा जराजर्जरितं पतिम्।
त्वमुपास्सेह कल्याणि कामभोगबहिष्कृतम् ॥९॥

हे कल्याणि ! तू इतनी सुन्दर होकर भी वृद्धावस्था जर्जरित पति की उपासना क्यों कर रही है, यह पति सब प्रकार के काम भोगों से वञ्चित है ॥ ९ ॥

असमर्थं परित्राणे पोषणे च शुचिस्मिते ।
सा त्वं च्यवनमुत्सृज्य वरयस्वैकमावयोः ॥१०॥
पत्यर्थं देवगर्भाभे मा वृथा यौवनं कृथाः ।

हे शुचिस्मिते ! जो पति रक्षा और पालन पोषण में असमर्थ है, इस च्यवन मुनि को छोड़कर हम में से किसी एक को पति-रूप से वर ले । हे देव-कन्ये ! तू अपने यौवन को वृथा क्यों खो रही है ॥१०॥

एवमुक्ता सुकन्यापि सुरौ ताविदमब्रवीत् ॥११॥
रताहं च्यवने पत्यौ मैवं मां पर्य्यशङ्कतम् ।

इनके इतना कहने पर सुकन्या ने इन देवों से कहा—हे देवो ! मैं अपने पति च्यवन से प्रेम करती हूँ-तुम मुझे ऐसी वैसी न समझो ॥ ११ ॥

तावब्रूतां पुनस्त्वेनामावां देवभिषग्वरौ ॥१२॥
युवानं रूपसंम्पन्नं करिष्यावः पतिं तव ।
ततस्तस्यावयोश्चैव वृणीष्वान्यतमं पतिम् ॥१३॥

ये दोनों अश्विनी-कुमार, फिर इससे कहने लगे, कि हम दोनों देवों के वैद्य हैं । हम तेरे पति को रूप और यौवन से युक्त कर देंगे । इसके बाद तू अपने पति च्यवन या हम दोनों में से किसी को पति बना लेना ॥ १२-१३ ॥

एतेन समयेनैनमामन्त्रय पतिं शुभे ।
सा तयोर्वचनाद्राजन्नुपसङ्गम्य भार्गवम् ॥१४॥
उवाच वाक्यं यत्ताभ्यामुक्तं भृगुसुतं प्रति ।
तच्छ्रुत्वा च्यवनो भार्य्यामुवाच क्रियतामिति ॥१५॥

हे सुकन्ये ! तू जा और इस शर्त पर अपने पति को बुलाला । हे राजन् ! यह उन देवों के वचन से अपने पति के पास पहुंची और उसको यह सारा वृत्तान्त सुना दिया, जो उन्होंने च्यवन के विषय में कहा था। यह सुनकर च्यवन ने अपनी भार्या को आज्ञा देदी, कि तुम ऐसा कर सकती हो ॥ १४-१५ ॥

भर्त्रा सा समनुज्ञाता क्रियतामित्यथाब्रवीत् ।
श्रुत्वा तदाश्विनौ वाक्यं तत्तस्याः क्रियतामिति ॥१६॥
ऊचतू राजपुत्रीं तां पतिस्तव विशत्वपः ।
ततोऽम्भश्च्यवनः शीघ्रं रूपार्थी प्रविवेश सः ॥१७॥

जब च्यवन मुनि ने सुकन्या को अनुमति दे दी, तो इसने अश्विनी-कुमारों को आकर कह दिया—अच्छी बात है । जब अश्विनी-कुमारों ने सुकन्या की स्वीकृति सुनी, तो राजपुत्री से बोले—कि अब तुम्हारा पति जल में प्रवेश करे । इसके बाद, अपने पूर्व रूप की अभिलाषा से च्यवन ऋषि फौरन जल में घुस गया ॥ १६-१७ ॥

आश्विनावपि तद्राजन् सरः प्रविशतां तदा ।
ततो मुहूर्त्तादुत्तीर्णाः सर्वे ते सरसस्तदा ॥१८॥

हे राजन् ! अब अश्विनी-कुमारभी, इस जल में घुस गए । थोड़ी ही देर में ये सारे उस सरोवर से बाहर निकले ॥ १८ ॥

दिव्यरूपधराः सर्वे युवानो मृष्टकुण्डलाः ।
तुल्यवेशधराश्चैव मनसः प्रीतिवर्द्धनाः ॥१६॥

ये तीनों ही दिव्य रूप धारण किए हुए थे । इन तीनों के समान ही रूप थे, जो मन की प्रीति के बढ़ाने वाले थे ॥१६॥

तेऽब्रुवन् सहिताः सर्वे वृणीष्वान्यतमं शुभे ।
अस्माकमीप्सितं भद्रे पतित्वे वरवर्णिनि ॥२०॥

इस समय ये तीनों बोले—हे शुभे ! हम तीनों में से अब तू किसी को वरले । हे भद्रे ! हम सब को तेरा पति बनना अभीष्ट है ॥ २० ॥

यत्र वाप्यभिकामासि तं वृणीष्व सुशोभने ।
सा निरीक्ष्य तु तान् सर्वांस्तुल्यरूपधरान् स्थितान् ॥२१॥
निश्चित्य मनसा बुद्धया देवी वव्रे स्वकं पतिम् ।

हे सुशोभने ! जिसको तू चाहती है, उसीको पति बना सकती है । इसने तुल्य रूप और आयु के धारी इन तीनों को अच्छी तरह देख कर अपने मन और बुद्धि से निश्चय करके अपने पति को ही स्वीकार किया ॥२१॥

लब्ध्वा तु च्यवनो भार्यां वयो रूपञ्च वाञ्छितम् ॥२२
हृष्टोऽब्रवीन्महातेजास्तौ नासत्याविदं वचः ।

महा-तेजस्वी च्यवन मुनि, अपनी भार्या और चाहे हुए, रूप और आयु को पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ और अश्विनी-कुमारों से यह वचन बोला ॥ २२ ॥

यथाहं रूपसम्पन्नो वयसा च समन्वितः ॥२३॥
कृतो भवद्भ्यां वृद्धः सन् भार्य्यांश्च प्राप्तवानिमाम् ।
तस्माद्युवां करिष्यामि प्रीत्याहं सोमपीथिनौ ॥२४॥
मिषितो देवराजस्य सत्यमेतद् ब्रवीमि वाम् ।

हे देवो ! यद्यपि मैं वृद्ध था, तो भी तुमने मुझे रूप और वय से युक्त कर दिया है तथा मुझे अपनी भार्या भी मिल गई है । अब मैं इसके बदले में प्रेम से तुम दोनों को भी यज्ञ में सोम के पीने वाले बनाता हूँ । तुम इन्द्रके सामने ही सोम पान कर सकोगे-यह सत्य कहता हूँ ॥ २३-२४ ॥

तच्छ्रुत्वा हृष्टमनसो दिवं तौ प्रतिजग्मतुः ।
च्यवनश्च सुकन्या च सुराविव विजह्रतुः ॥२५॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि सुकन्योपाख्याने
त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२३॥

यह सुनकर अश्विनी-कुमार प्रसन्नता-पूर्वक स्वर्ग को चले गए और च्यवन तथा सुकन्या, देवों की भांति इस आश्रम में विहार करने लगे ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में सुकन्योपाख्यान का एकसौ तेईसवां अध्याय पूरा हुआ ।

एकसौ चौबीसवां अध्याय

लोमश उवाच—

ततः शुश्राव शर्यातिर्वयः स्थच्च्यवनं कृतम् ।
संहृष्टः सेनया सार्द्धमुपायाद्भार्गवाश्रमम् ॥१॥

लोमश बोले-हे राजन् ! राजा शर्याति ने सुना, कि अश्विनीकुमारों ने महर्षि च्यवन को युवा बना दिया है, तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ और सेना लेकर च्यवन ऋषि के आश्रम में पहुंचा ॥

च्यवनश्च सुकन्याञ्च दृष्ट्वा देवसुताविव ।
रेमे सभार्य्यः शर्यातिः कृत्स्नां प्राप्य महीमिव ॥२॥

देवों के सुतों के समान, च्यवन मुनि और सुकन्या को देख कर भार्या सहित शर्याति, सारी पृथिवी के प्राप्त होने के आनन्द के तुल्य आनन्द से युक्त हुआ ॥ २ ॥

ऋषिणा सत्कृतस्तेन सभार्य्यः पृथिवीपतिः ।
उपोपविष्टः कल्याणीः कथाश्चक्रे मनोरमाः ॥३॥

च्यवन मुनि से सत्कार पाकर अपनी भार्या के साथ राजा शर्याति, बैठ गया और सुखदायी तथा मनोरम कथाऐं करने लगा ॥ ३ ॥

अथैनं भार्गवो राजन्नुवाच परिसान्त्वयन् ।
याजयिष्यामि राजंस्त्वां सम्भारानवकल्पय ॥४॥

हे राजन् ! इसको सान्त्वना देता हुआ च्यवन मुनि बोला—हे राजन् ! मैं आपको यज्ञ कराऊंगा-तुम सामग्री इकट्ठी करो ॥

ततः परमसंहृष्टः शर्यातिरवनीपतिः ।
च्यवनस्य महाराज तद्वाक्यं प्रत्यपूजयत् ॥५॥

हे महाराज ! इससे राजा शर्याति बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने महर्षि च्यवन के वाक्य को बड़े आदर से स्वीकार किया।

प्रशस्तेऽहनि यज्ञीये सर्वकामसमृद्धिमत् ।
कारयामास शर्यातिर्यज्ञायतनमुत्तमम् ॥६॥

हे राजन् ! यज्ञ के उपयोगी उत्तम दिन के आने पर राजा शर्याति ने सब कामनाओं से परिपूर्ण एक समृद्धशाली, यज्ञ मण्डप बनवाया ॥ १६ ॥

तत्रैनं च्यवनो राजन् याजयमास भार्गवः ।
अद्भुतानि च तत्रासन् यानि तानि निबोध मे ॥७॥

हे राजन् ! इस यज्ञ मण्डप में भृगुवंशी च्यवन ऋषि ने राजा शर्याति को यज्ञ करवाया । इस समय जो अद्भुत चमत्कार हुए, वे मैं तुम को सुनाता हूँ, तुम ध्यान से सुनो ॥७॥

अगृह्णाच्च्यवनः सोममश्विनोर्देवयोस्तदा ।
तमिन्द्रो वारयामास गृह्णानं सतयोर्ग्रहम् ॥८॥

इस यज्ञ में महर्षि च्यवन ने अश्विनी-कुमारों के अर्पण करने के लिए सोम रस ग्रहण किया । इन दोनों देवों के लिए सोमपात्र ग्रहण किए हुए मुनि को इन्द्र ने रोका ॥८॥

इन्द्र उवाच—

उभावेतौ न सोमार्हौ नासत्याविति मे मतिः ।
भिषजौ दिवि देवानां कर्मणा तेन नार्हतः ॥९॥

इन्द्र बोले—ये दोनों अश्विनीकुमार, सोम के योग्य नहीं हैं-ऐसी मेरी राय है। ये तो स्वर्ग में देवों के वैद्य हैं, इस नीच कर्म के कारण ये सोम के अधिकारी नहीं हो सकते हैं ॥ ९॥

च्यवन उवाच—

महोत्साहौ महात्मानौ रूपद्रविणवत्तरौ ।
यौ चक्रतुर्मां मघवन् वृन्दारकमिवाजरम् ॥१०॥

च्यवन बोले—हे मघवन्! ये दोनों बड़े उत्साही, महात्मा और रूप सम्पन्न हैं। इन्होंने मुझे देवों के सदृश्य अजर अमर बना दिया है ॥ ११ ॥

ऋते त्वां विबुधांश्चान्यान् कथं वै नार्हतः सवम् ।
अश्विनावपि देवेन्द्र देवौ विद्धि पुरन्दर ॥११॥

हे देवेन्द्र! तुम्हारे और अन्य देवों के अनन्तर ये सोम पीनेके अधिकारी क्यों नहीं हैं। हे पुरन्दर! तुम्हें यह समझना चाहिए, कि अश्विन भी देवता ही हैं ॥११॥

इन्द्र उवाच—

चिकित्सकौ कर्मकरौ कामरूपसमन्वितौ ।
लोके चरन्तौ मर्त्यानां कथं सोममिहार्हतः ॥१२॥

इन्द्र ने कहा—ये चिकित्सा कर्म के करने वाले, अश्विन, अपनी इच्छा के अनुसार सौन्दर्य धारण कर लेते हैं। यद्यपि ये सब लोकों में घूमते हैं, फिर भी सोम के अधिकारी कैसे हो सकते हैं ॥१२॥

लोमश उवाच—

एतदेव यदा वाक्यमाम्रे डयति देवराट् ।
अनादृत्य ततः शक्रं ग्रहं जग्राह भार्गवः ॥१३॥

लोमश ने कहा—हे राजन् ! जब इन्द्र ने इसी वाक्य को वार २ दुहराया, तो इसके वचन की परवा न करके च्यवन ने सोम पात्र उठाही लिया ॥ १३ ॥

ग्रहीष्यन्तन्तु तं सोममश्विनोरुत्तमं तदा ।
समीक्ष्य बलभिद्देव इदं वचनमब्रवीत् ॥१४॥

हे देव ! जब इन्द्र ने देखा कि च्यवन ने अश्विनों के निमित्त सोमपात्र उठा ही लिया-तो बल-दैत्य-नाशक इन्द्र कहने लगा।

आभ्यामर्थाय सोमन्त्वं ग्रहीष्यसि यदि स्वयम् ।
वज्रं ते प्रहरिष्यामि घोररूपमनुत्तमम् ॥१५॥

हे मुने ! यदि तू इन वैद्यों के लिए सोम ग्रहण करेगा, तो मैं तेरे ऊपर घोर वज्र का प्रहार करूंगा ॥ १५ ॥

एवमुक्तः स्मयन्निन्द्रमभिवीक्ष्य स भार्गवः ।
जग्राह विधिवत् सोममश्विभ्यामुत्तमं ग्रहम् ॥१६॥

जब इन्द्र ने इतना कहा—तो च्यवन ने मुसकुरा कर इन्द्र की ओर देखा और अश्विनों के लिए विधि-पूर्वक उत्तम सोम-पात्र उठा ही लिया ॥ १६ ॥

ततोऽस्मै प्राहरद्वज्रं घोररूपं शचीपतिः ।
तस्य प्रहरतो बाहुं स्तम्भयामास भार्गवः ॥१७॥

अब शचीपति इन्द्र ने भी इस पर अपना घोर वज्र छोड़ना चाहा। यह प्रहार करना ही चाहता था, कि इसकी भुजाएँ जहां की तहां रुक गईं ॥ १७ ॥

तं स्तम्भयित्वा च्यवनो जुहुवे मन्त्रतोऽनलम् ।
कृत्यार्थी सुमहातेजा देवं हिंसितुमुद्यतः ॥१८॥

इन्द्र को जकड़ कर च्यवन ने अग्नि में मन्त्रों से आहुति देना आरम्भ किया। इस महा-तेजस्वी मुनि ने कृत्या (क्रियाविशेष) द्वारा इन्द्र को नष्ट कर देना चाहा ॥ १८ ॥

ततः कृत्याथ सञ्जज्ञे मुनेस्तस्य तपोबलात् ।
मदो नाम महावीर्यो बृहत्कायो महासुरः ॥१९॥

अब इस कृत्या के द्वारा मुनि के तपोबल से एक महा-शक्तिशाली, बृहत्काय, मद नामक महासुर उत्पन्न हुआ ॥१९॥

शरीरं यस्य निर्देष्टुमशक्यन्तु सुरासुरैः ।
तस्यास्यमभवद्धोरं तीक्ष्णाग्रदशनं महत् ॥२०॥

इसके शरीर की नाप तोल देव या असुर कोई भी नहीं कर सकता था। इसका मुख बड़ा घोर और दांत बड़े पैने थे ॥ २०॥

हनुरेका स्थिता तस्य भूमावेका दिवं गता ।
चतस्रश्चायता दंष्ट्रा योजनानां शतं शतम् ॥२१॥

इसकी ठोडी का एक भाग भूमि पर और एक आकाश में पहुँचा हुआ था। इसकी चार दाढें सौ २ योजन की थी ॥२१॥

इतरे तस्य दशना बभूवुर्दशयोजनाः ।
प्रसादशिखराकाराः शूलाग्रसमदर्शनाः ॥२२॥

इसके अन्य दांत भी दश २ योजन लम्बे थे, जो महल के समान आकार-धारी और शूल के अग्रभाग के समान तीक्ष्ण दिखाई देतेथे ॥२२॥

बाहू पर्वतसङ्काशावायतावयुतं समौ ।
नेत्रे रविशशिप्रख्ये वक्त्रं कालाग्निसन्निभम् ॥२३॥

इसकी भुजाएं पर्वत के समान लम्बी, मोटी, दश हजार थीं । नेत्र सूर्य चन्द्र के सदृश और मुख कालाग्नि के तुल्य भीषण था ।

लेलिहञ्जिह्वया वक्त्रं विद्युच्चपललोलया ।
व्यात्ताननो घोरदृष्टिर्ग्रसन्निव जगद्बलात् ॥२४॥

यह बिजली के समान चञ्चल जिह्वा से मुंह को बार २ चाट रहा था । इसका मुख खुला हुआ और दृष्टि बड़ी घोर थी, जो जगत् को बल-पूर्वक ग्रसने को हो रहा था ॥२४॥

स भक्षयिष्यन् संक्रुद्धः शतक्रतुमुपाद्रवत् ।
महता घोररूपेण लोकान् शब्देन नादयन् ॥२५॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि सुकन्योपाख्याने
चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२४॥

वह क्रोध करके बड़े घोर रूप से बड़ी भारी गर्जना से लोकों को भरता हुआ—इन्द्र के भक्षण के लिए दौड़ा ॥२५॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में
सुकन्या के उपाख्यान का एकसौ चौबीसवां अध्याय
पूरा हुआ ।

एकसौ पच्चीसवां अध्याय

लोमश उवाच—

तं दृष्ट्वा घोरवदनं मदं देवः शतक्रतुः ।
आयान्तं भक्षयिष्यन्तं व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥१॥
भयात् संस्तम्भितभुजः सृक्कणी लेलिहन्मुहुः ।
ततोऽब्रवीद् देवराजश्च्यवनं भयपीडितः ॥२॥

लोमश कहने लगे—हे राजन् ! घोर मुख वाले, काल के समान मुख फाड़े हुए, भक्षण करने को आते हुए, मद दैत्य को देख कर इन्द्रदेव, अपने शुष्क गले के गर्भ भाग को चाटने लगा। इसकी भय से भुजाएँ रुक गई। अब भय से व्याकुल होकर देवराज इन्द्र, च्यवन मुनि से कहने लगा ॥१-२॥

सोमार्हावश्विनावेतावद्यप्रभृति भार्गव ।
भविष्यतः सत्यमेतद्वचो विप्र प्रसीद मे ॥३॥

हे भार्गव ! आज से ये आश्विन भी सोमपान के योग्य माने जावगे। हे विप्र ! यह मेरा वचन सत्य होगा-तुम शान्त हो जाओ॥३॥

न ते मिथ्यासमारम्भो भवत्वेष परो विधिः ।
जानामि चाहं विप्रर्षे न मिथ्या त्वं करिष्यसि ॥४॥

हे ब्रह्मर्षे ! तेरा यज्ञ करना मिथ्या नहीं है। यह, कोई उत्कृष्ट विधि है। हे मुने ! मैं तो यह पूर्व से ही जानता हूं, कि तू किसी मिथ्या झगड़े में नहीं उलझता है ॥४॥

सोमहविश्विनावेतौ यथा वाद्य कृतौ त्वया ।
भूय एत तु ते वीर्य्यं प्रकाशेदिति भार्गव ॥५॥
सुकन्यायाः पितुश्चास्य लोके कीर्त्तिः प्रथेदिति ।
अतो मयैतद्विहितं तव वीर्य्यप्रकाशनम् ॥६॥

हे भार्गव ! आज से तुमने इन अश्विनी-कुमारों को भी सोमपान के योग्य कर दिया है। इस जगत् में तुम्हारी शक्ति प्रकाशित हो और सुकन्या के पिता राजा शर्यातिकी कीर्ति फैले—इसी कारण से मैंने यह तुम्हारी शक्ति और कीर्ति के प्रकाशित करने का कार्य किया है ॥५-६॥

तस्मात् प्रसादं कुरु मे भवत्वेवं यथेच्छसि ।
एवमुक्तस्य शक्रेण भार्गवस्य महात्मनः ॥७॥
स मन्युर्व्यगमच्छीघ्रं मुमोच च पुरन्दरम् ।

अब आप मेरे ऊपर कृपा करें—आप जो चाहेंगे—वैसा ही होगा। जब इन्द्र ने इतना कहा—तो महात्मा च्यवन का क्रोध शान्त हो गया और इसने इन्द्र को क्षमा कर दिया ॥७॥

मदञ्च व्यभजद्राजन् पाने स्त्रीषु च वीर्य्यवान् ॥८॥
अक्षेषु मृगयायाञ्च पूर्वसृष्टं पुनः पुनः ।

हे राजन् ! इस वीर्यवान् ऋषि ने पूर्व में रचे हुए मद दैत्य को सुरापान, स्त्री, जुआ, और मृगया (शिकार) में बांट दिया ८

तदा मदं विनिक्षिप्य शक्रं सन्तर्प्य चेन्दुना ॥९॥
अश्विभ्यां सहितान् देवान् याजयित्वा च तं नृपम् ।

विख्याप्य वीर्य्यं लोकेषु सर्वेषु वदतां वरः ॥१०॥
सुकन्यया सहारण्ये विजहारानुकूलया ।

इन चारों में मद दैत्य को डाल कर और इन्द्र को सोमपान से सन्तुष्ट तथा अश्विनों के साथ देवों का यजन एवं राजा के पराक्रम को प्रसिद्ध करके, बोलने वालों में श्रेष्ठ, च्यवन ऋषि, वन में अपनी पतिव्रता स्त्री सुकन्या के साथ विहार करने लगे ६-१०

तस्यैतद्द्विजसंघुष्टं सरो राजन् प्रकाशते ॥११॥
अत्र त्वं सह सोदर्य्यैः पितृन् देवांश्च तर्पय ।

हे राजन्! जिस पर वेदपाठी वेदाध्ययन कर रहे हैं—यह इस ऋषि का सरोवर है। यहां तू अपने भाइयों के साथ पितर और देवों को सन्तुष्ट कर ॥११॥

एत दृष्ट्वा महीपाल सिकताक्ष्च भारत ॥१२॥
सैन्धवारण्यमासाद्य कुल्यानां कुरु दर्शनम् ।
पुष्करेषु महाराज सर्वेषु च जलं स्पृशन् ॥१३॥
स्थाणोर्मन्त्राणि च जपन् सिद्धिं प्राप्स्यसि भारत ।

हे महीपाल! इस सरोवर और सिकताक्ष तीर्थ के दर्शन करके सैन्धवारण्य पर जाकर नदियों के दर्शन करना। हे महाराज! जो पुष्कर तीर्थ पर सारे तीर्थों के जलों में स्नान करता हुआ शिवजी के मन्त्र का जप करे, तो वह मनुष्य, सारी सिद्धियां प्राप्त कर लेता है ॥१२-१३॥

सन्धिर्द्व्योनरश्रेष्ठ त्रेताया द्वापरस्य च ॥१४॥
अयं हि दृश्यते पार्थ सर्वपापप्रणाशनः ।
अत्रोपस्पृश चैव त्वं सर्वपापप्रणाशने ॥१५॥

हे नर—श्रेष्ठ ! पार्थ ! यहाँ त्रेता और द्वापर की सन्धि का पुण्य का फल, सर्वदा विद्यमान रहता है। यह सब पापों का नाशक है, इस लिए तुम इस पाप-नाशक तीर्थ में अवश्य स्नान करो ॥१४-१५॥

आर्चीकपर्वतश्चैव निवासो वै मनीषिणाम् ।
सदाफलः सदास्रोतो मरुतां स्थानमुत्तमम् ॥१६॥

इसके आगे आर्चीक पर्वत है, जहां पर बड़े २ महात्माओं का निवास है। इसमें सदाफल लगे रहते हैं और झरने बहते हैं। यह देवों का उत्तम स्थान है ॥१६॥

चैत्याश्चैते बहुविधास्त्रिदशानां युधिष्ठिर ।
एतच्चन्द्रमसस्तीर्थमृषयः पर्युपासते ॥१७॥

हे युधिष्ठिर ! यहां देवों के अनेक चैत्य (बगीचे) स्थान है। यह चन्द्रमा तीर्थ है, जिसकी ऋषि लोग उपासना करते रहते हैं ॥१७॥

वैखानसा वालखिल्याः पावका वायुभोजनाः ।
शृङ्गाणि त्रीणि पुण्यानि त्रीणि प्रस्रवणानि च ॥१८॥

यहां वालखिल्य वानप्रस्थी, वायु का भोजन करने वाले-अग्नि के समान तेजस्वी और सबको पवित्र करने वाले, रहते थे। यहां

तीन पर्वत की चोटियां और तीन झरने बड़े पवित्र हैं, इन सबकी यात्रा करके सब में स्नान करो ॥१८॥

सर्वाण्यनुपरिक्रम्य यथाकाममुपस्पृश ।
शान्तनुश्चात्र राजेन्द्र शुनकश्च नराधिपः ॥१९॥
नरनारायणौ चोभौ स्थानं प्राप्ताः सनातनम् ।

हे राजेन्द्र ! राजा शान्तनु और राजा शुनक तथा नर और नारायण नामक ऋषियों ने इन्हीं तीर्थों में स्नान करके सनातन लोक प्राप्त किए हैं ॥१९॥

इह नित्यशया देवाः पितरश्च महर्षिभिः ॥२०॥
आर्चीकपर्वते तेपुस्तान् यजस्व युधिष्ठिर ।

यहां आर्चीक पर्वत पर महर्षियों के साथ देवता और पितर सदा निवास करते हैं, तू इनके साथ उनका भी यजन कर ॥२०

इह ते वै चरून् प्राशन्नृषयश्च विशाम्पते ॥२१॥
यमुना चाक्षयस्रोताः कृष्णश्चेह तपोरतः ।

हे विशाम्पते ! यहां ऋषियों ने यज्ञ करके यज्ञ शेष चरुका भक्षण किया है । यहां यमुना का स्रोत भी लगातार बहता है, और श्रीकृष्ण ने भी यहीं तप किया था ॥२१॥

यमौ च भीमसेनश्च कृष्णा चामित्रकर्षण ॥२२॥
सर्वे चात्र गमिष्यामस्त्वयैव सह पाण्डव ।
एतत् प्रस्रवणं पुण्यमिन्द्रस्य मनुजेश्वर ॥२३॥

हे अमित्र-कर्षण ! नकुल और सहदेव, द्रौपदी और हम सब ब्राह्मण, आपके साथ चलते हैं। हे मनुजेश्वर ! यह इन्द्र का झरना बड़ा ही पवित्र है ॥२२-२३॥

यत्र धाता विधाता च वरुणश्चोर्ध्वमागताः ।
इह तेऽप्यवसन्राजन् क्षान्ताः परमधर्मिणः ॥२४॥

यहीं पर धाता, विधाता, और वरुण ने ऊर्ध्व-लोकों की प्राप्ति की है। हे राजन ! यहां पर क्षमा-शील, परम धर्मात्मा ऋषियों का निवास स्थान है ॥२४॥

मैत्राणामृजुबुद्धीनामयं गिरिवरः शुभः ।
एषा सा यमुना राजन् महर्षिगणसेविता ॥२५॥

हे राजन् ! सरल बुद्धि मैत्र संज्ञक मुनियोंका यह शुभ पर्वत है। यह यमुना है, जहां महर्षियों के समूह निवास करते हैं। इस पर अनेक यज्ञ हो चुके हैं। यह बड़ी पवित्र और पाप नाशक है ॥२५॥

नानायज्ञचिता राजन् पुण्या पापभयापहा ।
अत्र राजा महेष्वासो मान्धातायजत स्वयम् ।
साहदेविश्च कौन्तेय सोमको ददताम्वरः ॥२६॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि सुकन्योपाख्याने पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२५॥

यहां महा धनुष-धारी मान्धाता ने स्वयं यज्ञ किया था तथा सञ्जय के पौत्र, सहदेव पुत्र, दान-शील सोमक ने भी यज्ञ किया है २६॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में
सुकन्या के उपाख्यान का एकसौ पच्चीसवां अध्याय
सम्पूर्ण हुआ।



एकसौ छब्बीसवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—

मान्धाता राजशार्दूलस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
कथं जातो महाब्रह्मन् यौवनाश्वो नृपोत्तम ॥१॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे ब्रह्मन्! राजाओं में श्रेष्ठ, जगद्विख्यात युवनाश्व के पुत्र, राजा मान्धाता कैसे उत्पन्न हुए ॥१॥

कथं चैनां परां काष्ठां प्राप्तवानमितद्युतिः।
यस्य लोकास्त्रयो वश्या विष्णोरिव महात्मनः ॥२॥

यह अमित-द्युति, किस भांति इस उन्नति की पराकाष्ठा को पहुंचा, कि जिससे भगवान् विष्णु के तुल्य इसके तीनों लोक वश में हो गए ॥२॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं चरितं तस्य धीमतः।
यथा मान्धातृशब्दश्च तस्य शक्रसमद्युतेः।
जन्म चाप्रतिवीर्य्यस्य कुशलो ह्यसि भाषितुम् ॥३॥

मैं उस बुद्धिमान् इन्द्र के समान तेजस्वी, राजा मान्धाता का चरित सुनना चाहता हूं इस मान्धाता के नाम की व्युत्पत्ति भी कहो॰

और इस महा-शक्ति-शाली-राजा का जन्म भी सुनाओ। आप विषय के प्रतिपादन में बड़े कुशल हैं ॥३॥

लोमश उवाच—

शृणुष्वावहितो राजन्राज्ञस्तस्य महात्मनः।
यथा मान्धातृशब्दो वै लोकेषु परिगीयते।
इक्ष्वाकुवंशप्रभवो युवनाश्वो महीपतिः ॥४॥
सोऽयजत् पृथिवीपालः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।

लोमश ने कहा—हे राजन्! तुम प्रथम यह सुनो, कि यह "मान्धाता" शब्द संसार में कैसे कीर्ति के साथ गाया जाता है। एक इक्ष्वाकु-वंश में उत्पन्न हुआ, युवनाश्व राजा था। इस राजा ने अनेक यज्ञों से यजन किया ॥४॥

अश्वमेधसहस्रञ्च प्राप्य धर्मभृताम्वरः ॥५॥
अन्यैश्च क्रतुभिर्मुख्यैरयजत् स्वाप्तदक्षिणैः।

इस धर्मात्मा ने एक सहस्र तो अश्वमेध यज्ञ किए थे। इसके सिवा इसने बड़ी २ दक्षिणा वाले उत्तम २ यज्ञ भी कर रखे थे।

अनपत्यस्तु राजर्षिः स महात्मा महाव्रतः ॥६॥
मन्त्रिष्वाधाय तद्राज्यं वननित्यो बभूव ह।
शास्त्रदृष्टेन विधिना संयोज्यात्मानमात्मवान् ॥७॥

इस धर्मात्मा राजर्षि के कोई सन्तान नहीं थी; इसलिए इस व्रत-शील ने मन्त्रियों पर राज्य का भार छोड़ कर वन का मार्ग पकड़ा और वहां यह मनस्वी, शास्त्र की विधि से आत्म-चिन्तन में तत्पर हो गया ॥६-७॥

स कदाचिन्नृपो राजन्नुपवासेन दुःखितः ।
पिपासाशुष्कहृदयः प्रविवेशाश्रमं भृगोः ॥८॥

हे राजन् ! एक वार इसने व्रत कर रखा था, जिससे क्लेशित हुआ अत्यन्त प्यासा यह भृगु मुनि के आश्रम में चला गया ॥८॥

तामेव रात्रिं राजेन्द्र महात्मा भृगुनन्दनः ।
इष्टिञ्चाकार सौद्युम्नेर्महर्षिः पुत्रकारणात् ॥९॥

हे राजेन्द्र ! इस रात में महर्षि भृगुनन्दन, पुत्र उत्पन्न करने के लिए इसी राजा सौद्युम्न (युवनाश्व)के निमित्त यज्ञ कररहे थे

सम्भृतो मन्त्रपूतेन वारिणा कलशो महान् ।
तत्रातिष्ठत राजेन्द्र पूर्वमेव समाहितः ॥१०॥

हे राजन् ! यहां मन्त्रों से पवित्र जल से भरा हुआ एक महान् कलश बड़ी सावधानी से पूर्व से ही रखा था ॥१०॥

यत् प्राश्य प्रसवेत्तस्य पत्नी शक्रसमं सुतम् ।
तं न्यस्य वेद्यां कलशं सुषुपुस्ते महर्षयः ॥११॥

जिस कलश का जल पीकर राजपत्नी, इन्द्र के तुल्य पुत्र उत्पन्न करेगी । ये महर्षि इस कलश को वेदी पर रख कर सो गए थे ॥११॥

रात्रिजागरणाच्छ्रान्तान् सौद्युम्निः समतीत्य तान् ।
शुष्ककण्ठः पिपासार्त्तः पानीयार्थं भृशं नृपः ॥१२॥
तं प्रविश्याश्रमं श्रान्तः पानीयं सोऽभ्ययाचत ।

तस्य श्रान्तस्य शुष्केण कण्ठेन क्रोशतस्तदा ॥१३॥
नाश्रौषीत् कश्चन तदा शकुनेरिव वाशतः ।

रात के जागरण से थके हुए, उन ऋषियों को कूद फांद कर प्याससे सूखे कण्ठ वाला.राजा युवनाश्व, पानीके लिए आश्रम में घुस गया। अब इस थके हुए राजा ने, सब से पानी मांगा, परन्तु इस थके हुए राजा के शुष्क कण्ठ से पक्षी की भांति पुकारने पर भी किसी ने नहीं सुना ॥१२-१३॥

ततस्तं कलशं दृष्ट्वा जलपूर्णं स पार्थिवः ॥१४॥
अभ्यद्रवत वेगेन पीत्वा चाम्भो व्यवासृजत् ।

अब इस राजा ने जल से भरे हुए कलश को देखा। यह वेग से दौड़ा और इसने उस जल को पीकर कलश को वहीं छोड़ दिया ॥१४॥

स पीत्वा शीतलं तोयं पिपासार्त्तो महीपतिः ॥१५॥
निर्वाणमगमद्धीमान् सुसुखी चाभवत्तदा ।

हे राजन् ! प्यासा राजा इस शीतल जल को पी गया, जिससे इसका पुरुषत्व नष्ट हो गया और यह एक सुन्दरी स्त्री बन गई ॥

ततस्ते प्रत्यबुध्यन्त मुनयः सतपोधनाः ॥१६॥
निस्तोयं तञ्च कलशं ददृशुः सर्वं एव ते ।
कस्य कर्मेदमिति ते पर्य्यपृच्छन् समागताः ॥१७॥

इसके बाद ये सारे तपोधन मुनि, जाग गए। उन सबों ने इस कलश को खाली देखा। इन्होंने आकर सब से पूछा—यह किस का काम है ॥१७॥

युवनाश्वो ममेत्येवं सत्यं समभिपद्यत ।
न युक्तमिति तं प्राह भगवान् भार्गवस्तदा ॥१८॥
सुतार्थं स्थापिता ह्यापस्तपसा चैव सम्भृताः ।
मया ह्यत्राहितं ब्रह्म तप आस्थाय दारुणम् ॥१९॥

राजा युवनाश्व ने आकर सत्य २ कह दिया कि यह जल मैंने पिया है। तब भगवान् भार्गव (च्यवन) ने कहा—यह तो तुमने ठीक नहीं किया, मैंने तो ये जल, तेरे पुत्र उत्पन्न करने के लिए रख छोड़ा था और इस जल में तप की शक्ति सुरक्षित थी। इसी जलमें बड़ा भारी तप करके मैंने ब्रह्म तेज स्थापित किया था

पुत्रार्थं तव राजर्षे महाबलपराक्रमम् ।
महाबलो महावीर्य्यस्तपोबलसमन्वितः ॥२०॥
यः शक्रमपि वीर्य्येण गमयेद्यमसादनम् ।
अनेन विधिना राजन्मयैतदुपपादितम् ॥२१॥

हे राजर्षि! इसमें बड़ा भारी बल और पराक्रम का बीज भी था। यह तेरा पुत्र, महाबली, महा-शक्ति-शाली और तपोबल से समन्वित उत्पन्न होता, जो अपने पराक्रम से इन्द्रको भी यमराज के घर पहुंचा सकता था। इस तरह से मैंने यह जल तय्यार किया था ॥२०-२१॥

अब्भक्षणात्त्वया राजन्न युक्तं कृतमद्य वै ।
न त्वद्य शक्यमस्माभिरेतत् कर्तुमतोऽन्यथा ॥२२॥

हे राजर्षे। इस जल का पान करके तूने अच्छा नहीं किया। अब तो हम भी इसको उलटा नहीं कर सकते हैं ॥२२॥

नूनं दैवकृतं ह्येतद्यदेवं कृतवानसि ।
पिपासितेन याः पीता विधिमन्त्रपुरस्कृता ॥२३॥
आपस्त्वया महाराज मत्तपोवीर्य्यसम्भृताः ।
ताभ्यस्त्वमात्मना पुत्रमीदृशं जनयिष्यसि ॥२४॥

यह जो तूने कर डाला है, इसमें विधाता का हाथ दृष्टि-गोचर होता है। तभी तो तृषार्त हुए तूने, मन्त्रों से अभिमन्त्रित और मेरे तप की शक्ति से युक्त, इस जल को पी लिया है। हे महाराज! अब तो तुम इस जल से स्वयं ही ऐसा पुत्र उत्पन्न करोगे॥ २३-२४॥

विधास्यामो वयन्तत्र तवेष्टिं परमाद्भुताम् ।
यथा शक्रसमं पुत्रं जनयिष्यसि वीर्य्यवान् ॥२५॥
गर्भधारणजं वापि न खेदं समवाप्स्यसि ।

अब हम तो तुम्हारे इस अद्भुत यज्ञ को पूरा करवा देते हैं जिससे तुम वीर्यवान् इन्द्र के सदृश पुत्र उत्पन्न कर सकोगे और गर्भ धारण का भी तुमको कुछ खेद न होगा ॥ २५॥

ततो वर्षशते पूर्णे तस्य राज्ञो महात्मनः ॥२६॥
वामपार्श्वं विनिर्भिद्य सुतः सूर्य इव स्थितः ।
निश्चक्राम महातेजा न च तं मृत्युराविशत् ॥२७॥
युवनाश्वं नरपतिं तदद्भुतमिवाभवत् ।

अब सौ वर्ष पूरे हो जाने पर इस महात्मा राजा की वांई पसली चीरकर सूर्यके तुल्य महा-तेजस्वी, पुत्र बाहर निकल आया। इससे भी राजा युवनाश्व की मृत्यु नहीं हुई, यह बड़ा ही चमत्कार हुआ॥ २६-२७॥

ततः शक्रो महातेजास्तं दिदृक्षुरुपागमत् ॥२८॥
ततो देवा महेन्द्रं तमपृच्छन् धास्यतीति किम् ।
प्रदेशिनीं ततोऽस्यास्ये शक्रः समभिसन्दधे ॥२९॥
मामयं धास्यतीत्येवं भाषितं चैव वज्रिणा ।
मान्धातेति च नामास्य चक्रुः सेन्द्रा दिवौकसः ॥३०॥

इसको देखने के लिए महा-तेजस्वी इन्द्र, भी वहां आया। इस इन्द्र से देवोंने पूछा-हे भगवन्! यह बालक स्तनों के बदले क्या पीयेगा। इन्द्र ने इसके मुख में प्रदेशिनी अंगुली डाली। यह मेरी अंगुली पीयेगा--इस प्रकार इन्द्र ने कहा—तो देवों ने इसका नाम ही मान्धाता रख लिया॥ २८-३०॥

प्रदेशिनीं शक्रदत्तामास्वाद्य स शिशुस्तदा ।
अवर्द्धत महातेजाः किष्कून्राजंस्त्रयोदश ॥३१॥

हे राजन्! यह महा-तेजस्वी बालक, इन्द्र की दी हुई, अंगुली को पीकर तेरह वितस्त (विलस्त) बढ़ गया॥ ३१॥

वेदास्तं सधनुर्वेदा दिव्यान्यस्त्राणि चेश्वरम् ।
उपतस्थुर्महाराज ध्यातमात्राणि सर्वशः ॥३२॥

हे महाराज! वेद, धनुर्वेद, दिव्य अस्त्र, इस शक्ति-शाली राजा के स्मरण करते ही इसके पास आगए॥ ३२॥

आजगवं नाम धनुः शराः शृङ्गोद्भवाश्च ये।
अवेद्यं कवचञ्चैव सद्यस्तमुपशिश्रियुः ॥३३॥

आजगव नामक धनुष, शृङ्गोद्भव दिव्य बाण, अभेद्य कवच, फौरन इसकी सेवा में चले आए ॥३३॥

सोऽभिषिक्तो मघवता स्वयं शक्रेण भारत।
धर्मेण व्यजयल्लोकांस्त्रीन् विष्णुरिव विक्रमैः ॥३४॥

हे भारत! ऐश्वर्य-शाली इन्द्र ने इसको राज्य पद पर बैठाया। तीन चरण (कदमों) से आक्रमण-कारी विष्णु के सदृश, इस राजा ने तीनों लोकों को धर्म से ही जीत लिया था ॥ ३४ ॥

तस्याप्रतिहतश्चक्रं प्रावर्त्तत महात्मनः।
रत्नानि चैव राजर्षिं स्वयमेवोपतस्थिरे ॥३५॥

इस महात्मा का शासन बे रोक टोक सर्वत्र चलता था। संसार के उत्तम २ रत्न भी इस राजा के पास स्वयं उपस्थित हो गये ॥३५॥

तस्येयं वसुसम्पूर्णा वसुधा वसुधाधिप।
तेनेष्टं विविधैर्यज्ञैर्बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ॥३६॥

हे वसुधाधिप! इसके राज्य में यह सारी पृथिवी धन से भरी थी। इसने बड़ी २ दक्षिणा के अनेक यज्ञों से यजन किया

चितचैत्यो महातेजा धीमान् प्राप्य च पुष्कलान्।
शक्रस्यार्द्धासनं राजँल्लब्धवानमितद्युतिः ॥३७॥

बड़े २ यज्ञ करने वाले, महा-तेजस्वी, अत्यन्त-कान्ति-धारी इस राजा ने अनेक धर्मों को प्राप्त करके इन्द्र के अर्ध-सिंहासन पर स्थान प्राप्त किया ॥ ३७ ॥

एकाहात् पृथिवी तेन धर्मनित्येन धीमता।
विजिता शासनादेव सरत्नाकरपत्तना ॥३८॥

इस धर्मात्मा बुद्धिमान् मान्धाता ने, अपने शासन के बल से सारे रत्न खान और नगरों के साथ सारी पृथिवी एक ही दिन में जीत ली॥ ३८ ॥

तस्य चैत्यैर्महाराज क्रतूनां दक्षिणावताम् ।
चतुरन्ता मही व्याप्ता नासीत् किञ्चिदनावृतम् ॥३९॥

हे महाराज ! इसके उत्तम २ दक्षिणा वाले, यज्ञों के कुण्डों से पृथिवी चारों कोनों से व्याप्त होगई । भूमि का कोई ऐसा स्थान नहीं है, जो खाली रह गया हो ॥३९॥

तेन पद्मसहस्राणि गवां दश महात्मना ।
ब्राह्मणानां महाराज दत्तानीति प्रचक्षते ॥४०॥

हे महाराज ! इस महात्मा ने दश हजार पद्म गायें ब्राह्मणों को दान में दी—ऐसा कहा जाता है ॥ ४० ॥

तेन द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां महात्मना ।
वृष्टं शस्यविवृद्ध्यर्थं मिषतो वज्रपाणिनः ॥४१॥

एक बार बारह वर्ष की अनावृष्टि हुई, तो इस महात्मा ने अन्न की वृद्धि के लिए इन्द्र के देखते २ वर्षा कर दी थी ॥४१॥

तेन सोमकुलोत्पन्नो गान्धाराधिपतिर्महान् ।
गर्ज्जन्निव महामेघः प्रमथ्य निहतः शरैः ॥४२॥

इसने महान् सोमकुलोत्पन्न गान्धार देश के अधिपति को महामेघ के समान गर्ज कर तथा तीक्ष्ण बाणों से घायल करके मार डाला था ॥ ४२ ॥

प्रजाश्चतुर्विधास्तेन त्राता राजन् कृतात्मना ।
तेनात्मतपसा लोका स्थापिता चातितेजसा ॥४३॥

हे राजन् ! इस महात्माने चारों प्रकार की (मनुष्य, पशु पक्षी, स्थावर) प्रजा को अपने तेज से रक्षा की और अपने तप से ही इसने लोकों की स्थापना की है ॥ ४३ ॥

तस्यैतद्देवयजनं स्थानमादित्यवर्चसः ।
पश्य पुण्यतमे देशे कुरुक्षेत्रस्य मध्यतः ॥४४॥

इस सूर्य के समान तेजस्वी का यह देव-यजन स्थान है । इसको तुम कुरुक्षेत्र के मध्य में पवित्र स्थान पर देख रहे हो ।४४

एतत्ते सर्वमाख्यातं मान्धातुश्चरितं महत् ।
जन्म चाग्र्यं महीपाल यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥४५॥

हे महीपाल ! मैंने मान्धाता का महान् चरित और उत्तम जन्म तुम से कह दिया है, जो कि तुमने पूछा था ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच—

एवमुक्तः स कौन्तेयो लोमशेन महर्षिणा ।
पप्रच्छानन्तरं भूयः सोमकं प्रति भारत ॥४६॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि मान्धात्रुपाख्याने षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२६॥

वैशम्पायन बोले—हे भारत ! महर्षि लोमश के इतना कहने पर इस राजा युधिष्ठिर ने सोमक राजाके विषय में पूछा ॥४६॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में मान्धाता के उपाख्यान का एक सौ छब्बीसवां अध्याय पूरा हुआ ।

एक सौ सत्ताईसवां अध्याय

युधिष्ठिर उवाच—

कथं वीर्य्यः स राजाभूत् सोमको वदताम्वर ।
कर्माण्यस्य प्रभावञ्च श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥१॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे ब्रह्मन् ! यह सोमक राजा कैसा पराक्रमी था । मैं इस के कार्य और प्रभाव को ठीकर सुनना चाहता हूँ, आप अच्छी तरह वर्णन कीजिए ॥ १ ॥

लोमश उवाच—

युधिष्ठिरासीन्नृपतिः सोमको नाम धार्मिकः ।
तस्य भार्य्याशतं राजन् सदृशीनामभूत्तदा ॥२॥

लोमश बोले—हे युधिष्ठिर ! यह सोमक राजा, बड़ा ही धार्मिक था । इसके समान रूप वाली सौ भार्याएँ थी ॥२॥

स वै यत्नेन महता तासु पुत्रं महीपतिः ।
कश्चिन्नासादयामास कालेन महता ह्यपि ॥३॥

इस राजा ने यज्ञादि से बड़ा ही यत्न किया, परन्तु बहुत समय होजाने पर भी इसके कोई पुत्र प्राप्त नहीं हुआ ॥३॥

कदाचित्तस्य वृद्धस्य वर्तमानस्य यत्नतः ।
जन्तुर्नाम सुतस्तस्मिन् स्त्रीशते समजायत ॥४॥

कुछ समय के अनन्तर इस वृद्ध राजा के अनेक प्रयत्न करने पर भी इन सौ स्त्रियों में से किसी स्त्री में जन्तु (पशुभूत) पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ४ ॥

तं जातं मातरः सर्वाः परिवार्य्य समासते ।
सततं पृष्ठतः कृत्वा कामभोगान् विशाम्पते ॥५॥

हे विशाम्पते ! इस उत्पन्न हुए, पुत्र को घेरकर सारी माताएँ बैठ गईं । इन्होंने सारे भोग विलासों को पीछे डाल दिया ॥५॥

ततः पिपीलीका जन्तुं कदाचिददशत् स्फिचि ।
स दष्टो व्यनदन्नादं तेन दुःखेन बालकः ॥६॥

एक बार इस जन्तु की कमर में चीटियों ने काट खाया । जब चीटियों ने इस बालक को काटा, तो वह इस दुःख से रोने लगा।

ततस्ता मातरः सर्वाः प्राक्रोशन् भृशदुःखिताः ।
प्रवार्य्य जन्तुं सहसा सशब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥७॥

इसके काट लेने पर सारी मातायें दुःखी होकर और जन्तु को घेर कर चिल्लाने लगी । इस के चिल्लाने से बड़ा कोलाहल (शोर) मचा ॥ ७ ॥

तमार्त्तनादं सहसा शुश्राव स महीपतिः ।
अमात्यपर्षदो मध्ये उपविष्टः सहर्त्विजा ॥८॥

अब राजा ने भी अचानक यह आर्तनाद सुना । इस समय यह मन्त्रियों की सभा में ऋत्विजों के साथ बैठा था ॥ ८ ॥

ततः प्रस्थापयामास किमेतदिति पार्थिवः ।
तस्मै क्षत्ता यथावृत्तमाचचक्षे सुतं प्रति ॥९॥

राजा ने द्वारपालों को भेजा, कि यह क्या बात है । द्वारपाल ने आकर पुत्र को चीटियों द्वारा काटने का सारा वृतान्त सुना दिया ॥ ९ ॥

त्वरयामास चोत्थाय सोमकः सह मन्त्रिभिः ।
प्रविश्यान्तः पुरं पुत्रमाश्वासयदरिन्दमः ॥१०॥

अरि-विजयी राजा सोमक, मन्त्रियों के साथ शीघ्रता से उठा और रनवास में प्रवेश करके पुत्र को आश्वासन देने लगा ॥१०॥

सान्त्वयित्वा तु तं पुत्रं निष्क्रम्यान्तःपुरान्नृपः ।
ऋत्विजा सहितो राजन् सहामात्य उपाविशत् ॥११॥

हे राजन् ! पुत्र को तसल्ली देकर राजा रनवास से बाहर आया और ऋत्विक् तथा मन्त्रियों के साथ बैठ गया ॥ ११ ॥

सोमक उवाच—

धिगस्त्विहैकपुत्रत्वमपुत्रत्वं वरं भवेत् ।
नित्यातुरत्वाद्भूतानां शोक एवैकपुत्रता ॥१२॥

सोमक कहने लगा—एक पुत्र का होना व्यर्थ है, इससे तो पुत्र नहीं हो तो अच्छा है। प्राणियों को नित्य रोग और दुःख लगा रहता है, जिससे एक पुत्र तो शोक-दायी ही है ॥ १२ ॥

इदं भार्य्याशतं ब्रह्मन् परीक्ष्य सदृशं प्रभो ।
पुत्रार्थिना मया वोढं न तासां विद्यते प्रजा ॥१३॥

हे ब्रह्मन् ! मैंने परीक्षा करके एक-रूप-वाली सौ स्त्रियां सन्तान के लिए ही विवाही थीं, परन्तु उन में एक के भी सन्तान नहीं है ॥१३॥

एकः कथञ्चिदुत्पन्नः पुत्रो जन्तुरयं मम ।
यतमानासु सर्वासु किन्नु दुःखमतः परम् ॥१४॥

इन सब स्त्रियों ने बड़ा प्रयत्न किया है, तो भी बड़े कष्ट से एक यह जन्तु नामक पुत्र, उत्पन्न हुआ है। बताओ-इससे अधिक चिन्ता की क्या बात होगी ॥१४॥

वयश्च समतीतं मे सभार्य्यस्य द्विजोत्तम।
आसां प्राणाः समायत्ता मम चात्रैकपुत्रके ॥१५॥

हे द्विजोत्तम! अब इन भार्याओं के साथ आयु व्यतीत सी हो रही है। इस एक पुत्र में ही इनके और मेरे प्राण, उलझे हैं १५

स्यात्तु कर्म तथा युक्तं येन पुत्रशतं भवेत्।
महता लघुना वापि कर्मणा दुष्करेण वा ॥१६॥

अब कोई ऐसा उत्तम कर्म करना चाहिए, जिससे सौ पुत्र उत्पन्न हो जावें। यह कर्म छोटा हो या बड़ा, सुकर हो या दुष्कर, कैसा भी क्यों न हो ॥१६॥

ऋत्विगुवाच—

अस्ति चैतादृशं कर्म येन पुत्रशतं भवेत्।
यदि शक्नोषि तत् कर्त्तुमथ वक्ष्यामि सोमक ॥१७॥

ऋत्विक् ने कहा-हे सोमक! ऐसा कर्म तो अवश्य है, जिससे सौ पुत्र उत्पन्न हो सके। यदि तुम कर सकते हो—तो मैं तुमको सुनाऊं ॥१७॥

सोमक उवाच—

कार्य्यं वा यदि वाकार्य्यं येन पुत्रशतं भवेत्।
कृतमेवेति तद्विद्धि भगवान् प्रब्रवीतु मे ॥१८॥

सोमक ने कहा—हे ब्रह्मन्! आप जो कहना चाहते हैं, वह कहो। वह चाहे कार्य हो या अकार्य। इससे यदि सौ पुत्र उत्पन्न हो सके तो तुम बताओ। मैं उसको अवश्य करूंगा ॥१८॥

ऋत्विगुवाच—

यजस्व जन्तुना राजंस्त्वं मया वितते क्रतौ।
ततः पुत्रशतं श्रीमद्भविष्यत्यचिरेण ते ॥१९॥

ऋत्विक् ने कहा—हे राजन्! मेरे यज्ञ विधि के विस्तृत करने पर तुम इस जन्तु का बलिदान करके यजन करो। इससे तुम्हारे शीघ्र ही सौ पुत्र उत्पन्न हो जावेंगे ॥१९॥

वपायां हूयमानायां धूममाघ्राय मातरः।
ततस्ताः सुमहावीर्य्यान् जनयिष्यन्ति ते सुतान् ॥२०॥

जब इसकी वपा (चर्बी) का हवन हो और माताएँ उस की गन्ध सूंघलें, तो वे महा-बली, सौ पुत्रों को उत्पन्न कर सकेंगी ॥२०॥

तस्यामेव तु ते जन्तुर्भविता पुनरात्मजः।
उत्तरे चास्य सौवर्णं लक्ष्म पार्श्वे भविष्यति ॥२१॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि जन्तूपाख्याने सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२७॥

उसी रानी में यह जन्तु भी फिर पुत्र होकर उत्पन्न हो जावेगा। इसकी वामपार्श्व में सुवर्ण का चिन्ह होगा ॥२१॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में जन्तूपाख्यान में एकसौ सत्ताईसवां अध्याय पूरा हुआ।

एकसौ अट्ठाईसवां अध्याय

सोमक उवाच—

ब्रह्मन् यद्यद्यथा कार्य्यं तत् कुरुष्व तथा तथा।
पुत्रकामतया सर्वं करिष्यामि वचस्तव ॥१॥

सोमक ने कहा—हे ब्रह्मन्! अब जो कार्य आपको करना है वह सब कुछ करलो। मुझे तो पुत्रों की कामना है, इससे तुम्हारे सारे वचन पूरे करूंगा ॥१॥

लोमश उवाच—

ततः स याजयामास सोमकं तेन जन्तुना।
मातरस्तु बलात् पुत्रमपाकार्षुः कृपान्विताः ॥२॥
हा हताः स्मेति वाशन्त्यस्तीव्रशोकसमाहताः।
रुदत्यः करुणाश्चापि गृहीत्वा दक्षिणे करे ॥३॥

लोमश ने कहा—हे राजन्! इस ऋत्विक् ने राजा सोमक के उस जन्तु (पुत्र) का बलिदान करके यज्ञ कराना चाहा। इसकी माताएँ करुणाप्लुत हो गईं, इससे उन्हों ने अपने इस पुत्र को अग्नि-कुण्ड से बाहर खैंचना चाहा। ये तीव्र शोक से व्याकुल होकर करुणा-पूर्वक रोने पुकारने लगी। इन्होंने अपने पुत्र की दांई भुजा पकड़ ली ॥३॥

सव्ये पाणौ गृहीत्वा तु याजकोऽपि स्म कर्षति।
कुरीणामिवार्त्तानां समाकृष्य तु तं सुतम् ॥४॥
विशस्य चैनं विधिवद्वपामस्य जुहाव सः।

वपायां हूयमानायां गन्धमाघ्राय मातरः ॥५॥
आर्त्ता निपेतुः सहसा पृथिव्यां कुरुनन्दन ।

अब बांई भुजा पकड़ कर यज्ञ-कर्ता ऋत्विक् खैंचने लगे। कुररी की भांति चिल्लाती हुई, माताओं से इस पुत्र को छीन कर और इसको काटकर विधि-पूर्वक इसकी चर्बी का हवन कर दिया। हे कुरु-नन्दन ! जब इसकी वपा (चर्बी) का हवन हुआ तो माताएं उसकी गन्ध सूंघ कर और व्याकुल होकर एक दम भूमि में गिर गई ॥५॥

सर्वाश्च गर्भानलभंस्ततस्ताः परमाङ्गनाः ॥६॥
ततो दशसु मासेषु सोमकस्य विशाम्पते ।
जज्ञे पुत्रशतं पूर्णन्तासु सर्वासु भारत ॥७॥

इसके अनन्तर उन सुन्दरी सारी नारियों ने गर्भ धारण किये । हे भारत ! दश महीने पूरे हो जाने पर उन सब रानियों में पूरे सौ पुत्र उत्पन्न हुए ॥६-७॥

जन्तुर्ज्येष्ठो समभवज्जनित्र्यामेव पार्थिवः ।
स तासामिष्ट एवासीन्न तथा ते निजा सुता ॥८॥

हे राजन् ! उसी रानी के वही जन्तु सब से बड़ा पुत्र उत्पन्न हुआ । इन सब रानियों को वही पुत्र प्रिय था । इन सबके इतने अपने २ पुत्र भी प्रिय नहीं थे ॥८॥

तच्च लक्षणमस्यासीत् सौवर्णं पार्श्वं उत्तरे ।
तस्मिन् पुत्रशते चाग्र्ये स बभूव गुणैरपि ॥९॥

इसकी वाम पार्श्व में सुवर्ण का चिन्ह था । इन सौ पुत्रों में यह तेजस्वी और गुणों से युक्त था ॥ ९ ॥

ततः स लोकमगमत् सोमकस्य गुरुः परम् ।
अथ काले व्यतीते तु सोमकोऽप्यागमत् परम् ॥१०॥

इसके अनन्तर राजा सोमक के ये गुरु महाराज परलोक को चलते बने और इनके कुछ ही दिन पीछे राजा सोमक भी स्वर्ग के अतिथि बने ॥ १० ॥

अथ तं नरके घोरे पच्यमानं ददर्श सः ।
तमपृच्छत् किमर्थं त्वं नरके पच्यसे द्विज ॥११॥

इस राजा ने नरकों में क्लेश पाते हुए अपने गुरु को देखा। राजा ने पूछा—हे द्विज, आप किस लिए इस नरक की यातना सह रहे है ॥ ११ ॥

तमब्रवीद्गुरुः सोऽथ पच्यमानोऽग्निना भृशम् ।
त्वं मया याजितो राजंस्तस्येदं कर्मणः फलम् ॥१२॥

इस राजा से उसके गुरु (ऋत्विक्) ने कहा—जो नरक की आगसे पचाया जारहा था। हे राजन्! मैंने तुमको जो यज्ञ करा दिया था, उस का यह फल है ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु राजर्षिर्धर्मराजानमब्रवीत् ।
अहमत्र प्रवेक्ष्यामि मुच्यतां मम याजकः ।
मत्कृते हि महाभागः पच्यते नरकाग्निना ॥१३॥

राजर्षि सोमक, यह सुन कर धर्मराज से बोले-हे महाभाग! मैं इस नरक में घुस जाऊंगा, तुम मेरे यज्ञ कराने वाले को छोड़ दो, क्योंकि यह महाभाग, मेरे कारण से ही नरक की आग से पचाया जा रहा है ॥ १३ ॥

धर्मराज उवाच—

नान्यः कर्त्तुः फलं राजन्नुपभुङ्क्ते कदाचन।
इमानि तव दृश्यन्ते फलानि वदताम्वर ॥१४॥

धर्मराज ने कहा—हे राजन्! कभी कोई अन्य के किये कर्म के फल को अन्य नहीं भोग सकता है। हे वदताम्वर! ये तेरे फल दिखाई दे रहे हैं॥ १४॥

सोमक उवाच—

पुण्यान्न कामये लोकानृतेऽहं ब्रह्मवादिनम्।
इच्छाम्यहमनेनैव सहवस्तुं सुरालये ॥१५॥
नरकेऽथवा धर्मराज कर्मणास्य समो ह्यहम्।
पुण्यापुण्यफलं देव समयस्त्वावयोरिदम् ॥१६॥

सोमक ने कहा-हे धर्मराज! इस ब्राह्मण को छोड़ कर म उत्तम लोकों की प्राप्ति भी नही चाहता हूँ। मैं तो इसी के साथ स्वर्ग में या नरक में रहना पसन्द करूंगा, क्योंकि इसके कर्म के साथ ही मेरा भी सम्बन्ध है। जो इसके कर्मों का पाप पुण्य है, वहीं मेरे कर्मों का फल है॥ १५-१६॥

धर्मराज उवाच—

यद्येवमीप्सितं राजन् भुङ्क्ष्वास्य सहितः फलम्।
तुल्यकालं सहानेन पश्चात् आप्स्यसि सद्गतिम् ॥१७॥

धर्मराज ने कहा-हे राजन्! यदि यही इच्छा है, तो इसके साथ तू भी फल भक्षण कर। इसके साथ कुछ दिन फल भोग कर फिर सद्गति प्राप्त कर लेगा॥ १७॥

लोमश उवाच—

स चकार तथा सर्वं राजा राजीवलोचनः ।
क्षीणपापश्च तस्मात् स विमुक्तो गुरुणा सह ॥१८॥

लोमश बोले—हे राजन् ! कमल के सदृश-नेत्र-धारी राजा ने धर्मराज के कथनानुसार सब कुछ किया। जब वह पापों से रहित हो गया-तो गुरु के साथ २ नरक से छूट गया ॥१८॥

लेभे कामान् शुभान्राजन् कर्मणा निर्जितान् स्वयम् ।
सह तेनैव विप्रेण गुरुणा स गुरुप्रियः ॥१९॥

हे राजन् ! गुरु के साथ इस राजा सोमक ने अपने कर्मो से प्राप्त की हुई, शुभ कामनाओं और उत्तम २ लोकों को अपने गुरु, उसी याजक ब्राह्मण के साथ २ प्राप्त किया ॥१९॥

एष तस्याश्रमः पुण्यो य एषोऽग्रे विराजते ।
क्षान्त उष्यात्र षड्रात्रं प्राप्नोति सुगतिं नरः ॥२०॥

यह जो सामने हो आश्रम दिखाई दे रहा है-यह पुण्याश्रम उसी राजा सोमक के गुरु का हैं। यहां शान्त और क्षमा-शील रह कर जो छः रात निवास करता है, वह मनुष्य, अवश्य सद्गति पाता है ॥२०॥

एतस्मिन्नपि राजेन्द्र वत्स्यामो विगतज्वराः ।
षड्रात्रं नियतात्मानः सज्जीभव कुरूद्वह ॥२१॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि जन्तूपाख्याने
अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१२८॥

हे राजेन्द्र ! हम भी इस आश्रम में सब क्लेशों को भूल कर जितेन्द्रियता के साथ निवास करेंगे, तुम सावधान होकर तय्यार हो जावो ॥२१॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में जन्तूपाख्यान का एकसौ अट्ठाईसवां अध्याय पूरा हुआ।



एकसौ उनतीसवां अध्याय

लोमश उवाच—

अस्मिन् किल स्वयं राजन्निष्टवान् वै प्रजापतिः।
सत्रमिष्टीकृतं नाम पुरा वर्षसहस्रकम् ॥१॥

लोमश बोले—हे राजन् ! इस स्थान पर स्वयं प्रजापति ने इष्टीकृत नामक यज्ञ, एक सहस्र वर्ष पर्यन्त किया है ॥१॥

अम्बरीषश्च नाभाग इष्टवान् यमुनामनु।
यत्रेष्ट्वा दश पद्मानि सदस्येभ्यो विसृष्टवान् ॥२॥

राजा नाभाग के पुत्र, अम्बरीष ने यमुना तट पर यज्ञ किया है। यहां इसने यज्ञ करके ऋत्विजों को दश पद्म (रुपये या गायें) दक्षिणा में प्रदान की ॥२॥

यज्ञैश्च तपसा चैव परां सिद्धिमवाप सः।
देशश्च नाहुषस्यायं यज्वनः पुण्यकर्मणः ॥३॥
सार्वभौमस्य कौन्तेय ययातेरमितौजसः।
स्पर्द्धमानस्य शक्रेण तस्येदं यज्ञवास्त्विह ॥४॥

इसने यहां यज्ञ और तप करके सिद्धि पाई है। यह पवित्र प्रदेश, नहुष के पुत्र, यज्ञ-कर्ता पुण्यात्मा, अत्यन्त-तेजस्वी, चक्रवर्ती ययाति का है। इस राजा ययाति ने इन्द्र से स्पर्धा करके यहां यज्ञ-भूमि का निर्माण किया था ॥३-४॥

पश्य नानाविधाकारैरग्निभिर्निचितां महीम् ।
मज्जन्तीमिव चाक्रान्तां ययातेर्यज्ञकर्मभिः ॥५॥

इस नाना प्रकार की अग्नियों से युक्त, वेदियों से पटी हुई भूमि को देखो। जो राजा ययाति के कर्मों से आक्रान्त होकर छुपी सी जा रही है ॥५॥

एषा शम्येकपत्रा या सरकश्चैतदुत्तमम् ।
पश्य रामह्रदानेतान् पश्य नारायणाश्रमम् ॥६॥

यह यज्ञ व्यवहार में आई हुई, पत्रों से रहित, शाखा है और यह उत्तम सुरा ग्रहण करने का पात्र है। इनके सिवा परशुराम के ह्रद (तालाब) और नारायण आश्रम पर भी दृष्टि डालो ॥६॥

एतच्चर्चीकपुत्रस्य योगैर्विचरतो महीम् ।
प्रसर्पणं महीपाल रौप्यायाममितौजसः ॥७॥

हे महीपाल ! योग विद्या के साथ पृथिवी पर घूमने वाले, अत्यन्त ओजस्वी, ऋचीक पुत्र, जमदग्नि का रौप्या नदी पर यह प्रसर्पण नामक तीर्थ है ॥७॥

अत्रानुवंश्यं पठतः शृणु मे कुरुनन्दन ।
उलूखलैराभरणैः पिशाची यदाभाषत ॥८॥

हे कुरु-नन्दन ! इस विषय में एक परम्परागत ऐतिहासिक श्लोक सुना जाता है, जो उलूखल के आभरण करने वाली पिशाचीने किसी ब्राह्मणी से कहा है ॥८॥

युगन्धरे दधि प्राश्य उषित्वा चाच्युतस्थले ।
तद्वद्भूतिलये स्नात्वा सपुत्रा वस्तुमर्हसि ॥९॥

हे ब्राह्मणी ! तूने युगन्धर पर्वत में तो (गधी का) दही खाया है तथा अच्युत स्थल (वर्ण संकरों के ग्राम) में निवास किया हैं एवं मृतक फैंकने के भूतिलय नामक चोरों के ग्राम के पास सरोवर या नदी में स्नान किया है । फिर क्या तू भी पुत्र के साथ यहां वास कर सकती है । यहां तो कर्म उपासना के साथ जो ब्रह्मचर्य में परायण रहता है, वही वास कर सकता है ॥९॥

एकरात्रमुषित्वेह द्वितीयं यदि वत्स्यसि ।
एतद्वै ते दिवावृत्तं रात्रौ वृत्तमतोऽन्यथा ॥१०॥

अब तू एक रात तो यहां रह चुकी, यदि दूसरी रात भी निवास करना चाहती है, दिन में तो तेरे वर्तनों को तोड़ फोड़ देता हूं और यदि रात में रही तो कुछ और ही दशा कर दूंगी ॥१०॥

अद्य चात्र निवत्स्यामः क्षपां भरतसत्तम !
द्वारमेतत्तु कौन्तेय कुरुक्षेत्रस्य भारत ॥११॥

हे भरत-उत्तम ! इससे हम भी इस तीर्थपर एक ही रात रहेंगे । हे कौन्तेय ! यह कुरु-क्षेत्र का द्वार है ॥११॥

अत्रैव नाहुषो राजा राजन् क्रतुभिरिष्टवान् ।
ययातिर्बहुवित्तौघैर्यत्रेन्द्रो मदमभ्यगात् ॥१२॥

हे राजन् ! यही पर नहुष राजा के पुत्र, राजा ययाति ने वहुत से रत्नों की दक्षिणा यज्ञों के से यजन किया है, जिससे इन्द्र वड़ा प्रसन्न हुआ ॥१२॥

एतत् प्लक्षावतरणं यमुनातीर्थमुत्तमम् ।
एतद्वै नाकपृष्ठस्य द्वारमाहुर्मनीषिणः ॥१३॥

यह यमुना नदी पर प्लक्षावतरण नामक तीर्थ है। इसी को महर्षि, स्वर्ग का द्वार मानते हैं ॥१३॥

अत्र सारस्वतैर्यज्ञै रीजानाः परमर्षयः ।
यूपोलूखलिकास्तात गच्छन्त्यवभृथाप्लवम् ॥१४॥

यहीं महर्षियों ने, सरस्वती सम्बन्धी यज्ञों से यजन किया है। हे तात ! इन यज्ञों की समाप्ति के स्नान के पुष्कल जल में, यूप (यज्ञस्तम्भ) और उत्तम उलूखल तरते फिरे थे ॥१४॥

अत्रैव भरतो राजा राजन् क्रतुमिरिष्टवान् ।
हयमेधेन यज्ञेन मेध्यमश्वमवासृजत् ॥१५॥
असकृत् कृष्णसारङ्गं धर्मेणाप्य च मेदिनीम् ।

हे राजन् ! यहीं पर भरत राजा ने अनेक यज्ञों से यजन किया है। इसने सारी भूमि का राज्य कर्म से प्राप्त करके अश्वमेध यज्ञ करने के लिए पवित्र, श्यामकर्ण अश्व, बार २ छोड़ा था १५

प्राप चैवर्षिमुख्येन सम्वर्त्तेनाभिपालितः ।
अत्रैव पुरुषव्याघ्र मरुत्तः सत्रमुत्तमम् ॥१६॥

हे पुरुष-व्याघ्र ! यहीं पर राजा मरुत्त ने बड़ा उत्तम यज्ञ महर्षि सम्वर्त की अध्यक्षता में पूर्ण किया है ॥१६॥

अत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र सर्वान् लोकान् प्रपश्यति ।
पूयते दुष्कृताच्चैव अत्रापि समुपस्पृश ॥१७॥

हे राजेन्द्र ! यहां आचमन करने से सारे उत्तम लोकों को देख सकेगा और सारे पापों से छुट जावेगा, इस लिए तू यहां भी स्नान आचमन कर ॥१७॥

वैशम्पायन उवाच—

तत्र सभ्रातृकः स्नात्वा स्तूयमानो महर्षिभिः ।
लोमशं पाण्डवश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ॥१८॥

वैशम्पायन बोले—हे राजन् ! इस तीर्थ में अपने भाइयों के साथ स्नान करके और महर्षियों से प्रशंसा प्राप्त करके राजा युधिष्ठिर, महर्षि लोमश से यह वचन बोले ॥१८॥

सर्वान् लोकान् प्रपश्यामि तपसा सत्यविक्रम ।
इहस्थः पाण्डवश्रेष्ठं पश्यामि श्वेतवाहनम् ॥१९॥

हे सत्य-वादिन् ! मैं इस सत्तावतरण तीर्थ पर स्थित हुआ, तप से सारे लोकों को देख रहा हूं । मुझे श्वेत अश्व पर बैठा हुआ, अर्जुन भी दिखाई दे रहा है ॥१९॥

लोमश उवाच—

एवमेतन्महाबाहो पश्यन्ति परमर्षयः ।
सरस्वतीमिमां पुण्यां पश्यैकशरणावृताम् ।
यत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ धूतपाप्मा भविष्यसि ॥२०॥

लोमश ने कहा—हे महा-बाहो ! इसी तरह परम ऋषि लोग, यहां बैठे हुए सारे लोकों को देखते रहते हैं । अब तुम शरण, गर्तों से व्याप्त इस सरस्वती नदी को देखो । हे नर-श्रेष्ठ ! इसमें स्नान करने से तुम्हारे सारे पाप धुल जावेंगे ॥२०॥

इह सारस्वतैर्यज्ञैरिष्टवन्तः सुरर्षयः ।
ऋषयश्चैव कौन्तेय तथा राजर्षयोऽपि च ॥२१॥

हे कौन्तेय ! यहां देवर्षियों ने सारस्वत इष्टि से यजन किया है । इसी तरह ऋषि महर्षि और राजर्षियों ने यहां यज्ञ किए हैं।

वेदीप्रजापतेरेषा समन्तात् पञ्चयोजना ।
कुरोर्वै यज्ञशीलस्य क्षेत्रमेतन्महात्मना ॥२२॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लक्षावतरणगमने एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१२९॥

यह पांच योजन (बीस कोस) तक फैली हुई प्रजापति की वेदी है और यही राजर्षि महात्मा कुरु का क्षेत्र है ॥२२॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा पर्व में लक्षावतरण गमन का एकसौ उनतीसवां अध्याय पूरा हुआ ।



एकसौ तीसवां अध्याय

लोमश उवाच—

इह मर्त्यास्तनूस्त्यक्त्वा स्वर्गं गच्छन्ति भारत ।
मर्त्तुकामा नरा राजन्निहायान्ति सहस्रशः ॥१॥

लोमश बोले—हे भारत ! इस स्थान पर शरीर छोड़ कर अनेक मनुष्य, स्वर्ग प्राप्त कर लेते हैं; इसी से मरने के ध्यान से अनेक देशों से हजारों की संख्या में मनुष्य आते हैं ॥१॥

एवमाशीः प्रयुक्ता हि दक्षेण यजता पुरा ।
इह ये वै मरिष्यन्ति ते वै स्वर्गजिता नराः ॥२॥

पूर्वकाल से दक्ष प्रजापति ने यहां यज्ञ करके यह आशीर्वाद दिया था, कि जो यहां प्राणों का परित्याग करेंगे, वे मनुष्य, स्वर्ग जीतने वाले होंगे ॥२॥

एषा सरस्वती रम्या दिव्या चौघवती नदी ।
एतद्विनशनं नाम सरस्वत्या विशाम्पते ॥३॥

हे विशाम्पते ! यह परि-पूर्ण-प्रवाह-वाली, दिव्य सरस्वती नाम की सुन्दर नदी है और यह सरस्वती नदी का विनशन नाम तीर्थ है;

द्वारं निषादराष्ट्रस्य येषां द्वेषात् सरस्वती ।
प्रविष्टा पृथिवीं वीर मा निषादा हि मां विदुः ॥४॥

यह निषादों के राष्ट्र का द्वार है, जिनके द्वेष से यह सरस्वती नदी पृथिवी में घुस गई है, कि कहीं ये पापी मुझे देख न लें ॥४॥

एष वै चमसोद्भेदो यत्र दृश्या सरस्वती ।
यत्रैनामभ्यवर्त्तन्त सर्वाः पुण्याः समुद्रगाः ॥५॥

यह चमसोद्भेद (सोमपान का स्थान) है, जहां सरस्वती दिखाई दे गई है। यहीं सारी समुद्रगामिनी नदियां आकर इससे मिली हैं।

एतत् सिन्धोर्महातीर्थं यत्रागस्त्यमरिन्दम ।
लोपामुद्रा समागम्य भर्त्तारमवृणीत वै ॥६॥

हे अरिन्दम ! यह समुद्र तट का महा-तीर्थ है। जहां अगस्त्य मुनि के पास आकर लोपा-मुद्रा ने उन्हें पति रूप से स्वीकार किया था ॥६॥

एतत् प्रकाशते तीर्थं प्रभासं भास्करद्युते ।
इन्द्रस्य दयितं पुण्यं पवित्रं पापनाशनम् ॥७॥

हे सूर्य-सदृश कान्ति-धारी ! यह प्रभास तीर्थ प्रकाशित हो रहा है। जो इन्द्र का बड़ा प्रिय, पवित्र और पाप-नाशक है।

एतद्विष्णुपदं नाम दृश्यते तीर्थमुत्तमम्।
एषा रम्या विपाशा च नदी परमपाविनी ॥८॥

यह विष्णु-पद नामक उत्तम तीर्थ है और यह बड़ी पवित्र, सुन्दर विपाशा नाम की नदी है ॥८॥

अत्र वै पुत्रशोकेन वशिष्ठो भगवानृषिः।
बध्वात्मानं निपतितो विपाशः पुनरुत्थितः ॥९॥

यहीं पर पुत्र के शोक से भगवान् महर्षि, वशिष्ठ, अपने गले में फांसी लगा कर गिरे थे और फिर फांसी के छिन्न-भिन्न हो जाने पर खड़े हुए थे ॥९॥

काश्मीरमण्डलञ्चैतत् सर्वपुण्यमरिन्दम।
महर्षिभिश्चाध्युषितं पश्येदं भ्रातृभिः सह ॥१०॥

हे अरि-मर्दन ! सबसे पवित्र, यह काश्मीर मण्डल नाम का प्रदेश है। यह प्रदेश महर्षियों से भरा पड़ा है, तू भी अपने भाई के साथ इसकी यात्रा कर ॥१०॥

यत्रोत्तराणां सर्वेषामृषीणां नाहुषस्य च।
अग्नेश्चैवात्र संवादः काश्यपस्य च भारत ॥११॥

हे भारत ! यहीं पर उत्तर दिशा के सारे ऋषि, नहुष पुत्र ययाति, अग्नि और कश्यप का सम्वाद हुआ है ॥११॥

एतत् द्वारं महाराज मानसस्य प्रकाशते।
वर्षमस्य गिरेर्मध्ये रामेण श्रीमता कृतम् ॥१२॥

हे राजन्! यह मान-सरोवर का द्वार है। श्रीमान् परशुराम ने इस पर्वत के मध्य में निवास किया था ॥१२॥

एष वातिकषण्डो वै प्रख्यातः सत्यविक्रम ।
नाभ्यवर्त्तत यत् द्वारं विदेहादुत्तरञ्च यः ॥१३॥

हे सत्य-विक्रम! यह स्थान वातिकषण्ड नाम से प्रख्यात है। इसका विदेह देश के उत्तर में जो द्वार है, उस पर कोई भी नहीं जा सकता है ॥१३॥

इदमाश्चर्य्यमपरं देशेऽस्मिन् पुरुषर्षभ ।
क्षीणे युगे तु कौन्तेय शर्वस्य सह पार्षदैः ॥१४॥
सहोमया च भवति दर्शनं कामरूपिणः ।
अस्मिन् सरसि सत्रैर्वै चैत्रे मासि पिनाकिनम् ॥१५॥
यजन्ते याजकाः सम्यक् परिवारशुभार्थिनः ।

हे पुरुषर्षभ! इस देश में यह बड़ा ही चमत्कार है, कि सम्वत्सर के पूर्ण होने पर कामना के अनुसार रूप धारी शिवजी के अपने गण और पार्वती के साथ दर्शन होते हैं। इस सरोवर पर चैत्र के महीने में अपने परिवार के कल्याण की कामना से याजक लोग, अनेक यज्ञों से भगवान् शंकर का यजन करते हैं।

अत्रोपस्पृश्य सरसि श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ॥१६॥
क्षीणपापः शुभान् लोकान् प्राप्नुते नात्र संशयः ।

इस सरोवर में स्नान आचमन करके श्रद्धालु जितेन्द्रिय, पापों से रहित हो जाता है और शुभ लोकों को अवश्य प्राप्त कर लेता है ॥१६॥

एष उज्जानको नाम पावकिर्यत्र शान्तवान् ॥१७॥
अरुन्धतीसहायश्च वशिष्ठो भगवानृषिः ।
ह्रदश्च कुशवानेष यत्र पद्मं कुशेशयम् ॥१८॥
आश्रमश्चैव रुक्मिण्या यत्राशाम्यदकोपना ।
समाधीनां समासस्तु पाण्डवेय श्रुतस्त्वया ॥१९॥

यह उज्जानक नामक स्थान है, जहां पर स्कन्द और महर्षि वशिष्ठ ने शान्ति प्राप्त की थी। यह जल से परिपूर्ण सरोवर है, जहां अनेक प्रकार के कमल खिले हैं। यह रुक्मिणीका आश्रम है, जहां इसने क्रोध का परित्याग करके शान्ति प्राप्त की है। हे युधिष्ठिर ! यह आपने समाधि के फलों के देने वाले तीर्थों का संक्षेप से वर्णन सुन लिया है ॥१९॥

तं द्रक्ष्यसि महाराज भृगुतुङ्गं महागिरिम् ।
वितस्तां पश्य राजेन्द्र सर्वपापप्रमोचनीम् ॥२०॥
महर्षिभिश्चाध्युषितां शीततोयां सुनिर्मलाम् ।

हे महाराज ! अब तुम, भृगुतुङ्ग महागिरि को देखो। इसके साथ ही सब पापों से छुड़ाने वाली वितस्ता नदी को देखो, जिस पर बहुत से ऋषियों का निवास है और जिसका शीतल तथा निर्मल जल है ॥२०॥

जलाश्चोपजलाश्चैव यमुनामभितो नदीम् ॥२१॥
उशीनरो वै यत्रेष्ट्वा वासवादत्यरिच्यत ।
तां देवसमितिं तस्य वासवश्च विशांपते ॥२२॥
अभ्यागच्छन्नृपवरं ज्ञातुमग्निश्च भारत ।

यमुना के पास में ही जला उपजला नदियां हैं। जहां पर राजा उशीनर यज्ञ करके इन्द्र से भी बढ़ गया था। इस राजा उशीनर की परीक्षा लेने के लिए उसकी राजसभा में इन्द्र और अग्नि पहुंचे थे ॥२१-२२॥

जिज्ञासमानौ वरदौ महात्मानमुशीनरम् ॥२३॥

इन्द्रः श्येनः कपोतोऽग्निर्भूत्वा यज्ञेऽभिजग्मतुः ।

महात्मा उशीनर की परीक्षा में तत्पर, वर देने वाले, इन्द्र ने श्येन (बाज) और अग्नि ने कबूतर का रूप धारण करके यज्ञ में गमन किया ॥२३

ऊरुं राज्ञः समासाद्य कपोतः श्येनजाद्भयात् ।
शरणार्थी तदा राजन्निलिल्ये भयपीड़ितः ॥२४॥

इति श्रीमहाभारत आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि श्येनकपोतीये त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१६०॥

हे राजन्! यह कबूतर श्येन से भयभीत सा बन कर राजा उशीनर की जांघ के नीचे रक्षा की इच्छा से घुस गया ॥२४॥

इति श्री महाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में श्येन कपोत के उपाख्यान का एकसौ तीसवां अध्याय समाप्त हुआ।



एकसौ इकतीसवां अध्याय

श्येन उवाच—

धर्मात्मानं त्वाहुरेकं सर्वे राजन् महीक्षितः ।
स वै धर्मविरुद्धं त्वं कस्मात् कर्म चिकीर्षसि ॥१॥

श्येन ने कहा—हे राजन ! सारे राजा तुम को धर्मात्मा कहते है, फिर तुम भो धर्म के विरुद्ध कार्य करने की कैसे इच्छा कर रहे हो ॥१॥

विहितं भक्षणं राजन् पीड्यमानस्य मे क्षुधा ।
मा रक्षीर्धर्मलोभेन धर्ममुत्सृष्टवानसि ॥२॥

हे राजन् ! कपोत मेरा भक्षण है, जो परमात्मा ने नियत किया है । मैं भूख से व्याकुल हो रहा हूँ । तू धर्म के लोभ से इस कबूतर की रक्षा न कर, ऐसा करके तो तू धर्म का परित्याग कर रहा है ॥२॥

राजोवाच—

सन्त्रस्तरूपस्त्राणार्थी त्वत्तो भीतो महाद्विज ।
मत्सकाशमनुप्राप्तः प्राणगृध्नुरयं द्विजः ॥३॥

राजा बोला—हे महा-पक्षी ! यह कपोत, बड़ा ही व्याकुल, तुझ से भयभीत और परित्राण की अभिलाषा कर रहा है । यह पक्षी, अपने प्राण बचाने के लिए ही मेरे पास आया है ॥३॥

एवमभ्यागतस्येह कपोतस्याभयार्थिनः ।
अप्रदाने परं धर्मं कथं श्येन न पश्यसि ॥४॥

इस प्रकार प्राण रक्षा के निमित्त आए हुए अभयदान के इच्छुक, इस कबूतर को नहीं देना ही परम धर्म है। हे श्येन ! क्या यह तुझे नहीं दीखता है ॥४॥

प्रस्पन्दमानः सम्भ्रान्तः कपोतः श्येन लक्ष्यते ।
मत्सकाशे जीवितार्थी तस्य त्यागो विगर्हितः ॥५॥

हे पक्षि-राज ! यह कबूतर कांप रहा है और चौकन्ना सा हो रहा है। यह जब मेरे पास जीवन की रक्षा की इच्छा से आया है, तो इसका परित्याग करना बड़ा ही निन्दित है ॥५॥

यो हि कश्चिद्द्विजान् हन्याद्गां वा लोकस्य मातरम् ।
शरणागतञ्च त्यजते तुल्यं तेषां हि पातकम् ॥६॥

जो कोई मनुष्य, ब्राह्मण और लोक की माता गौ को मारता है तथा शरणागत को छोड़ता है, इन सब का बराबर ही पाप है।

श्येन उवाच—

आहारात् सर्वभूतानि सम्भवन्ति महीपते ।
आहारेण विवर्द्धन्ते तेन जीवन्ति जन्तवः ॥७॥

श्येन ने कहा—हे महीपते ! सारे प्राणी, आहार से ही प्राण धारण करते हैं और आहार से ही प्राण बढ़ते और जीते हैं ॥७॥

शक्यते दुस्त्यजेऽप्यर्थे चिररात्राय जीवितुम् ।
न तु भोजनमुत्सृज्य शक्यं वर्त्तयितुं चिरम् ॥८॥

किसी प्रकार भी नहीं छोड़ने योग्य, धन के नष्ट होने पर चिर-काल तक जीवित रहा जा सकता है, परन्तु भोजन छोड़ कर कोई भी प्राणी नहीं जी सकता है ॥८॥

भक्ष्याद्वियोजितस्याद्य मम प्राणा विशाम्पते ।
विसृज्य कायमेष्यन्ति पन्थानमकुतोभयम् ॥९॥

हे विशाम्पते ! भोजन का मार्ग रोकने से आज मेरे प्राण, शरीर को छोड़ कर निर्भय यमराज के मार्ग में जाने को हो रहे हैं ॥९॥

प्रमृते मयि धर्मात्मन् पुत्रदारादि नङ्क्ष्यति।
रक्षमाणः कपोतं त्वं बहून् प्राणान्न रक्षसि ॥१०॥

हे धर्मात्मन् ! जब मैं मर जाऊंगा, तब मेरे पुत्र दारा आदि नष्ट हो जाएंगे। तुम इस कबूतर की रक्षा करके हम बहुत प्राणियों का नाश करोगे ॥१०

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ॥११॥

जो धर्म, एक धर्म की बाधा करता है, वह कुधर्म है। हे सत्य पराक्रमी ! जो धर्म अन्य धर्म का विरोध न करे—वही सच्चा धर्म माना जा सकता है ॥११॥

विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम्।
न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत् ॥१२॥

हे महीपाल ! विरोधी धर्मों में धर्म के गौरव लाघव को देख कर जिस में बाधा न हो—उसी धर्म का अनुष्ठान करना चाहिए ॥१२॥

गुरुलाघवमादाय धर्माधर्मविनिश्चये।
यतो भूयांस्ततो राजन् कुरुष्व धर्मनिश्चयम् ॥१३॥

हे राजन् ! धर्म अधर्म के निश्चय में तो धर्म के गौरव लाघव का निश्चय करना ही श्रेयस्कर है। जिस धर्म में गौरव प्रतीत हो, उसी को धर्म मान कर व्यवहार में लाना चाहिए ॥१३

श्रीराजोवाच—

बहुकल्याणसंयुक्तं भाषसे विहगोत्तम ।
सुपर्णः पक्षिराट् किं त्वं धर्मज्ञश्चास्यसंशयम् ॥१४॥

राजा ने कहा—हे विहगोत्तम ! तुमतो बहुत कल्याण युक्त विषय का विवेचन कर रहे हो। तुम कहीं पक्षिराज गरुड़ तो नहीं हो, क्योंकि तुम धर्म के विषय को निश्चय रूप से जानते हो ॥४॥

तथाहि धर्मसंयुक्तं बहुचित्रञ्च भाषसे ।
न तेऽस्त्यविदितं किञ्चिदिति त्वां लक्षयाम्यहम् ॥१५॥

यही कारण है, कि तुम धर्म-युक्त, अद्भुत बात का कथन कर रहे हो। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है, कि तुमको धर्म के विषय में कुछ अज्ञात नहीं है ॥१५॥

शरणैषिपरित्यागं कथं साध्विति मन्यसे ।
आहारार्थं समारम्भस्तव चायं विहङ्गम ॥१६॥
शक्यश्चाप्यन्यथा कर्त्तुमाहारोऽप्यधिकस्त्वया ।

जब यह बात है, तो तू धर्म का ज्ञाता होकर भी शरणागत के परित्याग कर देने को कैसे उत्तम समझता है। हे पक्षिराज ! यदि तेरा यह सारा कोलाहल आहार मात्र के लिए है, तो तू अन्य प्रकार से इस से भी अधिक आहार प्राप्त कर सकता है १६

गोवृषो वा वराहो वा मृगो वा महिषोऽपि वा ।
त्वदर्थमद्य क्रियतां यच्चान्यदिह काङ्क्षसि ॥१७॥

वनका वृष, शूकर, मृग, अरना भैंसा या अन्य वनैले जीव जिनको तू चाहे, तेरे आहार के लिए आज लाए जा सकते हैं १७

श्येन उवाच—

न वराहं न चोक्षाणं न मृगान् विविधांस्तथा ।
भक्षयामि महाराज किं ममान्येन केनचित् ॥१८॥

श्येन ने कहा—हे महाराज ! मैं वराह, बैल या अन्य अनेक भांति के मृगों का भक्षण नहीं करता हूं, फिर मुझे अन्य जन्तुओं से क्या प्रयोजन है ॥१८॥

यस्तु मे देवविहितो भक्ष्यः क्षत्रियपुङ्गव ।
तमुत्सृज्य महीपाल कपोतमिममेव मे ॥१९॥
श्येनः कपोतानत्तीति स्थितिरेषा सनातनी ।
मा राजन् सारमज्ञात्वा कदलीस्कन्धमाश्रज ॥२०॥

हे क्षत्रिय-श्रेष्ठ ! जो परमात्मा ने मेरा भोजन नियत किया है, उस इस कबूतर को छोड़ कर अन्य भक्ष्य से कैसे निर्वाह होगा । श्येन (बाज) बोला—श्येन कपोतों को खाता है, यह तो उसका सनातन अधिकार है । हे राजन् ! तू तत्व को बिना जाने इस केले के खम्भ के तुल्य निर्बल युक्तिवाद का आश्रय न ले ॥२०

राजोवाच—

राष्ट्रं शिवीनामृद्धं वै ददानि तव खेचर ।
यं वा कामयसे कामं श्येन सर्वं ददानि ते ॥२१॥
विनेमं पक्षिणं श्येन शरणार्थिनमागतम् ।

राजा कहने लगा—हे पक्षिराज ! मैं तुमको शिवि वंश के क्षत्रियों का समृद्धशाली राज्य अर्पण करता हूं या तू जो अन्य कामना करे, मैं वह भी दे सकता हूँ । हां ? केवल इस शरणागत पक्षी को ही नहीं दूंगा ॥ २१ ॥

येनेमं वर्जयेथास्त्वं कर्मणा पक्षिसत्तम ।

तदाचक्ष्व करिष्यामि न हि दास्ये कपोतकम् ॥२२॥

हे पक्षी-श्रेष्ठ ! जिस कार्य से तू इस पक्षी को छोड़ दे, वह कार्य मुझे बता-मैं वह तेरा कार्य पूरा कर दूंगा, परन्तु कबूतर को नहीं दूंगा ॥ २२ ॥

श्येन उवाच—

उशीनर कपोते ते यदि स्नेहो नराधिप ।

आत्मनो मांसमुत्कृत्य कपोततुलया धृतम् ॥२३॥

यदा समं कपोतेन तव मांसं नृपोत्तम ।

तदा देयन्तु तन्मह्यं सा मे तुष्टिर्भविष्यति ॥२४॥

श्येन बोला—हे राजन् ! उशीनर ! यदि तेरा कबूतर से स्नेह है, तो अपने मांस को काट कर कपोत के साथ तराजू में चढ़ादे। हे नृपोत्तम ! जब कबूतर के मांस के बराबर तेरा मांस हो जावेगा तो वह मांस मुझे दे देना, जिससे मेरी सन्तुष्टि हो जावेगी ॥२४

राजोवाच—

अनुग्रहमिमं मन्ये श्येन यन्माभियाचसे ।

तस्मात्तेऽद्य प्रदास्यामि स्वमांसं तुलया धृतम् ॥२५॥

राजा ने कहा-हे श्येन, यह जो तूने याचना की हैं, इसको तो मैं तेरा अनुग्रह समझता हूं । अब मैं तुझे अपना मांस तराजू में रखकर दे देता हूं ॥ २५ ॥

लोमश उवाच—

उत्कृत्य स स्वकं मांसं राजा परमधर्मवित् ।

तुलयामास कौन्तेय कपोतेन समं विभो ॥२६॥

ध्रियमाणः कपोतस्तु मांसेनात्यतिरिच्यते ।
पुनश्चोत्कृत्य मांसानि राजा प्रादादुशीनरः ॥२७॥

लोमश बोले—हे कौन्तेय ! इस परम धर्मात्मा राजा ने अपना मांस काट कर कबूतर के साथ तराजू में चढ़ा दिया । इस समय काटे हुए मांस से कबूतर भारी निकला । राजा उशीनर, फिर मांस काट कर उसके साथ तोलने लगा ॥ २६-२७ ॥

न विद्यते यदा मांसं कपोतेन समं धृतम् ।
तत उत्कृत्यमांसोऽसावारुरोह स्वयं तुलाम् ॥२८॥

इसने माँस काटकर कबूतर के साथ बहुतसा चढ़ा दिया। जब वह कबूतर के बराबर हुआ ही नहीं, तो अब यह, स्वयं तराजू पर चढ़ गया ॥ २८ ॥

श्येन उवाच—

इन्द्रोऽहमस्मि धर्म्मज्ञ कपोतो हव्यवाडयम् ।
जिज्ञासमानौ धर्म्मं त्वां यज्ञवाटमुपागतौ ।
यत्ते मांसानि गात्रेभ्य उत्कृत्तानि विशाम्पते ॥२६॥
एषा ते भास्वरी कीर्त्तिर्लोकानभिभविष्यति ।

श्येन ने कहा—हे धर्मात्मन् ! मैं तो इन्द्र हूं और यह कपोत अग्नि है । हम तेरे धर्म की परीक्षा करने के लिए इस यज्ञशाला में आए थे । हे विशाम्पते ! यह जो तेरे शरीर में मांस काटा गया है, इससे तेरी चमकदार कीर्ति लोकों को प्रकाशित कर देगी ॥ २६ ॥

यावल्लोके मनुष्यास्त्वां कथयिष्यन्ति पार्थिव ॥३०॥
तावत् कीर्त्तिश्च लोकाश्च स्थास्यन्ति तव शाश्वताः ।
इत्येवमुक्त्वा राजानमारुरोह दिवं पुनः ॥३१॥

हे राजन् ! जब तक इस मर्त्य-लोक में मनुष्य तेरी कीर्ति का गान करते रहेंगे, तभी तक ये सनातन लोक आगे स्थित रह सकेंगे । श्येन पक्षी, राजा से यह कहकर आकाश को उड़ गया ।

उशीनरोऽपि धर्मात्मा धर्मेणावृत्य रोदसी ।
विभ्राजमानो वपुषा प्रारुरोह त्रिविष्टपम् ॥३२॥

धर्मात्मा, राजा उशीनर भी धर्म से आकाश और पृथिवी को व्याप्त करके तेज युक्त शरीर से देदीप्यमान होकर स्वर्गको चला गया ॥ ३२ ॥

तदेतत् सदनं राजन् राज्ञस्तस्य महात्मना ।
पश्यस्वैतन्मया सार्द्धं पुण्यं पापप्रमोचनम् ॥३३॥

हे राजन् ! यह उसी महात्मा राजाका तीर्थ स्थान है, इसको तू मेरे साथ देख । यह बड़ा पवित्र और पाप नाशक है ॥३३॥

अत्र वै सततं देवा मुनयश्च सनातनाः ।
दृश्यन्ते ब्राह्मणै राजन् पुण्यवद्भिर्महात्मभिः ॥३४॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि श्येनकपोतीये एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१३१॥

हे राजन् ! यहां देवता और सनातन मुनि, पुण्यात्मा, मनस्वी ब्राह्मणों को अब भी दिखाई दे जाते हैं ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारत वनपर्वान्तर्गत तीर्थ-यात्रा-पर्व में श्येन और कपोत के उपाख्यान का एक सौ इकतीसवां अध्याय पूरा हुआ ॥